प्रकीर्णक पुस्तकमाला

हिंदी-साहित्य का इतिहास

लेखक

रामचंद्र शुक्ल

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

प्रकाशक :: नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रकः :: देवताप्रसाद गहमरी, संसार प्रेस, काशी
संशोधित और प्रवर्द्धित पाँचवाँ संस्करण; ५,००० प्रतियाँ
संवत् २००६ वि० :: मूल्य ७)

प्रथम संस्करण का

वक्तव्य

हिंदी-कवियों का एक वृत्त संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् १८८३ ई० में प्रस्तुत किया था। उसके पीछे सन् १८८९ मे डाक्टर (अब सर) ग्रिअर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर अव नार्दर्न हिंदुस्तान' के नाम से एक वैसा ही बड़ा कवि वृत्त-संग्रह निकाला। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्रों हस्तलिखित हिंदी-पुस्तके देश के अनेक भागों मे राज-पुस्तकालयो तथा लोगों के घरों मे अज्ञात पड़ी हैं। अतः सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् १९०० से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् १९११ तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों मे सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। सन् १९१३ में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्रबंधुओ (श्रीयुत पं० श्यामबिहारी मिश्र आदि) ने अपना बड़ा भारी कवि-वृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' जिसमें वर्त्तमान काल के कवियों और लेखकों का भी समावेश किया गया, तीन भागों मे प्रकाशित किया।

इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार-शृंखला-बद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियो के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप मे जो जो परिवर्त्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सब के सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात आठ सौ वर्षों की सचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी; पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न भिन्न शाखाओं के हजारो कवियो की केवल

कालक्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन मे कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं ? सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों मे आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

पाँच या छः वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिए मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिंदी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'हिंदी-शब्द सागर' समाप्त हो जाने पर उसकी भूमिका के रूप मे भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया अतः एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा। साहित्य का इतिहास लिखने के लिये जितनी अधिक सामग्री मै जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रख-कर यह कार्य्य पूरा किया।

इस पुस्तक में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है उसका थोड़े मे उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

पहले काल विभाग को लीजिए। जिस काल-खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढग की रचना को प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं मे से चाहे किसी (एक) ढंग की रचना को लें वह परिमाण मे प्रथम के बराबर न होगी; यह नहीं कि और सब ढगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। जैसे, यदि किसी काल मे पाँच ढंग की रचनाएँ १०, ५, ६, ७ और २ के क्रम से मिलती है तो जिस ढंग की रचना की १० पुस्तकें है उसकी प्रचुरता कही जायगी यद्यपि शेष और ढंग की सब पुस्तकें मिलकर २० हैं। यह तो हुई पहली बात। दूसरी बात है ग्रंथो की प्रसिद्धि। किसी काल के

भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत-अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जायगी, चाहे और दूसरे-दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत-सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। सारांश यह कि इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभाग का नामकरण किया गया है।

आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा काल' रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती है—अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों मे कई तो जैनों के धर्म-तत्त्व निरूपण-संबंधी हैं जो साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिये ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था। साहित्य-कोटि में आनेवाली रचनाओं मे कुछ तो भिन्न भिन्न विषयो पर फुटकल दोहे हैं जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं—

१ विजयपाल रासो
२ हम्मीर रासो
३ कीर्त्तिलता
४ कीर्त्तिपताका

देशभाषा काव्य की आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—

५ खुमान रासो
६ बीसलदेव रासो
७ पृथ्वीराज रासो
८ जयचंद-प्रकाश
९ जयमयंक जस-चंद्रिका
१० परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप
११ खुसरो की पहेलियाँ आदि
१२ विद्यापति-पदावली

इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमे से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा काल' ही रखा जा सकता है। जिस सामाजिक या राजनीतिक परिस्थिति की प्रेरणा से वीरगाथाओ की प्रवृत्ति रही है उसका सम्यक् निरूपण पुस्तक मे कर दिया गया है।

मिश्रबंधुओं ने इस 'आदिकाल' के भीतर इतनी पुस्तको की और नामावली दी है—

१ भगवद्गीता
२ वृद्ध नवकार
३ वर्त्तमाल
४ समतसार
५ पत्तलि
६ अनन्य योग
७ जंबूस्वामी रासा
८ रैवतगिरि रासा
९ नेमिनाथ चउपई
१० उवएस-माला (उपदेशमाला)

इनमे से न० १ तो पीछे की रचना है, जैसा कि उसकी इस भाषा से स्पष्ट है—

तेहि दिन कथा कीन मन लाई। हरि के नाम गीत चित आई॥
सुमिरौं गुरु गोविंद के पाऊँ। अगम अपार है जाकर नाऊँ॥

जो वीररस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्व देखकर प्राकृत भाषा और कहीं चौपाई देखकर ही अवधी या बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को 'थाट' और विचार को 'फीलिंग' कहते हैं वे यदि उद्धृत पद्यों को संवत् १००० के क्या संवत् ५०० के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुस्तक की संवत्-सूचक पंक्ति का यह गड़बड़ पाठ ही सावधान करने के लिये काफी है—'सहस्र सो सपूरन जाना।"

अब रहीं शेष नौ पुस्तकें। उनमे नं० २, ७, ९ और १० जैनधर्म के तत्त्व-निरूपण पर हैं और साहित्य-कोटि मे नहीं आ सकतीं। नं० ६ योग की पुस्तक है। नं० ३ और नं० ४ केवल नोटिस मात्र हैं; विषयो का कुछ भी विवरण नहीं है। इस प्रकार केवल दो साहित्यिक पुस्तके बचीं जो वर्णनात्मक (डेस्क्रिप्टिव) हैं—एक मे नद के ज्योनार का वर्णन है, दूसरी मे गुजरात के रैवतक पर्वत का। अतः इन पुस्तको की नामावली से मेरे निश्चय मे किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ सकता। यदि ये भिन्न भिन्न प्रकार की ९ पुस्तकें साहित्यिक भी होतीं तो भी मेरे नामकरण मे कोई बाधा नहीं डाल सकती थीं; क्योंकि मैने ९ प्रसिद्ध वीरगाथात्मक पुस्तकों का उल्लेख किया है।

एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की परंपराएँ चली हुई पाई गई हैं वहाँ अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है। जैसे, भक्तिकाल के भीतर पहले तो दो काव्य-धाराएँ—निर्गुण धारा और सगुण धारा—निर्दिष्ट की गई हैं। फिर प्रत्येक धारा की दो दो शाखाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित हुई हैं—निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी (सूफी) शाखा तथा सगुण धारा की रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखा। इन धाराओं और शाखाओ की प्रतिष्ठा यो ही मनमाने ढंग पर नहीं की गई है। उनकी एक दूसरी से अलग करनेवाली विशेषताएँ अच्छी तरह दिखाई भी गई हैं और देखते ही ध्यान मे आ भी जायँगी।

रीति-काल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परपरा चली है उसका उप-विभाग करने का कोई सगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? किसी काल-विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहला सकता। जब तक पूर्व और उत्तर के अलग अलग लक्षण न बताए जायँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोडे थोडे अंतर पर होनेवाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्त्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल मे होनेवाले सब कवियो में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए।

रीतिबद्ध ग्रंथो की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्य्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।

रीति-काल के संबंध में दो बातें और कहनी हैं। इस काल के कवियो के परिचयात्मक वृत्तों की छानबीन में मै अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हूँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढॉचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्त्तन करना। अतः कवियों के परिचयात्मक विवरण मैने प्रायः मिश्रबंधु विनोद से ही लिए है। कहीं कहीं कुछ कवियो के विवरणो में परिवर्द्धन और परिष्कार भी किया है; जैसे, ठाकुर, दीनदयाल गिरि, रामसहाय और रसिक-गोविंद के विवरणो में। यदि कुछ कवियों के नाम छूट गए या किसी कवि की किसी मिली हुई पुस्तक का उल्लेख नहीं हुआ तो इससे मेरी कोई बड़ी उद्देश्य-हानि नहीं हुई। इस काल के भीतर मैने जितने कवि लिए हैं या जितने ग्रथों के नाम दिए हैं उतने ही जरूरत से ज्यादा मालूम हो रहे हैं।

रीतिकाल या और किसी काल के कवियो की साहित्यिक विशेषताओं के संबंध मे मैंने जो सक्षिप्त विचार प्रकट किए है वे दिग्दर्शन मात्र के लिये। इतिहास की पुस्तक मे किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती। किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतंत्र प्रबंध या पुस्तक के रूप मे लिखूँगा। बहुत प्रसिद्ध कवियो के सबंध मे ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखना पड़ा है। पर वहॉ भी विशेष विशेष प्रवृत्तियो का ही निर्धारण किया गया है। यह अवश्य है कि उनमे से कुछ प्रवृत्तियो को मैंने रसोपयोगी और कुछ को बाधक कहा है।

आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है। इसलिये उसके प्रसार का वर्णन विशेष विस्तार के साथ करना पड़ा है। इस थोड़े से काल के बीच मे हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ था। पहले मेरा विचार आधुनिक काल को 'द्वितीय उत्थान' के आरंभ तक

लाकर उसके आगे की प्रवृत्तियों का सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही छोड़ देने का था, क्योकि वर्त्तमान लेखकों और कवियों के संबंध में कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था। पर जी न माना। वर्त्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते डरते किया गया।

वर्त्तमान काल के अनेक प्रतिभा-सपन्न और प्रभावशाली लेखको और कवियो के नाम जल्दी में या भूल से छूट गए होंगे। इसके लिये उनसे तथा उनसे भी अधिक उनकी कृतियों से विशेष रूप मे परिचित महानुभावों से क्षमा की प्रार्थना है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है इससे इसका जो रूप मैं रखना चाहता था वह भी इसे पूरा पूरा नहीं प्राप्त हो सका है। कवियों और लेखकों के नामोल्लेख के संबंध मे एक बात का निवेदन और है। इस पुस्तक का उद्देश्य संग्रह नहीं था। इससे आधुनिक काल के अंतर्गत सामान्य लक्षणों और प्रवृत्तियो के वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। अगले संस्करण में इस काल का प्रसार कुछ और अधिक हो सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य का यह इतिहास 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी-साहित्य का विकास' के नाम से सन् १९२९ के जनवरी महीने में निकल चुका है। इस अलग पुस्तकाकार संस्करण में बहुत सी बातें बढ़ाई गई है—विशेषतः आदि और अत में। 'आदि काल' के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं क्योकि वे सदा से 'भाषा-काव्य' के अंतर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यो के नाम गिनाती चली आई है जो अपभ्रंश मे हैं—जैसे, कुमारपालचरित और शार्ङ्गधर-कृत हम्मीररासो। 'हम्मीररासो' का पता नहीं है। पर 'प्राकृत-पिंगल-सूत्र' उलटते पुलटते मुझे हम्मीर के युद्धों के वर्णन-वाले कई बहुत ही ओजस्वी पद्य, छंदो के उदाहरण में, मिले। मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है कि ये पद्य शार्ङ्गधर के प्रसिद्ध 'हमीररासो' के ही हैं।

आधुनिक काल के अत में वर्त्तमान काल की कुछ विशेष प्रवृत्तियों के वर्णन

को थोड़ा और पल्लवित इसलिये करना पड़ा जिसमें उन प्रवृत्तियों के मूल का ठीक ठीक पता केवल हिंदी पढ़नेवालों को भी हो जाय और वे धोखे में न रहकर स्वतंत्र विचार में समर्थ हो।

मिश्रबंधुओं के प्रकाड कविवृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' का उल्लेख हो चुका है। 'रीतिकाल' के कवियों के परिचय लिखने में मैंने प्रायः उक्त ग्रंथ से ही विवरण लिए हैं अतः आधुनिक शिष्टता के अनुसार उसके उत्साही और परिश्रमी संकलन-कर्त्ताओ को धन्यवाद देना मैं बहुत जरूरी समझता हूँ। हिंदी-पुस्तकों की खोज की रिपोर्टें भी मुझे समय समय पर—विशेषतः सदेह के स्थल आने पर उलटनी पड़ी हैं। राय साहब बाबू श्यामसुंदर दास बी० ए० की 'हिंदी-कोविद-रत्नमाला,' श्रीयुत पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' तथा श्रीवियोगी हरिजी के 'व्रजमाधुरी सार' से भी बहुत कुछ सामग्री मिली है, अतः उक्त तीनो महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। 'आधुनिक काल' के प्रारंभिक प्रकरण लिखते समय जिस कठिनता का सामना पड़ा उसमें मेरे बड़े पुराने मित्र पं० केदारनाथ पाठक ही काम आए। पर न आज तक मैंने उन्हे किसी बात के लिये धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। 'धन्यवाद' को वे "आजकल की एक बदमाशी" समझते हैं।

इस कार्य में मुझसे जो भूलें हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनकी पूर्ति की और जो अपराध बन पड़े हैं उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ संतोष लाभ कर सकता हूँ।

काशी
आषाढ़ शुक्ल ५, १९८६

रामचंद्र शुक्ल

संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण के संबंध में

दो बातें

कई संस्करणों के उपरान्त इस पुस्तक के परिमार्जन का पहला अवसर मिला, इससे इसमें कुछ आवश्यक संशोधन के अतिरिक्त बहुत सी बातें बढ़ानी पड़ीं।

'आदिकाल' के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिये करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्त्तित निर्गुण संत-मत के प्रचार के लिये किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योग-धारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।

'भक्ति-काल' के अंतर्गत स्वामी रामानद और नामदेव पर विशेषरूप से विचार किया गया है; क्योंकि उनके संबंध में अनेक प्रकार की बातें प्रचलित हैं। 'रीति-काल' के 'सामान्य परिचय' मे हिंदी के अलंकार-ग्रंथों की परंपरा का उद्भम और विकास कुछ अधिक विस्तार के साथ दिखाया गया है। घनानंद आदि कुछ मुख्य मुख्य कवियों का आलोचनात्मक परिचय भी विशेष रूप में मिलेगा।

'आधुनिक काल' के भीतर खड़ी बोली के गद्य का इतिहास इधर जो कुछ सामग्री मिली है उसकी दृष्टि से एक नए रूप में सामने लाया गया है। हिंदी के मार्ग मे जो जो विलक्षण बाधाएँ पड़ी हैं उनका भी सविस्तर उल्लेख है। पिछले संस्करणों में वर्तमान अर्थात् आजकल चलते हुए साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों का संकेत मात्र करके छोड़ दिया गया था। इस संस्करण में सम-सामयिक साहित्य का अब तक का आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है जिससे आजतक के साहित्य की गति-विधि का पूरा परिचय प्राप्त होगा।

आशा है कि इस संशोधित और प्रवर्द्धित रूप में यह इतिहास विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

अक्षय तृतीया
संवत् १९९७ } **रामचंद्र शुक्ल**

प्रकाशक का वक्तव्य

इस पुस्तक का यह नवीन संस्करण इसके विद्वान् लेखक द्वारा संशोधित और प्रवर्धित रूप में पाठकों की सेवा में उपस्थित है। लेखक तथा प्रकाशक ने इसकी अनुदिन बढ़ती हुई माँग को देखकर इसे शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित करने का घोर प्रयत्न किया, किंतु जिस रूप में इसको निकालने का विचार था वह अत्यंत श्रमसाध्य होने के कारण समय पर न निकल सका जिससे पाठकों, विशेषकर परीक्षार्थियों, को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। पर पाठको की सुविधा को सर्वोपरि रखते हुए हमे प्रस्तुत रूप में पुस्तक को प्रकाशित करना पड़ रहा है। लेखक को कुछ नवीन कवियो और लेखकों के विषय में लिखना अभी शेष था। इसके लिये हम क्षम्य हैं। अगले संस्करण में उसकी पूर्ति अवश्य कर दी जायगी।

प्रधान मंत्री,

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

लेखक का अचानक देहावसान हो जाने से नई धारा के कई वर्तमान कवियो का विवेचन विस्तृत रूप मे नहीं प्राप्त हो सका। फलतः 'पंजाब संस्करण' में जो संक्षिप्त विवेचन छापा गया था वही इस ग्रंथ मे, पृष्ठ ६२३ के अंतिम अनुच्छेद से लेकर पृष्ठ ६३० तक उद्धृत कर दिया गया है।

जन्माष्टमी, संवत् १९९९

विषय-सूची

(दिए हुए अंक पृष्ठों के हैं)

काल-विभाग

आदि-काल

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

अपभ्रंश-काल

प्रकरण ३

देशभाषा काव्य

वीरगाथा

प्रकरण ४

फुटकल रचनाएँ

पूर्व मध्यकाल

भक्तिकाल (१३७५-१७००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

निर्गुण धारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

प्रकरण ३

प्रेममार्गी (सूफी) शाखा

प्रकरण ४

सगुण धारा

रामभक्ति शाखा

प्रकरण ५

कृष्णभक्ति शाखा

प्रकरण ६

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

उत्तर मध्यकाल

रीतिकाल (१७००-१९००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

प्रकरण ३

रीतिकाल के अन्य कवि

आधुनिक काल

(संवत् १९००-१९८०)

गद्य खंड

प्रकरण १

गद्य का विकास

आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

(व्रजभाषा गद्य)

(खड़ी बोली-गद्य)

प्रकरण २

गद्य-साहित्य का आविर्भाव

आधुनिक गद्य साहित्य-परंपरा का प्रवर्त्तन

प्रथम उत्थान

(सं० १९२५-५०)

प्रकरण ३

गद्य-साहित्य का प्रसार

द्वितीय उत्थान

(१९५०–७५)

सामान्य परिचय

गद्य-साहित्य की वर्त्तमान गति

तृतीय उत्थान

(सं० १९७५ से)

आधुनिक-काल

(सं० १९०० से···)

काव्य-खंड

प्रकरण १

पुरानी धारा

प्रकरण २

नई धारा

प्रथम उत्थान

(सं० १९२५-५०)

द्वितीय उत्थान

(सं० १९५०-७५)

तृतीय उत्थान

(सं० १९७५ से···)

वर्तमान काव्य-धाराएँ

सामान्य परिचय

हिंदी-साहित्य का इतिहास

काल-विभाग

जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप मे भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्ही चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियो का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य का विवेचन करने मे यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि किसी विशेष समय मे लोगो मे रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिंदी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों मे विभक्त कर सकते हैं—

आदिकाल (वीरगाथा-काल, सवत् १०५०—१३७५)
पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५—१७००)
उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००—१९००)
आधुनिक काल (गद्यकाल, १९००—१९८४)

यद्यपि इन कालों की रचनाओ की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी काल मे और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को लें तो उसमे वीररस के अनेक काव्य मिलेंगें जिनमे वीर राजाओ की प्रशंसा उसी ढंग

की होगी जिस ढंग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी। अतः प्रत्येक काल का वर्णन इस प्रणाली पर किया जायगा कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का वर्णन होगा जो उस काल के लक्षण के अंतर्गत होंगी; पीछे संक्षेप में उनके अतिरिक्त और प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख होगा।

आदि काल

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। उस समय जैसे "गाथा" कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही "दोहा" या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यो का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धो की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण मे लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) मे तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्यरचनाओ मे भी पाया जाता है। अतः हिंदी-साहित्य का आदिकाल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। यद्यपि जनश्रुति इस काल का आरंभ और पीछे ले जाती है और संवत् ७७० मे भोज के पूर्वपुरुष राजा मान के सभासद पुष्य नामक किसी बंदीजन का दोहो मे एक अलंकार-ग्रंथ लिखना बताती है (दे० शिवसिंहसरोज) पर इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आदिकाल की इस दीर्घ परपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहो में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानो की चढ़ाइयो का आरभ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप मे बँधती हुई पाते है। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओ मे सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितो या गाथाओ का

वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध-परंपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।

दूसरी बात इस आदिकाल के संबंध में ध्यान देने की यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिंदी है। इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इनकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य-परंपरा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिए ही हैं (जैसे पीछे की हिंदी में तत्सम संस्कृत शब्द लिए जाने लगे), विभक्तियाँ, कारकचिह्न और क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस-घिसाकर बिल्कुल जिस रूप में आ गई थी सारा वही रूप न लेकर कवि, चारण आदि भाषा का बहुत कुछ वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनसे कई सौ वर्ष पहले से कवि-परंपरा रखती चली आती थी।

अपभ्रंश के जो नमूने हमें पद्यों में मिलते हैं वे उस काव्यभाषा के हैं जो अपने पुरानेपन के कारण बोलने की भाषा से कुछ अलग बहुत दिनों तक—आदिकाल के अंत क्या उसके कुछ पीछे तक—पोथियों में चलती रही। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में एक ओर तो पुरानी परंपरा के कोई कवि—संभवतः शार्ङ्गधर—हम्मीर की वीरता का वर्णन ऐसी भाषा में कर रहे थे—

चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥

दूसरी ओर खुसरो मियाँ दिल्ली में बैठे ऐसी बोलचाल की भाषा में पहेलियाँ और मुकरियाँ कह रहे थे—

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया॥

इसी प्रकार १५वीं शताब्दी में एक ओर तो विद्यापति बोलचाल की

मैथिली के अतिरिक्त इस प्रकार की प्राकृताभास पुरानी काव्यभाषा भी भनते रहे—

बालचंद बिज्जावइ भासा। दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन-हासा ॥

और दूसरी ओर कबीरदास अपनी अटपटी बानी इस बोली में सुना रहे थे—

अगिन जो लागी नीर में कंदो जलिया झारि ।
उतर दषिण के पंडिता रहे बिचारि बिचारि ॥

सारांश यह कि अपभ्रंश की यह परंपरा विक्रम की १५वी शताब्दी के मध्य तक चलती रही। एक ही कवि विद्यापति ने दो प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है—पुरानी अपभ्रंश भाषा का और बोलचाल की देशी भाषा का। इन दोनों भाषाओं का भेद विद्यापति ने स्पष्ट रूप से सूचित किया है—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जंपओं अवहट्ठा ॥

अर्थात् देशी भाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश (देशी भाषा मिला हुआ) मै कहता हूँ। विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न, प्रचलित बोलचाल की भाषा को "देशी भाषा" कहा है, अतः हम भी इस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग कहीं कहीं आवश्यकतानुसार करेंगे। इस आदि-काल के प्रकरण मे पहले हम अपभ्रंश की रचनाओं का संक्षिप्त उल्लेख करके तब देशभाषा की रचनाओ का वर्णन करेंगे।

प्रकरण २

अपभ्रंश काल

जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश-साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पहले जैसे 'गाथा' या 'गाहा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही पीछे 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या लोकप्रचलित काव्यभाषा का बोध होने लगा। इस पुरानी प्रचलित काव्यभाषा में नीति, शृंगार, वीर आदि की कविताएँ तो चली ही आती थीं, जैन और बौद्ध धर्माचार्य्य अपने मतों की रक्षा और प्रचार के लिये भी इसमें उपदेश आदि की रचना करते थे। प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य-रचना के लिये रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिये अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।

भरत मुनि (विक्रम तीसरी शती) ने 'अपभ्रंश' नाम न देकर लोकभाषा को 'देशभाषा' ही कहा है। वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' में भी अपभ्रंश का उल्लेख नहीं है। 'अपभ्रंश' नाम पहले पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि० सं० ६५० के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है। भामह (विक्रम ७वीं शती) ने भी तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है। बाण ने 'हर्षचरित' में संस्कृत कवियों के साथ भाषा-कवियों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी में रचना होने का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी में मिलता है। उस काल की रचना के नमूने बौद्धों की वज्रयान शाखा के सिद्धों की कृतियों के बीच मिले हैं।

संवत् ९९० मे देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होने भी 'श्रावकाचार' नामक एक पुस्तक दोहो मे बनाई थी, जिसकी भाषा अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप लिए हुए है, जैसे—

जो जिण सासण भाषियउ सो मई कहियउ सारु।
जो पालइ सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

इन्हीं देवसेन ने 'दब्ब-सहाव-पयास' (द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश) नामक एक और ग्रंथ दोहों मे बनाया था जिसका पीछे से माइल्ल धवल ने 'गाथा' या साहित्य की प्राकृत मे रूपांतर किया। इसके पीछे तो जैन कवियो की बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जैसे श्रुतिपंचमीकथा, योगसार, जसहर-चरिउ, णायकुमारचरिउ इत्यादि। ध्यान देने की बात यह है कि चरित्र-काव्य या आख्यान-काव्य के लिये अधिकतर चौपाई दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है। पुष्पदंत (संवत् १०२९) के 'आदिपुराण' और 'उत्तरपुराण' चौपाइयो मे है। उसी काल के आसपास का 'जसहरचरिउ' (यशधरचरित्र) भी चौपाइयो मे रचा गया है, जैसे —

विणु धवलेण सयडु किं हल्लइ। विणु जीवेण देहु किं चल्लइ॥
विणु जीवेण मोक्ख को पावइ। तुम्हारिसु किं अप्पइ आवइ॥

चौपाई-दोहे की यह परंपरा हम आगे चलकर सूफियो की प्रेम-कहानियों मे, तुलसी के रामचरितमानस मे तथा छत्रप्रकाश, व्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यो मे पाते हैं।

बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप मे देश के पूरबी भागो में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तान्त्रिको के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं मे हुए है जिनका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तान्त्रिक योगियो को लोग अलौकिक-शक्ति-संपन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियो और विभूतियों के लिये प्रसिद्ध थे। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' मे भैरवानंद के नाम से एक ऐसे ही सिद्ध योगी का समावेश किया है। इस प्रकार जनता पर इन सिद्ध योगियो का प्रभाव विक्रम की १०वीं शती से ही पाया जाता है, जो मुसलमानों के आने पर पठानो के समय तक कुछ न कुछ बना रहा।

बिहार के नालंदा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इसके अड्डे थे। बख्तियार खिलजी ने इन दोनों स्थानों को जब उजाड़ा तब ये तितर-बितर हो गए। बहुत से भोट आदि अन्य देशों को चले गए।

चौरासी सिद्धों के नाम ये हैं—लूहिपा, लीलापा, विरूपा, डोभिपा, शबरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालपा, धोभीपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुक्कुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचितिपा, भल्लहपा, नलिनपा, भूसुकुपा, इंद्रभूति, मेकोपा, कुठालिपा, जालंधरपा, राहुलपा, घर्वरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चंपकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चँवरिपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलापा (योगिनी), कलकलपा, कंतालीपा, धहुरिपा, उधरिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा (योगिनी), समुद्पा, भलिपा।

('पा' आदरार्थक 'पाद' शब्द है। इस सूची के नाम पूर्वापर कालानुक्रम से नहीं है। इनमे से कई एक समसामयिक थे।)

वज्रयान शाखा मे जो योगी 'सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए वे अपने मत का संस्कार जनता पर भी डालना चाहते थे। इससे वे संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अपनी बानी अपभ्रंश-मिश्रित देशभाषा या काव्यभाषा मे भी बराबर सुनाते रहे। उनकी रचनाओं का एक संग्रह पहले म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने बँगला अक्षरों मे "बौद्धगान ओ दोहा" के नाम से निकाला था। पीछे त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायनजी भोट देश मे जाकर सिद्धों की और बहुत सी रचनाएँ लाए। सिद्धों मे सबसे पुराने 'सरह' (सरोजवज्र भी नाम है) हैं जिनका काल डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य[1] ने विक्रम संवत् ६९० निश्चित किया है। उनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

1—Buddhist Esoterism.

अंतस्साधना पर जोर और पंडितों को फटकार—

पंडिअ सअल सत्त वक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन बिखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि बट चित्त विसाम करु सरेहे कहिअ उवेस॥
घोर अँधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ॥
जीवंतह जो नउ जरइ सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें विमलमइ सो पर धण्णा कोइ॥

दक्षिण मार्ग छोड़कर वाममार्ग-ग्रहण का उपदेश—

नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल। चिअराअ सहावे मूकल।
उजु रे उजु छाडि मा लेहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लंक॥

लूहिपा या लूइपा (संवत् ८३० के आसपास) के गीतों से कुछ उद्धरण—

काआ तरुवर पंच बिड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण। लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण॥

भाव न होइ, अभाव ण जाइ। अइस संबोहे को पतिआइ?
लूइ भणइ वट दुलक्ख बिणाण। तिअ धाए विलसइ, उह लागे णा।

बिरूपा (संवत् ९०० के लगभग) की वारुणी प्रेरित अंतर्मुख साधना की पद्धति देखिए—

सहजे थिर करि वारुणी साध। जे अजरामर होइ दिट काँध।
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ। आइल गराहक अपणे बहिआ।
चउशठि घड़िए देट पसारा। पइठल गराहक नाहि निसारा।

कण्हपा (सं० ९०० के उपरांत) की बानी के कुछ खंड नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

एक ण किज्जइ मंत्र ण तंत। णिअ वरणी लइ केलि करंत।
णिअ वर घरिणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जइ।
जिमि लोण विलज्जइ पाणिएहि, तिमि घरिणी लइ चित्त।
समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त॥

वज्रयानियों की योग-तंत्र-साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का—विशेषतः डोमिनी, रजकी आदि का—अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था। सिद्ध कण्हपा डोमिनी का आह्वान-गीत इस प्रकार गाते हैं—

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो बाह्म नाडिया।

आलो डोंबि! तोए सम करिब म साँग। निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग॥
एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी। तहि चढि नाचअ डोंबी बापुड़ी॥
हालो डोंबी! तो पुछमि सदभावे। अइससि जासि डोंबी काहरि नावे॥

गंगा जउँना माझे रे बहइ नाई।
तहि बुडिलि मातंगि पोइआ लीले पार करेइ।
बाहतु डोंबी, बाहलो डोंबी बाट त भइल उछारा।
सद्गुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा॥

काआ नावडि, खँटि मन करिआल। सद्गुरु बअणे धर पतवाल।
चीअ थिर करि गहु रे नाई। अन्न उपाये पार ण जाई।

कापालिक जोगियों से बचे रहने का उपदेश घर में सास ननँद आदि देती ही रहती थीं, पर वे आकर्षित होती ही थीं—जैसे कृष्ण की ओर गोपियाँ होती थीं—

राग देस मोह लाइअ छार। परम मोख लवए मुत्तिहार।
मारिअ सासु नणंद घरे शाली। माअ मारिया, कण्ह, भइअ कबाली।

थोड़ा घट के भीतर का विहार देखिए—

नाडि शक्ति दिअ धरिअ खट्टे। अनह डमरु बाजइ बीर नादे।
काण्ह कपाली जोगी पइठ अचारे। देह-नअरी विहरइ एकारे॥

इसी ढग का **कुकुरिपा** (सं० ९०० के उपरांत) का एक गीत लीजिए—

ससुरी निंद गेल, बहुड़ी जागअ । कानेट चोर निलका गइ मागअ ।
दिवसइ बहुड़ी काढइ डरे भाअ । राति भइले कामरू जाअ ॥

रहस्य-मार्गियो की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी बानी को ऐसी पहेली के रूप मे भी रखते थे जिसे कोई बिरला ही बूझ सकता है। सिद्ध **तांतिपा** की अटपटी बानी सुनिए—

बेंग संसार वाडहिल जाअ । दुहिल दूध कि वेंटे समाअ ।
बलद बिआएल गविआ बाँझे । पिटा दुहिए एतिना साँझे ।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी । जो सो चोर सोइ साधी ।
निते निते षिआला पिहे षम जूझअ । ढेंढपाएर गीत बिरले बूझअ ।

बौद्ध धर्म ने जब तान्त्रिक रूप धारण किया तब उसमे पॉच ध्यानी बुद्धो और उनकी शक्तियो के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्त्वो की भावना की गई जो सृष्टि का परिचालन करते है। वज्रयान मे आकर 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ। प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुखदशा की प्राप्ति मानी गई। इसे आनंद-स्वरूप ईश्वरत्व ही समझिए। निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गए— शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद् मे तो ब्रह्मानंद के सुख के परिमाण का अंदाजा कराने के लिये उसे सहवास-सुख से सौगुना कहा था पर वज्रयान मे निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास-सुख के समान बताया गया। शक्तियो सहित देवताओ के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्त्तियॉ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओ मे बनने लगीं, जो कहीं कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान स्थान पर होने लगे। ऊँचे नीचे कई वर्णों की स्त्रियो को लेकर मद्यपान के साथ अनेक बीभत्स विधान वज्रयानियो की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिये किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था। इसमे कोई सदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत मे आए उस समय देश के पूरबी भागो मे (बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।

रहस्यवादियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे, जैसे—

काआ तरुवर पंच बिड़ाल

(पंच बिड़ाल = बौद्ध शास्त्रों में निरूपित पंच प्रतिबंध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह। ध्यान देने की बात यह है कि विकारों की यही पाँच संख्या निर्गुण धारा के संतों और हिंदी के सूफी कवियों ने ली। हिंदू शास्त्रों में विकारों की बँधी संख्या ६ है।)

गंगा जउँना माझे बहइ रे नाई।

(= इला पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य देश की ओर यात्रा) इसी से वे अपनी बानियों की भाषा को "सध्याभाषा" कहते थे।[1]

ऊपर उद्धृत थोड़े से वचनों से ही इसका पता लग सकता है कि इन सिद्धों द्वारा किस प्रकार के सस्कार जनता में इधर उधर बिखेरे गए थे। जनता की श्रद्धा शास्त्रज्ञ विद्वानों पर से हटाकर अंतर्मुख साधनावाले योगियों पर जमाने का प्रयत्न 'सरह' के इस वचन "घट में ही बुद्ध है यह नहीं जानता, आवागमन को भी खंडित नहीं किया, तो भी निर्लज्ज कहता है कि मैं पंडित हूँ" में स्पष्ट झलकता है। यहाँ पर यह समझ रखना चाहिए कि योगमार्गी बौद्धों ने ईश्वरत्व की भावना कर ली थी—

प्रत्यात्मवेद्यो भगवान् उपमावर्जितः प्रभुः।
सर्वगः सर्वव्यापी च कर्त्ता हर्त्ता जगत्पतिः।
श्रीमान् वज्रसत्त्वोऽसौ व्यक्तभाव-प्रकाशकः।

—व्यक्तभावानुगत तत्त्वसिद्धि
(दारिकपा की शिष्या सहजयोगिनी चिंता कृत)

इसी प्रकार जहाँ रवि, शशि, पवन आदि की गति नहीं वहाँ चित्त को विश्राम कराने का दावा 'ऋजु' (सीधे, दक्षिण) मार्ग छोड़कर 'बंक' (टेढ़ा, वाम) मार्ग ग्रहण करने का उपदेश भी है। सिद्ध कण्हपा कहते हैं कि 'जब तक अपनी

१ Buddhist Esoterism.
Dr. Benoytosh Bhattacharya

गृहिणी का उपभोग न करेगा तब तक पंचवर्ण की स्त्रियों के साथ विहार क्या करेगा ?' वज्रयान मे 'महासुह' (महासुख) वह दशा बतलाई गई है जिसमें साधक शून्य मे इस प्रकार विलीन हो जाता है जिस प्रकार नमक पानी में। इस दशा का प्रतीक खड़ा करने के लिये 'युगनद्ध' (स्त्री-पुरुष का आलिंगनबद्ध जोड़ा) की भावना की गई। कण्हपा का यह वचन कि "जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लई चित्त", इसी सिद्धात का द्योतक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कौल, कापालिक आदि इन्ही वज्रयानियो से निकले। कैसा ही शुद्ध और सात्त्विक धर्म हो, 'गुह्य' और 'रहस्य' के प्रवेश से वह किस प्रकार विकृत और पाषंडपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है।

गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धो की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धो मे गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिन लिए गए हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होने अपना मार्ग अलग कर लिया। योगियों की इस हिंदूशाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानो से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ श्रृंगारमयी वाणी भी नाथपंथ के किसी किसी ग्रंथ (जैसे, शक्तिसंगमतंत्र) मे मिलती है। गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वर-प्राप्ति को लेकर हठयोग का प्रवर्त्तन किया। वज्रयानी सिद्धो का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पश्चिमी भागो मे—राजपूताने और पंजाब मे—किया। पंजाब मे नमक के पहाड़ों के बीच बालनाथ जोगी का स्थान बहुत दिनो तक प्रसिद्ध रहा। जायसी की पद्मावत में "बालनाथ का टीला" आया है।

गोरखनाथ के समय का ठीक पता नही। राहुल सांकृत्यायन जी ने वज्रयानी सिद्धो की परपरा के बीच उनका जो स्थान रखा है उसके अनुसार उनका समय विक्रम की दसवी शताब्दी आता है। उनका आधार वज्रयानी सिद्धो की एक पुस्तक "रत्नाकर जोपम कथा" है, जिसके अनुसार मीननाथ के पुत्र मत्स्येंद्रनाथ कामरूप के मछवाहे थे और चर्पटीपा के शिष्य होकर सिद्ध हुए थे। पर सिद्धो की अपनी सूची मे सांकृत्यायन जी ने ही मत्स्येंद्र को जलंधर का शिष्य लिखा है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ (मछंदरनाथ) थे, यह तो प्रसिद्ध ही है। सांकृत्यायन जी ने मीननाथ या मीनपा

को पालवंशी राजा देवपाल के समय मे अर्थात् संवत् ६०० के आसपास माना है। यह समय उन्होंने किस आधार पर स्थिर किया, पता नहीं। यदि सिद्धो की उक्त पुस्तक मे मीनपा के राजा देवपाल के समय में होने का उल्लेख होता तो वे उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते। चौरासी सिद्धो के नामो मे हेर-फेर होना बहुत संभव है। हो सकता है कि गोरक्षपा और चौरंगीपा के नाम पीछे से जुड़ गए हो और मीनपा से मत्स्येंद्र का, नाम-साम्य के अतिरिक्त, कोई संबंध न हो। ब्रह्मानंद ने दोनो को बिल्कुल अलग माना भी है (Saraswati Bhawan Studies)। संदेह यह देखकर और भी होता है कि सिद्धों की नामावली मे और सब सिद्धो की जाति और देश का उल्लेख है, पर गोरक्ष और चौरंगी का कोई विवरण नहीं। अतः गोरखनाथ का समय निश्चित रूप से विक्रम की १०वीं शताब्दी मानते नहीं बनता।

महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव ने, जो अलाउद्दीन के समय (संवत् १३५८) मे थे, अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा मे कहा है। उन्होंने यह परंपरा इस क्रम से बताई है—

आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर।

इस महाराष्ट्र-परंपरा के अनुसार गोरखनाथ का समय महाराज पृथ्वीराज के पीछे आता है। नाथ-परंपरा मे मत्स्येंद्रनाथ के गुरु जलंधरनाथ माने जाते हैं। भोट के ग्रंथो मे भी सिद्ध जलंधर आदिनाथ कहे गए हैं। सब बातों का विचार करने से हमे ऐसा प्रतीत होता है कि जलंधर ने ही सिद्धो से अपनी परपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। वहाँ काँगड़े की पहाड़ियों तथा और स्थानों मे रमते रहे। पंजाब का जलंधर शहर उन्हीं का स्मारक जान पड़ता है। नाथ संप्रदाय के किसी ग्रंथ में जलंधर को बालनाथ भी कहा है। नमक के पहाड़ों के बीच 'बालनाथ का टीला' बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। मत्स्येंद्र जलंधर के शिष्य थे, नाथपंथियों की यह धारणा ठीक जान पड़ती है। मीनपा के गुरु चर्पटीनाथ हो सकते हैं, पर मत्स्येंद्र के गुरु जलंधर ही थे। सांकृत्यायन जी ने गोरख का जो समय स्थिर किया है, वह मीनपा को राजा देवपाल का सम-सामयिक और मत्स्येंद्र का पिता मानकर। मत्स्येंद्र का मीनपा से कोई संबंध न रहने पर उक्त समय मानने का कोई आधार नहीं रह जाता और पृथ्वी-

राज के समय के आसपास ही—विशेषतः कुछ पीछे—गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ़ होता है।

जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है उसी प्रकार नाथो की संख्या नौ। अब भी लोग नवनाथ और चौरासी सिद्ध कहते सुने जाते हैं। 'गोरक्ष-सिद्धांतसंग्रह' मे मार्गप्रवर्त्तको के ये नाम गिनाए गए हैं—

नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन।

इन नामो मे नागार्जुन, चर्पट और जलंधर सिद्धो की परंपरा में भी हैं। नागार्जुन (सं० ७०२) प्रसिद्ध रसायनी भी थे। नाथपंथ मे रसायन की सिद्धि है। नाथपंथ सिद्धों की परंपरा से ही छूटकर निकला है, इसमे कोई संदेह नही।

इतिहास से इस बात का पता लगता है कि महमूद गजवनी के भी कुछ पहले सिंध और मुलतान में कुछ मुसलमान बस गए थे जिनमे कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियो ने भारतीय योगियो से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सीखी, इसका उल्लेख मिलता है। अतः गोरखनाथ चाहे विक्रम की १०वीं शताब्दी मे हुए हों चाहे १३वी मे, उनका मुसलमानो से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है; क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, उन्होने अपने पंथ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया।

इतिहास और जनश्रुति से इस बात का पता लगता है कि सूफी फकीरो और पीरो के द्वारा इसलाम को जनप्रिय बनाने का उद्योग भारत मे बहुत दिनो तक चलता रहा। पृथ्वीराज के पिता के समय मे ख्वाजा मुईनुद्दीन के अजमेर आने और अपनी सिद्धि का प्रभाव दिखाने के गीत मुसलमानो मे अब तक गाए जाते हैं। चमत्कारों पर विश्वास करनेवाली भोली-भाली जनता के बीच अपना प्रभाव फैलाने मे इन पीरों और फकीरो को सिद्धो और योगियो से मुकाबला करना पड़ा जिनका प्रभाव पहले से जमा चला आ रहा था। भारतीय मुसलमानो के बीच, विशेषतः सूफियो की परंपरा में, ऐसी अनेक कहानियाँ चलीं जिनमें किसी पीर ने किसी सिद्ध या योगी को करामात मे पछाड़ दिया। कई योगियो के साथ ख्वाजा मुईनुद्दीन का भी ऐसा ही करामाती दंगल कहा जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गोरखनाथ की हठयोग-साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अतः उसमे मुसलमानो के लिये भी आकर्पण था। ईश्वर से मिलाने वाला योग हिंदुओ और मुसलमानो दोनों के लिये एक सामान्य साधना के रूप मे आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी। उसमे मुसलमानो को अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना की आवश्यकता न थी। अतः उन्होने दोनो के विद्वेप-भाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकलने की संभावना समझी थी और वे उसका संस्कार अपनी शिष्य-परंपरा मे छोड़ गए थे। नाथ-संप्रदाय के सिद्धात-ग्रंथो मे ईश्वरोपासना के बाह्य विधानो के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है, वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है, तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गए हैं।

१. योगशास्त्रं पठेन्नित्य किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः।

२. न वेदो वेद इत्याहुर्वेदा वेदो निगद्यते।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते॥
न सन्ध्या सन्धिरित्याहुः सन्ध्या सन्धिर्निगद्यते।
सुपुम्णा-सन्धिगः प्राणः सा सन्ध्या सन्धिरुच्यते॥

अतस्साधना के वर्णन में हृदय दर्पण कहा गया है जिसमें आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिंब पड़ता है—

३. हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत्।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं सुनिश्चितम्॥

परमात्मा की अनिर्वचनीयता इस ढंग से बताई गई है—

शिवं न जानामि कथं वदामि। शिवं च जानामि कथं वदामि॥

इसके संबंध में सिद्ध लुहिपा भी कह गए हैं—

भाव न होइ, अभाव न होइ। अइस संबोहे को पतिआइ?

'नाद' और 'बिंदु' संज्ञाएँ वज्रयानी सिद्धों में बराबर चलती रहीं। गोरख-सिद्धात मे इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

नाथांशो नादो, नादांशः प्राणः; शक्त्यंशो बिन्दु बिन्दोरंशः शरीरम् ।

—गोरक्षसिद्धांतसंग्रह

(गोपीनाथ कविराज संपादित)

'नाद' और 'बिंदु' के योग से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध और हठयोगी दोनों मानते थे ।

तीर्थाटन के संबंध मे जो भाव सिद्धों का था वही हठयोगियो का भी रहा । 'चित्तशोधनप्रकरण' में वज्रयानी सिद्ध आर्यदेव (कर्णरीपा) का वचन है—

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति ।
तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्नानं तु निष्फलम् ॥
धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्त्तानां कृतार्थता ।
नक्तं दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा ॥

जनता के बीच इस प्रकार के भाव क्रमशः ऐसे गीतो के रूप मे निर्गुणपंथी संतों द्वारा आगे भी बराबर फैलते रहे, जैसे—

गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे, मछरी न तरी जाके पानी में घर है ।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि ८४ सिद्धो मे बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा और बहुत से शूद्र कहे जानेवाले लोग थे । अतः जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे । नाथ-संप्रदाय भी जब फैला तब उसमे भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आए जो शास्त्रज्ञान-संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था[1] । पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिये शास्त्रज्ञ पंडितो और विद्वानों को फटकारना भी वे जरूरी समझते थे । सद्‌गुरु का माहात्म्य सिद्धों मे भी और उनमे भी बहुत अधिक था ।

नाथ-पंथ के जोगी कान की लौ मे बड़े बड़े छेद करके स्फटिक के भारी भारी कुंडल पहनते हैं, इससे कनफटे कहलाते है । जैसा पहले कहा जा चुका

१—The system of mystic culture introduced by Gorakhnath does not seem to have spread widely through the educated classes.

—Saraswati Bhawan Studies
(by Gopinath Kaviraj & Jha)

है, इस पंथ का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिये इस पंथ में भाषा के भी ग्रंथ लिखे गए तब उधर की ही प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हे मुसलमानो को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियों मे अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ-पंथ के इन जोगियो ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा मे, जिसका ढाँचा नागर-अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था। देशभाषा की इन पुस्तको मे पूजा, तीर्थाटन आदि के साथ साथ हज, नमाज आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार की एक पुस्तक का नाम है 'काफिरबोध'।[1]

नाथ-पथ के उपदेशों का प्रभाव हिंदुओ के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारंभकाल मे ही पड़ा। बहुत से मुसलमान, निम्न श्रेणी के ही सही, नाथ-पंथ मे आए। अब भी इस प्रदेश मे बहुत से मुसलमान जोगी गेरुआ वस्त्र पहने गुदड़ी की लंबी झोली लटकाए, सारंगी बजा बजाकर 'कलि मे अमर राजा भरथरी' के गीत गाते फिरते है और पूछने पर गोरखनाथ को अपना आदिगुरु बताते है। ये राजा गोपीचंद के भी गीत गाते है जो बंगाल मे चाटिगाँव के राजा थे और जिनकी माता मैनावती कहीं गोरख की शिष्या और कहीं जलंधर की शिष्या कही गई हैं।

देशभाषा में लिखी गोरखपंथ की पुस्तके गद्य और पद्य दोनो मे हैं और विक्रम संवत् १४०० के आसपास की रचनाएँ है। इनमे साम्प्रदायिक शिक्षा है। जो पुस्तके पाई गई हैं उनके नाम ये है—गोरख-गणेश गोष्ठी, महादेव-गोरख-संवाद, गोरखनाथ जी की सत्रह कला, गोरखबोध, दत्तगोरख-संवाद, योगेश्वरी साखी, नरवइ बोध, विराटपुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी। ये सब ग्रंथ गोरख के नहीं, उनके अनुयायी शिष्यों के रचे है। गोरख के समय में जो

[1] यह, तथा इसी प्रकार की और कुछ पुस्तकें, मेरे प्रिय शिष्य डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के पास हैं।

भाषा लिखने-पढ़ने मे व्यवहृत होती थी उसमे प्राकृत या अपभ्रंश शब्दो का थोड़ा या बहुत मेल अवश्य रहता था। उपर्युक्त पुस्तको मे 'नरवइ बोध' के नाम (नरवइ = नरपति) मे ही अपभ्रश का आभास है। इन पुस्तकों में अधिकतर संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद है। यह बात उनकी भाषा के ढंग से ही प्रकट होती है। 'विराट् पुराण' संस्कृत के 'वैराट पुराण' का अनुवाद है। गोरखपथ के ये संस्कृत ग्रंथ पाए जाते है—

सिद्ध-सिद्धात-पद्धति, विवेक-मार्त्तंड, शक्ति संगम तंत्र, निरंजन पुराण, वैराट पुराण।

हिंदी भाषा मे लिखी पुस्तकें अधिकतर इन्हीं के अनुवाद या सार हैं। हाँ, 'साखी' और 'बानी' मे शायद कुछ रचना गोरख की हो। पद का एक नमूना देखिए—

स्वामी तुम्हइ गुर गोसाई। अम्हे जो सिव सबद एक बूझिबा॥
निरारबे चेला कूण विधि रहै। सतगुरु होइ स पुछ्या कहै॥
अबधू रहिया हाटे बाटे रूप विरप की छाया।
तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया॥

सिद्धो और योगियो का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते है कि उनकी रचनाएँ तान्त्रिक विधान, योग-साधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रो और नाड़ियो की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र है; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो और दशाओ से उनका कोई संबध नही। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आती। उनको उसी रूप मे ग्रहण करना चाहिए जिस रूप मे ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ। उनका वर्णन यहाँ केवल दो बातो के विचार से किया गया है—

(१) पहली बात है भाषा। सिद्धो की उद्धृत रचनाओ की भाषा देशभाषामिश्रित अपभ्रश अर्थात् पुरानी हिंदी की काव्य-भाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा मे लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-

पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी (जैसे, भइले, वूड़िलि) मिले हुए हैं। पुरानी हिंदी की व्यापक काव्य-भाषा का ढाँचा शौरसेनी-प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् व्रज और खड़ी बोली (पच्छिमी हिंदी) का था। वही ढाँचा हम उद्धृत रचनाओं के—

जो, सो, मारिआ, पइठो, जाअ, किज्जइ, करंत, जाव (जब तव), ताव (तव तक), भइअ, कोइ

इत्यादि प्रयोगों में पाते हैं। ये प्रयोग मागधी-प्रसूत पुरानी बंगला के नहीं; शौरसेनी-प्रसूत पुरानी पच्छिमी हिंदी के हैं। सिद्ध कण्हपा की रचनाओं को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो एक बात साफ झलकती है। वह यह कि उनकी उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिंदी (काव्य-भाषा) है, पर गीत की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी' और 'रमैनी' (गीत) की भाषा में पाते हैं। 'साखी' की भाषा तो खड़ी बोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कड़ी' भाषा है, पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की व्रजभाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली भी है।

सिद्धों में 'सरह' सबसे पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अतः हिंदी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।

(२) दूसरी बात है सांप्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परंपरा। वज्रयानी सिद्धों ने निम्न श्रेणी की प्रायः अशिक्षित जनता के बीच किस प्रकार के भावों के लिये जगह निकाली, यह दिखाया जा चुका। उन्होंने बाह्यपूजा, जातिपाँति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया; रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिंदु, सुरति, निरति' ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया। यही परंपरा अपने ढंग पर नाथपंथियों ने भी जारी रखी। आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत-संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा

वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धो और योगियो द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा, यह आगे दिखाया जायगा। कबीर आदि संतो को नाथपंथियो से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिये बहुत कुछ सामग्री और 'सधुक्कड़ी' भाषा भी।

ये ही दो बातें दिखाने के लिये इस इतिहास मे सिद्धो और योगियो का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियो और दशाओ से कोई संबंध नही। वे साप्रदायिक शिक्षा मात्र है, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि मे नहीं आ सकतीं। उन रचनाओ की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म संबंधी रचनाओं की चर्चा छोड़, अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके संग्रहकर्त्ताओं और रचयिताओ के क्रम से करते है।

हेमचंद्र—गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिह (संवत् ११५०–११९९) और उनके भतीजे कुमारपाल (११९९–१२३०) के यहाँ इनका बड़ा मान था। ये अपने समय के सब से प्रसिद्ध जैन आचार्य्य थे। इन्होने एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रंथ 'सिद्ध हेमचद्र शब्दानुशासन' सिद्धराज के समय मे बनाया, जिसमे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। अपभ्रंश के उदाहरणो मे इन्होने पूरे दोहे या पद्य उद्धृत किए हैं, जिनमे से अधिकांश इनके समय से पहले के है। कुछ दोहे देखिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु॥

(भला हुआ जो मारा गया, हे बहिन! हमारा कात। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मै अपनी समवयस्काओ से लज्जित होती।)

जइ सो न आवइ, दूइ! घरु, काइँ अहोमुहु तुज्झु।
वयणु ज खंढइ तउ, सहि ए! सो पिउ होइ न मुज्झु॥

(हे दूती! यदि वह घर नहीं आता तो तेरा क्यो अधोमुख है? हे सखी! जो

तेरा वचन खंडित करता है—श्लेष से दूसरा अर्थ; जो तेरे मुख पर चुंबन द्वारा क्षत करता है—वह मेरा प्रिय नहीं।)

जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण॥

(जो दिन या अवधि दयित अर्थात् प्रिय ने प्रवास जाते हुए मुझे दिए थे उन्हें नख से गिनते गिनते मेरी उँगलियाँ जर्जरित हो गईं।)

पिय संगमि कउ निद्दडी ? पियहो परक्खहो केंव।
मइँ विन्निवि विन्नासिया, निद्द न एँव न तेंव॥

(प्रिय के संगम में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी क्योंकर आवे ? मैं दोनों प्रकार से विनाशिता हुई—न यों नींद न त्यों।)

अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिये हेमचंद्र ने भट्टी के समान एक 'द्व्याश्रय काव्य' की भी रचना की है जिसके अंतर्गत "कुमारपालचरित" नामक एक प्राकृत काव्य भी है। इस काव्य में भी अपभ्रंश के पद्य रखे गए हैं।

सोमप्रभ सूरि—ये भी एक जैन पंडित थे। इन्होंने संवत् १२४१ में "कुमारपालप्रतिबोध" नामक एक गद्यपद्यमय संस्कृत-प्राकृत-काव्य लिखा जिसमें समय समय पर हेमचंद्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिए जाने की कथाएँ लिखी हैं। यह ग्रंथ अधिकांश प्राकृत में ही है—बीच बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आए हैं। अपभ्रंश के पद्यों में कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ सोमप्रभ और सिद्धपाल कवि के बनाए हैं। प्राचीन में से कुछ दोहे दिए जाते हैं—

रावण जायउ जहि दिअहि दह मुह एक सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउँ खीरु॥

(जिस दिन दस मुँह एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ तभी माता चिंतित हुई कि किसमें दूध पिलाऊँ।)

बेम्म विसिट्ठह वारियइ जइवि मणोहर गत्त।
गंगाजल पक्खालियवि सुणिहि कि होइ पवित्त ?

(वेश-विशिष्टों को वारिए अर्थात् बचाइए यदि मनोहर गात्र हो तो भी। गंगाजल से धोई कुतिया क्या पवित्र हो सकती है ?)

पिय हउँ थक्किय सयलु दिगु तुह बिरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥

(हे प्रिय ! मैं सारे दिन तेरी विरहाग्नि मे वैसे ही कड़कड़ाती रही जैसे थोड़े जल मे मछली तलवेली करती है।)

जैनाचार्य्य मेरुतुंग ने संवत् १३६१ मे 'प्रबंधचिंतामणि' नामक एक संस्कृत ग्रंथ 'भोज-प्रबंध' के ढंग का बनाया, जिसमे बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान संगृहीत किए। इन्ही आख्यानों के अंतर्गत बीच बीच मे अपभ्रश के पद्य भी उद्धृत है जो बहुत पहले से चले आते थे। कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुंज के कहे हुए है। मुंज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिंदी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। मुंज ने जब तैलंग देश पर चढ़ाई की थी तब वहाँ के राजा तैलप ने उसे बंदी कर लिया था और रस्सियों से बाँधकर अपने यहाँ ले गया था। वहाँ उसके साथ तैलप की बहिन मृणालवती से प्रेम हो गया। इस-प्रसंग के दोहे देखिए—

झाली तुट्टी किं न मुउ, किं हुयउ छरपुंज।
हिंदइ दोरी बँधीयउ जिम मंकड़ तिम मुंज॥

(टूट पड़ी हुई-आग से क्यों न मरा ? क्षारपुंज क्यो न हो गया ? जैसे डोरी मे बँधा बंदर वैसे घूमता है मुंज।)

मुंज भणइ, मुँणालवइ ! जुब्बण गयुं न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि॥

(मुंज कहता है, हे मृणालवति ! गए हुए यौवन को न पछता। यदि शर्करा सौ खंड हो जाय तो भी वह चूरी हुई ऐसी ही मीठी रहेगी।)

जा मति पच्छइ संपजइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ, मुणालवइ ! बिघंन न बेढइ कोइ॥

(जो मति या बुद्धि पीछे प्राप्त होती है यदि पहले हो तो मुंज कहता है, हे मृणालवति ! विघ्न किसी को न घेरे।)

बाह बिछोड़वि जिह तुहुँ, हउँ तेवइँ को दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु॥

(बाँह छुड़ाकर तू जाता है, मैं भी वैसे ही जाती हूँ—क्या हर्ज है ? हृदयस्थित अर्थात् हृदय से यदि निकले तो मैं जानूँ कि मुंज रूठा है।)

गउ जम्मु नग्गुहं गिउ भड़सिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खाँ तुरियँ न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु॥

(यह जन्म व्यर्थ गया। न सुभटो के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज घोड़े सजाए, न गोरी या सुंदरी के गले लगा।)

फुटकल रचनाओं के अतिरिक्त वीरगाथाओं की परंपरा के प्रमाण भी अपभ्रंश-मिली भाषा मे मिलते हैं।

विद्याधर—इस नाम के एक कवि ने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् (शायद जयचद) के प्रताप और पराक्रम का वर्णन किसी ग्रंथ में किया था। ग्रंथ का पता नहीं, पर कुछ पद्य 'प्राकृत पिंगलसूत्र' मे मिलते है, जैसे—

भअ भज्जिअ वंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुत्ति चले।
मरहट्टा धिट्टा लग्गिअ कट्टा सोरट्टा भअ पाअ पले।
चंपारण कंपा पव्वअ झंपा उत्थी उत्थी जीव हरे।
कासीसर राणा किअउ पआणा, विज्जाहर भण मंतिवरे॥

यदि विद्याधर को सम-सामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी समझा जा सकता है।

शार्ङ्गधर—इनका आयुर्वेद का ग्रंथ तो प्रसिद्ध ही है। ये अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे। इन्होंने "शार्ङ्गधरपद्धति" के नाम से एक सुभाषित संग्रह भी बनाया है और अपना परिचय भी दिया है। रणथंभौर के सुप्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव के प्रधान सभासदो मे राघवदेव थे। उनके भोपाल, दामोदर और देवदास ये तीन पुत्र हुए। दामोदर के तीन पुत्र हुए—शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण। हम्मीरदेव संवत् १३५७ मे अलाउद्दीन की चढ़ाई मे मारे गए थे। अतः शार्ङ्गधर के ग्रन्थों का समय उक्त संवत् के कुछ पीछे अर्थात् विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मानना चाहिए।

'शार्ङ्गधर-पद्धति' मे बहुत से शाबर मन्त्र और भाषा-चित्र-काव्य दिए हैं जिनमें बीच बीच में देशभाषा के वाक्य आए हैं। उदाहरण के लिये अल्लादेव राजा की प्रशंसा मे कहा हुआ यह श्लोक देखिए—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः।
शत्रुं पाडि लुटालि तोड़ हनिसौं एवं भणन्त्युद्भटाः ॥
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।
कठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम् ॥

परंपरा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने "हम्मीररासो" नामक एक वीरगाथा-काव्य की भी भाषा मे रचना की थी। यह काव्य आजकल नही मिलता—उसके अनुकरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रंथ 'हम्मीररासो' नाम का मिलता है। 'प्राकृत पिंगल-सूत्र' उलटते पलटते मुझे हम्मीर की चढ़ाई, वीरता आदि के कई पद्य छंदो के उदाहरणो मे मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीररासो' के ही है। अतः ऐसे कुछ पद्य नीचे दिए जाते है—

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-सरीर।
पुर उज्जल्ला मंतिवर चलिअ बीर हम्मीर ॥
चलिअ बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि ॥
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला ॥

(दिल्ली मे ढोल बजाया गया, म्लेच्छो के शरीरमूर्छित हुए। आगे मन्त्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले। चरणो के भार से पृथ्वी काँपती है। दिशाओ के मार्गों और आकाश मे अँधेरा हो गया है; धूल सूर्य्य के रथ को आच्छादित करती है। ओल मे खुरासानी ले आए। विपक्षियो को दलमल कर दबाया, दिल्ली मे ढोल बजाया।)

पिंधउ दिढ सन्नाह, बाह उप्पारि पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धँसेउ साहि हम्मीर बअण लइ ॥
उड्डुउ णहपह भमउँ, खग्ग रिपु-सीसहि झल्लउँ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ अप्फालउँ ॥

हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मह मइ जलउँ।
सुलितान-सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउँ ॥

(दृढ़ सन्नाह पहने, वाहनों के ऊपर पक्खरें डालीं। बंधु बांधवों से विदा लेकर रण में धँसा हम्मीर साहि का वचन लेकर। तारों को नभपथ में फिराऊँ, तलवार शत्रु के सिर पर जड़ूँ, पाखर से पाखर ठेल पेल कर पर्वतों को हिला डालूँ। जज्जल कहता है कि हम्मीर के कार्य्य के लिये मैं क्रोध से जल रहा हूँ। सुलतान के सिर पर खड्ग देकर शरीर छोड़ मैं स्वर्ग को जाऊँ।)

पअभर दरमरु धरणि तरणि-रह धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ-पिट्ठ टरपरिअ, मेरु मंदर गिर कंपिअ॥
कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते॥
किअउ कट्ठ, हा कंद! मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥

(चरणों के भार से पृथ्वी दलमल उठी। सूर्य्य का रथ धूल से ढक गया। कमठ की पीठ तड़फड़ा उठी; मेरु मंदर की चोटियाँ कंपित हुई। गजयूथ के साथ वीर हम्मीर क्रुद्ध होकर चले। म्लेच्छों के पुत्र हा कष्ट! करके रो उठे और मूर्छित हो गए।)

अपभ्रंश की रचनाओं की परंपरा यहीं समाप्त होती है। यद्यपि पचास साठ वर्ष पीछे विद्यापति (संवत् १४६० में वर्तमान) ने बीच बीच में देशभाषा के भी कुछ पद्य रखकर अपभ्रंश में दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं, पर उस समय तक अपभ्रंश का स्थान देशभाषा ले चुकी थी। प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् सर जार्ज ग्रियर्सन जब विद्यापति के पदों का संग्रह कर रहे थे उस समय उन्हें पता लगा था कि 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' नाम की प्रशस्ति-संबंधी दो पुस्तकें भी उनकी लिखी हैं। पर उस समय इनमें से किसी का पता न चला। थोड़े दिन हुए, महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री नैपाल गए थे। वहाँ राजकीय पुस्तकालय में 'कीर्त्तिलता' की एक प्रति मिली जिसकी नकल उन्होंने ली।

इस पुस्तक में तिरहुत के राजा कीर्त्तिसिंह की वीरता, उदारता, गुणग्राहकता आदि का वर्णन, बीच बीच में कुछ देशभाषा के भी पद्य रखते हुए, अपभ्रंश भाषा के दोहा, चौपाई, छप्पय, छंद, गाथा आदि छंदों में किया गया है। इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पूरबी अपभ्रंश है। इसमें क्रियाओं आदि के बहुत से रूप पूरबी हैं। नमूने के लिये एक उदाहरण लीजिए—

रज्ज-लुद्ध असलान बुद्धि बिक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राय गयनेसर मारल॥
मारंत राय रणरोल पड़ु, मेइनि हा हा सद्द हुअ।
सुरराय नयर नरअर-रमणि बाम नयन पप्फुरिअ धुअ॥

दूसरी विशेषता विद्यापति के अपभ्रंश की यह है कि वह प्रायः देशभाषा कुछ अधिक लिए हुए है और उसमे तत्सम संस्कृत शब्दों का वैसा बहिष्कार नहीं है। तात्पर्य यह है कि वह प्राकृत की रूढ़ियों से उतनी बँधी नहीं है। उसमें जैसे इस प्रकार का टकसाली अपभ्रंश है—

पुरिसत्तेण पुरिसउ, नहिं पुरिसउ जम्म मत्तेन।
जलदानेन हु जलओ, न हु जलओ पुंजिओ धूमो।

वैसे ही इस प्रकार की देशभाषा या बोली भी है—

कतहुँ तुरुक बरकर। बार जाए ते वेगार धर।
धरि आनय बाभन बरुआ। मथा चढावइ गाय का चुरुआ।
हिंदू बोले दूरहि निकार। छोटउ तुरुका भभकी मार॥

अपभ्रंश की कविताओं के जो नए-पुराने नमूने अब तक दिए जा चुके हैं, उनसे इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि काव्य-भाषा प्राकृत की रूढ़ियों से कितनी बँधी हुई चलती रही। बोलचाल तक के तत्सम संस्कृत शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाता है। 'उपकार', 'नगर', 'विद्या', 'वचन' ऐसे प्रचलित शब्द भी 'उअआर', 'नअर', 'विज्जा', 'वअण' बनाकर ही रखे जाते थे। 'जासु', 'तासु', ऐसे रूप बोलचाल से उठ जाने पर भी पोथियों मे बराबर चलते रहे। विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रशकाल मे कृदंत विशेषणों से बहुत कुछ उठ चुका था, पर प्राकृत की परपरा के अनुसार अपभ्रंश की कविताओं मे कृदंत विशेषणों में मिलता है—जैसे, "जुव्वण गयुं न झूरि" = गए को यौवन को न झूर = गए यौवन को न पछ़ता। जब ऐसे उदाहरणों के साथ हम ऐसे उदाहरण भी पाते हैं जिनमे विभक्तियों का ऐसा समानाधिकरण नही है तब यह निश्चय हो जाता है कि उसका सन्निवेश पुरानी परंपरा का पालन मात्र है। इस परंपरा-पालन का निश्चय शब्दों की

परीक्षा से अच्छी तरह हो जाता है। जब हम अपभ्रंश के शब्दो मे 'मिठ' और 'मीठी' दोनों रूपो का प्रयोग पाते हैं तब उस काल मे 'मीठी' शब्द के प्रचलित होने मे क्या संदेह हो सकता है ?

ध्यान देने पर यह बात भी लक्षित होगी कि ज्यों ज्यों काव्यभाषा देशभाषा की ओर अधिक प्रवृत्त होती गई त्यो त्यों तत्सम संस्कृत शब्द रखने मे संकोच भी घटता गया। शार्ङ्गधर के पद्यो और कीर्तिलता मे इसका प्रमाण मिलता है।

प्रकरण ३

देशभाषा काव्य

वीरगाथा

पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत की रूढ़ियो से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य—जैसे, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो—आजकल मिलते हैं वे सदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमे संतोष करना पड़ता है।

इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि प्राकृत पढ़े हुए पडित ही उस समय कविता नहीं करते थे। जन-साधारण की बोली मे गीत दोहे आदि प्रचलित चले आते रहे होंगे जिन्हें पंडित लोग गँवारू समझते रहे होंगे। ऐसी कविताएँ राजसभाओ तक भी पहुँच जाती रही होंगी। 'राजा भोज जस मूसरचंद' कहनेवालो के सिवा देशभाषा मे सुन्दर भाव भरी कविता कहनेवाले भी अवश्य ही रहे होगे। राजसभाओ मे सुनाये जानेवाले नीति, शृंगार आदि विषय प्रायः दोहो मे कहे जाते थे और वीररस के पद्य छप्पय मे। राजाश्रित कवि अपने राजाओ के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियो के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओ से वीरो को उत्साहित किया करते थे। ऐसे राजाश्रित कवियो की रचनाओ के रक्षित रहने का अधिक सुबीता था। वे राजकीय पुस्तकालयों मे भी रक्षित रहती थी और भट्ट चारण जीविका के विचार से उन्हे अपने उत्तराधिकारियों के पास भी छोड़ जाते थे। उत्तरोत्तर भट्ट चारणा की परंपरा मे चलते रहने से उनमें फेरफार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परंपरा की सामग्री हमारे हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलती है। इसी से यह काल 'वीरगाथा-काल' कहा गया।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमानो के हमले उत्तर पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत

के पश्चिम प्रांत के निवासियो को सहने पड़ते थे जहाँ हिंदुओं के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्षवर्धन (मृत्यु-संवत् ७०४) के उपरांत भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केंद्र हो रहा था। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा मे रचना करते थे। प्रारंभिक काल का जो साहित्य हमे उपलब्ध है उसका आविर्भाव उसी भूभाग मे हुआ। अतः यह स्वाभाविक है कि उसी भूभाग की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर हो। हर्षवर्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से अंतर्हित हो गई थी और खंड खंड होकर जो गहरवार, चौहान, चंदेल और परिहार आदि राजपूत-राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे, वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता-वश नहीं होती थी; कभी कभी तो शौर्य्य-प्रदर्शन मात्र के लिये यो ही मोल ली जाती थी। बीच बीच मे मुसलमानो के भी हमले होते रहते थे। सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिंदी-साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था। और सब बाते पीछे पड़ गई थीं।

महमूद गजनवी (मृत्यु-संवत् १०८७) के लौटने के पीछे गजनवी सुलतानो का एक हाकिम लाहौर मे रहा करता था और वहाँ से लूटमार के लिये देश के भिन्न भिन्न भागो पर, विशेषतः राजपूताने पर, चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयो का वर्णन फारसी तवारीखो मे नहीं मिलता, पर कहीं कहीं संस्कृत ऐतिहासिक काव्यो मे मिलता है। साँभर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानो के साथ युद्ध करने मे मारा गया था। अजमेर बसानेवाले अजयदेव ने मुसलमानो को परास्त किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय मे मुसलमानो की सेना फिर पुष्कर की घाटी लाँघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब आनासागर है। अर्णोराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहाँ म्लेच्छ मुसलमानो का रक्त गिरा था, इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहाँ अर्णोराज ने बड़ा तालाब बनवा दिया जो 'आना सागर' कहलाया।

आना के पुत्र बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय मे वर्तमान किशनगढ़ राज्य तक मुसलमानो की सेना चढ़ आई जिसे परास्त कर बीसलदेव आर्य्यावर्त्त से मुसलमानो को निकालने के लिये उत्तर की ओर बढ़ा। उसने दिल्ली और हॉसी के प्रदेश अपने राज्य मे मिलाए और आर्य्यावर्त के एक बड़े भूभागसे मुसलमानोको निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली के अशोक-लेखवाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए बीसलदेव के वि० सं० १२२० के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गोरी की पृथ्वीराज पर पहली चढ़ाई (सवत् १२४७) के पहले भी गोरियो की सेना ने नाडौल पर धावा किया था, पर उसे हारकर लौटना पड़ा। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने और दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानो का अधिकार हो जाने के पीछे भी बहुत दिनो तक राजपूताने आदि मे कई स्वतंत्र हिंदू राजा थे जो बराबर मुसलमानो से लड़ते रहे। इनमे सबसे प्रसिद्ध रणथंभोर के महाराज हम्मीरदेव हुए हैं जो महाराज पृथ्वीराज चौहान की वंश-परंपरा मे थे। वे मुसलमानो से निरंतर लड़ते रहे और उन्होने उन्हे कई बार हराया था। साराश यह कि पठानो के शासन-काल तक हिंदू बराबर स्वतंत्रता के लिये लडते रहे।

राजा भोज की सभा मे खड़े होकर राजा की दानशीलता का लंबा चौडा वर्णन करके लाखो रुपये पानेवाले कवियो का समय बीत चुका था। राजदरबारो मे शास्त्रार्थों की वह धूम नहीं रह गई थी। पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रो मे जाकर वीरों के हृदय मे उत्साह की उमगे भरा करता था, वही सम्मान पाता था।

इस दशा मे काव्य या साहित्य के और भिन्न भिन्न अंगो की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओ की उन्नति संभव थी। इस वीरगाथा को हम दोनो रूपो मे पाते हैं—मुक्तक के रूप मे भी और प्रबंध के रूप मे भी। फुटकल रचनाओ का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबंधकाव्यो का ही उल्लेख किया जाता है। जैसे, योरप मे वीरगाथाओ का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा, वैसे ही यहाँ भी था। किसी

राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपत्तियों को पराजित कर उस कन्या को हरकर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार इन काव्यो मे शृंगार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था, पर गौण रूप मे, प्रधान रस वीर ही रहता था। शृंगार केवल सहायक के रूप मे रहता था। जहाँ राजनीतिक कारणो से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणो का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी। जैसे, शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही लड़ाई की जड़ लिखी गई है। हम्मीर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का भी ऐसा ही कारण कल्पित किया गया है। इस प्रकार इन काव्यो मे प्रथानुकूल कल्पित घटनाओं की बहुत अधिक योजना रहती थी।

ये वीरगाथाएँ दो रूपो मे मिलती हैं—प्रबंधकाव्य के साहित्यिक रूप मे और वीरगीतों (Ballads) के रूप मे। साहित्यिक प्रबंध के रूप मे जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है 'पृथ्वीराजरासो'। वीरगीत के रूप में हमे सबसे पुरानी पुस्तक 'बीसलदेवरासो' मिलती है, यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगो मे बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप मे नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है, जिसके गानेवाले प्रायः समस्त उत्तरीय भारत में पाए जाते हैं।

यहाँ पर वीर-काल के उन ग्रंथो का उल्लेख किया जाता है जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती है या कहीं उल्लेख मात्र पाया जाता है। ये ग्रंथ 'रासो' कहलाते है। कुछ लोग इस शब्द का संबंध "रहस्य" से बतलाते है। पर "बीसलदेव-रासो" मे काव्य के अर्थ मे 'रसायण' शब्द बार बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते होते 'रासो' हो गया है।

(१) खुमानरासो—संवत् ८१० और १००० के बीच मे चित्तौड़ के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए है। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धो का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज (बाप्पा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के

इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा अलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिये बहुत से राजा आए और चित्तौड़ की रक्षा हो गई। खुम्माण ने २४ युद्ध किए और वि० स० ८६९ से ८९३ तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन 'दलपत विजय' नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है। पर इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उसमे महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश-परंपरा इस प्रकार है—कालभोज (बाप्पा), खुम्माण, मत्तट, भर्तृपट्ट, सिंह, खुम्माण (दूसरा), महायक, खुम्माण (तीसरा)। कालभोज का समय वि० सं० ७९१ से ८१० तक है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि० सं० ९९९ और १००० के मिले हैं। अतएव इन १९० वर्षों का औसत लगाने पर तीनो खुम्मानो का समय अनुमानतः इस प्रकार ठहराया जा सकता है—

खुम्माण (पहला)—वि० सं० ८१०—८३५
खुम्माण (दूसरा)—वि० सं० ८७०—९००
खुम्माण (तीसरा)—वि० सं० ९६५—९९०

अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि० सं० ८७० से ८९० तक खलीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफों के सेनापतियो ने सिंध देश की विजय कर ली थी और उधर से राजपूताने पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं। अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर 'खुमानरासो' की रचना हुई होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमे कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि० संवत् की सत्रहवीं शताब्दी मे प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंहसरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा था जिसमे श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा

सकता कि दलपत-विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।

(२) बीसलदेवरासो—नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने 'बीसलदेव-रासो' नामक एक छोटा सा (१०० पृष्ठो का) ग्रंथ लिखा है जो वीरगीत के रूप मे है। ग्रंथ मे निर्माण-काल यो दिया है—

> बारह सै बहोत्तराँ मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
> 'नाल्ह' रसायण आरंभइ। सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥

'बारह सै बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द 'बरहोत्तर', 'द्वादशोत्तर' का रूपातर है। अतः 'बारह सै बहोत्तराँ' का अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सै' अर्थात् १२१२ होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ मे ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। कवि ने अपने रासो मे सर्वत्र वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी १२२० के आसपास है। उसके शिलालेख भी संवत् १२१० और १२२० के प्राप्त हैं। बीसलदेवरासो मे चार खंड है। यह काव्य लगभग २००० चरणों मे समाप्त हुआ है। इसकी कथा का सार यो है—

खंड १—मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के बीसलदेव का विवाह होना।

खंड २—बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करना तथा वहाँ एक वर्ष रहना।

खंड ३—राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

खंड ४—भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने नायक का समसामयिक जान पड़ता है। पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की जान पड़ती हैं, जब कि उनके संबंध मे कल्पना की गुंजाइश हुई होगी। यह

घटनात्मक काव्य नहीं है, वर्णनात्मक है। इसमे दो ही घटनाएँ हैं—बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इनमे से पहली बात तो कल्पना-प्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहांत हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा मे भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार-वंश की रानी थी, यह बात परंपरा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी, क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराजरासो मे भी है। इसी बातको लेकर पुस्तक मे भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारो की उपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका केवल यह उपाधिसूचक नाम ही दिया हो, असली नाम न दिया हो। कदाचित् इन्ही मे से किसी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो। परमार-कन्या के संबंध मे कई स्थानो पर जो वाक्य आए हैं, उनपर ध्यान देनेसे यह सिद्धांत पुष्ट होता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से न मिलाया गया हो। जैसे—"जनमी गोरी तू जेसलमेर", "गोरड़ी जेसलमेर की"। आबू के परमार भी राजपूताने मे फैले हुए थे। अतः राजमती का उनमे से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है। पर भोज के अतिरिक्त और भी नाम इसी प्रकार जोड़े हुए मिलते हैं; जैसे—'माघ अचारज, कवि कालिदास'।

जैसा पहले कह आए हैं, अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे और उन्होने मुसलमानो के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशो को मुसलमानों से खाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्हीं ने अपने राज्य मे मिलाए थे। इनके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेवरचित "ललितविग्रहराज नाटक" (संस्कृत) मे है जिसका कुछ अंश बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूजियममे सुरक्षित है। पर 'नाल्ह' के इस बीसलदेवरासो मे, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिये) मनमाना वर्णन है। अतः

इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते है कि यह कोई काव्यग्रंथ नहीं है, केवल गाने के लिये रचा गया था, तो बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। जैसे, सूकइ छै (= सूखता है), पाटण थीं (= पाटन से), भोज तणा (= भोजका), खंड खंडरा (= खंड खंड का) इत्यादि। इस ग्रंथ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट काव्यभाषा मे व्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान मे भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा 'हिंदी' ही थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसलदेवरासो मे बीच बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा मे समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया है। पर लिखित रूप मे रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिये—मेलवि = मिलाकर, जोड़कर। चितह = चित्त मे। रणि = रण मे। प्रापिजइ = प्राप्त हो, या किया जाय। ईणी विधि = इस विधि। ईसउ = ऐसा। बाल हो = बाला का। इसी प्रकार 'नयर' (नगर), 'पसाउ' (प्रसाद), 'पयोहर' (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता मे अपभ्रंश-काल से लेकर पीछे तक होता रहा।

इसमे आए हुए कुछ फारसी, अरबी, तुरकी शब्दों की ओर भी ध्यान जाता है। जैसे—महल, इनाम, नेज़ा, ताजनो (ताजियाना) आदि। जैसा कहा जा चुका है, पुस्तक की भाषा मे फेरफार अवश्य हुआ है; अतः ये शब्द पीछे से मिले हुए भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। कवि के समय से पहले ही पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और वे इधर उधर जीविका के लिये फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण शब्दो का प्रचार कोई आश्चर्य की बात नहीं। बीसलदेव के सरदारों मे ताजुदीन मियाँ भी मौजूद हैं।

मंहल पलाण्यो ताँजदीन। खुरसाणा चढ़ि चाल्यो गौंड़ ॥

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। रायबहादुर पंडित गौरीशकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है। (राजपूताने का इतिहास, भूमिका पृष्ठ १६)। यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य-संबंधी कई तथ्यो पर पहुँचते है। ध्यान देने की पहली बात है, राजपूताने के एक भाट का अपनी राजस्थानी मे हिंदी का मेल करना। जैसे, "मोती का आखा किया"। "चंदन काठ को मॉड़वो"। "सोना की चोरी, मोती की माल" इत्यादि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक वोलियो के साथ साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह 'डिंगल' कहलाता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास मे हम केवल पिंगल-भाषा में लिखे हुए ग्रंथो का ही विचार कर सकते हैं। दूसरी बात जो कि साहित्य से संबंध रखती है, वीर और शृगार का मेल है। इस ग्रंथ मे शृंगार की ही प्रधानता है, वीररस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाए हैं।

'बीसलदेवरासो' के कुछ पद्य देखिए—

परणबा[1] चाल्यो बीसलराय। चउरास्या[2] सहु[3] लिया बोलाइ।
जान-तणी[4] साजति करउ। जीरह रँगावली पहरज्यो टोप॥

× × × ×

हुअउ पइसारउ बीसलराव। आवी सयल[5] अँतेवरी[6] राव।
रूप अपूरब पेषियइ। इसी अस्त्री नहिं सयल संसार॥
अति रंग स्वामी सूँ मिली राति। बेटी राजा भोज की॥

× × × ×

गरब करि उभो[7] छइ साँभरयो राव। मो सरीखा नहिं ऊर भुवाल॥
म्हाँ घरि[8] साँभर उग्गहइ। चिहुँ दिसि थाण जेसलमेर॥

---

१ ब्याहने। २ सामतों को। ३ सव। ४ यान को, बारात की। ५ सव। ६ अतःपुर। ७ खड़ा है। ८ घर में।

"गरबि न बोलो हो साँभरथा-राव । तो सरीखा घणा ओर भुवाल ॥
एक उड़ीसा को धणी[1] । बचन हमारइ तू मानि जु मानि ॥
ज्यूँ थारइ[2] साँभर उग्गहइ । राजा उणि घरि उग्गहइ हीरा-खान" ॥

× × × ×

कुँवरि कहइ "सुणि, साँभरथा राव । काइँ[3] स्वामी तू उलगइँ[4] जाइ ?
कहेउ हमारउ जइ सुणउ । थारइ छइ[5] साठि अँतेवरी नारि" ॥
"कड़वा बोल न बोलिस नारि । तू मो मेल्हसी[6] चित्त बिसारि" ॥
जीभ न जीभ विगोयनो[7] । दव का दाधा कुपली मेल्हइ[8] ॥
जीभ का दाधा नु पाँगुरइ[9] । नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ ॥

× × × ×

आव्यो राजा मास बसंत । गढ माहीं गूड़ी ऊछली[10] ॥
जइ धन मिलती अंग सँभार । मान-भंग हो तो बाल हो[11] ॥
ईणी परिरहता राज दुवारि[12] ।

(३) **चंद बरदाई** (संवत् १२२५—१२४९)—ये हिंदी के प्र... महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराजरासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चद दिल्ली के अतिम हिदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं। इससे इनके नाम मे भावुक हिदुओ के लिये एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहॉ लाहौर मे इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनो ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नही उनके सखा और सामंत भी थे; तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य,

---

१ स्वामी; राजा। २ तुम्हारे (यहाँ)। ३ क्यों। ४ परदेश में। ५ तेरे हैं। ६ भुला डाला। ७ बात से बात नही छिपाई जा सकती। ८ आग का जला कोपल छोड दे तो छोड दे। ९ जीभ का जला नही पनपता। १० आकाश-दीप जलाए गए। ११ यदि वह धन्या या स्त्री अंग सभालकर (तुरंत) मिलती तो उस बाला का मान-भग होता। १२ (और) इसे परिरभता (आलिगन करता) राजा द्वार पर ही।

छंदःशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं मे पारंगत थे। इन्हे जालंधरी देवी का इष्ट था जिसकी कृपा से ये अदृष्टकाव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध मे, आखेट मे, सभा में, यात्रा मे सदा महाराज के साथ रहते थे, और जहाँ जो बाते होती थीं, सब मे सम्मिलित रहते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठो का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमे ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय मे प्रचलित प्रायः सभी छंदो का व्यवहार हुआ है। मुख्य छंद हैं—कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादबरी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है, वैसे ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्हण द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनो पीछे चद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ मे रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्हण के हाथ मे रासो को सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज।

* * *

रघुनाथचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि॥
पृथिराज-सुजस कवि चंद कृत चंद-नंद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराजरासो में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रियकुलो की उत्पत्ति तथा चौहानो के अजमेर मे राजस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकडे जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तुँवर (तोमर) राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—सुंदरी और कमला। सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया जिससे

अजमेर और दिल्ली का राज एक हो गया। जयचंद को यह बात अच्छी न लगी। उसने एक दिन राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को यज्ञ के भिन्न भिन्न कार्य करने के लिए निमंत्रित किया और इस यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर रचा। राजसूय यज्ञ मे सब राजा आए पर पृथ्वीराज नही आए। इसपर जयचंद ने चिढ़कर पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप मे द्वार पर रखवा दी।

संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था, अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि मे आई, तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी। इस पर जयचंद ने उसे घर से निकालकर गंगा-किनारे के एक महल मे भेज दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर यज्ञ-विध्वंस किया। फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व विवाह किया और अंत मे वे उसे हर ले गए। रास्ते मे जयचंद की सेना से बहुत युद्ध हुआ, पर संयोगिता को लेकर पृथ्वीराज कुशल-पूर्वक दिल्ली पहुँच गए। वहाँ भोग विलास मे ही उनका सारा समय बीतने लगा, राज्य की रक्षा का ध्यान न रह गया।

बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचंद तथा और राजाओं के साथ लड़ते लड़ते हो चुका था और बड़े बड़े सामंत मारे जा चुके थे। अच्छा अवसर देख शहाबुद्दीन चढ़ आया, पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार बार चढ़ाई करता रहा और अंत में पृथ्वीराज पकड़कर गजनी भेज दिए गए। कुछ काल के पीछे कवि चंद भी गजनी पहुँचे। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के वैर का कारण यह लिखा गया है कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुंदरी पर आसक्त था जो एक दूसरे पठान सरदार हुसेनशाह को चाहती थी। जब ये दोनो शहाबुद्दीन से तंग हुए, तब हारकर पृथ्वीराज के पास भाग आए। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि उन दोनो को अपने यहाँ से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है, अतः इन दोनो की हम बराबर रक्षा करेंगे। इसी वैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाइयाँ कीं। यह तो

पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ। इसके अतिरिक्त बीच बीच मे बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राज-कन्याओ के साथ विवाह की कथाएँ रासो मे भरी पड़ी है।

ऊपर लिखे वृत्तांत और रासो मे दिए हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यो के साथ बिल्कुल मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानो ने पृथ्वीराजरासो के पृथ्वीराज के समसामयिक किसी कवि की रचना होने मे पूरा संदेह किया है और उसे १६वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासो मे चंगेज, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आने से यह सदेह और भी पुष्ट होता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासो मे वर्णित घटनाओ तथा संवतों को बिल्कुल भाटों की कल्पना मानते हैं। पृथ्वीराज की राजसभा के काश्मीरी कवि जयानक ने सस्कृत मे 'पृथ्वीराज-विजय' नामक एक काव्य लिखा है जो पूरा नही मिलता है। उसमे दिए हुए संवत् तथा घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। उसमे पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रंथ अत्यंत प्रामाणिक और समसामयिक रचना है। उसके तथा 'हम्मीर-महाकाव्य' आदि कई प्रामाणिक ग्रंथों के अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उनके पक्ष मे लड़ना, सयोगिता-हरण इत्यादि बातें असंगत सिद्ध होती है। इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलो की उत्पत्ति की कथा भी शिलालेखो की जॉच करने पर कल्पित ठहरती है; क्योंकि इनमे से सोलंकी चौहान आदि कई कुलो के प्राचीन राजाओं के शिलालेख मिले हैं जिनमें वे सूर्यवंशी, चंद्रवशी आदि कहे गए है, अग्निकुल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् १११५ मे, दिल्ली गोद जाना ११२२ मे, कन्नौज जाना ११५१ मे और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखो और दानपत्रो मे जो संवत् मिलते है, उनके

अनुसार रासोमे दिए हुए संवत् ठीक नही हैं। अब तक ऐसे दानपत्र या शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव (महोबे के राजा परमाल) के नाम आए है, इस प्रकार मिले है—

पृथ्वीराज के ४, जिनके संवत् १२२४ और १२४४ के बीच मे हैं। जयचंद के १२, जिनके संवत् १२२४ और १२४३ के बीच मे हैं। परमर्दिदेव के ६, जिनके संवत् १२२३ और १२५८ के बीच मे हैं। इनमे से एक संवत् १२३९ का है जिसमे पृथ्वीराज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतो से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखो से भी हो जाती है। फारसी इतिहासो के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध ५८७ हिजरी (वि० सं० १२४८—ई० सन् ११९१) मे हुआ। अतः इन संवतो के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नही।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के पक्षसमर्थन मे इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतो मे, यथार्थ संवतो से ९०-९१ वर्ष का अंतर एक नियम से पड़ता है। उन्होने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है, बल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिए हुए उन्होने रासो के इस दोहे को पकड़ा—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

और "विक्रमं साक अनंद" का अर्थ किया—अ = शून्य और नद = ९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत्। अब क्यो ये ९० वर्ष घटाए गए, इसका वे कोई उपयुक्त कारण नही बता सके। नंदवंशी शूद्र थे, इसलिये उनका राजत्वकाल राजपूत भाटो ने निकाल दिया, इस प्रकार की विलक्षण कल्पना करके वे रह गए। पर इन कल्पनाओं से किसी प्रकार समाधान नहीं होता। आज तक और कही प्रचलित संवत् में से कुछ काल निकालकर संवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। फिर यह भी विचारणीय है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रमं संवत् में से ९०-९१ वर्ष निकालकर पृथ्वीराजरासो मे संवत् दिए हैं, उसने

क्या ऐसा जान-बूझकर किया है अथवा धोखे से या भ्रम मे पड़कर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है, उसमे 'अनंद' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते है। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकदास सै पंचदह विक्रम जिस भ्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लष्यौ विप्र गुन गुत्त ॥

इससे भी नौ के गुप्त करने का अर्थ निकाला गया है; पर कितने मे से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है, यह नही कहा है। दूसरी बात यह कि 'गुन गुत्त' ब्राह्मण का नाम (गुण गुप्त) प्रतीत होता है।

बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं उनके लिये क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नही है, काव्य-ग्रंथ है। पर काव्य-ग्रंथो मे सत्य घटनाओं मे बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराज-विजय भी तो काव्य-ग्रथ ही है; फिर उसमे क्यो घटनाएँ और नाम ठीक ठीक हैं? इस संबंध मे इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव मे जाली है। यह हो सकता है कि इसमे इधर उधर कुछ पद्य चंद के भी बिखरे हो, पर उनका पता लगाना असंभव है। यदि यह ग्रंथ किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमे कुछ थोड़े से अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते।

रहा यह प्रश्न कि पृथ्वीराज की सभा मे चंद नाम का कोई कवि था या नहीं। पृथ्वीराज-विजय के कर्त्ता जयानक ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट या बंदिराज का नाम "पृथ्वी भट्ट" लिखा है, चंद का उसने कहीं नाम नहीं लिया है। पृथ्वीराज-विजय के पाँचवे सर्ग में यह श्लोक आया है—

तनयश्चंद्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात् ॥

इसमे यमक के द्वारा जिस चंद्रराज कवि का संकेत है वह रायबहादुर श्रीयुत पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार 'चंद्रक' कवि है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र ने भी किया है। इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि 'चंद बरदाई' नाम का यदि कोई कवि था तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा मे न रहा

होगा या जयानक के काश्मीर लौट जाने पर आया होगा। अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनो मे से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट-कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन मे कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित "भट्ट-भणंत" तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर "रासो" नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।

भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते है तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बे-ठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहो की और कुछ कुछ कवित्तो (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है; पर त्रोटक आदि छोटे छंदों मे तो कहीं कही अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो। कही कही तो भाषा आधुनिक साँचे मे ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपो में मिलती हैं। पर साथ ही कही कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप मे भी पाई जाती है जिसमे प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियो के चिह्न पुराने ढंग के है। इस दशा में भाटो के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओ के काम का है।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १९०९ से १९१३ तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यो की खोज मे तीन यात्राएँ की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने छापा है। उस विवरण मे 'पृथ्वीराजरासो' के विषय मे बहुत कुछ लिखा है और कहा गया है कि कोई कोई तो चंद के पूर्वपुरुषों को मगध से आया हुआ बताते हैं, पर पृथ्वीराजरासो मे लिखा है कि चंद का जन्म लाहौर मे हुआ था। कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय मे राजपूताने मे आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे से पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत सी भूमि चंद को दी थी। शास्त्रीजी का कहना है कि नागौर मे अब तक चंद के वंशज रहते हैं। इसी वंश के वर्तमान प्रतिनिधि

नानूराम भाट से शास्त्रीजी की भेंट हुई। उनसे उन्हे चंद का वंशवृक्ष प्राप्त हुआ जो इस प्रकार है—

कर्णचंद
गुणगंगचंद
मोहनचंद
जगन्नाथ
रामेश्वर
गंगाधर
भगवानसिंह
कर्मसिंह
माथुरसिंह
वाग्गोविंदसिंह
मानसिंह
विजयसिंह
आनंदरायजी
आसोजी
गुमानजी
कर्णदान
जैथमलजी
वीरचंदजी
घमंडीरामजी
बुधजी
वृद्धिचंदजी
नानूराम
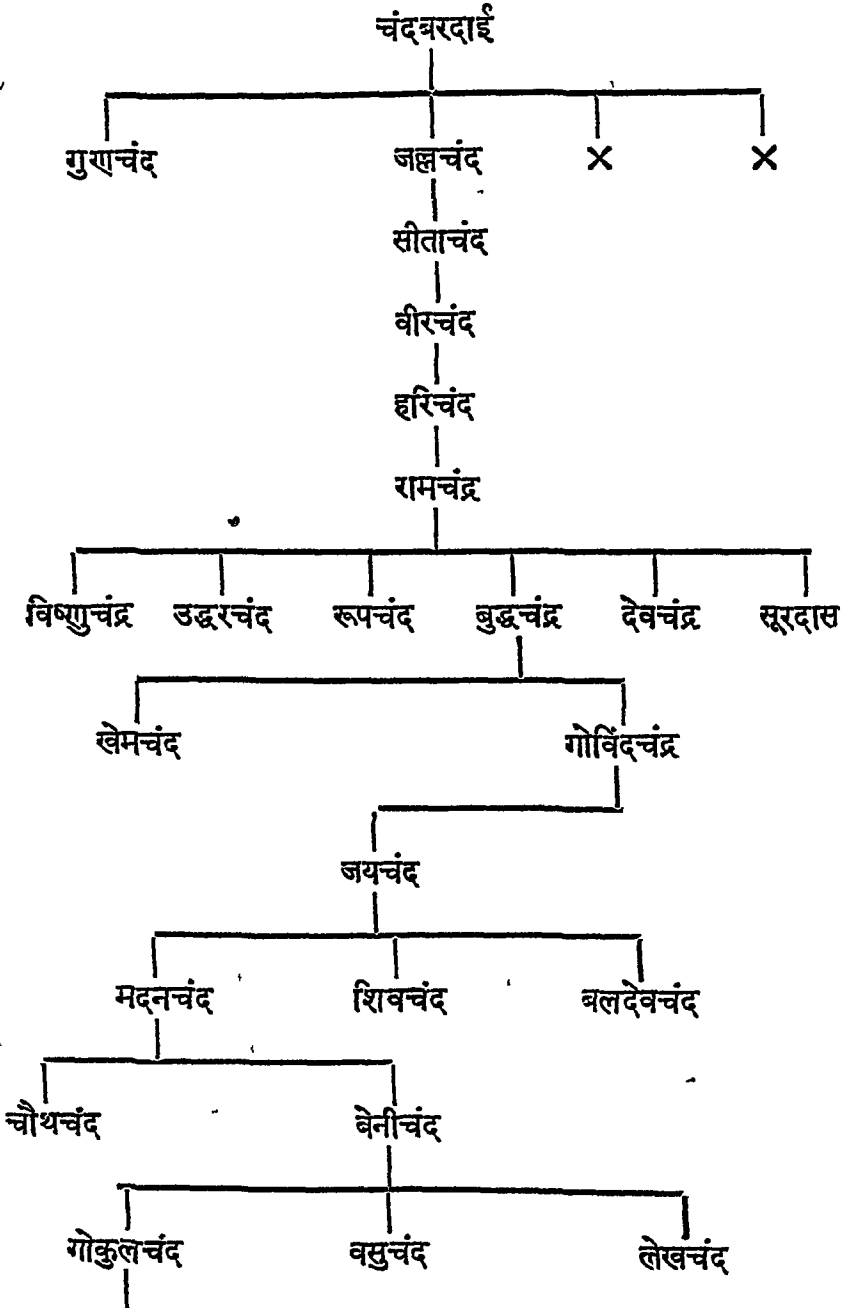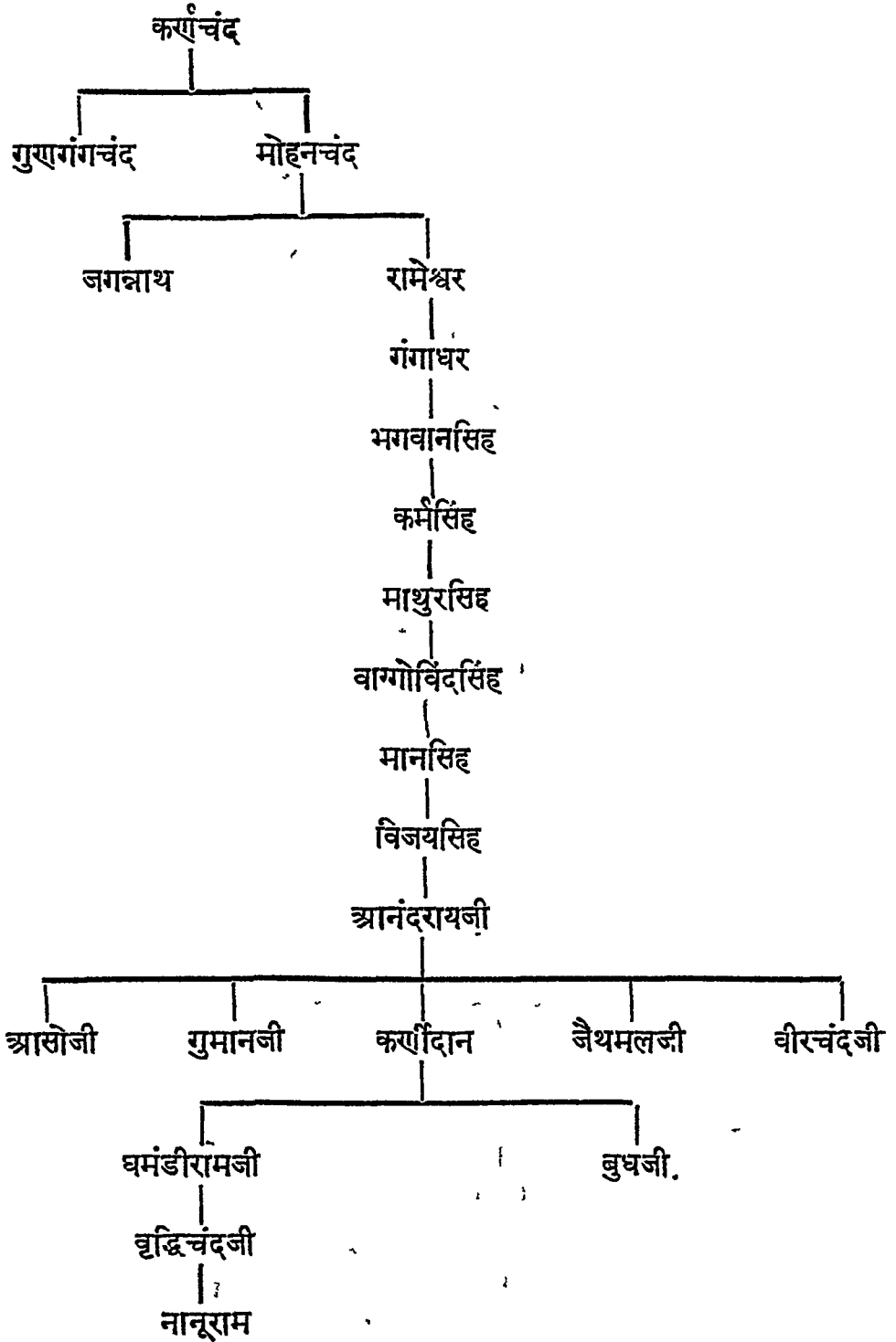
नानूराम का कहना है कि चंद के चार लड़के थे, जिनमे से एक मुसलमान हो गया। दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अंभोर मे जा बसे और चौथे जल्ल का वश नागौर मे चला। पृथ्वीराजरासो मे चंद के लड़कों का उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कविचंद के सुंदर रूप सुजान।
इक जल्ह गुन वावरो गुन-समुंद ससभान।

पृथ्वीराजरासो मे कवि चद के दसो पुत्रो के नाम दिए है। 'सूरदास' की साहित्यलहरी की टीका मे एक पद ऐसा आया है जिसमे सूर की वंशावली दी है। वह पद यह है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ ते भे प्रगट अद्भुत रूप। ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय। कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायँन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन। तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस। तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप। वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रंथभौर हमीर भूपति सँगत खेलत जाय। तासु बंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर। पुत्र जनमे सात ताके महा भट गंभीर॥
कृष्णचंद उदारचंद जु रूपचद सुभाइ। बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चंद भे सुखदाइ॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम। भयो सप्तो दाम सूरजचंद मंद निकाम॥

इन दोनो वंशावलियो के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रकट होता है कि नानूराम ने जिनको जल्लचंद की वंश-परंपरा मे बताया है, उक्त पद मे उन्हे गुणचंद की परंपरा में कहा है। बाकी नाम प्रायः मिलते हैं।

नानूराम का कहना है कि चंद ने तीन या चार हजार श्लोक-संख्या मे अपना काव्य लिखा था। उसके पीछे उनके लड़के ने अंतिम दस समयो को लिखकर उस ग्रथ को पूरा किया। पीछे से और लोग उसमे अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़-तोड करते रहे। अंत मे अकबर के समय मे इसने एक प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह-प्रदर्शन पर, कहते है कि, उस समय रासो नामक अनेक ग्रंथो की रचना की गई। नानूराम का कहना है कि असली पृथ्वीराजरासो की

प्रति मेरे पास है। पर उन्होंने महोबा समय की जो नकल महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री को दी थी वह और भी ऊटपटाँग और रद्दी है।

पृथ्वीराजरासो के 'पद्मावती समय' के कुछ पद्य नमूने के लिये दिए जाते हैं—

हिंदुवान-थान उत्तम सुदेस। तहँ उदित द्रुग्ग दिल्ली सुदेस।
संभरि-नरेस चहुआन थान। प्रथिराज तहाँ राजंत भान॥
संभरि नरेस सोमेस पूत। देवत्त रूप अवतार धूत[1]॥
जिहि पकरि साह साहाब लीन। तिहुँ बेर करिय पानीप-हीन॥
सिंगिनि-सुसद्द गुनि चढ़ि जँजीर। चुक्कइ न सबद बेधंत तीर[2]॥

मनहु कला ससभान[3] कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय[4]॥
विगसि कमल-स्रिग, भमर, बेनु, खंजन, मृग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नखसिख अहिघुट्टिय[5]॥

* * *

कुट्टिल केस सुदेस पोह परिचियत पिक्क सद[6]।
कमल-गंध, बयसंध, हंसगति चलत मंद मद॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर नष स्वाति-बूँद जस।
भमर भवहिं भुल्लहिं सुभाव मकरंद बास रस॥

म्रिय प्रिथिराज नरेस जोग लिपि कग्गर[7] दिन्नौ।
लगन बरग रचि सरव दिन्न द्वादस ससि लिन्नौ॥
सै ग्यारह अरु तीस साष संवत परमानह।
जो पित्री-कुल सुद्ध बरन, बरि रक्खहु प्रानह॥

---

१ धृत; धारण किया। २ (शब्दवेधी वाण चलाने का उल्लेख) सिंगी बाजे का शब्द गुनकर या अंदाज कर डोरी पर चढ उसका तीर उस शब्द को वेधते हुए (वेधने में) नहीं चूकता था। ३ चंद्रमा। ४ उसी के पास से मानो अमृतरस पिया। ५ अभिघटित किया। बनाया। ६ पोहे हुए अच्छे मोती दिखाई पडते हैं। ७ कागज।

दिक्खंत दिट्ठि[1] उच्चरिय वर, इक पलक्क विलँब न करिय।
अलगार[2] रयनि दिन पंच महि[3] ज्यों रुकमिनि कन्हर बरिय॥

* * * *

संगह सषिय लिय सहस बाल। रुकमिनिय जेम[4] लज्जत मराल॥
पूजियइ गउरि संकर मनाय। दच्छिनइ अंग करि लगिय पाय॥
फिरि[5] देषि देषि प्रिथिराज राज। हँसि मुद्ध मुद्ध चर पट्ट लाज[6]॥

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहौं दिस।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढत तेग मनबेग लगत मनो बीजु झट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिग गगन, रँगन मगन भइ शोन धर।
हृदि[7] हरषि वीर जग्गे हुलसि हुरेउ[8] रंग नव रत्त[9] वर।

* * * *

षुरासान मुलतान खंधार मीरं। बलष स्यो[10] बलं तेग अच्चूक तीरं॥
रुहंगी फिरंगी हलब्बी सुमानी। ठटी ठट्ट भल्लोच ढालं निसानी॥
मजारी-चषी[11], मुक्ख जंबुक्क लारी[12]। हजारी हजारी हुँकै[13] जोध भारी॥

(४-५) भट्ट केदार, मधुकर कवि (संवत् १२२४-१२४३)—जिस प्रकार चंदबरदाई ने महाराज पृथ्वीराज को कीर्त्तिमान् किया है उसी प्रकार भट्ट केदार ने कन्नौज के सम्राट् जयचंद का गुण गाया है। रासो मे चंद और भट्ट केदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख भी है। भट्ट

---

१ चल दीजिए। २ अलग ही अलग। दूसरी ओर से। ३ मध्ये, मधि, में। ४ जिमि, ज्यों। ५ प्रदक्षिणा। ६ हँसकर उस मोहित मुग्धा ने लज्जा से (मुँह पर का) पट चला दिया अर्थात् सरका लिया। ७ हृदय में। ८ फुर्‌यो, स्फुरित हुआ। ९ रक्त। १० साथ। ११ बिल्ली की सी आँख वाले। १२ मुँह गीदड़ और लोमड़ी के से। १३ हुङ्कार करते।

केदार ने 'जयचंद-प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था जिसमे महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था[1]। इसी प्रकार का 'जयमयंक-जसचंद्रिका' नामक एक बड़ा ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाॅ री ख्यात' मे मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भांडार मे सुरक्षित है। इस ख्यात मे लिखा है कि दयालदास ने आदि से लेकर कन्नौज तक का वृत्तात इन्हीं दोनो ग्रंथो के आधार पर लिखा है।

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ मे उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो था गहरवारों (राठौरो) का विशाल साम्राज्य, जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अंतर्गत प्रायः सारा मध्य देश, काशी से कन्नौज तक, था। दूसरा चौहानो का, जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अंतर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रांत था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों मे गहरवारो का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य-संपन्न और देश के प्रधान भाग पर था। गहरवारों की दो राजधानियाँ थीं—कन्नौज और काशी। इसी से कन्नौज के गहरवार राजा काशिराज कहलाते थे। जिस प्रकार पृथ्वीराज का प्रभाव राजपूताने के राजाओ पर था उसी प्रकार जयचंद का प्रभाव बुंदेलखंड के राजाओ पर था। कालिंजर या महोबे के चंदेल राजा परमर्दिदेव (परमाल) जयचंद के मित्र या सामंत थे जिसके कारण पृथ्वीराज ने उन

१—भट्ट-भणंत पर यदि विश्वास किया जाय तो केदार महाराज जयचन्द के कवि नहीं, सुलतान शहाबुद्दीन गोरी के कविराज थे। 'शिवसिंहसरोज' में भाटों की उत्पत्ति के संबध में यह विलक्षण कवित्त उद्धृत है—

प्रथम विधाता ते प्रगट भए बंदीजन, पुनि पृथुजज्ञ तें प्रकास सरसात है।
माने सूत सौनक न, बाँचत पुरान रहे, जस को बखाने महासुख सरसात है।
चंद चौहान के, केदार गोरी साह जू के, गंग अकबर के बखाने गुन गात है।
काव्य कैसे माँस अजनास धन भाँटन को, लूटि धरै ताको खुरा-खोज मिटि जात है।

पर चढ़ाई की थी। चंदेल कन्नौज के पक्ष में दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

(६) **जगनिक** (सं० १२३०)—ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप मे लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतो का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत मे—विशेषतः उन सब प्रदेशों मे जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे—हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नही है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदी भाषा-भाषी प्रातो के गॉव गॉव मे सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध है और बरसात मे गाए जाते है। गॉवों मे जाकर देखिए तो मेघ-गर्जन के बीच मे किसी अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीरहुंकार सुनाई देगी—

> बारह बरिस लै कूकर जीऐं, औ तेरह लै जिऐं सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार।

इस प्रकार साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ मे जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ काल-यात्रा मे उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वस्तु मे भी अधिक परिवर्तन होता आया है। बहुत से नए अस्त्रों (जैसे, बंदूक, किरिच), देशो और जातियों (जैसे, फिरंगी) के नाम सम्मिलित हो गए हैं और बराबर होते जाते हैं। यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंधपद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयो मे इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिये ही रचा गया था इससे पडितो और विद्वानो के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं। आल्हा का प्रचार यो तो सारे उत्तर भारत मे है पर बैसवाड़ा इसका केंद्र माना जाता है; वहाँ इसके गानेवाले

बहुत अधिक मिलते हैं। बुंदेलखंड मे—विशेषतः महोबे के आसपास—भी इसका चलन बहुत है।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हा-खंड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा-संबंधी ये वीर-गीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे जो चंदेलों की वीरता के वर्णन मे लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्ह खंड' के नाम से छपा है। फर्रुखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके ६०–७० वर्ष पूर्व छपवाया था।

(७) **श्रीधर**—इन्होंने संवत् १४५४ में 'रणमल्ल छंद' नामक एक काव्य रचा जिसमे ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की उस विजय का वर्णन है जो उसने पाटन के सूबेदार जफर खाँ पर प्राप्त की थी। एक पद्य नीचे दिया जाता है—

ढमढमइ ढमढमकार ढंकर ढोल ढोली जंगिया।
सुर करहि रण-सहणाइ समुहरि सरस रसि समरंगिया॥
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कारय थरहरइ।
संचरइ शक सुरताण साहण साहसी सवि संगरइ॥

प्रकरण ४

फुटकल रचनाएँ

वीरगाथाकाल के समाप्त होते होते हमे जनता की बहुत कुछ असली बोल-चाल और उसके बीच कहे सुने जानेवाले पद्यों की भाषा के बहुत कुछ असली रूप का पता चलता है। पता देनेवाले हैं दिल्ली के खुसरो मियाँ और तिरहुत के विद्यापति। इनके पहले की जो कुछ संदिग्ध असदिग्ध सामग्री मिलती है उस पर प्राकृत की रूढ़ियों का थोड़ा या बहुत प्रभाव अवश्य पाया जाता है। लिखित साहित्य के रूप मे ठीक बोलचाल की भाषा या जनसाधारण के बीच कहे सुने जानेवाले गीत पद्य आदि रक्षित रखने की ओर मानों किसी का ध्यान ही नहीं था। जैसे पुराना चावल ही बड़े आदमियो के खाने योग्य समझा जाता है वैसे ही अपने समय से कुछ पुरानी पड़ी हुई, परपरा के गौरव से युक्त, भाषा ही पुस्तक रचनेवालों के व्यवहार योग्य समझी जाती थी। पश्चिम की बोलचाल, गीत, मुख-प्रचलित पद्य आदि का नमूना जिस प्रकार हम खुसरो की कृति में पाते है उसी प्रकार बहुत पूरब का नमूना विद्यापति की पदावली मे। उसके पीछे फिर भक्तिकाल के कवियों ने प्रचलित देश-भाषा और साहित्य के बीच पूरा पूरा सामजस्य घटित कर दिया।

(८) **खुसरो**—पृथ्वीराज की मृत्यु (सवत् १२४९) के ९० वर्ष पीछे खुसरो ने संवत् १३४० के आस पास रचना आरभ की। इन्होने गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह तक कई पठान बाद-शाहों का जमाना देखा था। ये फारसी के बहुत अच्छे ग्रंथकार और अपने समय के नामी कवि थे। इनकी मृत्यु सवत् १३८१ में हुई। ये बड़े ही विनोदी, मिलनसार, और सहृदय थे, इसीसे जनता की सब बातो मे पूरा योग देना चाहते थे। जिस ढंग के दोहे, तुकबंदियाँ और पहेलियाँ आदि साधारण जनता की बोलचाल मे इन्हें प्रचलित मिलीं उसी ढंग के पद्य पहेलियाँ आदि कहने की

उत्कंठा इन्हें भी हुई। इनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता थी; यद्यपि कुछ रसीले गीत और दोहे भी इन्होंने कहे हैं।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'काव्य-भाषा' का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी व्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था। अतः जिन पच्छिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा व्रजभाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है। इसी से खुसरो की हिंदी-रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल, पहेलियों, मुकरियों और दोसखुनों में ही मिलती है—यद्यपि उनमें भी कहीं कहीं व्रजभाषा की झलक है। पर गीतों और दोहों की भाषा व्रज या मुख-प्रचलित काव्यभाषा ही है। यही व्रजभाषापन देख उर्दू साहित्य के इतिहास-लेखक प्रो० आजाद को यह भ्रम हुआ था कि व्रजभाषा से खड़ी बोली (अर्थात् उसका अरबी-फारसी-ग्रस्त रूप उर्दू) निकल पड़ी[1]।

खुसरो के नाम पर संगृहीत पहेलियों में कुछ प्रक्षिप्त और पीछे की जोड़ी पहेलियाँ भी मिल गई हैं, इसमें संदेह नहीं। उदाहरण के लिये हुक्केवाली पहेली लीजिए। इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि तंबाकू का प्रचार हिंदुस्तान में जहाँगीर के समय से हुआ। उसकी पहली गोदाम अँगरेजों की सूरतवाली कोठी थी जिससे तंबाकू का एक नाम ही 'सूरती' या 'सुरती' पड़ गया। इसी प्रकार भाषा के संबंध से भी संदेह किया जा सकता है कि वह दीर्घ मुख-परंपरा के बीच कुछ बदल गई होगी, उसका पुरानापन कुछ निकल गया होगा। किसी अंश तक यह बात हो सकती है, पर साथ ही यह भी निश्चित है कि उसका ढाँचा कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढ़ियों से जकड़ी काव्य-भाषा से भिन्न था। प्रश्न यह उठता है कि क्या उस समय तक भाषा घिसकर इतनी चिकनी हो गई थी जितनी पहेलियों में मिलती है।

१—देखिए मेरे 'बुद्धचरित' काव्य की भूमिका में "काव्यभाषा" पर मेरा प्रबंध, जिसमें उसके स्वरूप का निर्णय किया गया है तथा व्रज, अवधी और खड़ी बोली के भेद और प्रवृत्तियाँ निरूपित की गई हैं।

खुसरो के प्रायः दो सौ वर्ष पीछे की लिखी जो कबीर की बानी की हस्त-लिखित प्रति मिली है उसकी भाषा कुछ पंजाबी लिए राजस्थानी है, पर इसमे पुराने नमूने अधिक हैं—जैसे, सप्तमी विभक्ति के रूप में इ (घरि = घर मे) 'चला', 'समाया' के स्थान पर 'चलिया', 'चल्या', 'समाइया'। 'उनई आई' के स्थान पर 'उनमिवि आई' (झुक आई) इत्यादि। यह बात कुछ उलझन की अवश्य है पर विचार करने पर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि खुसरो के समय मे 'इट्ठ', 'बसिट्ठ' आदि रूप 'ईठ' (इष्ट, इट्ठ, ईठ), बसीठ (विसृष्ट, विसिट्ठ, बसिट्ठ, बसीठ) हो गए थे। अतः पुराने प्रत्यय आदि भी बोलचाल से बहुत कुछ उठ गए थे। यदि 'चलिया', 'मारिया' आदि पुराने रूप रखें तो पहेलियो के छंद टूट जायँगे, अतः यही धारणा होती है कि खुसरो के समय मे बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिसकर बहुत कुछ उसी रूप मे आ गई थी जिस रूप मे खुसरो मे मिलती है। कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक था ; उसी प्रकार जैसे अँगरेजो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक रहता है। खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था। पर कबीर धर्मोपदेशक थे, अतः उनकी बानी पोथियो की भाषा का सहारा कुछ न कुछ खुसरो की अपेक्षा अधिक लिए हुए है।

नीचे खुसरो की कुछ पहेलियाँ, दोहे और गीत दिए जाते है—

एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा ॥
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे ॥
(आकाश)

एक नार ने अचरज किया। साँप मारि पिंजड़े में दिया ॥
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए ॥
(दीया बत्ती)

एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी होके बिल में पैठी ॥
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल बल जाय ॥
(पायजामा)

अरथ तो इसका बूझेगा। मुँह देखो तो सूझेगा ॥
(दर्पण)

ऊपर के मोटे टाइप के शब्दो मे खड़ी बोली का कितना निखरा हुआ रूप है ! अब इनके स्थान पर ब्रजभाषा के रूप देखिए—

चूक भई कुछ वासों ऐसी । देश छोड़ भयो परदेशी ॥

एक नार पिया को भानी । तन वाको सगरा ज्यों पानी ॥

चाम मास वाके नहिं नेक । हाड़ हाड़ में वाके छेद ।
मोहि अचंभो आवत ऐसे । वामें जीव बसत है कैसे ॥

अब नीचे के दोहे और गीत बिल्कुल ब्रजभाषा अर्थात् मुख-प्रचलित काव्यभाषा में देखिए—

उज्जल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान ।
देखत में तो साधु है, निपट पाप की खान ॥
खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग ।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एकरंग ॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ॥

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल । कैसे गर दीनी बकस मोरी माल ॥
सूनी सेज डरावन लागै, विरहा-अगिन मोहि डस-डस जाय ।

हजरत निजामदीन चिस्ती जरजरीं बख्श पीर ।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं,
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर ॥

ज़े हाल मिसकी मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना, बनाय बतियाँ ।
कि तावे हिज्राँ न दारम, ऐ जाँ ! न लेहु काहे लगाय छतियाँ ॥
शबाने हिज्राँ दराज चूँ ज़ुल्फ व रोजे वसलत चूँ उम्र कोतह ।
सखी ! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ! ॥

---

(९) **विद्यापति**—अपभ्रंश के अंतर्गत इनका उल्लेख हो चुका है[1]। पर जिसकी रचना के कारण ये 'मैथिलकोकिल' कहलाए वह इनकी पदावली है। इन्होने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का व्यवहार किया है। विद्यापति को बंगभाषा वाले अपनी ओर खींचते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी बिहारी और मैथिली को 'मागधी' से निकली होने के कारण हिंदी से अलग माना हैं। पर केवल भाषाशास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (Vocabulary) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिंदी का एक ही साहित्य माना जाता।

खड़ी बोली, बाँगडू, व्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि मे रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिंदी के अंतर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलनेवाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में 'आयल-आइल', 'गयल-गइल', 'हमरा-तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिंदी के सिवाय दूसरी नही कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिंदी-साहित्य "बीसलदेवरासो" पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।

विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमे नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं। इन पदों की रचना जयदेव के गीतकाव्य के अनुकरण पर ही शायद की गई हो। इनका माधुर्य्य अद्भुत है। विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप मे नहीं। विद्यापति को कृष्णभक्तो की परपरा में न समझना चाहिए।

आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हे चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत-गोविंद' के पदों को आध्यात्मिक सकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदो को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के शृंगारी पदों की भी

१—देखो पृ० २६।

ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते है। पता नहीं बाल-लीला के पदो का वे क्या करेंगे। इस संबंध मे यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्त्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप मे लीलाएँ वर्णित है उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप मे वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं, जहाँ वृंदावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रूप मे हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।

विद्यापति सवत् १४६० में तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ वर्त्तमान थे। उनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप वचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
तोहर वदन सम चाँद होअथि नाहिं, कैयो जतन विह केला।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला॥
लोचन तुअ कमल नहि भै सक, से जग के नहिं जानै।
से फिरि जाय लुकैलन्ह जल भएँ, पंकज निज अपमाने॥
भन विद्यापति सुनु बर जोवित ई सभ लछमि समाने।
राजा 'सिवसिंह' रूप नरायन 'लखिमा देइ' प्रति भाने॥

कालि कहल पिय साँझहि रे जाइबि मइ मारू देस।
मोए अभागिलि नहिं जानल रे, सँग जइतवँ जोगिनी वेस॥
हिरदय बड़ दारुन रे, पिया बिनु बिहरि न जाइ।
एक सयन सखि सूतल रे, अछल बलभ निसि भोर॥
न जानल कत खन तजि गेल रे, बिछुरल चकवा जोर॥
सूनि सेज पिय सालइ रे, पिय बिनु घर मोए आजि।
विनति करहुँ सुसहेलिनि रे, मोहि देहि अगिहर साजि॥
विद्यापति कवि गावल रे, आवि मिलत पिय तोर।
'लखिमा देइ' वर नागर रे, राय सिवसिंह नहिं भोर॥

मोटे हिसाब से वीरगाथा-काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरांत मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिंदू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हे हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीर-प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानो के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदयग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।

इस प्रकार स्थिति के साथ ही साथ भावो तथा विचारो मे भी परिवर्त्तन हो गया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीरकाव्य की रचना ही नही हुई। समय समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए। हिंदी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही कि एक विशिष्ट काल मे किसी रूप की जो काव्य-सरिता वेग से प्रवाहित हुई, वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर ९०० वर्षों के हिंदी-साहित्य के इतिहास मे हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

पूर्व-मध्यकाल

(भक्तिकाल सं० १३७५-१७००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

देश मे मुसलमानो का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू-जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा मे अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?

यह तो हुई राजनीतिक परिस्थिति। अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदि-काल के अंतर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूरबी भागों में और नाथपंथी जोगी पच्छिमी भागों में रमते चले आ रहे थे[१]। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्मभावना कितनी दबती जा रही थी, उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था।

धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं मे चलता है।

१—देखो पृ० ७—२०।

इन तीनो के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लॅंगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन क्या निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो सामान्य से बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जन-समुदाय की संपत्ति होती है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल मे कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत-काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल मे हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती, किसी प्रकार चली भर आ रही थी।

अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का संस्कार फैलाने का जो कार्य्य वज्रयानी सिद्धों और नाथ-पंथी जोगियो के द्वारा हुआ, उसका उल्लेख हो चुका है[1]। पर उनका उद्देश्य 'कर्म' को उस तंग गड्ढे से निकालकर प्रकृत धर्म के खुले क्षेत्र मे लाना न था बल्कि एकबारगी किनारे ढकेल देना था। जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गए थे। उनकी बानी तो 'गुह्य, रहस्य और सिद्धि' लेकर उठी थी। अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिये वे बाह्य जगत की बाते छोड़, घट के भीतर के कोठों की बात बताया करते थे। भक्ति, प्रेम आदि हृदय के प्रकृत भावों का उनकी अंतस्साधना मे कोई स्थान न था, क्योकि इनके द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना तो सबके लिये सुलभ कहा जा सकता है। सामान्य अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता पर इनकी बानियो का प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि वह सच्चे शुभकर्मों के मार्ग से तथा भगवद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र, तंत्र और उपचारो मे जा उलझे और उसका विश्वास

१—देखो पृ० १२-२२।

अलौकिक सिद्धियो पर जा जमे ? इसी दशा की ओर लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

सारांश यह कि जिस समय मुसलमान भारत मे आए उस समय सच्चे धर्म-भाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। प्रतिवर्त्तन के लिये बहुत कड़े धक्को की आवश्यकता थी।

ऊपर जिस अवस्था का दिग्दर्शन हुआ है, वह सामान्य जन-समुदाय की थी। शास्त्रज्ञ विद्वानो पर सिद्धो और जोगियों की बानियो का कोई असर न था। वे इधर उधर पड़े अपना कार्य्य करते जा रहे थे। पडितो के शास्त्रार्थ भी होते थे, दार्शनिक खडन-मंडन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदात की थी। ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर, भाष्यो की परंपरा विद्वन्मंडली के भीतर चली चल रही थी जिससे परंपरागत भक्तिमार्ग के सिद्धांत पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ।

कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट मे केवल हिंदू जनता ही नही, देश मे बसने-वाले सहृदय मुसलमानो मे से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानो दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य (संवत् १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।

गुजरात मे स्वामी मध्वाचार्यजी (सवत् १२५४–१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्व भाग में

जयदेवजी के कृष्ण-प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी जिसके सुर में मिथिला के कोकिल (विद्यापति) ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्यभारत में एक ओर तो ईसा की १५वीं शताब्दी मे रामानुजाचार्य्य की शिष्य-परंपरा में स्वामी रामानंदजी हुए जिन्होने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया; दूसरी ओर वल्लभाचार्यजी ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तो की परंपराएँ चलीं जिनमें आगे चलकर हिंदी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचानेवाले जगमगाते रत्नो का विकास हुआ। इन भक्तो ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनंद' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप मे इस बाह्य जगत् के व्यक्त क्षेत्र मे किया।

एक ओर तो प्राचीन सगुणोपासना का यह काव्यक्षेत्र तैयार हुआ, दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से देश मे जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिंदू मुसलमान दोनो के लिये एक 'सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास भी होने लगा। उसके विकास के लिये किस प्रकार वीरगाथा-काल मे ही सिद्धो और नाथ पंथी योगियो के द्वारा मार्ग निकाला जा चुका था, यह दिखाया जा चुका है।[1] वज्रयान के अनुयायी अधिकतर नीची जाति के थे अतः जाति-पाँति की व्यवस्था से उनका असंतोष स्वाभाविक था। नाथ-संप्रदाय मे भी शास्त्रज्ञ विद्वान् नहीं आते थे। इस संप्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर के चक्रो, सहस्रदल कमल, इला-पिंगला नाड़ियो इत्यादि की ओर संकेत करनेवाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे। वे लोगों को ऐसी ऐसी बाते सुनाते आ रहे थे कि वेद-शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा-अर्चा की विधियाँ व्यर्थ हैं, ईश्वर तो प्रत्येक के घट के भीतर है, अंतर्मुख साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता है, हिंदू-मुसलमान दोनो एक है, दोनो के लिये शुद्ध साधना का मार्ग भी एक ही है, जाति-पाँति के भेद व्यर्थ खडे किए गए हैं, इत्यादि। इन जोगियो के पंथ मे कुछ मुसलमान भी आए। इसका उल्लेख पहले हो चुका है।[1]

१—देखो पृ० १५–१६ तथा १८ (पहला पैरा)।

भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसीने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों मे जगाई। हृदयपक्ष-शून्य सामान्य अंतस्साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पंथी कर चुके थे, यह हम कह चुके हैं।[1] पर रागात्मक तत्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८-१४०८) ने हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण-पंथ' के नाम से चलाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर के लिये नाथपंथी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेदभाव को निर्दिष्ट करनेवाले उपासना के बाहरी विधानो को अलग रखकर उन्होंने अंतस्साधना पर जोर दिया था। पर नाथ-पंथियों की अंतःसाधना हृदयपक्ष-शून्य थी, उसमें प्रेमतत्व का अभाव था। कबीर ने यद्यपि नाथपंथ की बहुत सी बातों को अपनी बानी मे जगह दी, पर यह बात उन्हे खटकी। इसका संकेत उनके ये वचन देते हैं—

झिलमिल झगरा झूलते बाकी रही न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु॥
बहुत दिवस ते हिंडिया सुन्नि समाधि लगाइ।
करहा पड़िया गाड़ में दूरि परा पछिताइ॥

[करहा = (१) करभ, हाथी का बच्चा (२) हठयोग की क्रिया करनेवाला]

अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिये भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिये सूफियो का प्रेमतत्व लिया और अपना 'निर्गुण-पंथ' बड़ी धूम-धाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय भक्तिमार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता। इसमे कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था।

१—देखो पृ० १६।

उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता मे उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया। उनका 'निर्गुण-पंथ' चल निकला जिसमे नानक, दादू, मलूक-दास आदि अनेक संत हुए।

कबीर तथा अन्य निर्गुण-पंथी संतो के द्वारा अंतस्साधना मे रागात्मिका 'भक्ति' और 'ज्ञान' का योग तो हुआ, पर 'कर्म' की दशा वही रही जो नाथपंथियो के यहाँ थी। इन संतों के ईश्वर ज्ञान-स्वरूप और प्रेम स्वरूप ही रहे, धर्मस्वरूप न हो पाए। ईश्वर के धर्मस्वरूप को लेकर, उस स्वरूप को लेकर, जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन मे होती है प्राचीन वैष्णव भक्ति मार्ग की रामभक्ति शाखा उठी। कृष्णभक्ति-शाखा केवल प्रेम-स्वरूप ही लेकर नई उमंग से फैली।

यहाँ पर एक बात की ओर ध्यान दिलां देना आवश्यक प्रतीत होता है। साधना के जो तीन अवयव—कर्म, ज्ञान और भक्ति—कहे गए है, वे सब काल पाकर दोषग्रस्त हो सकते हैं। 'कर्म' अर्थ-शून्य विधि-विधानो से निकम्मा हो सकता है; 'ज्ञान' रहस्य और गुह्य की भावना से पाषंड-पूर्ण हो सकता है और 'भक्ति' इंद्रियोपभोग की वासना से कलुषित हो सकती है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। जहाँ श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़कर केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली जायगी वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।

इस दृष्टि से यदि हम देखें तो कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियो से जो प्रेमतत्त्व उन्होने लिया वह सूफियो के यहाँ चाहे कामवासना-ग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुण पंथ' मे अविकृत रहा। यह निस्सं-देह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्णभक्ति-शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली; फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। रामभक्ति-शाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही; इससे वह विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्ति-पद्धति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा। इधर आज-

कल अलबत कुछ लोगो ने कृष्णभक्ति-शाखा के अनुकरण पर उसमें भी 'माधुर्य्य भाव' का गुह्य रहस्य घुसाने का उद्योग किया है जिससे 'सखी संप्रदाय' निकल पड़े हैं और राम की भी 'तिरछी चितवन और बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे है।

यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। यह "निर्गुण-पथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच-नीच और जाति-पाँति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिये मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। इस भाव का सूत्रपात भक्तिमार्ग के भीतर महाराष्ट्र और मध्यदेश मे नामदेव और रामानंदजी द्वारा हुआ। महाराष्ट्र देश मे नामदेव का जन्मकाल शक संवत् ११९२ और मृत्युकाल शक संवत् १२७२ प्रसिद्ध है। ये दक्षिण के नरुसी बमनी (सतारा जिला) के दरजी थे। पीछे पंढरपुर के बिठोवा (विष्णु भगवान्) के मंदिर मे भगवद्भजन करते हुए अपना दिन बिताते थे।

महाराष्ट्र के भक्तों मे नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी भाषा के अभगो के अतिरिक्त इनकी हिंदी रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण मे मिलती हैं। इन हिंदी रचनाओ मे एक विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से संबंध रखती है और कुछ निर्गुणोपासना से। इसके समाधान के लिये इनके समय की परिस्थिति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आदिकाल के अंतर्गत यह कहा जा चुका है कि मुसलमानो के आने पर पठानो के समय मे गोरखपंथी योगियो का देश मे बहुत प्रभाव था। नामदेव के ही समय में प्रसिद्ध ज्ञानयोगी ज्ञानदेव हुए हैं जिन्होंने अपने को गोरख की शिष्य-परंपरा मे बताया है। ज्ञानदेव का परलोकवास बहुत थोड़ी अवस्था मे ही हुआ, पर नामदेव उनके उपरांत बहुत दिनो तक जीवित रहे। नामदेव सीधे-सादे सगुण भक्तिमार्ग पर चले जा रहे थे, पर पीछे उस नाथ-पंथ के प्रभाव के भीतर भी ये लाए गए, जो अंतर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानता था। लानेवाले थे ज्ञानदेव।

एक बार ज्ञानदेव इनको साथ लेकर तीर्थयात्रा को निकले। मार्ग मे ये अपने प्रिय विग्रह विठोबा (भगवान्) के वियोग मे व्याकुल रहा करते थे। ज्ञानदेव इन्हें बराबर समझाते जाते थे कि 'भगवान् क्या एक ही जगह हैं, वे तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक है। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जब तक निर्गुण पक्ष की भी अनुभूति तुम्हे न होगी, तब तक तुम पक्के न होगे'। ज्ञानदेव की बहन मुक्ताबाई के कहने पर एक दिन 'संत-परीक्षा' हुई। जिस गॉव में यह संत मंडली उतरी थी उसमे एक कुम्हार रहता था। मंडली के सब संत चुपचाप बैठ गए। कुम्हार घड़ा पीटने का पिटना लेकर सबके सिर पर जमाने लगा। चोट पर चोट खाकर भी कोई विचलित न हुआ। पर जब नामदेव की ओर बढ़ा तब वे बिगड़ खडे हुए। इस पर वह कुम्हार बोला "नामदेव को छोड और सब घड़े पक्के है।" बेचारे नामदेव कच्चे घड़े ठहराए गए। इस कथा से यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि नामदेव को नाथ-पंथ के योगमार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिये ज्ञानदेव की ओर से तरह तरह के प्रयत्न होते रहे।

सिद्ध और योगी निरंतर अभ्यास द्वारा अपने शरीर को विलक्षण बना लेते थे। खोपडी पर चोट खा खाकर उसे पक्की करना उनके लिये कोई कठिन बात न थी। अब भी एक प्रकार के मुसलमान फ़कीर अपने शरीर पर ज़ोर ज़ोर से डंडे जमाकर भिक्षा मॉगते हैं।

नामदेव किसी गुरु से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति मे प्रवृत्त नही हुए थे, अपने ही हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे। ज्ञानदेव बराबर उन्हे "बिनु गुरु होइ न ज्ञान" समझाते आते थे। संतो के बीच निर्गुण ब्रह्म के संबंध मे जो कुछ कहा सुना जाता है और ईश्वर-प्राप्ति की जो साधना बताई जाती है, वह किसी गुरु की सिखाई हुई होती है। परमात्मा के शुद्ध निर्गुण स्वरूप के ज्ञान के लिये ज्ञानदेव का आग्रह बराबर बढ़ता गया। गुरु के अभाव के कारण किस प्रकार नामदेव मे परमात्मा की सर्वव्यापकता का उदार भाव नही जम पाया था और भेद-भाव बना था, इसपर भी एक कथा चली आती है। कहते है कि एक दिन स्वयं विठोबा (भगवान्) एक मुसलमान फकीर का रूप धरकर नामदेव के सामने आए। नामदेव ने उन्हे नहीं पहचाना। तब उनसे कहा गया कि वे तो

परब्रह्म भगवान् ही थे ।- अंत मे बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर बिसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपंथी कनफटे से दीक्षा ली। इसके संबंध मे उनके ये वचन है—

मन मेरी सुई, तन मेरा धागा। खेचर जी के चरण पर नामा सिंपी लागा।

सुफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख बिसार सुख अंतर दीना ॥
ज्ञान दान मोको गुरु दीना। राम नाम बिन जीवन हीना ॥

किसू हूँ पूजूँ दूजा नजर न आई।
एके पाथर किज्जे भाव। दूजे पाथर धरिए पाव ॥
जो वो देव तो हम बी देव। कहै नामदेव हम हरि की सेव ॥

यह बात समझ रखनी चाहिए कि नामदेव के समय मे ही देवगिरि पर पठानों की चढ़ाइयाँ हो चुकी थीं और मुसलमान महाराष्ट्र मे भी फैल गए थे। इसके पहले ही गोरखनाथ के अनुयायी हिंदुओ और मुसलमानो दोनो के लिये अंतस्साधना के एक सामान्य मार्ग का उपदेश देते आ रहे थे।

इनकी भक्ति के अनेक चमत्कार भक्तमाल मे लिखे है; जैसे—विठोबा (ठाकुरजी) की मूर्ति का इनके हाथ से दूध पीना, अविंद नागनाथ के शिवमंदिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना इत्यादि। इनके माहात्म्य ने यह सिद्ध कर दिखाया कि "जाति पाँति पूछै नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का होई"। इनकी इष्ट सगुणोपासना के कुछ पद नीचे दिए जाते हैं जिनमे शबरी, केवट आदि की सुगति तथा भगवान् की अवतार-लीला का कीर्त्तन बड़े प्रेमभाव से किया गया है—

अंबरीष को दियो अभयपद, राज विभीषन अधिक करयो।
नव निधि ठाकुर दई सुदामहि, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टरयो ॥
भगत हेत मारयो हरिनाकुस, नृसिंह रूप ह्वै देह धरयो।
नामा कहै भगति-वस केसव, अजहूँ वलि के द्वार खरो ॥

दसरथ-राय-नंद राजा मेरा रामचंद । प्रणवै नामा तत्त्व रस अम्रत पीजै ॥

× × × ×

धनि धनि मेघा-रोमावली, धनि धनि कृष्ण ओढ़े कावँली ।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कँवलापती ॥
धनि धनि बनखँड 'बृँदाबना, जहँ खेलै श्रीनारायना ।
बेनु बजावै, गोधन चारै, नामे का स्वामि आनँद करै ॥

यह तो हुई नामदेव की व्यक्तोपासना-सबधी हृदय-प्रेरित रचना । आगे गुरु से सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी अर्थात् 'निर्गुन बानी' भी कुछ देखिए—

माइ न होती, बाप न होते, कर्म्म न होता काया ।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहाँ ते आया ॥
चंद न होता, सूर न होता, पानी पवन मिलाया ।
शास्त्र न होता, वेद न होता, करम कहाँ ते आया ॥

× × × ×

पांडे तुम्हरी गायत्री लोधे का खेत खाती थी ।
लैकरि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत आती थी ॥
पांडे तुम्हरा महादेव धौल बलद चढा आवत देखा था ।
पांडे तुम्हरा रामचंद सो भी आवत देखा था ॥
रावन सेंती सरबर होई, घर की जोय गँवाई थी ।
हिंदू अंधा तुरुकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना ॥

हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद । नामा सोई सेविया जँह देहरा न मसीद ॥

सगुणोपासक भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिये सगुण रूप ही स्वीकार करता है; निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिये छोड देता है । सब सगुणमार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूप के साथ साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आए है जो बोधगम्य नहीं । वे अव्यक्त की ओर संकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नही होते । नामदेव क्यो प्रवृत्त हुए, यह ऊपर दिखाया जा चुका है । जब कि उन्होने एक गुरु से ज्ञानोपदेश लिया तब शिष्यधर्मानुसार उसकी उद्धरणी आवश्यक हुई ।

नामदेव की रचनाओं मे यह बात साफ दिखाई पड़तो है कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो व्रज या परंपरागत काव्य भाषा है, पर 'निर्गुन बानी' की भाषा नाथपंथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा।

नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पंथ' के लिये मार्ग निकालनेवाले नाथ-पथ के योगी और भक्त नामदेव थे। जहाँ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होने एक ओर तो स्वामी रामानंदजी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बाते ग्रहण कीं और दूसरी ओर योगियो और सूफी फकीरो के संस्कार प्राप्त किए। वैष्णवों से उन्होने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे संतो के वचनो मे कही भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कही योगियो के नाड़ीचक्र की, कही सूफियों के प्रेमतत्त्व की, कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हे पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वर-वादी। दोनो का मिला-जुला भाव इनकी बानी मे मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति पद्धति का प्रचार था जिसमे हिंदू और मुसलमान दोनो योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानो की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न भिन्न बाह्य विधियो पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म मे भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

इस प्रकार देश मे सगुण और निर्गुण के नाम से भक्ति-काव्य की दो धाराएँ विक्रम की १५वीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर १७वी शताब्दी के अंत तक समानांतर चलती रहीं। भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा की कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर ही की मिलती है अतः पहले निर्गुण मत के संतो का उल्लेख उचित ठहरता है। यह निर्गुण धारा दो शाखाओं

मे विभक्त हुई—एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी शुद्ध प्रेममार्गी शाखा (सूफियो की)।

पहली शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान और योग-साधना को लेकर तथा उसमे सूफियों के प्रेमतत्त्व को मिलाकर उपासना-क्षेत्र मे अग्रसर हुई और सगुण के खडन मे उसी जोश के साथ तत्पर रही जिस जोश के साथ पैगंवरी मत बहु-देवोपासना और मूर्तिपूजा आदि के खंडन मे रहते हैं। इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—फुटकल दोहो या पदों के रूप मे हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटॉग है। कबीर आदि दो-एक प्रतिभा-संपन्न संतों को छोड़ औरों मे ज्ञानमार्ग की सुनी सुनाई बातो का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातो के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियो मे हैं। भक्तिरस मे मग्न करने-वाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिये न तो इस पथ मे कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, सस्कृत हृदय और सस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा मे नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओ का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयो का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडंबरो का तिरस्कार करके, आत्म-गौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यो ने इन्हें जो "धर्म-सुधारक" की उपाधि दी है वह इसी बात को ध्यान में रखकर।

दूसरी शाखा शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियो की है जिनकी प्रेम-गाथाएँ वास्तव मे साहित्य-कोटि के भीतर आती है। इस शाखा के सब कवियो ने कल्पित कहानियो के द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्त्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम कहानियो का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम मे पागल होना और घरबार छोड़कर निकल पड़ना तथा

अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अंत मे उस राजकुमारी को प्राप्त करना। पर "प्रेम की पीर" की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्वव्यापक रूप मे होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है।

हमारा अनुमान है कि सूफ़ी कवियो ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिंदुओं के घर मे बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमे आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेर फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिंदू है। मनुष्य के साथ पशुपक्षी और पेड़-पौधो को भी सहानुभूति सूत्र मे बद्ध दिखाकर एक अखंड जीवनसमष्टि का आभास देना हिंदू प्रेम कहानियो की विशेषता है। मनुष्य के घोर दुःख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं, पक्षी भी सँदेसे पहुँचाते हैं। यह बात इन कहानियो मे भी मिलती है।

शिक्षितों और विद्वानो की काव्यपरंपरा मे यद्यपि अधिकतर आश्रयदाता राजाओं के चरितों और पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानो की ही प्रवृत्ति थी, पर साथ ही कल्पित कहानियों का भी चलन था, इसका पता लगता है। दिल्ली के बादशाह सिकंदर शाह (सवत् १५४६–१५७४) के समय मे कवि ईश्वर-दास ने *'सत्यवतीकथा'* नाम की एक कहानी दोहे-चौपाइयो में लिखी थी जिसका आरंभ तो व्यास-जनमेजय के संवाद से पौराणिक ढंग पर होता है, पर जो अधिकतर कल्पित, स्वच्छंद और मार्मिक मार्ग पर चलनेवाली है। वनवास के समय पाडवो को मार्कंडेय ऋषि मिले जिन्होंने यह कथा सुनाई—

मथुरा के राजा चंद्र-उदय को कोई संतति न थी। शिव की तपस्या करने पर उनके वर से राजा को सत्यवती नाम की एक कन्या हुई। वह जब कुमारी हुई तब नित्य एक सुंदर सरोवर मे स्नान करके शिव का पूजन किया करती। इंद्रपति नाम एक राजा के ऋतुवर्ण आदि, चार पुत्र थे। एक दिन ऋतुवर्ण शिकार खेलते खेलते घोर जंगल मे भटक गया। एक स्थान पर उसे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा जिसकी शाखाएँ तीस कोस तक फैली थीं। उसपर चढ़कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर उसे एक सुदर सरोवर दिखाई पड़ा जिसमे कई कुमारियाँ स्नान कर रही थी। वह जब उतरकर वहाँ गया तब सत्यवती को देख मोहित हो गया। कन्या का मन भी उसे देख कुछ डोल गया। ऋतुवर्ण जब उसकी

ओर एक टक ताकता रह गया तब सत्यवती को क्रोध आ गया और उसने यह कहकर कि—

एक चित्त हमै चितवै जस जोगी चित जोग।
धरम न जानसि पापी, कहसि कौन तैं लोग॥

शाप दिया कि 'तू कोढ़ी और व्याधिग्रस्त हो जा।'

ऋतुवर्ण वैसा ही हो गया और पीड़ा से फूट फूट कर रोने लगा—

रोवै ब्याधी बहुत पुकारी। छोहन ब्रिछ रोवैं सब भारी॥
बाघ सिंह रोवत बन माही। रोवत पंछी बहुत ओनाहीं॥

यह व्यापक विलाप सुनकर सत्यवती उस कोढ़ी के पास जाती है; पर वह उसे यह कहकर हटा देता है कि 'तुम जाओ, अपना हँसो खेलो।' सत्यवती का पिता राजा एक दिन जब उधर से निकला तब कोढ़ी के शरीर से उठी दुर्गंध से व्याकुल हो गया। जाकर उस दुर्गंध की शांति के लिये राजा ने बहुत दान पुण्य किया। जब राजा भोजन करने बैठा तब उसकी कन्या वहाँ न थी। राजा कन्या के बिना भोजन ही न करता था। कन्या को बुलाने जब राजा के दूत गए तब यह शिव की पूजा छोड़कर न आई। इसपर राजा ने क्रुद्ध होकर दूतों से कहा कि सत्यवती को जाकर उसी कोढ़ी को सौंप दो। दूतों का वचन सुनकर कन्या नीम की टहनी लेकर उस कोढ़ी की सेवा के लिये चल पड़ी और उससे कहा—

तोहि छाँड़ि अब मैं कित जाऊँ। माइ बाप सौंपा तुव ठाऊँ॥

कन्या प्रेम से उसकी सेवा करने लगी और एक दिन उसे कंधे पर बिठाकर प्रभावती तीर्थस्नान कराने ले गई, जहाँ बहुत से देवता, मुनि, किन्नर आदि निवास करते थे। वहाँ जाकर सत्यवती ने कहा "यदि मै सच्ची सती हूँ तो गत हो जाय।" इस पर चारो ओर घोर अंधकार छा गया। सब देवता तुरंत सत्यवती के पास दौड़े आए। सत्यवती ने उनसे ऋतुवर्ण को सुंदर शरीर प्रदान करने का वर माँगा। व्याधि-ग्रस्त ऋतुवर्ण ने तीर्थ में स्नान किया और उसका शरीर निर्मल हो गया। देवताओ ने वहीं दोनो का विवाह करा दिया।

ईश्वरदास ने ग्रंथ के रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

भादौ मास पाप उजियारा। तिथि नौमी औ मंगलवारा।
नषत अस्विनी, मेष क चंदा। पंच जना सो सदा अनंदा।

का गुरु मानते हैं[1]। आरंभ से ही कबीर हिंदूभाव की उपासना की ओर आकर्षित हो रहे थे। अतः उन दिनों, जब कि रामानंदजी की बड़ी धूम थी, अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे। जैसा आगे कहा जायगा, रामानुज की शिष्य-परंपरा मे होते हुए भी रामानंदजी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमे जाति-पाँति का भेद और खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। अतः इसमे कोई संदेह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानंदजी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानंद के 'राम' से भिन्न हो गए। अतः कबीर को वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। कबीर ने दूर दूर तक देशाटन किया, हठयोगियो तथा सूफ़ी मुसलमान फ़कीरो का भी सत्सग किया। अतः उनकी प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई। अद्वैतवाद के स्थूल रूप का कुछ परिज्ञान उन्हे रामानंदजी के सत्संग से पहले ही था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए; वे ब्रह्म के पर्याय हुए—

दसरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

१—ऊजी के पीर और शेख तकी चाहे कबीर के गुरु न रहे हों पर उन्होंने उनके सत्संग से बहुत सी बातें सीखीं इसमें कोई संदेह नहीं। कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नही जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है; जैसे, "घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस वचन में कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पडते है। कबीर ने मुसलमान फकीरों का सत्सग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे।

मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मदहति सुनी शेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

पर सब की बातों का सचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बडा मानने के लिये तैयार नही थे, सब को अपना ही वचन मानने को कहते थे।

शेख अकरदी सकरदीं तुम मानहु वचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दीठि पसार॥

सारांश यह कि जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति मे ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिये हठयोगियो की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियो के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियो के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी मे ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं।

यद्यपि कबीर की बानी 'निर्गुण बानी' कहलाती है पर उपासनाक्षेत्र मे ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक भाव मे स्वामी मे कृपा, क्षमा, औदार्य्य आदि गुणो का आरोप हो ही जाता है। इसी लिये कबीर के वचनो मे कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्मसत्ता का संकेत मिलता है, जैसे—

पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि, न सिरजनहारा॥
जोति-सरूप काल नहिं उहवाँ, बचन न आहि सरीरा।
थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥

और कही सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे—

आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती।

और कहीं सोपाधि ईश्वर की, जैसे—

साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय।

सारांश यह कि कबीर मे ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बाते हैं वे सब हिंदू-शास्त्रो की है जिनका संचय उन्होने रामानंदजी के उपदेशो से किया। माया, जीव, ब्रह्म, तत्वमसि, आठ मैथुन (अष्टमैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दो का परिचय उन्हे अध्ययन द्वारा नहीं, सत्संग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे, जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े लिखे न थे। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के सबंध मे वे कहते हैं—

तत्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनीषद कहैं सँदेसा॥
जागबलिक औ जनक सँबादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा॥

यहीं तक नही, वेदांतियों के कनक-कुंडल न्याय आदि का व्यवहार भी इनके वचनों मे मिलता है—

गहना एक कनक तें गहना, इन महँ भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुइ करि थापिन, इक निमाज, एक पूजा ॥

इसी प्रकार उन्होने हठयोगियो के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दो (जैसे, चद, सूर, नाद, बिंदु, अमृत, औंधा कुआँ) को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे है जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतक जमाते है, जैसे—

सूर समाना चंद में दहूँ किया घर एक ।
मन का चिंता तब भया कछू पुरबिला लेख ॥
आकासे मुखि औंधा कुआँ पाताले पनिहारि ।
ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला, आदि बिचार ॥

वैष्णव संप्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्त्व ग्रहण किया जो कि पीछे होनेवाले सूफी फकीरो को भी मान्य हुआ । हिंसा के लिये वे मुसलमानो को बराबर फटकारते रहे—

दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय ।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय ॥

अपनी देखि करत नही अहमक, कहत हमारे बड़न किया ।
उसका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेस दिया ॥

बकरी पाती खाति है ताकी काढी खाल ।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग की बाते कबीर ने हिंदू साधु, संन्यासियो से ग्रहण कीं जिनमे सूफियो के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया । उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितो और मुल्लों दोनो को उन्होंने खरी खरी सुनाई और 'राम रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया । देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य मनुष्य मे जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही । यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कार-

पूर्ण बातें निकलती थी। इनकी उक्तियों मे विरोध और असंभव का चमत्कार लोगो को बहुत आकर्षित करता था; जैसे—

> है कोई गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि बेद बूझै।
> पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै॥
> गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता।

अथवा—

> नैया बिच नदिया डूबति जाय।

अनेक प्रकार के रूपको और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगो को चकित किया करती थीं। अनूठी अन्योक्तियो द्वारा ईश्वर प्रेम की व्यंजना सूफियों मे बहुत प्रचलित थी। जिस प्रकार कुछ वैष्णवो मे 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित हुई थी उसी प्रकार सूफियो में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मानकर हृदय के उद्गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इसको कबीरदास ने ग्रहण किया। कबीर की वाणी मे स्थान स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियो के सत्सग का प्रसाद है। कही इन्होंने ब्रह्म को खसम या पति मानकर अन्योक्ति बाँधी है और कहीं स्वामी या मालिक; जैसे—

> मुझको क्या तू ढूँढै बंदे मैं तो तेरे पास में।

अथवा—

> साईं के सँग सासुर आई।
> संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं॥
> जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माड़ो छायो।
> भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर अपने श्रोताओ पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिये बड़ी लंबी चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी कभी कहते थे। कबीर ने मगहर मे जाकर शरीर त्याग किया जहाँ इनकी समाधि अब तक बनी है। इनका मृत्युकाल संवत् १५७५ माना जाता है, जिसके अनुसार इनकी आयु १२० वर्ष की

ठहरती है। कहते हैं कि कबीरजी की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने संवत् १५२१ मे किया था जब कि उनके गुरु की अवस्था ६४ वर्ष की थी। कबीरजी की वचनावली की सबसे प्राचीन प्रति, जिसका अब तक पता लगा है, संवत् १५६१ की लिखी है।

कबीर की वाणी का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके तीन भाग किए गए है—रमैनी, सबद और साखी। इसमे वेदांत-तत्त्व, हिंदू मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेमसाधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन आदि की असारता, हज, नमाज, व्रत, आराधन की गौणता इत्यादि अनेक प्रसंग हैं। सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश मुख्यतः 'साखी' के भीतर हैं जो दोहो मे हैं। इसकी भाषा सधुक्कडी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी-मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' मे गाने के पद है जिनमे काव्य की ब्रजभाषा और कही कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। खुसरो के गीतों की भाषा भी ब्रज हम दिखा आए हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतो के लिये काव्य की ब्रजभाषा ही स्वीकृत थी। कबीर का यह पद देखिए—

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन-कारनि ऐसी व्यापी मोहि।
नैन हमारे तुम्हकों चाहैं, रती न मानै हारि॥
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि।
सुनुहु हमारी दादि गोसाईं, अब जनि करहु अधीर॥
तुम धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काँचै भाँडै नीर।
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर॥
देह छतौं तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥

सूर के पदो की भी यही भाषा है।

भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियो मे कहीं कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमे बड़ी प्रखर थी, इसमे संदेह नही।

रैदास या रविदास—रामानंदजी के बारह शिष्यो मे रैदास भी माने जाते हैं जो जाति के चमार थे। इन्होने कई पदो मे अपने को चमार कहा भी है, जैसे—

(१) कह रैदास ख़लास चमारा।

(२) ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं।

ऐसा जान पड़ता है कि ये कबीर के बहुत पीछे स्वामी रामानंद के शिष्य हुए क्योंकि अपने एक पद मे इन्होने कबीर और सेन नाई दोनो के तरने का उल्लेख किया है—

नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेन तरै।
कह रविदास, सुनहु रे संतहु ! हरि जिउ तें सबहि सरै।

कबीरदास के समान रैदास भी काशी के रहनेवाले कहे जाते हैं। इनके एक पद से भी यही पाया जाता है—

जाके कुटुँब सब ढोर ढोवंत
फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपासा।
आचार सहित बिप्र करहिं डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥

रैदास का नाम धन्ना और मीराबाई ने बड़े आदर के साथ लिया है।

रैदास की भक्ति भी निर्गुन ढाँचे की जान पड़ती है। कहीं तो वे अपने भगवान् को सब मे व्यापक देखते हैं—

थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई।

और कहीं कबीर की तरह परात्पर की ओर संकेत करके कहते हैं—

गुन निर्गुन कहियत नहिं जाके।

रैदास का अपना अलग प्रभाव पछाँह की ओर जान पड़ता है। 'साधो' का एक संप्रदाय, जो फर्रुखाबाद और थोडा बहुत मिर्जापुर मे भी पाया जाता है, रैदास की ही परंपरा में कहा जाता सकता है; क्योंकि स्थापना (संवत् १६००) करनेवाले बीरभान उदयदास के शिष्य थे और उदयदास रैदास के शिष्यों में माने जाते हैं।

रैदास का कोई ग्रंथ नहीं मिलता ; फुटकल पद ही 'बानी' के नाम से 'संतबानी सीरीज' मे संगृहीत हैं। चालीस पद तो 'आदि गुरुग्रंथ साहब' मे दिए गए है। कुछ पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दूध त बछरै थनह बिडारेउ। फुलु भँवर, जलु मीन बिगारेउ
माई, गोबिंद पूजा कहा लै चरावउँ। अवरु त फूल अनूपु न पावउँ॥
मलयागिरवै रहै हैं भुअंगा। बिषु अमृत बसहीं इक संगा।
तन मन अरपउँ, पूज चढावउँ। गुरु परसादि निरंजन पावउँ॥
पूजा अरचा आहि न तोरी। कह रविदास कवनि गति मोरी॥

अखिल खिलै नहिं, का कह पंडित, कोई न कहै समुझाई।
अबरन बरन रूप नहिं जाके, कहँ लौ लाइ समाई॥
चंद सूर नहिं, राति दिवस नहिं, धरनि अकास न भाई।
करम अकरम नहिं, सुभ असुभ नहिं, का कहि देहुँ बड़ाई॥

जब हम होते तब तू नाहीं, अब तू ही, मैं नाहीं।
अतल अगम जैसे लहरि मइ उदधि, जल केवल जल माहीं॥

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा। जैसा मानिए होइ न तैसा।
नरपति एक सिंहासन सोइया सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइया, सो गति भई हमारी॥

धर्मदास—ये बाँधवगढ़ के रहनेवाले और जाति के बनिए थे। बाल्यावस्था से ही इनके हृदय मे भक्ति का अंकुर था और ये साधुओ का सत्संग, दर्शन, पूजा, तीर्थाटन आदि किया करते थे। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। उन दिनो संत समाज मे कबीर की पूरी प्रसिद्धि हो चुकी थी। कबीर के मुख से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन आदि का खडन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण संत-मत' की ओर हुआ। अंत मे ये कबीर से सत्यनाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यो मे हो गए और संवत् १५७५ मे कबीरदास के परलोकवास पर उनकी गद्दी इन्हीं को मिली। कहते हैं

कि कबीरदास के शिष्य होने पर इन्होंने अपनी सारी संपत्ति, जो बहुत अधिक थी, लुटा दी। ये कबीरदास की गद्दी पर बीस वर्ष के लगभग रहे और अत्यंत वृद्ध होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनकी शब्दावली का भी संतो में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए है; उसमे कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होंने पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियो के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खंडन मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है। उदाहरण के लिये कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास विनवैं करि जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो।
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं बन बन ढूँढौं, हमरा के बिरह-बैराग दै गैलो॥
संग की सखी सब पार उतरि गइलीं, हम धनि ठाढ़ि अकेली रहि गैलों।
धरमदास यह अरज करतु है, सार सबंद सुमिरन दै गैलो॥

गुरु नानक—गुरु नानक का जन्म संवत् १५२६ कार्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर मे हुआ। इनके पिता कालूचंद खत्री जिला लाहौर तहसील शरकपुर के तिलवंडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदा थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानकजी बाल्यावस्था से ही अत्यंत साधु स्वभाव के थे। सं० १५४५ में इनका विवाह गुरदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ। सुलक्षणी से इनके दो पुत्र श्रीचंद और लक्ष्मीचंद हुए। श्रीचंद आगे चलकर उदासी संप्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

पिता ने इन्हें व्यवसाय मे लगाने का बहुत उद्योग किया पर ये सासारिक व्यवहारों में दत्तचित्त न हुए। एक बार इनके पिता ने व्यवसाय के लिये कुछ

धन दिया जिसको इन्होने साधुओ और गरीबो को बाँट दिया। पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे थे जिससे वहाँ उनके कट्टर एकेश्वरवाद का संस्कार धीरे धीरे प्रबल हो रहा था। लोग बहुत से देवी-देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्त्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रो के पठन-पाठन का क्रम मुसलमानो के प्रभाव से प्रायः उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ़ तत्त्व समझने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः जहाँ बहुत से लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाए जाते थे वहाँ कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बनते थे। ऐसी दशा मे कबीर द्वारा प्रवर्तित 'निर्गुण संतमत' एक बड़ा भारी सहारा समझ पड़ा।

गुरु नानक आरंभ ही से भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिंदुओ और मुसलमानो दोनो को समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होने घरबार छोड़ बहुत दूर-दूर के देशो मे भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने मे उन्हे बड़ी सहायता मिली। अंत में कबीरदास की निर्गुण उपासना का प्रचार उन्होने पंजाब मे आरंभ किया और वे सिख-संप्रदाय के आदि गुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े लिखे न थे। भक्तिभाव से पूर्ण होकर वे जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह (संवत् १६६१) ग्रंथ साहब मे किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा मे हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य-भाषा हिंदी मे है। यह हिंदी कही तो देशकी काव्यभाषा या ब्रजभाषा है, कहीं खड़ी बोली जिसमे इधर उधर पंजाबी के रूप भी आ गए हैं; जैसे—चल्या, रह्या। भक्ति या विनय के सीधे सादे भाव सीधी सादी भाषा मे कहे गए हैं, कबीर के समान अशिक्षितो पर प्रभाव डालने के लिये टेढ़े मेढ़े रूपको मे नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है। इनका देहांत संवत् १५९६ मे हुआ। संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और संत स्वभाव के संबंध मे उदाहरण स्वरूप दो पद दिए जाते हैं—

इस दम दा मैंनू कीबे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहिं दिखाया॥

सोच बिचार करे मत मन मैं जिसने ढूँढा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे निसदिन राम चरन चित लाया॥

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग ते रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिं न तेहि घट ब्रह्म-निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन्ह यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सों ज्यों पानी सँग पानी॥

दादूदयाल—यद्यपि सिद्धान्त-दृष्टि से दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी है पर उन्होंने अपना एक अलग पंथ बनाया जो 'दादू-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् १६०१ मे गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान मे मानते है। इनकी जाति के संबध मे भी मतभेद है। कुछ कुछ लोग इन्हे गुजराती ब्राह्मण मानते है और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति-कथा से मिलती-जुलती दादूदयाल की उत्पत्ति-कथा भी दादू-पंथी लोग कहते हैं। उनके अनुसार दादू बच्चे के रूप मे साबरमती नदी मे बहते हुए लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते है। दादूदयाल का गुरु कौन था, यह ज्ञात नहीं। पर कबीर का इनकी बानी मे बहुत जगह नाम आया है और इसमे कोई सन्देह नहीं कि ये उन्हीं के मतानुयायी थे।

दादूदयाल १४ वर्ष तक आमेर मे रहे। वहाँ से मारवाड़ बीकानेर आदि स्थानो मे घूमते हुए सवत् १६५९ मे नराना मे (जयपुर से २० कोस दूर) आकर रह गए। वहाँ से तीन चार कोस पर भराने की पहाड़ी है। वहाँ भी ये अंतिम समय मे कुछ दिनो तक रहे और वहीं संवत् १६६० मे शरीर छोड़ा। वह स्थान दादूपंथियों का प्रधान अड्डा है और वहाँ दादूजी के कपड़े और पोथियाँ अब तक रखी है। और निर्गुणपंथियो के समान दादूपंथी लोग भी

अपने को निरंजन निराकार का उपासक बताते है। ये लोग न तिलक लगाते हैं न कंठी पहनते हैं, हाथ में एक सुमिरनी रखते हैं और 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं।

दादू की बानी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते जुलते दोहों मे है, कहीं कहीं गाने के पद भी है। भाषा मिली जुली पच्छिमी हिंदी है जिसमें राजस्थानी का मेल भी है। इन्होने कुछ पद गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी मे भी कहे है। कबीर के समान पूरबी हिंदी का व्यवहार इन्होंने नहीं किया है। इनकी रचना में अरबी फारसी के शब्द अधिक आए है और प्रेमतत्त्व की व्यंजना अधिक है। घट के भीतर के रहस्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमे बहुत कम है। दादू की बानी मे यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी मे मिलता है, पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है। कबीर के समान खंडन और वाद-विवाद से इन्हे रुचि नही थी। इनकी बानी मे भी वे ही प्रसंग हैं जो निर्गुणमार्गियो की बानियो मे साधारणतः आया करते हैं, जैसे—ईश्वर की व्यापकता, सत्तगुरु की महिमा, जाति-पाँति का निराकरण, हिंदू मुसलमानो का अभेद, संसार की अनित्यता, आत्मबोध इत्यादि। इनकी रचना का कुछ अनुमान नीचे उद्धृत पद्यो से हो सकता है—

घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत है, मथि काढै ते और॥
यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बंदगी बाहिर काहे जाइ॥
दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जाने दूर॥
केते पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड खाइ॥
जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसैं रहै समाइ॥

भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अवरन एक अधारा।
बाद बिबाद काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा॥
समदृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप बिचारा।

मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं निरबैरी निरविकारा ॥
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा ।
एहि पथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तब सहज सँभारा ॥

सुन्दरदास—ये खंडेलवाल बनिए थे और चैत्र शुक्ल ९ संवत् १६५३ में द्यौसा नामक स्थान (जयपुर राज्य) मे उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम परमानंद और माता का नाम सती था। जब ये ६ वर्ष के थे तब दादूदयाल द्यौसा मे गए थे। तभी से ये दादूदयाल के शिष्य हो गए और उनके साथ रहने लगे। संवत् १६६० मे दादूदयाल का देहात हुआ। तब तक ये नराना मे रहे। फिर जगजीवन साधु के साथ अपने जन्मस्थान द्यौसा मे आ गए। वहाॅ संवत् १६६३ तक रहकर फिर जगजीवन के साथ काशी चले आए। वहाॅ तीस वर्ष की अवस्था तक ये संस्कृत व्याकरण, वेदात और पुराण आदि पढ़ते रहे। सस्कृत के अतिरिक्त ये फारसी भी जानते थे। काशी से लौटने पर ये राजपूताने के फतहपुर (शेखावाटी) नामक स्थान मे आ रहे। वहाॅ के नवाब अलिफखाॅ इन्हें बहुत मानते थे। इनका देहात कार्तिक शुक्ल ८ संवत् १७४६ मे साॅगानेर मे हुआ।

इनका डील-डौल बहुत अच्छा, रंग गोरा और रूप बहुत सुंदर था। स्वभाव अत्यंह कोमल और मृदुल था। ये बालब्रह्मचारी थे, और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे; निर्गुणपंथियो मे ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मॅजी हुई व्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञानचर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बडे सुंदर पद्य कहे है। और संतो ने केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं, पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियो के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं। यो तो छोटे-मोटे इनके अनेक ग्रंथ है; पर 'सुदरविलास' ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसमे कवित्त, सवैये ही अधिक हैं। इन कवित्त-सवैयो मे यमक, अनुप्रास और अर्थालंकार आदि की योजना बराबर मिलती है। इनकी रचना काव्य-पद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों की रचना से भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है।

संत तो ये थे ही, पर कवि भी थे इससे समाज की रीति-नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोदपूर्ण उक्तियाँ हैं, जैसे गुजरात पर—"आभड़ छीत अतीत सों होत बिलार औ कूकर चाटत हाँड़ी"; मारवाड़ पर—"वृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन मे गत देस है मारू", दक्षिण पर—"राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करैं सब भच्छन"; पूरब देश पर—"बाम्हन क्षत्रिय बैसरु सूदर चारोइ बर्न के मच्छ बघारत"।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पँचागिनि बारी॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुंदरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्‌यो, पै आस न मारी॥

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटाँग बानी इनको रुचिकर न थी। इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनतही मनै जाय गहिए।
तुकभंग, छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने से इन्होंने और निर्गुणवादियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। पातिव्रत का पालन करनेवाली स्त्रियों, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सम्मान के लिये पूरी जगह थी। दो उदाहरण अलम् है—

पति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुंदर सकल बिधि एक पतिव्रत है।

सुनत नगारे चोट बिगसै कमलमुख,
अधिक उछाह फूल्यो मात है न तन में।
फेरै जब साँग तब कोऊ नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में॥
कूदि कै पतंग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परै बहु सावत के गन में।
मारि घमसान करि सुंदर जुहारै स्याम,
सोई सूरबीर रुपि रहै जाय रन में॥

इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टितत्त्व आदि विषय कहे हैं वे भी औरों के समान मनमाने और ऊटपटाँग नहीं है, शास्त्र के अनुकूल है। उदाहरण के लिये नीचे का पद्य लीजिए जिसमे ब्रह्म के आगे और सब क्रम सांख्य के अनुकूल है—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्त्व, पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत विषय-पसार है॥
रजहू तें इंद्री दस पृथक् पृथक् भई,
सत्तहू तें मन आदि देवता विचार है।

ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूँ कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है ॥

मलूकदास—मलूकदास का जन्म लाला सुंदरदास खत्री के घर मे वैशाख कृष्ण ५ संवत् १६३१ में कड़ा जिला इलाहाबाद मे हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में संवत् १७३९ में हुई। ये औरंगजेब के समय में दिल के अंदर खोजनेवाले निर्गुण मत के नामी संतों मे हुए हैं और इनकी गद्दियाँ कडा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल तक मे कायम हुई। इनके संबंध मे बहुत से चमत्कार या करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयो का तोड़ा गंगाजी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था।

आलसियो का यह मूल मंत्र—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम ॥

इन्हीं का है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—रत्नखान और ज्ञानबोध। हिंदुओं और मुसलमानों दोनो को उपदेश देने मे प्रवृत्त होने के कारण दूसरे निर्गुणमार्गी संतों के समान इनकी भाषा में भी फारसी और अरबी शब्दों का बहुत प्रयोग है। इसी दृष्टि से बोलचाल की खड़ी बोली का पुट इन सब संतों की बानी मे एक सा पाया जाता है। इन सब लक्षणो के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यस्थित और सुंदर है। कहीं कहीं अच्छे कवियो का सा पद-विन्यास और कवित्त आदि छंद भी पाए जाते है। कुछ पद्य बिलकुल खड़ी बोली मे हैं। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी बानी बड़ी मनोहर है। दिग्दर्शन मात्र के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुआ जाके मुनि गंध्रव हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे ॥
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तैं नैननि हेरे।

कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे ॥

नाम हमारा खाक है, हम खाकी बंदे।
खाकहि से पैदा किए, अति गाफिल गंदे ॥
कबहूँ न कर ते बंदगी, दुनिया में भूले।
आसमान को ताकते घोड़े चढ फूले ॥

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहिं लगैं पियारे ॥
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोइ नहिं पाया ॥
छत्तिस पवन हमारी जाति। हमही दिन औ हमहीं राति ॥
हमही तरवर कीट पतंगा। हमहीं दुर्गा, हमहीं गंगा ॥
हमहीं मुल्ला हमहीं काजी। तीरथ बरत हमारी बाजी ॥
हमही दसरथ, हमहीं राम। हमरै क्रोध औ हमरै काम ॥
हमहीं रावन हमही कंस। हमहीं मारा अपना बंस ॥

अक्षर अनन्य—संवत् १७१० मे इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। ये दतिया रियासत के अंतर्गत सेनुहरा के कायस्थ थे और कुछ दिनो तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना मे रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार ये छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जगल मे चले गए। पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा-प्रार्थना के लिए इनके पास गए तब इन्हें एक झाड़ी के पास खूब पैर फैलाकर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा "पॉव पसारा कब से ?" चट उत्तर मिला—"हाथ समेटा जब से"। ये विद्वान् थे और वेदात के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होने योग और वेदात पर कई ग्रंथ राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धांतबोध, विवेकदीपिका, ब्रह्मज्ञान, अनन्यप्रकाश आदि लिखे और दुर्गा-सप्तशती का भी हिंदी पद्यों मे अनुवाद किया। राजयोग के कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

यह भेद सुनौ पृथिचंदराय। फल चारहु को साधन उपाय ॥
यह लोक सधै सुख पुत्र बाम। पर लोक नसै बस नरकधाम ॥
परलोक लोक दोउ सधै जाय। सोइ राजजोग सिद्धांत आय ॥
निज राजजोग ज्ञानी करंत। हठि मूढ धर्म साधत अनंत ॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा में थोड़े ही ऐसे हुए हैं जिसकी रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। शिक्षितो का समावेश कम होने से इनकी बानी अधिकतर सांप्रदायिको के ही काम की है; उसमे मानवजीवन की भावनाओ की वह विस्तृत व्यंजना नहीं है जो साधारण जनसमाज को आकर्षित कर सके। इस प्रकार के संतो की परंपरा यद्यपि बराबर चलती रही और नए नए पंथ निकलते रहे पर देश के सामान्य साहित्य पर उनका कोई प्रभाव न रहा। दादूदयाल की शिष्य-परंपरा मे जगजीवनदास या जगजीवनसाहब हुए जो संवत् १८१८ के लगभग वर्त्तमान थे। ये चंदेल ठाकुर थे और कोटवा (बाराबंकी) के निवासी थे। इन्होंने अपना एक अलग 'सत्यनामी' संप्रदाय चलाया। इनकी बानी मे साधारण ज्ञान-चर्चा है। इनके शिष्य दूलमदास हुए जिन्होने एक शब्दावली लिखी। उनके शिष्य तोंवरदास और पहलवानदास हुए। तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए हैं। प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने इस प्रकार के बहुत से संतों की बानियाँ प्रकाशित की हैं।

निर्गुण-पंथ के संतो के सबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमे कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उनपर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा। उनमे जो थोड़ा बहुत भेद दिखाई पड़ेगा वह उन अवयवो की न्यूनता या अधिकता के कारण जिनका मेल करके निर्गुण-पंथ चला है। जैसे, किसी मे वेदात के ज्ञान-तत्त्व का अवयव अधिक मिलेगा, किसी मे योगियो के साधना-तत्त्व का, किसी मे सूफियो के मधुर प्रेम-तत्त्व का और किसी में व्यावहारिक ईश्वरभक्ति (कर्त्ता, पिता, प्रभु की भावना से युक्त) का। यह दिखाया जा चुका है कि निर्गुण-पंथ में जो थोड़ा बहुत ज्ञानपक्ष है वह वेदांत से लिया हुआ है; जो प्रेम-तत्त्व है वह सूफियों का है, न कि वैष्णवो का[1]। 'अहिंसा' और 'प्रपत्ति' के अतिरिक्त वैष्णवत्व का और कोई अंश उसमे नहीं है।

१—देखो पृ० ६४।

उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धो के हैं। बौद्धधर्म के अष्टागमार्ग के अंतिम मार्ग हैं—सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। 'सम्यक् स्मृति' वह दशा है जिसमे क्षण क्षण पर मिटनेवाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी श्रृंखला बँध जाती है। 'समाधि' मे साधक सब संवेदनो से परे हो जाता है। अतः 'सुरति' 'निरति' शब्द योगियों की बानियो से आए हैं; वैष्णवो से उनका कोई संबंध नहीं।

प्रकरण ३

प्रेममार्गी (सूफी) शाखा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काल के निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियों की है जिन्होने प्रेमगाथाओं के रूप मे उस प्रेमतत्त्व का वर्णन किया है जो ईश्वर को मिलानेवाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप मे मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कवियों का अब वर्णन किया जाता है—

कुतबन—ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग (संवत् १५५०) था। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक कहानी चौपाई-दोहे के क्रम से सन् ९०९ हिजरी (संवत् १५५८) मे लिखी जिसमे चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है। इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच बीच मे सूफियो की शैली पर बड़े सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं।

कहानी का सारांश यह है—चंद्रगिरि के राजा गणपतिदेव का पुत्र कंचन-नगर के राजा रूपमुरारि की मृगावती नाम की राजकुमारी पर मोहित हुआ। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट झेलने के उपरांत राजकुमार उसके पास तक पहुँचा। पर एक दिन मृगावती राजकुमार को धोखा देकर कहीं उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज मे योगी होकर निकल पड़ा। समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँच कर उसने रुक्मिनी नाम की एक सुंदरी को एक राक्षस से बचाया। उस सुंदरी के पिता ने राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। अंत मे राजकुमार उस नगर मे पहुँचा जहाँ अपने पिता की मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठकर मृगावती राज्य कर रही थी। वहाँ वह १२

वर्ष रहा। पता लगाने पर राजकुमार के पिता ने घर बुलाने के लिये दूत भेजा। राजकुमार पिता का संदेसा पाकर मृगावती के साथ चल पड़ा और उसने मार्ग मे रुक्मिनी को भी ले लिया। राजकुमार बहुत दिनो तक आनंदपूर्वक रहा, पर अंत मे आखेट के समय हाथी से गिरकर मर गया। उसकी दोनों रानियाँ प्रिय के मिलने की उत्कंठा में बड़े आनंद के साथ सती हो गईं—

रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
बिधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

मंझन—इनके संबध मे कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इनकी रची मधुमालती की एक खंडित प्रति मिली है जिससे इनकी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पता लगता है। मृगावती के समान मधुमालती में भी पाँच चौपाइयो (अर्द्धालियो) के उपरांत एक दोहे का क्रम रखा गया है। पर मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना भी विशद है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही है। आध्यात्मिक प्रेमभाव की व्यंजना के लिये प्रकृति के भी अधिक दृश्यो का समावेश मंझन ने किया है। कहानी भी कुछ अधिक जटिल और लंबी है जो अत्यंत संक्षेप मे नीचे दी जाती है—

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर नामक एक सोए हुए राजकुमार को अप्सराएँ रातो-रात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी मे रख आईं। वहाँ जागने पर दोनो का साक्षात्कार हुआ और दोनो एक दूसरे पर मोहित हो गए। पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय दिया और कहा—"मेरा अनुराग तुम्हारे ऊपर कई जन्मो का है इससे जिस दिन मै इस संसार मे आया उसी दिन से तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय मे उत्पन्न हुआ।" बातचीत करते करते दोनो एक साथ सो गए और अप्सराएँ राजकुमार को उठाकर फिर उसके घर पर रख आईं। दोनो जब अपने अपने स्थान पर जगे तब प्रेम मे बहुत व्याकुल हुए। राजकुमार वियोग से विकल होकर घर से निकल पड़ा और उसने समुद्र के मार्ग से यात्रा की। मार्ग मे तूफान आया जिसमे इष्ट-मित्र, इधर उधर बह गए। राजकुमार एक पटरे पर बहता हुआ एक जंगल मे जा लगा, जहाँ एक स्थान पर एक सुंदरी स्त्री पलँग पर लेटी दिखाई पड़ी। पूछने पर जान

पड़ा कि वह चितबिसरामपुर के राजा चित्रसेन की कुमारी प्रेमा थी जिसे एक राक्षस उठा लाया था। मनोहर कुमार ने उस राक्षस को मारकर प्रेमा का उद्धार किया। प्रेमा ने मधुमालती का पता बताकर कहा कि मेरी वह सखी है, मै उसे तुमसे मिला दूँगी। मनोहर को लिए हुए प्रेमा अपने पिता के नगर में आई। मनोहर के उपकार को सुनकर प्रेमा का पिता उसका विवाह मनोहर के साथ करना चाहता है। पर प्रेमा यह कहकर अस्वीकार करती है कि मनोहर मेरा भाई है और मैने उसे उसकी प्रेमपात्री मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई और प्रेमा ने उसके साथ मनोहर कुमार का मिलाप करा दिया। सबेरे रूपमंजरी ने चित्रसारी मे जाकर मधुमालती को मनोहर के साथ पाया। जगने पर मनोहर ने तो अपने को दूसरे स्थान मे पाया और रूपमंजरी अपनी कन्या को भला बुरा कहकर मनोहर का प्रेम छोड़ने को कहने लगी। जब उसने न माना तब माता ने शाप दिया कि तू पक्षी हो जा। जब वह पक्षी होकर उड़ गई तब माता बहुत पछताने और विलाप करने लगी, पर मधुमालती का कही पता न लगा। मधुमालती उड़ती उड़ती बहुत दूर निकल गई। कुँवर ताराचंद नाम के एक राजकुमार ने उस पक्षी की सुंदरता देख उसे पकड़ना चाहा। मधुमालती को ताराचंद का रूप मनोहर से कुछ मिलता जुलता दिखाई दिया इससे वह कुछ रुक गई और पकड़ ली गई। ताराचंद ने उसे एक सोने के पिंजरे मे रखा। एक दिन पक्षी मधुमालती ने प्रेम की सारी कहानी ताराचंद से कह सुनाई जिसे सुनकर उसने प्रतिज्ञा की कि मै तुझे तेरे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा। अंत मे वह उस पिंजरे को लेकर महारस नगर मे पहुँचा। मधुमालती की माता अपनी पुत्री को पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसने मंत्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का। वह फिर पक्षी से मनुष्य हो गई। मधुमालती के माता पिता ने ताराचंद के साथ मधुमालती का ब्याह करने का विचार प्रकट किया। पर ताराचंद ने कहा कि "मधुमालती मेरी बहिन है और मैने उससे प्रतिज्ञा की है कि मै जैसे होगा वैसे मनोहर से मिलाऊँगा।" मधुमालती की माता सारा हाल लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। मधुमालती भी उसे अपने चित्त की दशा

लिखती है। वह दोनो पत्रो को लिए हुए दुःख कर रही थी कि इतने मे उसकी एक सखी आकर संवाद देती है कि राजकुमार मनोहर योगी के वेश मे आ पहुँचा है। मधुमालती का पिता अपनी रानी सहित दल बल के साथ राजा चित्रसेन (प्रेमा के पिता) के नगर मे जाता है और वहाँ मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर, मधुमालती और ताराचंद तीनो बहुत दिनो तक प्रेमा के यहाँ अतिथि रहते है। एक दिन आखेट से लौटने पर ताराचंद, प्रेमा और मधुमालती को एक साथ झूला झूलते देख प्रेमा पर मोहित होकर मूर्छित हो जाता है। मधुमालती और उसकी सखियाँ उपचार मे लग जाती हैं।

इसके आगे प्रति खंडित है। पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि प्रेमा और ताराचंद का भी विवाह हो गया होगा।

कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिका की भी योजना करके कथा को तो विस्तृत किया ही है, साथ ही प्रेमा और ताराचंद के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति, अपूर्व संयम और निःस्वार्थ भाव का चित्र दिखाया है। जन्म-जन्मांतर और योन्यंतर के बीच प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने प्रेमतत्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया है। सूफियों के अनुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र मे बँधा है जिसका अवलंबन करके जीव उस प्रेम मूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपों मे उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते हैं, जैसा कि मंझन कहते है—

देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छँदर्‌यो मोही॥
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

ईश्वर का विरह सूफियो के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नही हो सकता, किसी की आँखे नहीं खुल सकतीं—

बिरह-अवधि अवगाह अपारा। कोटि माहिं एक परै त पारा॥
बिरह कि जगत अँबिरथा जाही? बिरह रूप यह सृष्टि सबाही॥

नैन बिरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा ॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह-दुख होई ॥

रतन कि सागर सागरहि ? गजमोती गज कोइ।
चँदन कि बन बन उपजै, बिरह कि तन तन होइ ?

जिसके हृदय मे यह विरह होता है उसके लिये यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमे परमात्मा के आभास अनेक रूपो मे पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे है। ये भाव प्रेममार्गी संप्रदाय के सब कवियो मे पाए जाते हैं। मंझन की रचना का यद्यपि ठीक ठीक संवत् नहीं ज्ञात हो सका है पर यह निस्संदेह है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५० और १५९५ (पदमावत का रचना-काल) के बीच मे और बहुत संभव है कि मृगावती के कुछ पीछे हुई। इस शैली के सब से प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथ 'पदमावत' में जायसी ने अपने पूर्व के बने हुए इस प्रकार के काव्यो का संक्षेप मे उल्लेख किया है—

बिक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा ॥
मधूपाछ मुगधावती लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
साधे कुँवर खँडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू ॥
प्रेमावति कह सुरबर साधा। उषा लागि अनिरुध बर-बाँधा ॥

इन पद्यो मे जायसी के पहले के चार काव्यो का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमे से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष दो अभी नहीं मिले है। जिस क्रम से ये नाम आए हैं वह यदि रचना काल के क्रम के अनुसार माना जाय तो मधुमालती की रचना कुतबन की मृगावती के पीछे की ठहरती है।

जायसी का जो उद्धरण दिया गया है उसमे मधुमालती के साथ 'मनोहर' का नाम नही है, 'खंडावत' नाम है। 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः फारसी अक्षरों मे ही मिलती है। मैने चार ऐसी प्रयियाँ देखी है जिन सब मे नायक का ऐसा नाम लिखा है जिसे 'खंडावत, कुंदावत, कंडावत, गंधावत'

इत्यादि ही पढ़ सकते है। केवल एक हस्तलिखित प्रति हिंदू-विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय मे ऐसी है जिसमे साफ 'मनोहर' पाठ है। उसमान की 'चित्रावली' मे मधुमालती का जो उल्लेख है उसमे भी कुँवर का नाम 'मनोहर' ही है—

मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥

यही नाम 'मधुमालती' की उपलब्ध प्रतियों मे भी पाया जाता है।

'पदमावत' के पहले 'मधुमालती' की बहुत अधिक प्रसिद्धि थी। जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित में सवत् १६६० के आस पास की अपनी इश्कबाजी वाली जीवनचर्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "उस समय मैं हाट-बाजार मे जाना छोड़, घर मे पडे-पडे 'मृगावती' और 'मधुमालती' नाम की पोथियाँ पढ़ा करता था—

तब घर में बैठे रहैं, नाहिंन हाट-बजार। मधुमालती, मृगावती, पोथी दोय उचार॥

इसके उपरात दक्षिण के शायर नसरती ने भी (संवत् १७००) 'मधुमालती' के आधार पर दक्खिनी उर्दू में 'गुलशने-इश्क' के नाम से एक प्रेम-कहानी लिखी।

कवित्त-सवैया बनानेवाले एक 'मझन' पीछे हुए हैं जिन्हे इनसे सर्वथा पृथक् समझना चाहिए।

मलिक मुहम्मद जायसी—ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे और जायस मे रहते थे। इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'आखिरी कलाम' के नाम से फारसी अक्षरो मे छपी मिली है। यह सन् ९३६ हिजरी में (सन् १५२८ ईसवी के लगभग) बाबर के समय मे लिखी गई थी। इसमे बाबर बादशाह की प्रशसा है। इस पुस्तक मे मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने जन्म के संबंध मे लिखा है—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कबि बदी॥

इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य नही खुलता। जन्मकाल ९०० हिजरी माने तो दूसरी पंक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी कविता करने लगे और इस पुस्तक के कुछ पद्य उन्होने बनाए।

जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है 'पदमावत', जिसका निर्माण-काल कवि ने इस प्रकार दिया है—

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा-अरंभ-बैन कबि कहा॥

इसका अर्थ होता है कि पदमावत की कथा के प्रारंभिक वचन (अरंभ-बैन) कवि ने ९२७ हिजरी (सन् १५२० ई० के लगभग) मे कहे थे। पर ग्रंथारंभ मे कवि ने मसनवी की रूढ़ि के अनुसार 'शाहेवक्त' शेरशाह की प्रशंसा की है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज राज औ पाटू। सब राजै भुइँ धरा ललाटू॥

शेरशाह के शासन का आरंभ ९४७ हिजरी अर्थात् सन् १५४० ई० से हुआ था। इस दशा मे यही संभव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० मे ही बनाए थे, पर ग्रंथ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया। 'पदमावत' का एक बँगला अनुवाद अराकान राज्य के वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आसपास आलो-उजालो नामक एक कवि से कराया था। उसमे भी 'नव सै सत्ताइस' ही पाठ माना गया है—

शेख महम्मद जति जखन रचिल ग्रंथ संख्या सप्तविंश नवशत

पदमावत की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फारसी अक्षरों मे मिली है। जिनमे 'सत्ताइस' और 'सैंतालिस' प्रायः एक ही तरह लिखे जायँगे। इससे कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि 'सैंतालिस' को लोगो ने भूल से सत्ताइस पढ़ लिया।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरो मे गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था। जीवन के अंतिम दिनों मे जायसी अमेठी से दो मील दूर एक जंगल मे रहा करते थे। वहीं इनकी मृत्यु हुई। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने, जिन्हें अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त में जायसी का मृत्युकाल ४ रजब ९४९ हिजरी लिखा है। यह काल कहाँ तक ठीक है नहीं कहा जा सकता।

ये काने और देखने मे कुरूप थे। कहते हैं शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा था। इसपर ये बोले "मोहिका हँसेसि कि कोहरहि ?" इनके समय में ही इनके शिष्य फकीर इनके बनाए भावपूर्ण दोहे चौपाइयाँ गाते फिरते थे। इन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं—एक तो प्रसिद्ध 'पदमावत', दूसरी 'अखरावट', तीसरी 'आखिरी कलाम'। 'अखरावट' मे वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धांत संबंधी तत्त्वो से भरी चौपाइयाँ कही गई हैं। इस छोटी सी पुस्तक मे ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वरप्रेम आदि विषयोपर विचार प्रकट किए गए हैं। 'आखिरी कलाम' मे कयामत का वर्णन है। जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है 'पदमावत', जिसके पढने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और "प्रेम की पीर" से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष मे, क्या अध्यात्मपक्ष मे, दोनो ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।

कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिंदुओ और मुसलमानो का कट्टर-पन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सबध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन मे जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओ को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालो मे इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओ ही की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।

'पदमावत' मे प्रेमगाथा की परंपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परंपरा में सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी कहानी मे भी विशेषता है।

इसमे इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौर की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिंदू-हृदय के मर्म को स्पर्श करनेवाला है। जायसी ने यद्यपि इतिहासप्रसिद्ध नायक और नायिका ली है पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय मे प्रतिष्ठित था। इस रूप मे इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। पद्मावती की कथा संक्षेप मे इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मावती रूप और गुण मे जगत् में अद्वितीय थी। उसके योग्य वर कहीं न मिलता था। उसके पास हीरामन नाम का एक सूआ था जिसका वर्ण सोने के समान था और जो पूरा वाचाल और पंडित था। एक दिन वह पद्मावती से उसके वर न मिलने के विषय मे कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। सूआ राजा के डर से एक दिन उड़ गया। पद्मावती ने सुनकर बहुत विलाप किया।

सूआ वन मे उड़ता उड़ता एक बहेलिए के हाथ मे पड़ गया जिसने बाजार मे लाकर उसे चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण को एक लाख देकर चित्तौर के राजा रतनसेन ने उसे लिया। धीरे धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगा। एक दिन राजा जब शिकार को गया था तब उसकी रानी नागमती ने, जिसे अपने रूप का बडा गर्व था, आकर सूए से पूछा कि "संसार मे मेरे समान सुदरी भी कही है?" इस पर सूआ हँसा और उसने सिहल की पद्मिनी का वर्णन करके कहा कि उसमे-तुममे दिन और अँधेरी रात का अंतर है। रानी ने इस भय से कि कहीं यह सूआ राजा से भी न पद्मिनी के रूप की प्रशंसा करे, उसे मारने की आज्ञा दे दी। पर चेरी ने राजा के भय से उसे मारा नहीं; अपने घर छिपा रखा। लौटने पर जब सूए के बिना राजा रतनसेन बहुत व्याकुल और क्रुद्ध हुआ तब सूआ लाया गया और उसने सारी व्यवस्था कह सुनाई। पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया और अंत मे व्याकुल होकर उसकी खोज मे घर से जोगी होकर निकल पड़ा। उसके आगे आगे राह दिखानेवाला वही हीरामन सूआ था और साथ में सोलह हजार कुँवर जोगियों के वेश मे थे।

कलिंग से जोगियो का यह दल बहुत से जहाजों मे सवार होकर सिंहल की ओर चला और अनेक कष्ट झेलने के उपरांत सिंहल पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर राजा तो शिव के एक मंदिर मे जोगियो के साथ बैठकर पद्मावती का ध्यान और जप करने लगा और हीरामन सूए ने जाकर पद्मावती से यह सब हाल कहा। राजा के प्रेम की सत्यता के प्रभाव से पद्मावती प्रेम मे विकल हुई। श्रीपंचमी के दिन पद्मावती शिवपूजन के लिए उस मंदिर में गई; पर राजा उसके रूप को देखते ही मूर्च्छित हो गया, उसका दर्शन अच्छी तरह न कर सका। जागने पर राजा बहुत अधीर हुआ। इसपर पद्मावती ने कहला भेजा कि समय पर तो तुम चूक गए; अब तो इस दुर्गम सिंहलगढ़ पर चढ़ो तभी मुझे देख सकते हो। शिव से सिद्धि प्राप्त कर राजा रात को जोगियो सहित गढ़ मे घुसने लगा, पर सबेरा हो गया और पकड़ा गया। राजा गंधर्वसेन की आज्ञा से रतनसेन को सूली देने ले जा रहे थे कि इतने मे सोलह हजार जोगियों ने गढ़ को घेर लिया। महादेव, हनुमान् आदि सारे देवता जोगियो की सहायता के लिए आ गए। गंधर्वसेन की सारी सेना हार गई। अंत मे जोगियों के बीच शिव को पहचानकर गंधर्वसेन उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला कि "पद्मावती आपकी है, जिसको चाहे दीजिए।" इस प्रकार रतनसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया और कुछ दिनो के उपरांत दोनो चित्तौरगढ़ आ गए।

रतनसेन की सभा में राघव चेतन नामक एक पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। और पंडितो को नीचा दिखाने के लिये उसने एक दिन प्रतिपदा को द्वितीया कहकर यक्षिणी के बल से चंद्रमा दिखा दिया। जब राजा को यह कर्रवाई मालूम हुई तब उसने राघव चेतन को देश से निकाल दिया। राघव राजा से बदला लेने और भारी पुरस्कार की आशा से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के दरबार में पहुँचा और उसने दान मे पाए हुए पद्मावती के एक कंगन को दिखाकर उसके रूप को ससार के ऊपर बताया। अलाउद्दीन ने पद्मिनी को भेज देने के लिये राजा रतनसेन को पत्र भेजा, जिसे पढ़कर राजा अत्यंत क्रुद्ध हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। कई वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घेरे रहा पर उसे तोड़ न सका। अंत मे उसने छलपूर्वक संधि का प्रस्ताव भेजा। राजा ने स्वीकार करके बादशाह की दावत की। राजा

के साथ शतरंज खेलते समय अलाउद्दीन ने पद्मिनी के रूप की एक झलक सामने रखे हुए एक दर्पण मे देख पाई, जिसे देखते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। प्रस्थान के दिन जब राजा बादशाह को बाहरी फाटक तक पहुँचाने गया तब अलाउद्दीन के छिपे हुए सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया और दिल्ली पहुँचाया गया।

पद्मिनी को जब यह समाचार मिला तब वह बहुत व्याकुल हुई; पर तुरंत एक वीर क्षत्राणी के समान अपने पति के उद्धार का उपाय सोचने लगी। गोरा बादल नामक दो वीर क्षत्रिय सरदार ७०० पालकियो मे सशस्त्र सैनिक छिपाकर दिल्ली मे पहुँचे और बादशाह के यहाँ संवाद भेजा कि पद्मिनी अपने पति से थोड़ी देर मिलकर तब आपके हरम मे जायगी। आज्ञा मिलते ही एक ढकी पालकी राजा की कोठरी के पास रख दी गयी और उसमे से एक लोहार ने निकलकर राजा की बेड़ियाँ काट दीं। रतनसेन पहले से ही तैयार एक घोड़े पर सवार होकर निकल आए। शाही सेना पीछे आते देख वृद्ध गोरा तो कुछ सिपाहियों के साथ उस सेना को रोकता रहा और बादल रतनसेन को लेकर चित्तौर पहुँच गया। चित्तौर आने पर पद्मिनी ने रतनसेन से कुंभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही जिसे सुनते ही राजा रतनसेन ने कुंभल-नेर जा घेरा। लड़ाई मे देवपाल और रतनसेन दोनो मारे गए।

रतनसेन का शव चित्तौर लाया गया। उसकी दोनो रानियाँ नागमती और पद्मावती हँसते हँसते पति के शव के साथ चिता मे बैठ गईं। पीछे जब सेना सहित अलाउद्दीन चित्तौर मे पहुँचा तब वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न मिला।

जैसा कि कहा जा चुका है, प्रेमगाथा की परंपरा मे पद्मावत सबसे प्रौढ़ और सरस है। प्रेममार्गी सूफी कवियो की और कथाओ से इस कथा मे यह विशेषता है कि इसके ब्योरों से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयों औरय सिद्धि के स्वरूप आदि की जगह-जगह व्यंजना होती है, जैसा कि कवि ने स्वं ग्रंथ की समाप्ति पर कहा है।

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

यद्यपि पदमावत की रचना संस्कृत प्रबंध-काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी-शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य-परंपरा के अनुसार ही हैं। इसका पूर्वार्द्ध तो एकांत प्रेममार्ग का ही आभास देता है, पर उत्तरार्द्ध में लोकपक्ष का भी विधान है। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को सौदर्य्य की लोकोत्तर भावना मे मग्न करनेवाला है। अनेक प्रकार के अलंकारों की योजना उसमे पाई जाती है। कुछ पद्य देखिए—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँपासा॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥

पद्मिनी के रूप-वर्णन मे जायसी ने कहीं कही उस अनंत सौदर्य्य की ओर, जिसके विरह में यह सारी सृष्टि व्याकुल सी है, बडे ही सुंदर सकेत किए है—

बरुनि का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहि न गने। वे सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढे। सूतहिं सूत बेध अस गाढे॥
बरुनि-बान अस ओपहँ बेधे रन बनढाख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

इसी प्रकार योगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन मे साधक के मार्ग के विघ्नों (काम, क्रोध आदि विकारो) की व्यजना की है—

ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई।

है आगे परबत कै बाटा। विषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठावँहिं ठावँ बैठ बटपारा॥

उसमान—ये जहाँगीर के समय मे वर्त्तमान थे और गाजीपुर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शेख़ हुसैन था और ये पाँच भाई थे। और चार भाइयो के नाम थे—शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, शेख हसन। इन्होने अपना उपनाम "मान" लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा मे हाजी बाबा के शिष्य थे। उसमान ने सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईसवी मे 'चित्रावली' नामकी पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरंभ मे कवि ने स्तुति के उपरात पैगबर और चार खलीफों की, बादशाह (जहाँगीर) की तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। उसके आगे गाजीपुर नगर का वर्णन करके कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—

आदि हुता विधि माथे लिखा। अच्छर चारि पढै हम सिखा॥
देखत जगत चला सब जाई। एक बचन पै अमर रहाई॥
बचन समान सुधा जग नाहीं। जेहि पाए कवि अमर रहाहीं॥
मोहूँ चाउ उठा पुनि हीए। होउँ अमर यह अमरित पीए॥

कवि ने "जोगी ढूँढ़न खंड" मे काबुल, बदख्शाँ, खुरासान, रूम, साम, मिस्र, इस्तंबोल, गुजरात, सिंहलद्वीप आदि अनेक देशो का उल्लेख किया है। सबसे विलक्षण बात है जोगियो का अँगरेजो के द्वीप मे पहुँचना—

बलंदीप देखा अँगरेजा। तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा।
ऊँच-नीच धन-संपति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा॥

कवि ने इस रचना मे जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जो जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक मे रखे है उन विषयो पर उसमान ने भी कुछ कहा है। कही कही तो शब्द और वाक्यविन्यास भी वही है। पर विशेषता यह है कि कहानी बिलकुल कवि की कल्पित है, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है।

कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ औ सुनत सोहाई॥

कथा का सारांश यह है—

नैपाल के राजा धरनीधर पँवार ने पुत्र के लिये कठिन व्रत-पालन करके शिव-पार्वती के प्रसाद से 'सुजान' नामक एक पुत्र प्राप्त किया। सुजान कुमार एक दिन शिकार मे मार्ग भूल देव (प्रेत) की एक मढ़ी मे जा सोया। देव ने आकर उसकी रक्षा स्वीकार की। एक दिन वह देव अपने एक साथी के साथ रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगाँठ का उत्सव देखने के लिये गया और अपने साथ सुजान कुमार को भी लेता गया। और कोई उपयुक्त स्थान न देख देवों ने कुमार को राजकुमारी की चित्रसारी में ले जाकर रखा और आप उत्सव देखने लगे। कुमार राजकुमारी का चित्र टँगा देख उस पर आसक्त हो गया और अपना भी एक चित्र बनाकर उसी की बगल मे टाँगकर सो रहा। देव लोग उसे उठाकर फिर उसी मढ़ी मे रख आए। जागने पर कुमार को चित्रवाली घटना स्वप्न सी मालूम हुई, पर हाथ मे रंग लगा देख उसके मन में घटना के सत्य होने का निश्चय हुआ और वह चित्रावली के प्रेम मे विकल हो गया। इसी बीच मे उसके पिता के आदमी आकर उसको राजधानी में ले गए। पर वहाँ वह अत्यंत खिन्न और व्याकुल रहता। अत मे अपने सहपाठी सुबुद्धि नामक एक ब्राह्मण के साथ वह फिर उसी मढ़ी मे गया और वहाँ बड़ा भारी अन्नसत्र खोल दिया।

राजकुमारी चित्रावली भी उसका चित्र देख प्रेम मे विह्वल हुई और उसने अपने नपुंसक भृत्यो को, जोगियो के वेश मे, राजकुमार का पता लगाने के लिये भेजा। इधर एक कुटीचर ने कुमारी की माँ हीरा से चुगली की और कुमारी का वह चित्र धो डाला गया। कुमारी ने जब यह सुना तब उसने उस कुटीचर का सिर मुँड़ाकर उसे निकाल दिया। कुमारी के भेजे हुए जोगियो मे से एक सुजान कुमार के उस अन्नसत्र तक पहुँचा और राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले आया। वहाँ एक शिवमंदिर मे उसका कुमारी के साथ साक्षात्कार हुआ। पर ठीक इसी अवसर पर कुटीचर ने राजकुमार को अंधा कर दिया और एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे एक अजगर निगल गया। पर उसके विरह की ज्वाला से घबराकर उसने उसे चट उगल दिया। वहीं पर एक बनमानुस ने उसे एक अंजन दिया जिससे उसकी दृष्टि फिर ज्यो की त्यों हो गई। वह जंगल मे घूम रहा था कि उसे एक हाथी ने पकड़ा। पर

उस हाथी को भी एक पक्षिराज ले उड़ा और उसने घबराकर कुमार को समुद्रतट पर गिरा दिया। वहाँ से घूमता-फिरता कुमार सागरगढ़ नामक नगर मे पहुँचा और राजकुमारी कँवलावती की फुलवारी मे विश्राम करने लगा। राजकुमारी जब सखियो के साथ वहाँ आई तब उसे देख मोहित हो गई और उसने उसे अपने यहाँ भोजन के बहाने बुलवाया। भोजन में अपना हार रखवाकर कुमारी ने चोरी के अपराध में उसे कैद कर लिया। इसी बीच मे सोहिल नाम का कोई राजा कँवलावती के रूप की प्रशंसा सुन उसे प्राप्त करने के लिये चढ़ आया। सुजान कुमार ने उसे मार भगाया। अंत मे सुजान कुमार ने कँवलावती से, चित्रावली के न मिलने तक समागम न करने की प्रतिज्ञा करके विवाह कर लिया। कँवलावती को लेकर कुमार गिरनार की यात्रा के लिये गया।

इधर चित्रावली के भेजे एक जोगी-दूत ने गिरनार में उसे पहचाना और चट चित्रावली को जाकर संवाद दिया। चित्रावली का पत्र लेकर वह दूत फिर लौटा और सागरगढ़ मे धुईं लगाकर बैठा। कुमार सुजान उस जोगी की सिद्धि सुन उसके पास आया और उसे जानकर उसके साथ रूपनगर गया। इसी बीच वहाँ पर सागरगढ़ के एक कथक ने चित्रावली के पिता की सभा मे जाकर सोहिल राजा के युद्ध के गीत सुनाए, जिन्हे सुन राजा को चित्रावली के विवाह की चिंता हुई। राजा ने चार चित्रकारो को भिन्न भिन्न देशो के राजकुमारों के चित्र लाने को भेजा। इधर चित्रावली का भेजा हुआ वह जोगी-दूत सुजान कुमार को एक जगह बैठाकर उसके आने का समाचार कुमारी को देने आ रहा था। एक दासी ने यह समाचार द्वेषवश रानी से कह दिया और वह दूत मार्ग ही मे कैद कर लिया गया। दूत के न लौटने पर सुजान कुमार बहुत व्याकुल हुआ और चित्रावली का नाम ले लेकर पुकारने लगा। राजा ने उसे मारने के लिये मतवाला हाथी छोड़ा, पर उसने उसे मार डाला। इसपर राजा उसपर चढ़ाई करने जा रहा था कि इतने मे भेजे हुए चार चित्रकारो मे से एक चित्रकार सागरगढ़ से सोहिल के मारनेवाले सुजान कुमार का चित्र लेकर आ पहुँचा। राजा ने जब देखा कि चित्रावली का प्रेमी वही सुजान कुमार है तब उसने अपनी कन्या चित्रावली के साथ उसका विवाह कर दिया।

कुछ दिनों मे सागरगढ़ की कँवलावती ने विरह से व्याकुल होकर सुजान

कुमार के पास हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा जिसने भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा कुमार को कँवलावती के प्रेम का स्मरण कराया। इसपर सुजान कुमार ने चित्रावली को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में कँवलावती को भी साथ ले लिया। मार्ग में कवि ने समुद्र के तूफान का वर्णन किया है। अंत में राजकुमार अपने घर नैपाल पहुँचा और उसने वहाँ दोनो रानियो सहित बहुत दिनो तक राज्य किया।

जैसा कि कहा जा चुका है, उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी के पहले के कवियो ने पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियो) के पीछे एक दोहा रखा है, पर जायसी ने सात सात चौपाइयो का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी रखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी की रचना भी बहुत कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने सुजान कुमार को एक साधक के रूप मे चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलंबन करके उसने उसे परम योगी शिव के अंश से उत्पन्न तक कहा है। महादेवजी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—

देखु देत हौ आपन अंसा। अब तोरे होइहौं निज बंसा॥

कँवलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या के रूप मे कल्पित जान पड़ती है। सुजान का अर्थ ज्ञानवान् है। साधनाकाल मे अविद्या को बिना दूर रखे विद्या (सत्यज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी से सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँवलावती के साथ समागम न करने की प्रतिज्ञा की थी। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा आदि का वर्णन चित्रावली मे भी है। सरोवर-क्रीड़ा के वर्णन में एक दूसरे ढंग से कवि ने "ईश्वर की प्राप्ति" की साधना की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल मे यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ़ ले उसकी जीत समझी जायगी। सखियाँ ढूँढ़ती है और नहीं पाती हैं—

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रहीं। चित्रिन खोज न पावा कहीं॥
निकसीं तीर भईं बैरागी। धरे ध्यान सुख बिनवै लागीं॥
गुपुत तोहि पावहि का जानी। परगट महँ जो रहै छपानीं॥

चतुरानन पढि चारौ बेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू॥
हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाउँ जहाँ तुम नाहीं। हम चख जोति न, देखहि काहीं॥
खोज तुम्हार सो, जेहि दिखरावहु पंथ। कहा होइ जोगी भए, और बहु पढे ग्रंथ॥

विरह-वर्णन के अंतर्गत षट्ऋतु का वर्णन सरस और मनोहर है—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौर कुसुम-रँग भूला॥
आहि कहाँ सो भवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रतिपति-दुरद ऋतुपती बली। कानन-देह आइ दलमली॥

शेख नबी—ये जौनपुर जिले में दोसपुर के पास मऊ नामक स्थान के रहनेवाले थे और संवत् १६७६ मे जहाँगीर के समय में वर्त्तमान थे। इन्होंने "ज्ञानदीप" नामक एक आख्यान-काव्य लिखा जिसमे राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है।

यहीं प्रेममार्गी सूफी कवियो की प्रचुरता की समाप्ति समझनी चाहिए। पर जैसा कहा जा चुका है, काव्यक्षेत्र मे जब कोई परंपरा चल पड़ती है तब उसके प्राचुर्य्य-काल के पीछे भी कुछ दिनों तक समय समय पर उस शैली की रचनाएँ थोड़ी बहुत होती रहती है; पर उनके बीच कालातर भी अधिक रहता है और जनता पर उनका प्रभाव भी वैसा नहीं रह जाता। अतः शेख नबी से प्रेमगाथा-परंपरा समाप्त समझनी चाहिए। 'ज्ञानदीप' के उपरात सूफियो की पद्धति पर जो कहानियाँ लिखी गईं उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जाता है।

कासिमशाह—ये दरियाबाद (बाराबंकी) के रहनेवाले थे और संवत् १७८८ के लगभग वर्त्तमान थे। इन्होंने "हंस जवाहिर" नाम की कहानी लिखी जिसमे राजा हस और रानी जवाहिर की कथा है।

फारसी अक्षरों मे छपी (नामी प्रेस, लखनऊ) इस पुस्तक की एक प्रति हमारे पास है। उसमे कवि ने शाहेवक्त का इस प्रकार उल्लेख करके—

मुहमंदसाह दिल्ली सुलतानू। का मन गुन ओहि केर बखानू॥
छाजै पाट छत्र सिर ताजू। नावहिं सीस जगत के राजू॥

रूपवंत दरसन मुँह राता । भागवंत ओहि कीन्ह बिधाता ॥
दरबवंत धरम महँ पूरा । ज्ञानवंत खड़्ग महँ सूरा ॥

अपना परिचय इन शब्दों मे दिया है—

दरियाबाद माँझ मम ठाउँ । अमानुल्ला पिता कर नाउँ ॥
तहवाँ मोहिं जनम बिधि दीन्हा । कासिम नावँ जाति कर हीना ॥
तेहूँ बीच बिधि कीन्ह कमीना । ऊँच सभा बैठे चित दीना ॥
ऊँच संग ऊँच-मन भावा । तब भा ऊँच ज्ञान-बुधि पावा ॥
ऊँचा पंथ प्रेम का होई । तेहि महँ ऊँच भए सब कोई ॥

कथा का सार कवि ने यह दिया है—

कथा जो एक गुपुत महँ रहा । सो परगट उघारि मैं कहा ॥
हंस जवाहिर बिधि औतारा । निरमल रूप सो दई सँवारा ॥
बलख नगर बुरहान सुलतानू । तेहि घर हंस भए जस भानू ॥
आलमशाह चीनपति भारी । तेहि घर जनमी जवाहिर बारी ॥
तेहि कारन वह भएउ बियोगी । गएउ सो छाँड़ि देस होइ जोगी ॥
अंत जवाहिर हंस घर आनी । सो जग महँ यह गयउ बखानी ॥
सो सुनि ज्ञान-कथा मैं कीन्हा । लिखेउँ सो प्रेम, रहै जग चीन्हा ॥

इनकी रचना बहुत निम्न कोटि की है । इन्होंने जगह जगह जायसी की पदावली तक ली है, पर प्रौढ़ता नहीं है ।

नूर मुहम्मद—ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय मे थे और 'सबरहद' नामक स्थान के रहनेवाले थे जो जौनपुर जिले मे जौनपुर-आजमगढ़ को सरहद पर है। पीछे सबरहद से ये अपनी सुसराल भादो (जिला आजमगढ़) चले गए । इनके श्वशुर शमसुद्दीन को और कोई वारिस न था इससे ये ससुराल ही मे रहने लगे । नूरमुहम्मद के भाई मुहम्मद शाह सबरहद हो मे रहे । नूरमुहम्मद के दो पुत्र हुए—गुलाम हसनैन और नसीरुद्दीन। नसीरुद्दीन की वंश परंपरा मे शेख फिदाहुसैन अभी वर्त्तमान हैं जो सबरहद और कभी कभी भादो मे भी रहा करते हैं । अवस्था इनकी ८० वर्ष की है ।

नूरमुहम्मद फारसी के अच्छे आलिम थे और इनका हिंदी काव्यभाषा का भी ज्ञान और सब सूफी कवियों से अधिक था। फारसी मे इन्होने एक दीवान के अतिरिक्त 'रौज़तुल हकायक' इत्यादि बहुत सी किताबें लिखी थीं जो असावधानी के कारण नष्ट हो गईं। इन्होंने ११५७ हिजरी (संवत् १८०१) मे 'इंद्रावती' नामक एक सुंदर आख्यान-काव्य लिखा जिसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती को प्रेम-कहानी है। कवि ने प्रथानुसार उस समय के शासक मुहंम्मदशाह की प्रशंसा इस प्रकार की है—

करौं मुहम्मदसाह बखानू। है सूरज देहली सुलतानू॥
धरमपंथ जग बीच चलावा। निबर न सबरे सों दुख पावा॥
बहुतै सलातीन जग केरे। आइ सहास बने हैं चेरे॥
सब काहू पर दाया धरई। धरम सहित सुलतानी करई॥

कवि ने अपनी कहानी की भूमिका इस प्रकार बाँधी है—

मन-दग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहिं सब संसारा॥
देखेउँ एक नीक फुलवारी। देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख सोभा बरनि न जाई। चंद सुरुज उतरे भुइँ आई॥
तपी एक देखेउँ तेहि ठाऊँ। पूछेउँ तासौं तिन्हकर नाऊँ॥
कहा अहै राजा औ रानी। इंद्रावति औ कुँवर गियानी॥
आगमपुर इंद्रावती कुवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कह दीन्हा अलख मिलाय॥

कवि ने जायसी के पहले के कवियों के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरात दोहे का क्रम रखा है। इसी ग्रंथ को सूफी-पद्धति का अंतिम ग्रंथ मानना चाहिए।

इनका एक और ग्रंथ फारसी अक्षरो मे लिखा मिला है जिसका नाम है 'अनुराग-बाँसुरी'। यह पुस्तक कई दृष्टियों से विलक्षण है। पहली बात तो इसकी भाषा है जो और सब सूफी-रचनाओ से बहुत अधिक संस्कृत-गर्भित है। दूसरी बात है हिंदी भाषा के प्रति मुसलमानों का भाव। 'इंद्रावती' की रचना करने पर शायद नूरमुहम्मद को समय समय पर यह उपालंभ सुनने को मिलता था कि "तुम मुसलमान होकर हिंदी-भाषा मे रचना करने क्यो गए"। इसी से 'अनुराग-बाँसुरी' के आरंभ मे उन्हें यह सफाई देने की जरूरत पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिंदू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिंदी भाखेउँ ॥
मन इसलाम मिरिकलैं माँजेउँ। दीन जेंवरी करकस भाँजेउँ ॥
जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावनहारा ॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै। जच्छ असुर सुर काज न आवैं ॥

इसका तात्पर्य यह है कि संवत् १८०० तक आते आते मुसलमान हिंदी से किनारा खींचने लगे थे। हिंदी हिंदुओं के लिये छोड़कर अपने लिखने-पढ़ने की भाषा वे विदेशी अर्थात् फारसी ही रखना चाहते थे। जिसे 'उर्दू' कहते हैं उसका उस समय तक साहित्य में कोई स्थान न था, इसका स्पष्ट आभास नूर-मुहम्मद के इस कथन से मिलता है—

कामयाब कह कौन जगावा। फिर हिंदी भाखै पर आवा ॥
छाँड़ि पारसी कंद नवातैं। अरुझाना हिंदी रस-बातैं ॥

"अनुराग-बाँसुरी" का रचना-काल ११७८ हिजरी अर्थात् संवत् १८२१ है। कवि ने इसकी रचना अधिक पांडित्यपूर्ण रखने का प्रयत्न किया है और विषय भी इसका तत्त्वज्ञान-संबंधी है। शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक (Allegory) खड़ा करके कहानी बाँधी है। और सब सूफी कवियों की कहानियों के बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है, पर यह सारी कहानी और सारे पात्र ही रूपक हैं। एक विशेषता और है। चौपाइयों के बीच बीच में इन्होंने दोहे न रखकर बरवै रखे है। प्रयोग भी ऐसे ऐसे संस्कृत शब्दों के हैं जो और सूफी कवियों में नहीं आए है। काव्यभाषा के अधिक निकट होने के कारण भाषा में कहीं कहीं ब्रजभाषा के शब्द और प्रयोग भी पाए जाते है। रचना का थोड़ा-सा नमूना नीचे दिया जाता है—

नगर एक मूरतिपुर नाऊँ। राजा जीव रहै तेहि ठाऊँ ॥
का बरनौं वह नगर सुहावन। नगर सुहावन सब मन भावन ॥

इहै सरीर सुहावन मूरतिपूर।
इहै जीव राजा, जिव जाहु न दूर ॥

तनुज एक राजा के रहा। अंतःकरन नाम सब कहा॥
सौम्यसील सुकुमार सयाना। सो सावित्री स्वांत समाना॥
सरल सरनि जौ सो पग धरै। नगर लोग सूधै पग परै॥
बक्र पंथ जो राखै पाऊँ। वहै अध्व सब होइ बटाऊ॥

रहे संघाती ताके पत्तन ठावँ।
एक संकल्प, विकल्प सो दूसर नावँ॥

बुद्धि चित्त दुइ सखा सरेखै। जगत बीच गुन अवगुन देखै।
अंतःकरन पास नित आवैं। दरसन देखि महासुख पावैं॥
अहंकार तेहि तीसर सखा निरंत्र।
रहेउ चारि के अंतर नैसुक अंत्र॥

अंतःकरन सदन एक रानी। महामोहनी नाम सयानी॥
बरनि न पारौं सुंदरताई। सकल सुंदरी देखि लजाई॥
सर्वमंगला देखि असीसै। चाहै लोचन मध्य बईसै॥
कुंतल झारत फाँदा डारै। चख चितवंन सों चपला मारै॥
अपने मंजु रूप वह दारा। रूप गर्विता जगत मँझारा॥
प्रीतम-प्रेम पाइ वह नारी। प्रेमगर्विता भई पियारी॥

सदा न रूप रहत है अंत नसाइ।
प्रेम, रूप के नासहि तें घटि जाइ॥

जैसा कि कहा जा चुका है नूरमुहम्मद को हिंदी भाषा में कविता करने के कारण, जगह जगह इसका सबूत देना पड़ा है कि वे इसलाम के पक्के अनुयायी थे। अतः वे अपने इस ग्रंथ की प्रशंसा इस ढंग से करते है—

यह बाँसुरी सुनै सो कोई। हिरदय-स्रोत खुला जेहि होई॥
निसरत नाद बारुनी साथा। सुनि सुधि-चेत रहै केहि हाथा॥
सुनतै जौ यह सबद मनोहर। होत अचेत कृष्ण मुरलीधर॥
यह मुहम्मदी जन की बोली। जामैं कंद नवातैं घोली॥
बहुत देवता को चित हरै। बहु मूरति औंधी होइ परै॥
बहुत देवहरा ढाहि गिरावै। संखनाद की रीतिं मिटावै॥

जहँ इसलामी मुख सों निसरी बात।
तहाँ सकल सुख मंगल, कष्ट नसात॥

सूफी आख्यान-काव्यों की अखंडित परंपरा की यहीं समाप्ति मानी जा सकती है। इस परंपरा मे मुसलमान कवि ही हुए हैं। केवल एक हिंदू मिला है। सूफी मत के अनुयायी सूरदास नामक एक पंजाबी हिंदू ने शाहजहाँ के समय मे 'नल-दमयंती कथा' नाम की एक कहानी लिखी थी पर इसकी रचना अत्यंत निकृष्ट है।

साहित्य की कोई अखंड परंपरा समाप्त होने पर भी कुछ दिन तक उस परंपरा की कुछ रचनाएँ इधर उधर होती रहती हैं। इस ढग की पिछली रचनाओ मे 'चतुर्मुकुट की कथा' और 'यूसुफ-ज़ुलेखा' उल्लेख योग्य है।

प्रकरण ४

सगुण धारा

रामभक्ति-शाखा

जगत्प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य्यजी ने जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था वह भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त न था। यद्यपि उसमे ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का भी स्वीकार था, पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिये जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्यजी (सं० १०७३) ने खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सारे प्राणी हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी मे लीन होते है। अतः इन जीवों के लिये उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य-लाभ करने का यत्न करे। रामानुजजी की शिष्य-परंपरा देश मे बराबर फैलती गई और जनता भक्ति-मार्ग की ओर अधिक आकर्षित होती रही। रामानुजजी के श्री संप्रदाय मे विष्णु या नारायण की उपासना है। इस संप्रदाय मे अनेक अच्छे साधु महात्मा बराबर होते गए।

विक्रम की १४वी शताब्दी के अंत मे वैष्णव श्री संप्रदाय के प्रधान आचार्य्य श्री राघवानंदजी काशी में रहते थे। अपनी अधिक अवस्था होते देख वे बराबर इस चिंता मे रहा करते कि मेरे उपरांत संप्रदाय के सिद्धातो की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी। अंत मे राघवानंदजी रामानंदजी को दीक्षा प्रदान कर निश्चिंत हुए और थोड़े दिनों मे परलोकवासी हुए। कहते हैं कि रामानंदजी ने भारतवर्ष का पर्य्यटन करके अपने संप्रदाय का प्रचार किया।

स्वामी रामानंदजी के समय के संबंध मे कहीं कोई लेख न मिलने से हमे उसके निश्चय के लिये कुछ आनुषंगिक बातो का सहारा लेना पड़ता है।

बैरागियों की परंपरा मे रामानंदजी का मानिकपुर के शेख तकी पीर के साथ वाद-विवाद होना माना जाता है। ये शेख तकी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय में थे। कुछ लोगों का मत है कि वे सिकन्दर लोदी के पीर (गुरु) थे और उन्हीं के कहने से उसने कबीर साहब को जंजीर से बाँधकर गंगा मे डुबाया था। कबीर के शिष्य धर्मदास ने भी इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है।—

साह सिकंदर जल में बोरे, बहुरि अग्नि परजारे।
मैमत हाथी आनि झुकाए, सिंहरूप दिखराए॥
निरगुन कथैं, अभयपद गावैं, जीवन को समझाए।
काजी पंडित सबै हराए, पार कोउ नहिं पाए॥

शेख तकी और कबीर का सवाद प्रसिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि रामानंदजी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय मे वर्त्तमान थे। सिकंदर लोदी संवत् १५४६ से सवत् १५७४ तक गद्दी पर रहा। अतः इन २८ वर्षों के काल-विस्तार के भीतर—चाहे आरभ की ओर चाहे अंत की ओर—रामानंदजी का वर्त्तमान रहन ठहरता है।

कबीर के समान सेन भगत भी रामानदजी के शिष्यो मे प्रसिद्ध हैं। ये सेन भगत बाँधवगढ़-नरेश के नाई थे और उनकी सेवा किया करते थे। ये कौन बाँधवगढ़-नरेश थे, इसका पता 'भक्तमाल-रामरसिकावली' मे रीवाँ नरेश महाराज रघुराजसिंह ने दिया है—

बाँधवगढ पूरब जो गायो। सेन नाम नापित तहँ जायो॥
ताकी रहै सदा यह रीती। करत रहै साधुन सों प्रीती॥
तहँ को राजा राम बघेला। बरन्यो जेहि कबीर को चेला॥
करै सदा तिनकी सेवकाई। मुकर दिखावै तेल लगाई॥

रीवाँ राज्यके इतिहास मे राजा राम या रामचंद्र का समय संवत् १६११ से १६४८ तक माना जाता है। रामानदजी से दीक्षा लेने के उपरांत ही सेन पक्के भगत हुए होंगे। पक्के भक्त हो जाने पर ही उनके लिये भगवान् के नाई का रूप धरनेवाली बात प्रसिद्ध हुई होगी। उक्त चमत्कार के समय वे राज-सेवा मे थे। अतः राजा रामचंद्र से अधिक से अधिक ३० वर्ष पहले यदि उन्होंने दीक्षा ली हो तो संवत् १५७५ या १५८० तक रामानंदजी का वर्त्तमान रहना ठहरता

है। इस दशा मे स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है।

'श्रीरामार्चन पद्धति मे रामानंदजी ने अपनी पूरी गुरु-परंपरा दी है। उसके अनुसार रामानुजाचार्य्यजी रामानंदजी से १४ पीढ़ी ऊपर थे। रामानुजाचार्य्यजी का परलोकवास सवत् ११९४ मे हुआ। अब १४ पीढ़ियो के लिये यदि हम ३०० वर्ष रखे तो रामानंदजी का समय प्रायः वही आता है जो ऊपर दिया गया है। रामानंदजी का और कोई वृत्त ज्ञात नहीं।

तत्त्वतः रामानुजाचार्य्यजी के मतावलंबी होने पर भी अपनी उपासना पद्धति का इन्होंने विशेष रूप रखा। इन्होने उपासना के लिये वैकुंठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमंत्र हुआ राम नाम। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इसके पूर्व देश मे रामोपासक भक्त होते ही न थे। रामानुजाचार्य्यजी ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसके प्रवर्त्तक शठकोपाचार्य्य उनसे पाँच पीढ़ी पहले हुए हैं। उन्होने अपनी 'सहस्रगीति' मे कहा है—"दशरथस्य सुतं तं विना अन्यशरणवान्नास्मि"। श्री रामानुज के पीछे उनके शिष्य कुरेशस्वामी हुए जिनकी "पंचस्तवी" मे राम की विशेष भक्ति स्पष्ट झलकती है। रामानंदजी ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपो मे 'रामरूप' को ही लोक के लिये अधिक कल्याणकारी समझ छाँट लिया और एक सबल संप्रदाय का संगठन किया। इसके साथ ही साथ उन्होंने उदारता-पूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना और देशभेद, वर्णभेद, जातिभेद आदि का विचार भक्तिमार्ग से दूर रखा। यह बात उन्होने सिद्धों या नाथ-पंथियो की देखादेखी नहीं की, बल्कि भगवद्भक्ति के संबंध मे महाभारत, पुराण आदि में कथित सिद्धांत के अनुसार की। रामानुज-संप्रदाय मे दीक्षा केवल द्विजातियो को दी जाती थी, पर स्वामी रामानंद ने राम भक्ति का द्वार सब जातियों के लिये खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संघटन किया जो आज भी 'वैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है। अयोध्या, चित्रकूट आदि आज भी वैरागियों के मुख्य स्थान हैं।

भक्ति मार्ग मे इनकी इस उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है—जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते हैं—कि रामानंदजी वर्णाश्रम के विरोधी थे। समाज के लिये वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न भिन्न कर्त्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र मे उन्होंने सब का समान अधिकार स्वीकार किया। भगवद्भक्ति में वे किसी भेदभाव को आश्रय नहीं देते थे। कर्म के क्षेत्र मे शास्त्र मर्य्यादा इन्हे मान्य थी; पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जाति के लोगों को एकत्र कर राम-भक्ति का उपदेश ये करने लगे और राम-नाम की महिमा सुनाने लगे।

रामानंदजी के ये शिष्य प्रसिद्ध हैं—कबीरदास, रैदास, सेन नाई और गॉगरौनगढ़ के राजा पीपा, जो विरक्त होकर पक्के भक्त हुए।

रामानदजी के रचे हुए केवल दो संस्कृत के ग्रंथ मिलते हैं—वैष्णवमताब्ज-भास्कर और श्रीरामार्चन-पद्धति। और कोई ग्रंथ इनका आज तक नही मिला है।

इधर सांप्रदायिक झगड़े के कारण कुछ नए ग्रंथ रचे जाकर रामानदजी के नाम से प्रसिद्ध किए गए हैं—जैसे, ब्रह्मसूत्रों पर आनंद भाष्य और भगवद्गीता-भाष्य—जिनके संबंध में सावधान रहने की आवश्यकता है। बात यह है कि कुछ लोग रामानुज-परंपरा से रामानंदजी की परंपरा को बिल्कुल स्वतंत्र और अलग सिद्ध करना चाहते है। इसी से रामानंदजी को एक स्वतंत्र आचार्य्य प्रमाणित करने के लिये उन्होने उनके नाम पर एक वेदांत-भाष्य प्रसिद्ध किया है। रामानंदजी समय समय पर विनय और स्तुति के हिंदी पद भी बनाकर गाया करते थे। केवल दो-तीन पदों का पता अब तक लगा है। एक पद तो यह है जो हनुमान्जी की स्तुति मे है—

> आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्टदलन रघुनाथ कला की॥
> जाके बल-भर ते महि काँपै। रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै॥
> अंजनी-सुत महाबल-दायक। साधु संत पर सदा सहायक॥
> बाएँ भुजा सब असुर सँहारी। दहिन भुजा सब संत उबारी॥
> लछिमन धरति में मूर्छि परयो। पैठि पताल जमकातर तोरयो॥

आनि सजीवन प्रान उबारथो। मही सबन कै भुजा उपारथो ॥
गाढ परे कपि सुमिरों तोही। होहु दयाल देहु जस मोहीं ॥
लंकाकोट समुंदर खाई। जात पवनसुत बार न लाई ॥
लंक प्रजारि असुर सब मारथो। राजा राम के काज सँवारथो ॥
घंटा ताल झालरी बाजै। जगमग जोति अवधपुर छाजै ॥
जो हनुमानजी की आरति गावै। बसि बैकुंठ परमपद पावै ॥
लंक विधंस कियौ रघुराई। रामानंद आरती गाई।
सुर नर मुनि सब करहिं आरती। जै जै जै हनुमान लाल की ॥

स्वामी रामानंद का कोई प्रामाणिक वृत्त न मिलने से उसके संबंध मे कई प्रकार के प्रवादो के प्रचार का अवसर लोगों को मिला है। कुछ लोगों का कहना है कि रामानंदजी अद्वैतियो के ज्योतिर्मठ के ब्रह्मचारी थे। इस संबंध मे इतना ही कहा जा सकता है कि यह संभव है कि उन्होने ब्रह्मचारी रहकर कुछ दिन उक्त मठ मे वेदांत का अध्ययन किया हो, पीछे रामानुजाचार्य्य के सिद्धांत की ओर आकर्षित हुए हो।

दूसरी बात जो उनके संबंध मे कुछ लोग इधर उधर कहते सुने जाते हैं वह यह है कि उन्होंने बारह वर्ष तक गिरनार या आबू पर्वत पर योग-साधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। रामानंदजी के दो ग्रंथ प्राप्त है तथा उनके संप्रदाय मे जिस ढग की उपासना चली आ रही है उससे स्पष्ट है कि वे खुले हुए विश्व के बीच भगवान की कला की भावना करनेवाले विशुद्ध वैष्णव भक्तिमार्ग के अनुयायी थे, घट के भीतर ढूँढ़नेवाले योगमार्गी नहीं। इसलिये योग साधना-वाली प्रसिद्धि का रहस्य खोलना आवश्यक है।

भक्तमाल मे रामानंदजी के बारह शिष्य कहे गए हैं—अनंतानंद, सुखानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी।

अनंतानंदजी के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए जिन्होने गलता (अजमेर राज्य; राजपूताना) में रामानंद संप्रदाय की गद्दी स्थापित की। यही पहली और सबसे प्रधान गद्दी हुई। रामानुज संप्रदाय के लिये दक्षिण मे जो महत्व

तोताद्रि का था वही महत्त्व रामानंदी संप्रदाय के लिये उत्तर-भारत में गलता को प्राप्त हुआ। वह 'उत्तर तोताद्रि' कहलाया। कृष्णदास पयहारी राजपूताने की ओर के दाहिमा (दाधीच्य) ब्राह्मण थे। जैसा कि आदिकाल के अंतर्गत दिखाया जा चुका है, भक्ति-आंदोलन के पूर्व, देश में—विशेषतः राजपूताने मे—नाथपंथी कनफटे योगियों का बहुत प्रभाव था जो अपनी सिद्धि की धाक जनता पर जमाए रहते थे[1]। जब सीधे-सादे वैष्णव भक्तिमार्ग का आंदोलन देश में चला तब उसके प्रति दुर्भाव रखना उनके लिये स्वाभाविक था। कृष्णदास पयहारी जब पहले-पहल गलता पहुँचे तब वहाँ की गद्दी नाथपथी योगियो के अधिकार मे थी। वे रात भर टिकने के विचार से वहीं धूनी लगाकर बैठ गए। पर कनफटो ने उन्हे उठा दिया। ऐसा प्रसिद्ध है कि इस पर पयहारीजी ने भी अपनी सिद्धि दिखाई और वे धूनी की आग एक कपड़े मे उठाकर दूसरी जगह जा बैठे। यह देख योगियों का महंत बाघ बनकर उनकी ओर झपटा। इस पर पयहारीजी के मुँह से निकला कि "तू कैसा गदहा है?"। वह महंत तुरंत गदहा हो गया और कनफटो की मुद्राएँ उनके कानों से निकल निकलकर पयहारी जी के सामने इकट्ठी हो गई। आमेर के राजा पृथ्वीराज के बहुत प्रार्थना करने पर महंत फिर आदमी बनाया गया। उसी समय राजा पयहारीजी के शिष्य हो गए और गलता की गद्दी पर रामानंदी वैष्णवो का अधिकार हुआ।

नाथपंथी योगियो के कारण जनता के हृदय मे योग-साधना और सिद्धि के प्रति आस्था जमी हुई थी। इससे पयहारीजी की शिष्य-परपरा में योग-साधना का भी कुछ समावेश हुआ। पयहारीजी के दो प्रसिद्ध शिष्य हुए—अग्रदास और कील्हदास। इन्हीं कील्हदास की प्रवृत्ति रामभक्ति के साथ साथ योगाभ्यास की ओर भी हुई जिससे रामानदजी की वैरागी-परंपरा की एक शाखा मे योग-साधना का भी समावेश हुआ। यह शाखा वैरागियो मे 'तपसी शाखा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। कील्हदास के शिष्य द्वारकादास ने इस शाखा को और पल्लवित किया। उनके संबंध मे भक्तमाल में ये वाक्य हैं—

१—देखो पृ० १५—१६।

'अष्टांग जोग तन त्यागियो द्वारकादास, जानै दुनी'।

जब कोई शाखा चल पड़ती है तब आगे चलकर अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिये वह बहुत सी कथाओं का प्रचार करती है। स्वामी रामानंदजी के बारह वर्ष तक योग-साधना करने की कथा इसी प्रकार की है जो वैरागियों की 'तपसी शाखा' मे चली। किसी शाखा की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न कथाओं की उद्भावना तक ही नहीं रह जाता। कुछ नए ग्रंथ भी संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक के नाम से प्रसिद्ध किए जाते हैं। स्वामी रामानंदजी के नाम से चलाए हुए ऐसे दो रद्दी ग्रंथ हमारे पास है—एक का नाम है योग-चिंतामणि; दूसरे का रामरक्षा-स्तोत्र। दोनो के कुछ नमूने देखिए—

(१)

विकट कटक रे भाई। काया चढा न जाई।
जहँ नाद बिंदु का हाथी। सतगुर ले चले साथी।
जहाँ है अष्टदल कमल फूला। हंसा सरोवर में भूला।
शब्द तो हिरदय बसे, शब्द नयनों बसे,
शब्द की महिमा चार बेद गाई।
कहै गुरु रामानंद जी, सतगुर दया करि मिलिया,
सत्य का शब्द सुनु रे भाई।
सुरत्त-नगर कर सयल। जिसमें है आतमा का महल॥

(—योगचिंतामणि से)

(२)

संध्या तारिणी सर्वदुःख-विदारिणी।

संध्या उच्चरै विघ्न टरै। पिंड प्राण कै रक्षा श्रीनाथ निरंजन करै। नादं नादं सुषुम्ना के साजे साज्या। चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी, उनमनी पाँच मुद्रा सधत साधुराजा।

डरे डुंगरे जले और थले वाटे घाटे औघट निरंजन निराकार रक्षा करे। बाघ बाघिनी का करो मुख काला। चौंसठ जोगिनी मारि कुटका किया, अखिल ब्रह्मांड तिहुँलोक में दुहाई फिरिबा करै। दास रामानंद ब्रह्म चीन्हा, सोइ निज तत्त्व ब्रह्मज्ञानी।

(—रामरक्षा-स्तोत्र से)

झाड़-फूँक के काम के ऐसे ऐसे स्तोत्र भी रामानदजी के गले मढ़े गए हैं। स्तोत्र के आरंभ मे जो 'संध्या' शब्द है, नाथपंथ मे उसका पारिभाषिक अर्थ है—'सुषुम्ना नाड़ी की संधि मे प्राण का जाना।' इसी प्रकार 'निरंजन' भी गोरखपंथ मे उस ब्रह्म के लिये एक रूढ़ शब्द है जिसकी स्थिति वहाँ मानी गई है जहाँ नाद और बिंदु दोनो का लय हो जाता है—

नादकोटि सहस्राणि बिन्दुकोटि शतानि च। सर्वे तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरंजनः॥

'नाद' और 'बिंदु' क्या हैं, यह नाथपंथ के प्रसंग मे दिखाया जा चुका है[1]।

सिखो के ग्रथ साहब मे भी निर्गुण उपासना के दो पद रामानद के नाम के मिलते हैं। एक यह है—

कहाँ जाइए हो घरि लागो रंग। मेरो चित चंचल मन भयो अपंग।
जहाँ जाइए तहँ जल पषान। पूरि रहे हरि सब समान।
वेद स्मृति सब मेल्हे जोइ। उहाँ जाइए हरि इहाँ न होइ।
एक बार मन भयो उमंग। घसि चोवा चंदन चारि अंग।
पूजत चाली ठाईं ठाइँ। सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माइँ।
सतगुर मैं बलिहारी तोर। सकल विकल भ्रम जारे मोर।
रामानंद रमै एक ब्रह्म। गुरु कै एक सबद काटै कोटि क्रम्म।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ग्रथ-साहब मे उद्धृत दोनो पद भी वैष्णव भक्त रामानंदजी के नहीं हैं; और किसी रामानंद के हो तो हो सकते है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वास्तव मे रामानंदजी के केवल दो संस्कृत ग्रंथ ही आज तक मिले है। 'वैष्णव मताब्जभास्कर' मे रामानंदजी के शिष्य सुरसुरानंद ने नौ प्रश्न किए हैं जिनके उत्तर मे रामतारक मंत्र की विस्तृत व्याख्या, तत्त्वोपदेश, अहिंसा का महत्त्व, प्रपत्ति, वैष्णवों की दिनचर्य्या, षोडशोपचार पूजन इत्यादि विषय है।

अर्चावतारो के चार भेद—स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष—करके कहा गया है कि वे प्रशस्त देशो (अयोध्या, मथुरा आदि) मे श्री सहित सदा

१—देखो पृ० १६—१७।

निवास करते हैं। जातिभेद, क्रिया-कलाप आदि की अपेक्षा न करनेवाले भगवान् की शरण मे सबको जाना चाहिए—

प्राप्तुं परां सिद्धिमकिंचनो जनो द्विजादिरिच्छंछरणं हरिं व्रजेत्।
परं दयालुं स्वगुणानपेक्षितक्रियाकलापादिकजातिभेदम् ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी—यद्यपि स्वामी रामानंदजी की शिष्य परपरा के द्वारा देश के बड़े भाग मे रामभक्ति की पुष्टि निरतर होती आ रही थी और भक्त लोग फुटकल पदो मे राम की महिमा गाते आ रहे थे पर हिंदी-साहित्य के क्षेत्र मे इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे गोस्वामी तुलसीदास जी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने भाषा-काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियो के बीच अपना चमत्कार दिखाया। साराश यह कि रामभक्ति का वह परम विशद साहित्यिक सदर्भ इन्हीं भक्त-शिरोमणि द्वारा संघटित हुआ जिससे हिंदी-काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरंभ हुआ।

'शिवसिंह-सरोज' में गोस्वामीजी के एक शिष्य बेनीमाधवदास कृत 'गोसाईं-चरित्र' का उल्लेख है। इस ग्रंथ का कहीं पता न था। पर कुछ दिन हुए सहसा यह अयोध्या से निकल पड़ा। अयोध्या मे एक अत्यत निपुण दल है जो लुप्त पुस्तको और रचनाओं को समय समय पर प्रकट करता रहता है। कभी नंददास कृत तुलसी की वंदना का पद प्रकट होता है जिसमे नंददास कहते है—

श्रीमंत्तुलसीदास स्वगुरु-भ्राता-पद वंदे।

*   *

नंददास के हृदय-नयन को खोलेउ सोई ॥

कभी सूरदास जी द्वारा तुलसीदास जी की स्तुति का यह पद प्रकाशित होता है—

धन्य भाग्य मम संत सिरोमनि चरन-कमल तकि आयउँ।

*   *

दया-दृष्टि तें मम दिसि हेरेउ, तत्त्व-स्वरूप लखायो।
कर्म-उपासन-ज्ञान-जनित भ्रम-संसय-सूल नसायो ॥[1]

इस पद के अनुसार सूरदास का 'कर्म-उपासन-ज्ञान-जनित भ्रम' वल्लभाचार्यजी ने नही, तुलसीदासजी ने दूर किया था! सूरदासजी तुलसीदासजी से अवस्था मे बहुत बड़े थे और उनसे पहले प्रसिद्ध भक्त हो गए थे, यह सब लोग जानते हैं।

ये दोनो पद 'गोसाई-चरित्र' के मेल मे है, अतः मैं इन सब का उद्गम एक ही समझता हूँ। 'गोसाई-चरित्र' मे वर्णित बहुत सी बातें इतिहास के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं, यह बा० माताप्रसाद गुप्त अपने कई लेखो मे दिखा चुके हैं। रामानंदजी की शिष्य-परंपरा के अनुसार देखे तो भी तुलसीदास के गुरु का नाम नरहर्यानद और नरहर्यानद के गुरु का नाम अनंतानंद (प्रिय शिष्य अनंतानंद हते। नरहर्यानंद सुनाम छते) असंगत ठहरता है। अनंतानंद और नरहर्यानद दोनों रामानंदजी के बारह शिष्यो में थे। नरहरिदास को अलबत कुछ लोग अनंतानद का शिष्य कहते है, पर भक्तमाल के अनुसार वे अनंतानंद के शिष्य श्रीरंग के शिष्य थे। गिरनार मे योगाभ्यासी सिद्ध रहा करते हैं, 'तपसी शाखा' की यह बात भी गोसाई-चरित्र मे आ गई है।

इसमे कोई सदेह नही कि तिथि, वार आदि ज्योतिष की गणना से कुछ ठीक मिलाकर तथा तुलसी के सबंध मे चली आती हुई सारी जन-श्रुतियो का समन्वय करके सावधानी के साथ इसकी रचना हुई है, पर एक ऐसी पदावली इसके भीतर चमक रही है जो इसे बिलकुल आजकल की रचना घोषित कर रही है। यह है 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्'। देखिए—

देखिन तिरषित दृष्टि तें सब जने, कीन्ही सही संकरम्।
दिव्यापर सो लिख्यो, पढै धुनि सुने, सत्यं, शिवं, सुंदरम् ॥

१—ये दोनों पंक्तियाँ सूरदासजी के इस पद से खींच ली गई हैं—

कर्म जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो ॥

(सूरसागर-सारावली)

यह पदावली अँगरेजी-समीक्षा-क्षेत्रमे प्रचलित The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है, जिसका प्रचार पहले पहल ब्रह्मोसमाज मे, फिर बंगला और हिंदी की आधुनिक समीक्षाओ मे हुआ, यह हम अपने 'काव्य मे रहस्यवाद' के भीतर दिखा चुके है।

यह बात अवश्य है कि 'गोसाईं-चरित्र' मे जो वृत्त दिए गए हैं, वे अधिकतर वे ही है जो परपरा से प्रसिद्ध चले आ रहे है।

गोस्वामीजी का एक और जीवन-चरित, जिसकी सूचना मर्य्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या मे श्रीयुत इंद्रदेव नारायणजी ने दी थी, उनके एक दूसरे शिष्य महात्मा रघुवरदासजी का लिखा 'तुलसी-चरित' कहा जाता है। यह कहाँ तक प्रामाणिक है, नहीं कहा जा सकता। दोनों चरितो के वृत्तांतों मे परस्पर बहुत कुछ विरोध है। बाबा बेनीमाधवदास के अनुसार गोस्वामीजी के पिता जमुना के किनारे दुबे पुरवा नामक गाँव के दूबे और मुखिया थे और इनके पूर्वज पत्यौजा ग्राम से यहाँ आए थे। पर बाबा रघुवरदास के 'तुलसी-चरित' मे लिखा है कि सरवार मे मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम मे गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र—जो गाना के मिश्र थे—रहते थे। वे तीर्थाटन करते करते चित्रकूट पहुँचे और उसी ओर राजापुर मे बस गए। उनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। शंकर मिश्र के रुद्रनाथ मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र के मुरारि मिश्र हुए जिनके पुत्र तुलाराम ही आगे चलकर भक्तचूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए।

दोनो चरितो मे गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ दिया हुआ है। बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक मे तो श्रावण शुक्ला सप्तमी तिथि भी दी हुई है। पर इस सवत् को ग्रहण करने से तुलसीदासजी की आयु १२६-१२७ वर्ष आती है जो पुनीत आचरण के महात्माओं के लिये असंभव तो नहीं कही जा सकती। शिवसिंहसरोज मे लिखा है कि गोस्वामीजी संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त और रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी भक्तो की जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म संवत् १५८९ मानते थे। इसी सबसे पिछले संवत् को ही डा० ग्रियर्सन ने स्वीकार किया है। इनका सरयूपारी

ब्राह्मण होना तो दोनो चरितो मे पाया जाता है, और सर्वमान्य है। "तुलसी परासर गोत दूबे पतिऔजा के" यह वाक्य भी प्रसिद्ध चला आता है और पंडित रामगुलाम ने भी इसका समर्थन किया है। उक्त प्रसिद्धि के अनुसार गोस्वामीजीके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। माता के नाम के प्रमाण मे रहीम का यह दोहा कहा जाता है—

सुरतिय, निरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

तुलसीदासजी ने कवितावली मे कहा है कि "मातु पिता जग जाइ तज्यो बिधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।" इसी प्रकार विनयपत्रिका मे भी ये वाक्य है "जनक जननी तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे" तथा "तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू"। इन वचनो के अनुसार यह जनश्रुति चल पड़ी कि गोस्वामीजी अभुक्तमूल मे उत्पन्न हुए थे, इससे उनके माता पिता ने उन्हे त्याग दिया था। उक्त जनश्रुति के अनुसार गोसाईं-चरित्र मे लिखा है कि गोस्वामीजी जब उत्पन्न हुए तब पॉच वर्ष के बालक के समान थे और उन्हे पूरे दॉत भी थे। वे रोए नहीं, केवल 'राम' शब्द उनके मुँह से सुनाई पड़ा। बालक को राक्षस समझ पिता ने उसकी उपेक्षा की। पर माता ने उसकी रक्षा के लिये उद्विग्न होकर उसे अपनी एक दासी मुनिया को पालने पोसने को दिया और वह उसे लेकर अपनी सुसराल चली गई। पॉच वर्ष पीछे जब मुनिया भी मर गई तब राजापुर मे बालक के पिता के पास संवाद भेजा गया पर उन्होंने बालक लेना स्वीकार न किया। किसी प्रकार बालक का निर्वाह कुछ दिन हुआ। अंत मे बाबा नरहरिदास ने उसे अपने पास रख लिया और शिक्षा दीक्षा दी। इन्ही गुरु से गोस्वामीजी रामकथा सुना करते थे। इन्हीं अपने गुरु बाबा नरहरिदास के साथ गोस्वामीजी काशी मे आकर पचगंगा घाट पर स्वामी रामानंदजी के स्थान पर रहने लगे। वहॉ पर एक परम विद्वान् महात्मा शेषसनातनजी रहते थे जिन्होने तुलसीदासजी को वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि मे प्रवीण कर दिया। १५ वर्ष तक अध्ययन करके गोस्वामीजी फिर अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौटे; पर वहॉ इनके परिवार में कोई नहीं रह गया था और घर भी गिर गया था।

यमुना पार के एक ग्राम के रहनेवाले भारद्वाज गोत्री एक ब्राह्मण यम-द्वितीया को राजापुर मे स्नान करने आए। उन्होंने तुलसीदासजी की विद्या, विनय और शील पर मुग्ध होकर अपनी कन्या इन्हें ब्याह दी। इसी पत्नी के उपदेश से गोस्वामीजी का विरक्त होना और भक्ति की सिद्धि प्राप्त करना प्रसिद्ध है। तुलसीदासजी अपनी इस पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वे बढ़ी नदी पार करके उससे जाकर मिले। स्त्री ने उस समय ये दोहे कहे—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौं श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति॥

यह बात तुलसीदासजी को ऐसी लगी कि वे तुरंत काशी आकर विरक्त हो गए। इस वृत्तांत को प्रियादासजी ने भक्तमाल की अपनी टीका मे दिया है और 'तुलसी-चरित्र' और 'गोसाईं-चरित्र' मे भी इसका उल्लेख है।

गोस्वामीजी घर छोड़ने पर कुछ दिन काशी मे, फिर काशी से अयोध्या जाकर रहे। उसके पीछे तीर्थयात्रा करने निकले और जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम गए। वहाँ से ये कैलास और मानसरोवर तक निकल गए। अंत मे चित्रकूट आकर ये बहुत दिनो तक रहे जहाँ अनेक संतों से इनको भेंट हुई। इसके अनंतर संवत् १६३१ मे अयोध्या जाकर इन्होने रामचरितमानस का आरंभ किया और उसे २ वर्ष ७ महीने मे समाप्त किया। रामायण का कुछ अंश, विशेषतः किष्किंधाकाड, काशी मे रचा गया। रामायण समाप्त होने पर ये अधिकतर काशी मे ही रहा करते थे। वहाँ अनेक शास्त्रज्ञ विद्वान् इनसे आकर मिला करते थे क्योकि इनकी प्रसिद्धि सारे देश मे हो चुकी थी। ये अपने समय के सबसे बड़े भक्त और महात्मा माने जाते थे। कहते हैं कि उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती से इनसे वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर इनकी स्तुति मे यह श्लोक कहा था—

आनंदकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः। कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

गोस्वामीजी के मित्रो और स्नेहियो मे नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना, महाराज मानसिंह, नाभाजी और मधुसूदन सरस्वती आदि कहे जाते है। 'रहीम' से इनसे

समय समय पर दोहों में लिखा-पढ़ी हुआ करती थी। काशी मे इनके सबसे बड़े स्नेही और भक्त भदैनी के एक भूमिहार जमींदार टोडर थे जिनकी मृत्यु पर इन्होंने कई दोहे कहे हैं—

चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप॥
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भारु।
टोडर काँधा नहिं दियो, सब कहि रहे 'उतारु'॥
रामधाम टोडर गए, तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच॥

गोस्वामीजी की मृत्यु के संबंध मे लोग यह दोहा कहा करते हैं—

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

पर बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक मे दूसरी पंक्ति इस प्रकार है या कर दी गई है—

श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

यह ठीक तिथि है क्योंकि टोडर के वंशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामीजी के नाम सीधा दिया करते हैं।

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' को लेकर कुछ लोग गोस्वामीजी का जन्मस्थान ढूँढ़ने एटा जिले के सोरो नामक स्थान तक सीधे पच्छिम दौड़े हैं। पहले पहल उस ओर इशारा स्व० लाला सीताराम ने (राजापुर के) अयोध्याकांड के स्व-संपादित संस्करण की भूमिका मे दिया था। उसके बहुत दिन पीछे उसी इशारे पर दौड लगी और अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरों को जन्मस्थान सिद्ध करने के लिये तैयार किए गए। सारे उपद्रव की जड़ है 'सूकर खेत,' जो भ्रम से सोरों समझ लिया गया। 'सूकर छेत्र' गोंडे के जिले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, जहाँ आसपास के कई जिलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।

जिन्हें भाषा की परख है उन्हे यह देखते देर न लगेगी कि तुलसीदासजी की भाषा में ऐसे शब्द, जो स्थान-विशेष के बाहर नहीं बोले जाते है, केवल दो स्थानों के हैं—चित्रकूट के आसपास के और अयोध्या के आसपास के। किसी कवि की रचना मे यदि किसी स्थान-विशेष के भीतर ही बोले जानेवाले अनेक

शब्द मिले तो उस स्थान-विशेष से कवि का निवास संबंध मानना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर यह बात मन मे बैठ जाती है कि तुलसीदासजी का जन्म राजापुर मे हुआ जहाँ उनकी कुमार अवस्था बीती। सरवरिया होने के कारण उनके कुल के तथा संबंधी अयोध्या, गोंडा, बस्ती के आसपास थे, जहाँ उनका आना-जाना बराबर रहा करता था। विरक्त होने पर वे अयोध्या मे ही रहने लगे थे। 'रामचरित मानस' मे आये हुए कुछ शब्द और प्रयोग नीचे दिए जाते हैं जो अयोध्या के आसपास ही (बस्ती, गोंडे आदि के कुछ भागों मे) बोले जाते हैं—

माहुर = विष। **सरौं** = कसरत। **फहराना या फरहराना** = प्रफुल्लचित्त होना (सरौं करहि पायक फहराई)। **फुर** = सच। **अनभल ताकना** = बुरा मनाना (जेहि राउर अति अनभल ताका)। **राउर, रउरेहि** = आपको (भलउ कहत दुख रउरेहि लागा)। **रमा लहीं** = रमा ने पाया (प्रथम पुरुष स्त्री० बहुवचन उ०—भरि जनम जे पाए न ते परितोष उमा रमा लहीं)। **कूटि** = दिल्लगी, उपहास।

इसी प्रकार ये शब्द चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड मे ही (जहाँ की भाषा पूरबी हिंदी या अवधी ही है) बोले जाते हैं—

कुराय = वे गड्ढे जो करेल पोली जमीन मे बरसात के कारण जगह जगह पड़ जाते है (काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहि ठाँव बझाऊ रे। —विनय०)।

सुआर = सूपकार, रसोइया।

ये शब्द और प्रयोग इस बात का पता देते हैं कि किन स्थानों की बोली गोस्वामीजी की अपनी थी। आधुनिक काल के पहले साहित्य या काव्य की सर्वमान्य व्यापक भाषा ब्रज ही रही है, यह तो निश्चित है। भाषा काव्य के परिचय के लिये प्रायः सारे उत्तर भारत के लोग बराबर इसका अभ्यास करते थे और अभ्यास द्वारा सुंदर रचना भी करते थे। ब्रजभाषा मे रीतिग्रंथ लिखनेवाले चिंतामणि, भूषण, मतिराम, दास इत्यादि अधिकतर कवि अवध के थे और ब्रजभाषा के सर्वमान्य कवि माने जाते है। दासजी ने तो स्पष्ट व्यवस्था ही दी है कि 'ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानौ'। पर पूरबी

हिंदी या अवधी के संबंध में यह बात नहीं है। अवधी भाषा मे रचना करनेवाले जितने कवि हुए हैं सब अवध या पूरब के थे। किसी पछाहीं कवि ने कभी पूरबी हिंदी या अवधी पर ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं किया कि उसमे रचना कर सके। जो बराबर सोरों की पछाहीं बोली (ब्रज) बोलता आया होगा वह 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' की सी ठेठ अवधी लिखेगा, 'मानस' ऐसे महाकाव्य की रचना अवधी मे करेगा और व्याकरण के ऐसे देशबद्ध प्रयोग करेगा जैसे ऊपर दिखाए गए हैं? भाषा के विचार में व्याकरण के रूपो का मुख्यतः विचार होता है।

भक्त लोग अपने को जन्म जन्मांतर से अपने आराध्य इष्टदेव का सेवक मानते हैं। इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनो ने कथा-प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप मे राम और कृष्ण के समीप तक पहुँचाया है। जिस स्थल पर ऐसा हुआ है वहीं कवि के निवासस्थान का पूरा संकेत भी है। 'रामचरित-मानस' के अयोध्याकांड मे वह स्थल देखिए जहाँ प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम जमुना पार करते है और भरद्वाज के द्वारा साथ लगाए हुए शिष्यों को बिदा करते हैं। राम-सीता तट पर के लोगो से बातचीत कर ही रहे हैं कि—

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥
कवि अलषित-गति वेष बिरागी। मन क्रम वचन राम-अनुरागी॥

सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥

यह तापस एकाएक आता है। कब जाता है, कौन है, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बात यह है कि इस ढंग से कवि ने अपने को ही तापस रूप मे राम के पास पहुँचाया है और ठीक उसी प्रदेश मे जहाँ के वे निवासी थे अर्थात् राजापुर के पास।

सूरदास ने भी भक्तो की इस पद्धति का अवलंबन किया है। यह तो निर्विवाद है कि वल्लभाचार्य्यजी से दीक्षा लेने के उपरांत सूरदासजी गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्त्तन किया करते थे। अपने सूरसागर के दशम

स्कंध के आरंभ में सूरदास ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए अपने को ढाढ़ी के रूप मे नंद के द्वार पर पहुँचाया है—

नंद जू! मेरे मन आनंद भयो, हौं गोबर्द्धन तें आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो॥

* * * *

जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाउँ।
हौं तो तेरे घर को ढाढी, सूरदास मेरो नाउँ॥

सब का सारांश यह कि तुलसीदास का जन्मस्थान जो राजापुर प्रसिद्ध चला आता है, वही ठीक है।

एक बात की ओर और ध्यान जाता है। तुलसीदासजी रामानंद-संप्रदाय की वैरागी परंपरा मे नही जान पड़ते। उक्त संप्रदाय के अंतर्गत जितनी शिष्य परंपराएँ मानी जाती हैं उनमे तुलसीदासजी का नाम कहीं नहीं है। रामानंद परंपरा मे सम्मिलित करने के लिये उन्हें नरहरिदास का शिष्य बताकर जो परंपरा मिलाई गई है, वह कल्पित प्रतीत होती है। वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे, पर स्मार्त्त वैष्णव थे।

गोस्वामीजी के प्रादुर्भाव को हिंदी-काव्य के क्षेत्र मे एक चमत्कार समझना चाहिए। हिंदी-काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा। वीरगाथा-काल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र मे काव्य-भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परंपरा निभाते आ रहे थे। चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति उनके द्वारा नहीं हुई। भक्तिकाल मे आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। कबीरदास ने चलती बोली मे अपनी वाणी कही। पर वह बोली बेठिकाने की थी। उसका कोई नियत रूप न था। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिये स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था। उन्होंने नाथपंथियों की 'सधुक्कड़ी भाषा' का व्यवहार किया जिसमें खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था। इसका कारण यह है कि मुसलमानो की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गई थी और

निर्गुणपंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था। अतः उनकी भाषा मे अरबी फारसी के शब्दो का भी मनमाना प्रयोग मिलता है। उनका कोई साहित्यिक लक्ष्य न था और वे पढ़े लिखे लोगों से दूर ही दूर अपना उपदेश सुनाया करते थे।

साहित्य की भाषा में, जो वीरगाथा-काल के कवियो के हाथ में बहुत कुछ अपने पुराने रूप मे ही रही, प्रचलित भाषा के सयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्तवर सूरदासजी व्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोकव्यवहार के मेल मे लाए। उन्होंने परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया। सूरसागर को ध्यानपूर्वक देखने से उसमें क्रियाओं के कुछ पुराने रूप, कुछ सर्वनाम (जैसे, जासु-तासु, जेहि-तेहि) तथा कुछ प्राकृत के शब्द पाए जायँगे। साराश यह कि वे परंपरागत काव्य भाषा को बिलकुल अलग करके एकबारगी नई चलती बोली लेकर नहीं चले। भाषा का एक शिष्ट सामान्य रूप उन्होंने रखा जिसका व्यवहार आगे चलकर बराबर कविता में होता आया। यह तो हुई व्रजभाषा की बात। इसके साथ ही पूरबी बोली या अवधी भी साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर हो चुकी थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अवधी की सबसे पुरानी रचना ईश्वरदास की 'सत्यव्रती कथा' है[१]। आगे चलकर 'प्रेममार्गी शाखा' के मुसलमान कवियों ने भी अपनी कहानियों के लिये अवधी भाषा ही चुनी। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय मे काव्यभाषा के दो रूप प्रचलित पाए—एक व्रज और दूसरी अवधी। दोनों में उन्होने समान अधिकार के साथ रचनाएँ कीं।

भाषा पद्य के स्वरूप को लेते है तो गोस्वामीजी के सामने कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनमे से मुख्य ये है—(क) वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति, (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, (ग) गंग आदि भाटो की कवित्त-सवैया-पद्धति, (घ) कबीरदास की नीति-संबंधी बानी की दोहा-पद्धति जो

१—देखो पृ० ७२।

अपभ्रंश काल से चली आती थी, और (ङ) ईश्वरदास की दोहे-चौपाई वाली प्रबंध-पद्धति। इस प्रकार काव्यभाषा के दो रूप और रचना की पाँच मुख्य शैलियाँ साहित्यक्षेत्र मे गोस्वामीजी को मिलीं। तुलसीदासजी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौंदर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी मे दिखाकर साहित्यक्षेत्र मे प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिंदी-कविता के प्रेमी मात्र जानते है कि उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओ पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य्य हम सूरसागर मे पाते हैं वही माधुर्य्य और भी संस्कृत रूप मे हम गीतावली और कृष्णगीतावली मे पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमे जायसी की पदमावत मे मिलती है वही जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवारामायण और रामललानहछू मे हम पाते है। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रजभाषा पर।

प्रचलित-रचना-शैलियों पर उनका इसी प्रकार का पूर्ण अधिकार हम पाते है।

(क) वीर-गाथा-काल की छप्पय-पद्धति पर इनकी रचना थोड़ी है, पर इनकी निपुणता पूर्ण रूप से प्रदर्शित करती है ; जैसे—

> कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
> कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
> चरन-चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
> बिकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥
> लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
> तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥
>
> डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्वै समुद्र सर।
> ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
> दिग्गयंद लरखरात, परत दसकंठ मुक्ख भर।
> सुरविमान हिमभानु संघटित होत परस्पर॥
> चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
> ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥

(ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति पर इन्होंने बहुत विस्तृत और बड़ी सुंदर रचना की है। सूरदासजी की रचना में संस्कृत की 'कोमल कांत पदावली' और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामीजी की

रचना में है। दोनों भक्त-शिरोमणियो की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इसपर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामीजी की रचना अधिक संस्कृत-गर्भित है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनके पदों मे शुद्ध देशभाषा का माधुर्य्य नहीं है। इन्होने दोनो प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है। विनयपत्रिका के प्रारंभिक स्तोत्रों में जो संस्कृत पदविन्यास है उसमें गीतगोविद के पदविन्यास से इस बात की विशेषता है कि वह विषम है और रस के अनुकूल कहीं कोमल और कही कर्कश देखने मे आता है। हृदय के विविध भावों की व्यजना गीतावली के मधुर पदो में देखने योग्य है। कौशल्या के सामने भरत अपनी आत्मग्लानि की व्यंजना किन शब्दो में करते हैं देखिए—

जौ हौं मातुमते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानिहै साँची?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-विसिषन्ह बाँची?

इसी प्रकार चित्रकूट में राम के सम्मुख जाते हुए भरत की दशा का भी सुंदर चित्रण है—

बिलोके दूरि तें दोउ वीर।
मन अगहुँड़, तन पुलक सिथिल भयो, नयन-नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेमबल धीर॥

'गीतावली' की रचना गोस्वामीजी ने सूरदासजी के अनुकरण पर की है? बाललीला के कई एक पद ज्यो के त्यों सूरसागर मे भी मिलते हैं, केवल 'राम,' 'श्याम' का अंतर है। लंकाकांड तक तो कथा की अनेकरूपता के अनुसार मार्मिक स्थलों का जो चुनाव हुआ है वह तुलसी के सर्वथा अनुरूप है। पर उत्तर-कांड मे जाकर सूर-पद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गंभीर व्यक्तित्व तिरोहित सा हो गया है। जिस रूप मे राम को उन्होने सर्वत्र लिया है, उसका भी ध्यान उन्हे नहीं रह गया है। 'सूरसागर' मे जिस प्रकार गोपियो के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाए गए हैं। इतना अवश्य है कि सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्य-

भाव ही प्रगट होता है। राम की नख-शिख शोभा का अलंकृत वर्णन भी सूर की शैली पर बहुत से पदों में लगातार चला गया है। सरयूतट के इस आनंदोत्सव को आगे चलकर रसिक लोग क्या रूप देंगे, इसका ख्याल गोस्वामीजी को न रहा।

(ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति पर भी इसी प्रकार सारा रामचरित गोस्वामीजी कह गए हैं जिसमें नाना रसों का सन्निवेश अत्यंत विशद रूप मे और अत्यंत पुष्ट और स्वच्छ भाषा में मिलता है। नाना रसमयी रामकथा तुलसीदासजी ने अनेक प्रकार की रचनाओं मे कही है। कवितावली में रसानुकूल शब्द-योजना बड़ी सुंदर है। जो तुलसीदासजी ऐसी कोमल भाषा का व्यवहार करते हैं—

राम को रूप निहारत जानकि, कंकन के नग की परिछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं॥

गोरो गरूर गुमान भरो यह, कौसिक, छोटो सो ढोटो है काको ?

जल को गए लक्खन, हैं लरिका, परिखौ, पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥

वे ही वीर और भयानक के प्रसंग मे ऐसी शब्दावली का व्यवहार करते हैं—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड बीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरिकै।
महाबल-पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटके लँगूर फेरि फेरिकै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं तुलसीस "राखि राम की सौ" टेरिकै।
ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठै,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल लाल मानौ,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-वीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी हैं॥

(घ) नीति के उपदेश की सूक्तिपद्धति पर बहुत से दोहे रामचरितमानस और दोहावली मे मिलेंगे, जिनमें बड़ी मार्मिकता से और कहीं कहीं बड़े रचना-कौशल से व्यवहार की बाते कही गई है और भक्ति प्रेम की मर्यादा दिखाई गई है।

रीझि आपनी बूझि पर, खीझि-विचार-विहीन।
ते उपदेस न मानहीं, मोह-महोदधि मीन॥

लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास॥

की तोहि लागहि राम प्रिय, की तु राम-प्रिय होइ।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ, कीबे तुलसी तोहि॥

(ङ) जिस प्रकार चौपाई-दोहे के क्रम से जायसी ने अपना पदमावत नाम का प्रबंधकाव्य लिखा उसी क्रम पर गोस्वामीजी ने अपना परम प्रसिद्ध काव्य रामचरितमानस, जो लोगो के हृदय का हार बनता चला आता है, रचा। भाषा वही अवधी है, केवल पद-विन्यास का भेद है। गोस्वामीजी शास्त्र-पारंगत विद्वान् थे अतः उनकी शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है। जायसी में केवल ठेठ अवधी का माधुर्य्य है, पर गोस्वामीजी की रचना मे संस्कृत की कोमल पदावली का भी बहुत ही मनोहर मिश्रण है। नीचे दी हुई कुछ चौपाइयो में दोनो की भाषा का भेद स्पष्ट देखा जा सकता है—

जब हुँत कहिगा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी॥
तब हुँत तुम्ह बिनु रहै न जीऊ। चातक भइउँ कहत पिउ पीऊ॥
भइउँ बिरह जरि कोइलि कारी। डार डार जो कूकि पुकारी॥

—जायसी

अमियमूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृतसंभु तनु विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी। किए तिलक गुन-गन-बस करनी॥

—तुलसी

साराश यह कि हिंदी काव्य की सब प्रकार की रचनाशैली के ऊपर

गोस्वामीजी ने अपना ऊँचा आसन प्रतिष्ठित किया है। यह उच्चता और किसी को प्राप्त नहीं।

अब हम गोस्वामीजी के वर्णित विषय के विस्तार का विचार करेंगे। यह विचार करेंगे कि मानव-जीवन की कितनी अधिक दशाओं का सन्निवेश उनकी कविता के भीतर है। इस संबंध मे हम यह पहले ही कह देना चाहते हैं कि अपने दृष्टिविस्तार के कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदय-मंदिर मे पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले है—जैसे, वीरकाल के कवि उत्साह को; भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को; अलंकार-काल के कवि दांपत्य-प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग मे विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोकपक्ष मे आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यंत उज्वल छटा उसमे वर्त्तमान है।

पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण-धारा के संतों की बानी मे किस प्रकार लोकधर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। सगुण-धारा को भारतीय पद्धति के भक्तो मे कबीर, दादू आदि के लोकधर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होने देखा कि उनके वचनो से जनता की चित्तवृत्ति मे ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जायगा, उसकी मर्य्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज से ज्ञानसंपन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन मे तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्त्तव्यो का पालन करनेवाले उच्चाशय व्यक्तियो, पति-परायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख-सर्वस्व त्यागनेवाले सत्पुरुषो, स्वामी की सेवा में मर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। गोस्वामीजी को निर्गुण-पंथियों की बानी मे लोकधर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होने यह भी देखा कि बहुत से अनधिकारी और अशिक्षित वेदांत

के कुछ चलते शब्दों को लेकर, बिना उनका तात्पर्य समझे, यों ही 'ज्ञानी' बने हुए, मूर्ख जनता को लौकिक कर्त्तव्यों से विचलित करना चाहते है और मूर्खता-मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे हैं। इसी दशा को लक्ष्य करके उन्होंने इस प्रकार के वचन कहे है—

श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ संजुत विरात विवेक।
तेहि परिहरहि विमोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक॥
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान॥
बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥

इसी प्रकार योगमार्ग से भक्तिमार्ग का पार्थक्य गोस्वामीजी ने बहुत स्पष्ट शब्दो में बताया है। योगमार्ग ईश्वर को अंतस्थ मानकर अनेक प्रकार की अंतस्साधनाओं में प्रवृत्त करता है। सगुण भक्तिमार्गी ईश्वर को भीतर और बाहर सर्वत्र मानकर उसकी कला का दर्शन खुले हुए व्यक्त जगत के बीच करता है। वह ईश्वर को केवल मनुष्य के क्षुद्र घट के भीतर ही नहीं मानता। इसी से गोस्वामीजी कहते हैं—

अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिरजामी हैं राम, जो नाम लिये तें।
पैंज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें॥

'घट के भीतर' कहने से गुह्य या रहस्य की धारणा फैलती है जो भक्ति के सीधे स्वाभाविक मार्ग मे बाधा डालती है। घट के भीतर साक्षात्कार करने की बात कहनेवाले प्रायः अपने को गूढ़ रहस्यदर्शी प्रकट करने के लिये सीधी सादी बात को भी रूपक बाँधकर और टेढ़ी पहेली बनाकर कहा करते है। पर इस प्रकार के दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति को गोस्वामीजी भक्ति का विरोधी मानते हैं। सरलता या सीधेपन को वे भक्ति का नित्य लक्षण कहते हैं—मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता तीनों को—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुवर-प्रेम-प्रसूति॥

वे भक्ति के मार्ग को ऐसा नही मानते जिसे 'लखै कोइ बिरलै'। वे उसे ऐसा

सीधासादा स्वाभाविक मार्ग बनाते हैं जो सबके सामने दिखाई पड़ता है। वह संसार मे सबके लिये ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जग माँह॥

अभिप्राय यह कि जिस हृदय से भक्ति की जाती है वह सबके पास है। हृदय की जिस पद्धति से भक्ति की जाती है वह भी वही है जिससे माता-पिता की भक्ति, पुत्र-कलत्र का प्रेम किया जाता है। इसीसे गोस्वामीजी चाहते है कि—

यहि जग महँ जहँ लगि या तन की प्रीति-प्रतीति सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि इक ठाईं॥

नाथपंथी रमते जोगियो के प्रभाव से जनता अंधी भेड़ बनी हुई तरह तरह की करामतो को साधुता का चिह्न मानने लगी थी और ईश्वरोन्मुख साधना को कुछ विरले रहस्यदर्शी लोगो का ही काम समझने लगी थी। जो हृदय सबके पास होता है, वही अपनी स्वाभाविक वृत्तियो द्वारा भगवान् की ओर लगाया जा सकता है, इस बात पर परदा सा डाल दिया गया था। इससे हृदय रहते भी भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग लोग नहीं देख पाते थे। यह पहले कहा जा चुका है कि नाथपंथ का हठयोग-मार्ग हृदयपक्ष शून्य है[1]। रागात्मिका वृत्ति से उसका कोई लगाव नहीं। अतः रमते जोगियों की रहस्यभरी बानियाँ सुनते सुनते जनता के हृदय मे भक्ति की सच्ची भावना दब गई थी, उठने ही नही पाती थी। लोक की इसी दशा को लक्ष्य करके गोस्वामीजी को कहना पड़ा था कि—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांग-पूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षो के साथ उसका सामंजस्य है। न उसका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनो की रसानुभूति कह सकते है। योग का भी उसमें समन्वय है

१—देखो पृ० ६१।

पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये, चित्त को एकाग्र करने के लिये, आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय भक्ति-मार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत सी बढ़ती हुई बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया। शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होने अपनी सामंजस्य-व्यवस्था द्वारा बहुत कुछ रोका जिसके कारण उत्तरीय भारत मे वह वैसा भयंकर रूप न धारण कर सका जैसा उसने दक्षिण मे किया। यहीं तक नहीं, जिस प्रकार उन्होने लोकधर्म और भक्तिसाधना को एक मे सम्मिलित करके दिखाया उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच भी सामंजस्य उपस्थित किया। 'मानस' के बालकांड मे संत-समाज का जो लंबा रूपक है, वह इस बात को स्पष्ट रूप मे सामने लाता है। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर भी लोकपक्ष उन्होने नही छोड़ा। लोकसंग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था। कृष्णोपासक भक्तों मे इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के संबंध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई; दूसरे प्रकार के लोक-व्यापक नाना संबंधों के कल्याणकारी सौंदर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। यही कारण है कि इनकी भक्ति-रस भरी वाणी जैसी मंगलकारिणी मानी गई वैसी और किसी की नहीं। आज राजा से रंक तक के घर मे गोस्वामीजी का रामचरित-मानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाइयाँ कही जाती हैं।

अपनी सगुणोपासना का निरूपण गोस्वामीजी ने कई ढंग से किया है। रामचरित-मानस मे नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहकर वे उन्हें उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं—

> नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
> नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
> अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥

दोहावली में भक्ति की सुगमता बड़े ही मार्मिक ढंग से गोस्वामीजी ने इस दोहे के द्वारा सूचित की है—

> की तोहि लागहि राम प्रिय, की तु राम-प्रिय होहि।
> दुइ मँह रुचै जो सुगम सोइ, कीबे तुलसी तोहि॥

इसी प्रकार रामचरित-मानस के उत्तरकांड में उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को कहीं अधिक सुसाध्य और आशुफलदायिनी कहा है।

रचना-कौशल, प्रबंध-पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें रामचरित मानस में मिलता है। पहली बात जिसपर ध्यान जाता है, वह है कथा-काव्य के सब अवयवों का उचित समीकरण। कथा-काव्य या प्रबंध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भावव्यंजना और संवाद, ये अवयव होते हैं। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाललीला, नखशिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव इत्यादि के वर्णन बहुत लंबे होने पाए हैं, न पात्रों के संवाद, न प्रेम, शोक आदि भावों की व्यंजना। इतिवृत्त की शृंखला भी कहीं से टूटती नहीं है।

दूसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। अधिक विस्तार हमें ऐसे ही प्रसंगों का मिलता है जो मनुष्य मात्र के हृदय को स्पर्श करनेवाले हैं—जैसे, जनक की वाटिका में राम-सीता का परस्पर दर्शन, रामवन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री-पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगना इत्यादि।

तीसरी बात है प्रसंगानुकूल भाषा। रसों के अनुकूल कोमल-कठोर पदों की योजना तो निर्दिष्ट रूढ़ि ही है। उसके अतिरिक्त गोस्वामीजी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षितों की संस्कृत-मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसंग समझकर कैकेयी और मंथरा के संवाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है। अनुप्रास की ओर प्रवृत्ति तो सब रचनाओं में स्पष्ट लक्षित होती है।

चौथी बात है शृंगार रस का शिष्ट-मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन।

जिस धूमधाम से 'मानस' की प्रस्तावना चली है उसे देखते ही ग्रंथ के महत्त्व का आभास मिल जाता है। उससे साफ झलकता है कि तुलसीदासजी अपने ही तक दृष्टि रखनेवाले भक्त न थे, संसार को भी दृष्टि फैलाकर

देखनेवाले भक्त थे। जिस व्यक्त जगत् के बीच उन्हे भगवान् के राम-रूप की कला का दर्शन कराना था, पहले चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर उसके अनेक-रूपात्मक स्वरूप को उन्होंने सामने रखा है। फिर उसके भले-बुरे पक्षों की विषमता देख-दिखाकर अपने मन का यह कहकर समाधान किया है—

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू।

इसी प्रस्तावना के भीतर तुलसी ने अपनी उपासना के अनुकूल विशिष्टाद्वैत-सिद्धात का भी आभास यह कहकर दिया है—

सिया-राम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।

जगत् को केवल राममय न कहकर उन्होंने 'सिया-राम-मय' कहा है। सीता प्रकृतिस्वरूपा है और राम ब्रह्म हैं; प्रकृति अचित् पक्ष है और ब्रह्म चित् पक्ष। अतः पारमार्थिक सत्ता चिदचिद्विशिष्ट है, यह स्पष्ट झलकता है। चित् और अचित् वस्तुतः एक ही हैं, इसका निर्देश उन्होंने

गिरा अर्थ, जल बीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न।
बंदौं सीता राम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

कह कर किया है।

'रामचरित-मानस' के भीतर कहीं कहीं घटनाओं के थोड़े ही हेर-फेर तथा स्वकल्पित संवादों के समावेश के अतिरिक्त अपनी ओर से छोटी-मोटी घटनाओं या प्रसगो की नई कल्पना तुलसीदासजी ने नहीं की है। 'मानस' में उनका ऐसा न करना तो उनके उद्देश्य के अनुसार बहुत ठीक है। राम के प्रामाणिक चरित द्वारा वे जीवन भर बना रहनेवाला प्रभाव उत्पन्न करना चाहते थे; और काव्यो के समान केवल अल्पस्थायी रसानुभूति मात्र नहीं। 'ये प्रसंग तो केवल तुलसी द्वारा कल्पित हैं,' यह धारणा उन प्रसंगो का कोई स्थायी प्रभाव श्रोताओ या पाठको पर न जमने देती। पर गीतावली तो प्रबंध-काव्य न थी। उसमें तो सूर के अनुकरण पर वस्तु-व्यापार-वर्णन का बहुत विस्तार है। उसके भीतर छोटे छोटे नूतन प्रसंगों की उद्भावना का पूरा अवकाश था, फिर भी कल्पित घटनात्मक प्रसंग नहीं पाए जाते। इससे यही प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिभा अधिकतर उपलब्ध प्रसगो को लेकर चलनेवाली थी; नए नए

प्रसंगो की उद्भावना करनेवाली नहीं। उनकी कल्पना वस्तुस्थिति को ज्यो की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपो के उद्घाटन मे प्रवृत्त होती थी, नई वस्तुस्थिति खड़ी करने नहीं जाती थी। गोपियो को छकानेवाली कृष्णलीला के अंतर्गत छोटी मोटी कथा के रूप मे कुछ दूर तक मनोरंजक और कुतूहलप्रद ढंग से चलनेवाले नाना प्रसंगों की जो नवीन उद्भावना सूरसागर मे पाई जाती है, वह तुलसी के किसी ग्रंथ में नहीं मिलती।

'रामचरित-मानस' मे तुलसी केवल कवि के रूप मे ही नहीं, उपदेशक के रूप मे भी सामने आते है। उपदेश उन्होंने किसी न किसी पात्र के मुख से कराए हैं, इससे काव्यदृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे उपदेश पात्र के स्वभाव-चित्रण के साधनरूप है। पर बात यह नहीं है। वे उपदेश उपदेश के लिये ही है।

गोस्वामीजी के रचे बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमे ५ बडे और ७ छोटे हैं। दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, विनयपत्रिका, बडे ग्रंथ है तथा रामलला-नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्य-संदीपिनी, कृष्णगीतावली, और रामाज्ञा प्रश्नावली छोटे। पंडित रामगुलाम द्विवेदी ने, जो एक प्रसिद्ध भक्त और रामायणी हो गए हैं; इन्हीं बारह ग्रंथो को गोस्वामीजी कृत माना है। पर शिवसिंहसरोज मे दस और ग्रंथो के नाम गिनाए गए है, यथा—रामसतसई, संकटमोचन, हनुमद्बाहुक, रामसलाका, छंदावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोलारामायण, झूलना रामायण और कुंडलिया रामायण। इनमे से कई एक तो मिलते ही नही। हनुमद्बाहुक को पंडित रामगुलामजी ने दोहावली के ही अंतर्गत लिया है। रामसतसई मे सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं जिनमे से डेढ़ सौ के लगभग दोहावली के ही हैं। अधिकांश दोहे उसमे कुतूहलवर्द्धक और चातुर्य्य लिए हुए और क्लिष्ट हैं। यद्यपि दोहावली मे भी कुछ दोहे इस ढंग के हैं, पर गोस्वामीजी ऐसे गंभीर, सहृदय और कलामर्मज्ञ महापुरुष का ऐसे पद्यो का इतना बड़ा ढेर लगाना समझ में नहीं आता। जो हो, बाबा बेनीमाधवदास के नाम पर प्रणीत चरित में भी रामसतसई का उल्लेख हुआ है।

कुछ ग्रंथो के निर्माण के संबंध मे जो जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं, उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। कहते हैं कि बरवा रामायण गोस्वामीजी ने अपने स्नेही मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना के कहने पर उनके बरवा (बरवै नायिका-भेद) को देखकर बनाया था। कृष्णगीतावली वृंदावन की यात्रा के अवसर पर बनी कही जाती है। पर बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईं-चरित' के अनुसार रामगीतावली और कृष्णगीतावली दोनो ग्रंथ चित्रकूट में उस समय के कुछ पीछे लिखे गए जब सूरदासजी उनसे मिलने वहाँ गए थे। गोस्वामीजी के एक मित्र पंडित गंगाराम ज्योतिषी काशी मे प्रह्लादघाट पर रहते थे। रामाज्ञा प्रश्न उन्हीं के अनुरोध से बना माना जाता है। हनुमानबाहुक से तो प्रत्यक्ष है कि वह बाहुओ मे असह्य पीड़ा उठने के समय रचा गया था। विनयपत्रिका के बनने का कारण यह कहा जाता है कि जब गोस्वामीजी ने काशी मे रामभक्ति की गहरी धूम मचाई तब एक दिन कलिकाल तुलसीदासजी को प्रत्यक्ष आकर धमकाने लगा और उन्होंने राम के दरबार मे रखने के लिये यह पत्रिका या अर्जी लिखी।

गोस्वामीजी की सर्वांगपूर्ण काव्यकुशलता का परिचय आरंभ मे ही दिया जा चुका है। उनकी साहित्य-मर्मज्ञता, भावुकता और गंभीरता के संबंध में इतना जान लेना और भी आवश्यक है कि उन्होने रचना-नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन कहीं नहीं किया है और न शब्द-चमत्कार आदि के खेलवाड़ों मे वे फँसे है। अलंकारो की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावो या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते हैं, अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। कहीं कहीं लंबे लंबे साग रूपक बाँधने मे अवश्य उन्होंने एक भद्दी परंपरा का अनुसरण किया है। दोहावली के कुछ दोहों के अतिरिक्त और सर्वत्र भाषा का प्रयोग उन्होंने भावों और विचारो को स्पष्ट रूप में रखने के लिये किया है, कारीगरी दिखाने के लिये नहीं। उनकी सी भाषा की सफाई और किसी कवि मे नहीं। सूरदास में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचार-धारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते, केवल पादपूर्त्यर्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार तुकात के लिये शब्द

तोड़े मरोड़े गए हैं। पर गोस्वामीजी की वाक्य-रचना अत्यंत प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है; एक भी शब्द फालतू नहीं। खेद है कि भाषा की यह सफाई पीछे होनेवाले बहुत कम कवियों में रह गई। सब रसों की सम्यक् व्यंजना इन्होंने की है; पर मर्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं किया है। प्रेम और शृंगार का ऐसा वर्णन जो बिना किसी लज्जा और संकोच के सब के सामने पढ़ा जा सके, गोस्वामीजी का ही है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिये काफी है।

(२) **स्वामी अग्रदास**—रामानंदजी के शिष्य अनंतानंद और अनंतानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी थे। कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदासजी थे। इन्हीं अग्रदासजी के शिष्य भक्तमाल के रचयिता प्रसिद्ध नाभादासजी थे। गलता (राजपूताना) की प्रसिद्ध गद्दी का उल्लेख पहले हो चुका है[1]। वहीं ये भी रहा करते थे और संवत् १६३२ के लगभग वर्त्तमान थे। इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता है—

१—हितोपदेश उपखाणाँ बावनी।

२—ध्यानमंजरी।

३—रामध्यान-मंजरी।

४—कुंडलिया।

इनकी कविता उसी ढंग की है जिस ढंग की कृष्णोपासक नंददासजी की। उदाहरण के लिये यह पद्य देखिए—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनकों निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥

मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख-पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए॥

इनका एक पद भी देखिए—

पहरे राम तुम्हारे सोवत। मैं मतिमंद अंध नहिं जोवत॥
अपमारग मारग महि जान्यो। इंद्री पोषि पुरुपारथ मान्यो॥
औरनि के बल अनत प्रकार। अगरदास के राम अधार॥

१—देखो पृ० १२०।

(२) **नाभादासजी**—ये उपर्युक्त अग्रदासजी के शिष्य बड़े भक्त और साधुसेवी थे। ये संवत् १६५७ के लगभग वर्त्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदासजी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्तमाल संवत् १६४२ के पीछे बना और सं० १७६९ मे प्रियादासजी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ मे २०० भक्तों के चमत्कार-पूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे गए हैं। इन चरित्रो मे पूर्ण जीवनवृत्त नहीं है, केवल भक्ति की महिमा-सूचक बातें दी गई है। इसका उद्देश्य भक्तो के प्रति जनता में पूज्य-बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है। यह उद्देश्य बहुत अंशो मे सिद्ध भी हुआ। आज उत्तरीय भारत के गॉव गॉव मे साधुवेशधारी पुरुषो को शास्त्रज्ञ विद्वानो और पंडितों से कहीं बढ़कर जो सम्मान और पूजा प्राप्त है, वह बहुत कुछ भक्तों की करामातों और चमत्कारपूर्ण वृत्तांतों के सम्यक् प्रचार से।

नाभाजी को कुछ लोग डोम बताते है, कुछ क्षत्रिय। ऐसा प्रसिद्ध है कि वे एक बार गो० तुलसीदासजी से मिलने काशी गए। पर उस समय गोस्वामीजी ध्यान मे थे, इससे न मिल सके। नाभाजी उसी दिन वृंदावन चले गए। ध्यान-भंग होने पर गोस्वामीजी को बड़ा खेद हुआ और वे तुरंत नाभाजी से मिलने वृंदावन चल दिए। नाभाजी के यहॉ वैष्णवो का भंडारा था जिसमे गोस्वामीजी बिना बुलाए जा पहुँचे। गोस्वामीजी यह समझकर कि नाभाजी ने मुझे अभिमानी न समझा हो, सबसे दूर एक किनारे बुरी जगह बैठ गए। नाभाजी ने जान बूझकर इनकी ओर ध्यान न दिया। परसने के समय कोई पात्र न मिलता था जिसमें गोस्वामीजी को खीर दी जाती। यह देखकर गोस्वामीजी एक साधु का जूता उठा लाए और बोले, "इससे सुंदर पात्र मेरे लिये और क्या होगा?" इस पर नाभाजी ने उठकर उन्हें गले लगा लिया और गद्गद हो गए। ऐसा कहा जाता है कि तुलसी संबंधी अपने प्रसिद्ध छप्पय के अंत में पहले नाभाजी ने कुछ चिढ़कर यह चरण रखा था—"कलि कुटिल जीव तुलसी भए वालमीकि अवतार धरि।" यह वृत्तांत कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गोस्वामीजी खान-पान का विचार रखनेवाले स्मार्त्त वैष्णव थे। तुलसीदासजी के संबंध मे नाभाजी का प्रसिद्ध छप्पय यह है—

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि-परायन॥
अब भक्तन सुखदैन बहुरि लीला विस्तारी।
रामचरनरसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित वालमीकि तुलसी भयो॥

अपने गुरु अग्रदास के समान इन्होंने भी रामभक्ति-संबंधिनी कविता की है। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और पद्यरचना मे अच्छी निपुणता थी। रामचरित-संबंधी इनके पदों का एक छोटा सा संग्रह अभी थोड़े दिन हुए प्राप्त हुआ है।

इन पुस्तको के अतिरिक्त इन्होने दो 'अष्टयाम' भी बनाए—एक ब्रजभाषा-गद्य मे, दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयों मे। दोनो के उदाहरण नीचे दिए जाते है—

(गद्य)—तब श्री महाराजकुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।

(पद्य)—

अवधपुरी की सोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी॥
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन भावन॥
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुरबीस जोजन रस रूपा॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि। मनिमय तीरथ परम सुहावनि॥
बिगसे जलज, भृंग रसभूले। गुंजत जल समूह दोउ कूले॥
परिखा प्रति चहुँ दिसि लसति, कंचन कोट प्रकास।
विविध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास॥

(४) **प्राणचंद चौहान**—संस्कृत मे रामचरित-संबंधी कई नाटक हैं जिनमे कुछ तो नाटक के साहित्यिक नियमानुसार है और कुछ केवल संवाद-रूप मे होने के कारण नाटक कहे गए हैं। इसी पिछली पद्धति पर संवत् १६६७ मे इन्होंने रामायण महानाटक लिखा। रचना का ढंग नीचे उद्धृत अंश से ज्ञात हो सकता है—

कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर वारा॥
ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिलीपति थाना॥
संवत सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा॥
जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया॥
जेहि माया कह मुनि जगमूला। ब्रह्मा रहे कमल के फूला॥
निकसि न सक माया कर बाँधा। देषहु कमलनाल के राँधा॥
आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चार वेद गुन जोरि बषाना॥
तीनों गुन जानै संसारा। सिरजै पालै भंजनहारा॥
श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना॥
देषै सब पै आहि न आँषी। अंधकार चोरी के साषी॥
तेहि कर दहुँ को करै बषाना। जिहि कर मर्म वेद नहिं जाना॥
माया सींव भो कोउ न पारा। शंकर पँवरि बीच होइ हारा॥

(५) हृदयराम—ये पंजाब के रहनेवाले और कृष्णदास के पुत्र थे। इन्होने सवत् १६८० मे सस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा जिसकी कविता बड़ी सुंदर और परिमार्जित है। इसमे अधिकतर कवित्त और सवैयों में बड़े अच्छे सवाद है। पहले कहा जा चुका है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय की सारी प्रचलित काव्य पद्धतियो पर रामचरित का गान किया। केवल रूपक या नाटक के ढग पर उन्होने कोई रचना नहीं की। गोस्वामीजी के समय मे ही उनकी ख्याति के साथ साथ रामभक्ति की तरंगें भी देश के भिन्न भिन्न भागों मे उठ चली थीं। अतः उस काल के भीतर ही नाटक के रूप मे कई रचनाएँ हुई जिनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमन्नाटक हुआ।

नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक हाथ
दूजो न लगाऊँ, वार करौं एक कर को।
मीजि मारौं उर ते उखारि भुजदड, हाड़
तोरि डारौं वर अविलोकि रघुबर को॥

कासों राग द्विज को, रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत है धरको।
सीता को सँताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो,
को है वह आप चाप तोर्‍यो जित्त हार को॥

जानकी को मुख न बिलोक्यो ताते कुंडल
न जानत हौं, वीर पायँ छुवै रघुराइ के।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
ताते कंकन न देखे, बोल कह्यो सतभाइ के॥
पायँन के परिबे कौ जाते दास लछमन
यातें पहिचानत है भूपन जे पायँ के।
बिछुआ हैं एई, अरु झाँझ हैं एई जुग,
नूपर हैं तेई राम जानत जराइ के॥

सातों सिंधु, सातों लोक, सातों रिषि हैं ससोक,
सातों रवि-घोरे थोरे देखे न डरात मैं।
सातों दीप, सातों ईति काँप्योई करत और
सातों मत रात दिन्न प्रान है न गात मैं॥
सातों चिरजीव बरराइ उठे बार बार,
सातो सुर हाय हाय होत दिन रात मैं।
सातहूँ पताल काल सबद कराल, राम
भेदे सात ताल, चाल परी सात सात में॥

एहो हनू! कह्यौ श्री रघुबीर कछु सुधि है सिय की छिति माँही?
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँही॥
जीवति है? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराही?
प्रान बसै पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं॥

रामभक्ति का एक अंग आदि रामभक्त हनुमानजी की उपासना भी हुई। स्वामी रामानंदजी कृत हनुमानजी की स्तुति का उल्लेख हो चुका है। गोस्वामी

तुलसीदासजी ने हनुमानजी की वंदना बहुत स्थलों पर की है। 'हनुमानबाहुक' तो केवल हनुमानजी को ही संबोधन करके लिखा गया है। भक्ति के लिये किसी पहुँचे हुए भक्त का प्रसाद भी भक्तिमार्ग में अपेक्षित होता है। संवत् १६९६ में रायमल्ल पाँड़े ने 'हनुमच्चरित' लिखा। गोस्वामीजी के पीछे भी कई लोगों ने रामायणे लिखीं पर वे गोस्वामीजी की रचनाओं के सामने प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि रामभक्ति की और रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं। विक्रम की १९वीं और २०वीं शताब्दी में अयोध्या के महंत बाबा रामचरणदास, बाबा रघुनाथदास, रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह आदि ने रामचरित-संबंधी विस्तृत रचनाएँ कीं जो सर्वप्रिय हुईं। इस काल में रामभक्ति विषयक कविता बहुत कुछ हुई।

रामभक्ति की काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सब प्रकार की रचनाएँ हुईं, उसके द्वारा कई प्रकार की रचना-पद्धतियों को उत्तेजना मिली। कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीताकाव्य की ही पूर्ति की, पर रामचरित को लेकर अच्छे अच्छे प्रबंध काव्य रचे गए।

तुलसीदासजी के प्रसंग में यह दिखाया जा चुका है कि रामभक्ति में भक्ति का पूर्ण स्वरूप विकसित हुआ है। प्रेम और श्रद्धा अर्थात् पूज्यबुद्धि दोनों के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पड़ता है वहीं श्रद्धा टिकती है। धर्म ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है; उस स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास अखिल विश्व की स्थिति में मिलता है। पूर्ण भक्त व्यक्त जगत् के बीच सत् की इस सर्वशक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का, धर्म की इस मंगलमयी ज्योति के स्फुरण का, साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के प्रकाश में सत् के अनंत रूप सौंदर्य की भी मनोहर झाँकी उसे मिलती है। लोक में जब कभी वह धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से—उसकी खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अंधकार फाड़कर धर्म-ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है तब मानो

उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है। भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है तब 'आनंद' का आविर्भाव होता है और 'सदानंद' की अनुभूति होती है।

यह है उस सगुण भक्तिमार्ग का प्रकृत पक्ष जो भगवान् के अवतार को लेकर चलता है और जिसका पूर्ण विकास तुलसी की रामभक्ति मे पाया जाता है। 'विनयपत्रिका' मे गोस्वामीजी ने लोक मे फैले अधर्म, अनाचार, अत्याचार आदि का भीषण चित्र खींचकर भगवान् से अपना सत्स्वरूप, धर्मसंस्थापक स्वरूप, व्यक्त करने की प्रार्थना की है। उन्हे दृढ़ विश्वास है कि धर्म-स्वरूप भगवान् की कला का कभी न कभी दर्शन होगा। अतः वे यह भावना करके पुलकित हो जाते हैं कि सत्स्वरूप का लोकव्यक्त प्रकाश हो गया, रामराज्य प्रतिष्ठित हो गया और चारो ओर फिर मंगल छा गया।

> रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत-विजई है।
> समरथ बड़ो सुजान सुसाहब, सुकृत-सेन हारत जितई है॥

जो भक्ति-मार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा, धर्म से उसका लगाव न रह जायगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा। शृंगारोपासना, माधुर्य्यभाव आदि की ओर उसका झुकाव होता जायगा और धीरे धीरे उसमें 'गुह्य, रहस्य' आदि का भी समावेश होगा। परिणाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता और इंद्रियासक्ति की स्थापना होगी। कृष्णभक्ति-शाखा कृष्ण भगवान् के धर्मस्वरूप को—लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को—छोड़कर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणा भक्ति की सामग्री लेकर चली। इससे धर्म-सौंदर्य के आकर्षण से वह दूर पड़ गई। तुलसीदासजी ने भक्ति को अपने पूर्ण रूप मे, श्रद्धा-प्रेम समन्वित रूप मे, सबके सामने रखा और धर्म या सदाचार को उसका नित्य-लक्षण निर्धारित किया।

अत्यंत खेद की बात है कि इधर कुछ दिनो से एक दल इस रामभक्ति को भी शृंगारी भावनाओं मे लपेटकर विकृत करने मे जुट गया है। तुलसीदासजी के प्रसंग मे हम दिखा आए हैं कि कृष्णभक्त सूरदासजी की शृंगारी रचना का कुछ अनुकरण गोस्वामीजी की 'गीतावली' के उत्तरकांड मे दिखाई पड़ता है, पर वह केवल आनंदोत्सव तक रह गया है। इधर आकर कृष्णभक्ति-शाखा

का प्रभाव बहुत बढ़ा। विषय-वासना की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण कुछ दिनों से रामभक्ति-मार्ग के भीतर भी शृंगारी भावना का अनर्गल प्रवेश हो रहा है। इस शृंगारी भावना के प्रवर्त्तक थे रामचरितमानस के प्रसिद्ध टीकाकार जानकी घाट (अयोध्या) के रामचरणदासजी, जिन्होने पति-पत्नी-भाव की उपासना चलाई। इन्होने अपनी शाखा का नाम 'स्वसुखी' शाखा रखा। स्त्री-वेष धारण करके पति 'लाल साहब' (यह खिताब राम को दिया गया है) से मिलने के लिये सोलह शृंगार करना, सीता की भावना सपत्नी रूप मे करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए। रामचरणदासजी ने अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक नवीन कल्पित ग्रंथ प्राचीन बताकर अपनी शाखा मे फैलाए, जैसे—लोमश सहिता, हनुमत्सहिता, अमर रामायण, भुशुडी रामायण, महारामायण (५ अध्याय), कोशलखंड, रामनवरत्न, महारासोत्सव सटीक (सं० १६०४ प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ मे छपा)।

'कोशल खंड' में राम की रासलीला, विहार आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किए गए हैं और कहा गया है कि रासलीला तो वास्तव मे राम ने की थी। रामावतार में ६६ रास वे कर चुके थे। एक ही शेष था जिसके लिये उन्हें फिर कृष्ण रूप में अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार विलास क्रीड़ा में कृष्ण से कहीं अधिक राम को बढ़ाने की होड़ लगाई गई। गोलोक मे जो नित्य रासलीला होती रहती है उससे कहीं बढ़कर साकेत मे हुआ करती है। वहाँ की नर्तकियो की नामावली में रंभा, उर्वशी आदि के साथ साथ राधा और चंद्रावली भी गिना दी गई हैं।

रामचरणदास की इस शृंगारी उपासना में चिरान-छपरा के जीवारामजी ने थोड़ा हेरफेर किया। उन्होने पति-पत्नी-भाव के स्थान पर 'सखीभाव' रखा और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। इस 'सखीभाव' की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला (अयोध्या) वाले युगलानन्य-शरण ने किया। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इन्हें बहुत मानते थे और इन्हीं की सम्मति से उन्होने चित्रकूट मे 'प्रमोदवन' आदि कई स्थान बनवाए। चित्रकूट की भावना वृंदावन के रूप में की गई और वहाँ के कुंज भी व्रज के से क्रीड़ाकुंज माने गए। इस रसिकपंथ का आजकल अयोध्या में बहुत जोर है

और वहाँ के बहुत से मंदिरों में अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं। इस पंथ के लोगों का उत्सव प्रति वर्ष चैत्र कृष्ण नवमी को वहाँ होता है। ये लोग सीता-राम को 'युगल सरकार' कहा करते है और अपना आचार्य्य 'कृपानिवास' नामक एक कल्पित व्यक्ति को बतलाते हैं जिसके नाम पर एक 'कृपानिवास-पदावली' सं० १९०१ मे छपी (प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ)। इसमें अनेक अत्यंत अश्लील पद हैं, जैसे—

(१) नीबी करषत बरजति प्यारी।
रसलंपट संपुट कर जोरत, पद परसत पुनि लै बलिहारी॥
[पृ० १२८]

(२) पिय हँसि रस रस कंचुकि खोलैं।
चमकि निवारति पानि लाड़िली, मुरक मुरक मुख बोलैं।

ऐसी ही एक और पुस्तक 'श्रीरामावतार-भजन-तरंगिणी' इन लोगों की ओर से निकली है जिसका एक भजन देखिए—

हमारे पिय ठाढे सरजू तीर।
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के बीर॥
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर।
झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर॥

भगवान् राम के दिव्य पुनीत चरित्र के कितने घोर पतन की कल्पना इन लोगो के द्वारा हुई है, यह दिखाने के लिए इतना बहुत है। लोकपावन आदर्श का ऐसा बीभत्स विपर्य्यय देखकर चित्त क्षुब्ध हो जाता है। रामभक्ति-शाखा के साहित्य का अनुसंधान करनेवालो को सावधान करने के लिये ही इस 'रसिक शाखा' का यह थोड़ा सा विवरण दे दिया गया है। 'गुह्य' 'रहस्य', 'माधुर्य्य भाव' इत्यादि के समावेश से किसी भक्तिमार्ग की यही दशा होती है। गोस्वामीजी ने शुद्ध, सात्त्विक और खुले रूप मे जिस रामभक्ति का प्रकाश फैलाया था, वह इस प्रकार विकृत की जा रही है।

प्रकरण ५

कृष्णभक्ति-शाखा

श्रीवल्लभाचार्य्यजी—पहले कहा जा चुका है कि विक्रम की १५वीं और १६वी शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो आंदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रहा उसके श्री वल्लभाचार्यजी प्रधान प्रवर्त्तको मे से थे। आचार्य्यजी का जन्म संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को और गोलोकवास संवत् १५८७ आषाढ़ शुक्ल ३ को हुआ। ये वेदशास्त्र मे पारंगत धुरंधर विद्वान् थे।

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं सब का लक्ष्य शंकराचार्य्य के मायावाद और विवर्त्तवाद से पीछा छुड़ाना था जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्राति ही ठहरती थी। शकर ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म मे सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होने लीला के लिये ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश रूप जीवो में बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। वह अपने सत्, चित् और आनंद, इन तीनों स्वरूपो का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित् का आविर्भाव रहता है, पर आनद का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है; चित् और आनंद दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो सब दिव्य गुणो से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम-रूप मे रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुंठ' मे (जो विष्णु के वैकुंठ से ऊपर है) अनेक

प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। गोलोक इसी 'व्यापी वैकुंठ' का एक खंड है जिसमें नित्य रूप मे यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ है। भगवान् की इस 'नित्यलीला-सृष्टि' मे प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा। भक्ति की साधना के लिये वल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर जो महत्त्व की भावना मे मग्न करता है, केवल 'प्रेम' लिया। प्रेम-लक्षणा भक्ति ही उन्होने ग्रहण की। 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' में सूरदास की एक वार्त्ता के अंतर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को आनुषंगिक या सहायक कहा है—

"श्री आचार्य्य जी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप है ? माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सुदृढ़ स्नेह की तो परम काष्ठा है। स्नेह आगे भगवान् को रहत नाहीं ताते भगवान बेर बेर माहात्म्य जनावत है।.......................इन ब्रजभक्तन को स्नेह परमकाष्ठापन्न है। ताहि समय तो माहात्म्य रहे, पीछे विस्मृत होय जाय।"

प्रेम-साधना मे वल्लभ ने लोकमर्य्यादा और वेदमर्य्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान् का अनुग्रह होता है जिसे 'पोषण' या पुष्टि कहते हैं। इसी से वल्लभाचार्य्यजी ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टि मार्ग' रखा है।

उन्होंने जीव तीन प्रकार के माने हैं—(१) पुष्टि जीव, जो भगवान् के अनुग्रह का ही भरोसा रखते हैं और 'नित्यलीला' में प्रवेश पाते हैं; (२) मर्य्यादा जीव, जो वेद की विधियो का अनुसरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं और (३) प्रवाह जीव, जो संसार के प्रवाह मे पड़े सांसारिक सुखो की प्राप्ति मे ही लगे रहते है।

'कृष्णाश्रय' नामक अपने एक 'प्रकरण ग्रंथ' में वल्लभाचार्य्य ने अपने समय की अत्यंत विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमें उन्हे वेदमार्ग या मर्य्यादा-मार्ग का अनुसरण अत्यंत कठिन दिखाई पड़ा है। देश में मुसलमानी

साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था। हिंदुओ का एकमात्र स्वतंत्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था, पर बहमनी सुल-तानो के पड़ोस मे रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पडते थे। इसलामी संस्कार धीरे धीरे जमते जा रहे थे। सूफी पीरो के द्वारा सूफी-पद्धति की प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार-कार्य्य धूम से चल रहा था। एक ओर 'निर्गुन पंथ' के संत लोग वेद-शास्त्र की विधियो पर से जनता की आस्था हटाने मे जुटे हुए थे। अतः वल्लभाचार्य्य ने अपने 'पुष्टि मार्ग' का प्रवर्त्तन बहुत कुछ देश-काल देखकर किया।

वल्लभाचार्य्यजी के मुख्य ग्रंथ ये हैं—(१) पूर्व-मीमांसा भाष्य (२) उत्तरमीमांसा या ब्रह्मसूत्र भाष्य जो अणुभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शुद्धा-द्वैतवाद का प्रतिपादक यही प्रधान दार्शनिक ग्रंथ है (३) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका तथा सुबोधिनी टीका (४) तत्त्वदीपनिबंध तथा (५) सोलह छोटे छोटे प्रकरण-ग्रंथ। इनमे से पूर्व-मीमांसा भाष्य का बहुत थोड़ा सा अंश मिलता है। 'अणुभाष्य' आचार्य्यजी पूरा न कर सके थे। अतः अंत के डेढ़ अध्याय उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने लिखकर ग्रंथ पूरा किया। भागवत की सूक्ष्म टीका नहीं मिलती; सुबोधिनी का भी कुछ ही अंश मिलता है। प्रकरण-ग्रंथों मे 'पुष्टि-प्रवाह-मर्य्यादा' नाम की पुस्तक मूलचंद तुलसीदास तेलीवाला ने संपादित करके प्रकाशित कराई है।

रामानुजाचार्य्य के समान वल्लभाचार्य्य ने भी भारत के बहुत से भागो मे पर्य्यटन और विद्वानो से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अंत मे अपने उपास्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मे जाकर उन्होने अपनी गद्दी स्थापित की और अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का बड़ा भारी मंदिर निर्माण कराया तथा सेवा का बड़ा भारी मंडान बाँधा। वल्लभ-संप्रदाय मे जो उपासना-पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहण की गई उसमे भोग-राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। मंदिरो की प्रशंसा "केसर की चक्कियाँ चलैं हैं" कहकर होने लगी। भोग-विलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक-सेविकाओ पर कहाँ तक अच्छा पड़ सकता था। जनता पर

चाहे जो प्रभाव पड़ा हो पर उक्त गद्दी के भक्त शिष्यों ने सुंदर सुंदर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम-संगीत-धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को सरस और प्रफुल्ल किया। इस संगीत-धारा में दूसरे संप्रदायों के कृष्ण भक्तों ने भी पूरा योग दिया।

सब संप्रदायों के कृष्णभक्त भागवत मे वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिये कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना मे उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्मसंस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होने न समझी। भगवान् के धर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्णभक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदो की रचना मे ही लगे रहे। उनकी रचनाओ मे न तो जीवन के अनेक गंभीर पक्षो के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता आई। श्रीकृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खंड-काव्य, महाकाव्य आदि के लिये पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सबने गाई।

भागवतधर्म का उदय यद्यपि महाभारत-काल में ही हो चुका था और अवतारो की भावना देश मे बहुत प्राचीन काल से चली आती थी पर वैष्णवधर्म के सांप्रदायिक स्वरूप का संघटन दक्षिण मे ही हुआ। वैदिक परंपरा के अनुकरण पर अनेक संहिताएँ, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ इत्यादि तैयार हुए। श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्तिक्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य्य भाव का, रास्ता खुला। इसके प्रचार में दक्षिण के मंदिरों की देवदासी प्रथा विशेष रूप मे सहायक हुई। माता-पिता लड़कियों को मंदिरों में चढ़ा आते थे जहाँ उनका विवाह भी ठाकुरजी के साथ हो जाता था। उनके लिये मंदिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पति-रूप में विधेय थी। इन्हीं देवदासियो मे कुछ प्रसिद्ध भक्तिनें भी हो गई हैं।

दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध भक्तिन हो गई हैं जिनका जन्म संवत् ७७३ मे हुआ था। अंदाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ'

नामक पुस्तक में मिलते है। अंदाल एक स्थल पर कहती है—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नही बना सकती।" इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगी। रहस्यवादी सूफियो का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिनकी उपासना भी 'माधुर्य्य भाव' की थी। मुसलमानी जमानें में इन सूफियो का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। 'माधुर्य्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमे सूफियो के प्रभाव से 'आभ्यंतर मिलन', 'मूर्च्छा', 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनो पर सूफियों का प्रभाव पाया जाता है।

सूरदासजी—सूरदासजी का वृत्त "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" से केवल इतना ज्ञात होता है कि वे पहले गऊघाट (आगरे और मथुरा के बीच) पर एक साधु या स्वामी के स्वरूप मे रहा करते थे और शिष्य किया करते थे। गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी का मंदिर बन जाने के पीछे एक बार वल्लभाचार्य्यजी गऊघाट पर उतरे तब सूरदास उनके दर्शन को आए और उन्हें अपना बनाया एक पद गाकर सुनाया। आचार्य्यजी ने उन्हे अपना शिष्य किया और भागवत की कथाओं को गाने योग्य पदों मे करने का आदेश दिया। उनकी सच्ची भक्ति और पद रचना की निपुणता देख वल्लभाचार्य्यजी ने उन्हे अपने श्रीनाथजी के मंदिर की कीर्त्तन सेवा सौपी। इस मदिर को पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर सवत् १५७६ मे पूरा बनवा कर खड़ा किया था। मंदिर पूरा होने के ११ वर्ष पीछे अर्थात् संवत् १५८७ मे वल्लभाचार्य्यजी की मृत्यु हुई।

श्रीनाथजी के मंदिर निर्माण के थोड़ा ही पीछे सूरदासजी वल्लभ-संप्रदाय में आए, यह 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

"औरहु पद गाए तब श्रीमहाप्रभुजी अपने मन में विचारे जो श्रीनाथजी के यहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयो है, पर कीर्त्तन को मंडान नाहीं कियो है; तातें अब सूरदास को दीजिए।"

अतः संवत् १५८० के आस-पास सूरदासजी वल्लभाचार्य के शिष्य हुए होंगे और शिष्य होने के कुछ ही पीछे उन्हें कीर्त्तन सेवा मिली होगी। तब से वे

बराबर गोवर्द्धन पर्वत पर ही मंदिर की सेवा मे रहा करते थे, इसका स्पष्ट आभास 'सूरसारावली' के भीतर मौजूद है। तुलसीदास के-प्रसंग मे हम कह आए है कि भक्त लोग कभी कभी किसी ढंग से अपने को अपने इष्टदेव की कथा के भीतर डाल कर उनके चरणों तक अपने पहुँचने की भावना करते हैं[1]। तुलसी ने तो अपने को कुछ प्रच्छन्न रूप में पहुँचाया है, पर सूर ने प्रकट रूप में। कृष्ण-जन्म के उपरांत नंद के घर बराबर आनंदोत्सव हो रहे हैं। उसी बीच एक ढाढी आकर कहता है—

नंद जू मेरे मन आनंद भयो, हौं गोबर्द्धन तें आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो, मैं सुनिकै अति आतुर उठि धायो॥

×　　　　×　　　　×

जब तुम मदनमोहन करि टेरौं, यह सुनि कै घर जाउँ।
हौ तौं तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाउँ।

वल्लभाचार्य्यजी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ के सामने गोवर्द्धन की तलहटी के पारसौली ग्राम मे सूरदास की मृत्यु हुई, इसका पता भी उक्त 'वार्त्ता' से लगता है। गोसाईं विट्ठलनाथ की मृत्यु सं० १६४२ मे हुई। इसके कितने पहले सूरदास का परलोकवास हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

'सूरसागर' समाप्त करने पर सूर ने जो 'सूरसागर-सारावली' लिखी है उसमें अपनी अवस्था ६७ वर्ष की कही है—

गुरु-परसाद होत यह दरसन सरसठ वरस प्रवीन।

तात्पर्य यह कि ६७ वर्ष के कुछ पहले वे 'सूरसागर' समाप्त कर चुके थे। सूरसागर समाप्त होने के थोड़ा ही पीछे उन्होंने 'सारावली' लिखी होगी। एक और ग्रंथ सूरदास का 'साहित्य-लहरी' है, जिसमें अलंकारों और नायिका भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कूट पद हैं। इसका रचनाकाल सूर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

मुनि सुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुवल संवत्त पेख॥

१—देखो पृ० १३१।

इसके अनुसार संवत् १६०७ मे 'साहित्य-लहरी' समाप्त हुई। यह तो मानना ही पडेगा कि साहित्य-क्रीड़ा का यह ग्रंथ 'सूरसागर' से छुट्टी पाकर ही सूर ने संकलित किया होगा। उसके दो वर्ष पहले यदि 'सूरसारावली' की रचना हुई, तो कह सकते हैं कि सवत् १६०५ मे सूरदासजी ६७ वर्ष के थे। अब यदि उनकी आयु ८० या ८२ वर्ष की माने तो उनका जन्मकाल सं० १५४० के आसपास तथा मृत्युकाल सं० १६२० के आसपास ही अनुमित होता है।

'साहित्य-लहरी' के अंत में एक पद है जिसमे सूर अपनी वंशपरंपरा देते हैं। उस पद के अनुसार सूर पृथ्वीराज के कवि चंदबरदाई के वशज ब्रह्मभट्ट थे। चंदकवि के कुल में हरीचंद हुए जिनके सात पुत्रो मे सबसे छोटे सूरजदास या सूरदास थे[1]। शेष ६ भाई जब मुसलमानो से युद्ध करते हुए मारे गए तब अंधे सूरदास बहुत दिनो तक इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन वे कुएँ मे गिर पड़े और ६ दिन उसी मे पडे रहे। सातवे दिन कृष्ण भगवान् उनके सामने प्रकट हुए और उन्हे दृष्टि देकर अपना दर्शन दिया। भगवान् ने कहा कि दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मण-कुल द्वारा शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं मे निपुण होगा। इस पर सूरदास ने वर माँगा कि जिन आँखो से मैने आपका दर्शन किया उनसे अब और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। कुएँ से जब भगवान् ने उन्हें बाहर निकाला तब वे ज्यो के त्यो अंधे हो गए और ब्रज मे आकर भजन करने लगे। वहाँ गोसाइंजी ने उन्हे 'अष्ट-छाप' में लिया।

हमारा अनुमान है कि 'साहित्य-लहरी' में यह पद पीछे किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया है। यह पंक्ति ही

'प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें सत्रु ह्वैहै नास'

इसे सूर के बहुत पीछे की रचना बता रही है। 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल' से साफ पेशवाओ की ओर संकेत है। इसे खींचकर आध्यात्म-पक्ष की ओर मोड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है।

१—देखो पृ० ४५ पर चंद का वंशवृक्ष।

सारांश यह कि हमे सूरदास का जो थोड़ा सा वृत्त 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' में मिलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है। यह 'वार्त्ता' भी यद्यपि वल्लभाचार्य्यजी के पौत्र गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर उनकी लिखी नहीं जान पड़ती। इसमें कई जगह गोकुलनाथजी के श्रीमुख से कही हुई बातों का बड़े आदर और सम्मान के शब्दों में उल्लेख है और वल्लभाचार्य्यजी की शिष्या न होने के कारण मीराबाई को बहुत बुरा भला कहा गया है और गालियाँ तक दी गई हैं। रंगढग से यह वार्त्ता गोकुलनाथजी के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।

'भक्तमाल' मे सूरदास के संबंध में केवल एक यही छप्पय मिलता है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी॥
बिमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

इस छप्पय मे सूर के अंधे होने भर का संकेत है जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है।

जीवन का कोई विशेप प्रामाणिक वृत्त न पाकर इधर कुछ लोगो ने सूर के समय के आसपाम के किसी ऐतिहासिक लेख मे जहाँ कहीं सूरदास नाम मिला है वहीं का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे दो उल्लेख लोगो को मिले है—

(१) 'आईन अकबरी' मे अकबर के दरबार मे नौकर गवैयो, बीनकारो आदि कलावंतो की जो फिहरिस्त है उसमे बाबा रामदास और उनके बेटे सूरदास दोनो के नाम दर्ज हैं। उसी ग्रंथ में यह भी लिखा है कि सब कलावंतों की सात मंडलियाँ बना दी गई थीं। प्रत्येक मंडली सप्ताह मे एक बार दरबार मे हाजिर होकर बादशाह का मनोरंजन करती थी। अकबर संवत् १६१३ मे गद्दी पर बैठा। हमारे सूरदास संवत् १५८० के आसपास ही वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य

हो गए थे और उसके पहले भी विरक्त साधु के रूप मे गऊघाट पर रहा करते थे। इस दशा मे संवत् १६१३ के बहुत बाद दरबारी नौकरी करने कैसे पहुँचे ? अतः 'आईन अकबरी' के सूरदास और सूरसागर के सूरदास एक ही व्यक्ति नहीं ठहरते।

(२) 'मुंशियात अब्बुलफजल' नामक अब्बुलफजल के पत्रो का एक संग्रह है जिसमे बनारस के किसी संत सूरदास के नाम अब्बुलफजल का एक पत्र है। बनारस का करोड़ी इन सूरदास के साथ अच्छा बरताव नहीं करता था इससे उसकी शिकायत लिखकर इन्होने शाही दरबार मे भेजी थी। उसी के उत्तर मे अब्बुलफजल का पत्र है। बनारस के ये सूरदास बादशाह से इलाहाबाद मे मिलने के लिये इस तरह बुलाए गए हैं—

"हजरत बादशाह इलाहाबाद मे तशरीफ लाएँगे। उम्मीद है कि आप भी शर्फ मुलाजमात से मुशर्रफ होकर मुरीद हकीकी होगे और खुदा का शुक्र है कि हजरत भी आपको हक शिनास जानकर दोस्त रखते है।" (फारसी का अनुवाद)

इन शब्दो से ऐसी ध्वनि निकलती है कि ये कोई ऐसे सत थे जिनके अकबर के 'दीन इलाही' मे दीक्षित होने की सभावना अब्बुलफजल समझता था। संभव है कि ये कबीर के अनुयायी कोई सत हों। अकबर का दो बार इलाहाबाद जाना पाया जाता है। एक तो संवत् १६४० में, फिर संवत् १६६१ मे। पहली यात्रा के समय का लिखा हुआ भी यदि इस पत्र को माने तो भी उस समय हमारे सूर का गोलोकवास हो चुका था। यदि उन्हे तब तक जीवित माने तो वे १०० वर्ष के ऊपर रहे होगे। मृत्यु के इतने समीप आकर वे इन सब झमेलो में क्यों पड़ने जायँगे, या उनके 'दीन इलाही' मे दीक्षित होने की आशा कैसे की जायगी ?

श्रीवल्लभाचार्य्यजी के पीछे उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी गद्दी पर बैठे। उस समय तक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत से सुदर सुदर पदो की रचना कर चुके थे। इससे गोसाईं विट्ठलनाथजी ने उनमे से आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। 'अष्टछाप' के आठ कवि ये है—सूरदास, कुंभन-

दास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास।

कृष्णभक्ति-परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोकपक्ष का समावेश उसमे नहीं है। इन कृष्णभक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओ से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण है। बड़े बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले है वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फूला फिरता है। अतः इन कृष्णभक्त कवियो के संबंध मे यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव थे; तुलसीदासजी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमे न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषय-वासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियो ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियो से हिंदी-काव्य को भर दिया।

कृष्णचरित के गान मे गीत-काव्य की जो धारा पूरब मे जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलंबन व्रज के भक्त कवियो ने भी किया। आगे चलकर अलंकार काल के कवियो ने अपनी शृंगारमयी मुक्तक कविता के लिये राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया। इस प्रकार कृष्ण-संबंधिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र मे ही हुआ, प्रबंध क्षेत्र मे नहीं। बहुत पीछे संवत् १८०९ मे व्रजवासीदास ने रामचरितमानस के ढंग पर दोहा चौपाइयो मे प्रबंध काव्य के रूप मे कृष्णचरित वर्णन किया, पर ग्रंथ बहुत साधारण कोटि का हुआ और उसका वैसा प्रसार न हो सका। कारण स्पष्ट है। कृष्णभक्त कवियों ने

श्रीकृष्ण भगवान् के चरित का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये पर्याप्त न था। उसमे मानव-जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये आवश्यक है। कृष्णभक्त कवियों की परंपरा अपने इष्टदेव की केवल बाललीला और यौवनलीला लेकर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिये ही उपयुक्त थी। मुक्तक के क्षेत्र मे कृष्णभक्त कवियो तथा आलंकारिक कवियों ने शृंगार और वात्सल्य रसो को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया इसमे कोई संदेह नहीं।

पहले कहा गया है कि श्रीवल्लभाचार्य्यजी की आज्ञा से सूरदासजी ने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों मे गाया। इनके सूरसागर मे वास्तव में भागवत के दशम स्कंध की कथा ही ली गई है। उसी को इन्होने विस्तार से गाया है। शेष स्कधो की कथा संक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदो मे कह दी गई है। सूरसागर मे कृष्णजन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यंत विस्तार से फुटकल पदों मे गाई गई है। भिन्न भिन्न लीलाओं के प्रसंग लेकर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यत मधुर और मनोहर पदो की झड़ी सी बाँध दी है। इन पदों के सबध मे सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई व्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होनेवाली कवियो की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पडती हैं! अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

गीतो की परपरा तो सभ्य असभ्य सब जातियो मे अत्यत प्राचीन काल से चली आ रही है। सभ्य जातियो ने लिखित साहित्य के भीतर भी उनका समावेश किया है। लिखित रूप मे आकर इनका रूप पंडितो की काव्य-परंपरा की रूढ़ियो के अनुसार बहुत कुछ बदल जाता है। इससे जीवन के कैसे कैसे योग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आए हैं और भाषा की किन किन पद्धतियो पर वे अपने गहरे भावो की व्यजना करते आए हैं, इसका ठीक पता हमे बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतो से ही लग सकता है। किसी

देश की काव्यधारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमे चिरकाल से चले आते हुए इन्ही गीतों से मिल सकता है। घर घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतो मे शृंगार और करुण दोनो का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएँगे। इसी प्रकार आल्हा, कड़खा आदि पुरुषो के गीतो मे वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अंतर्वर्त्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक ठीक परिचय के लिये ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है। पर इस संग्रह-कार्य्य मे उन्ही का हाथ लगाना ठीक है जिन्हे भारतीय संस्कृति के मार्मिक स्वरूप की परख हो और जिनमे पूरी ऐतिहासिक दृष्टि हो।

स्त्रियों के बीच चले आते हुए बहुत पुराने गीतों को ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि उनमें स्वकीया के ही प्रेम की सरल गंभीर व्यंजना है। परकीया-प्रेम के जो गीत हैं वे कृष्ण और गोपिकाओ की प्रेम-लीला को ही लेकर चले हैं, इससे उनपर भक्ति या धर्म का भी कुछ रंग चढ़ा रहता है। इस प्रकार के मौखिक गीत देश के प्रायः सब भागो मे गाए जाते थे। मैथिल कवि विद्यापति (संवत् १४६०) की पदावली मे हमे उनका साहित्यिक रूप मिलता है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, सूर के शृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदो के तो भाव भी बिलकुल मिलते है ; जैसे—

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥

× × ×

भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त बिरह क बाधा॥
दुहु दिसि दारु दहन जइसे दगधइ, आकुल कीट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि बिद्यापति भान॥

इस पद का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझकर राधा के वियोग मे

'राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं। इस प्रकार अपनी सुध मे रहती हैं तब भी, नहीं रहती हैं तब भी, दोनो अवस्थाओ मे उन्हें विरह का ताप सहना पड़ता है। उनकी दशा उस लकड़ी के भीतर के कीडे की सी रहती है जिसके दोनों छोरो पर आग लगी हो। अब इसी भाव का सूर का यह पद देखिए—

सुनौ स्याम! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधौ ह्वै जाति, सकल तनु राधा-बिरह दहै॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥

(सूरसागर, पृ० ५६४, वेंकटेश्वर)

'सूरसागर' में जगह जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। 'सारंग' शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे है। विद्यापति की पदावली मे इसी प्रकार का एक कूट देखिए—

सारंग नयन, बयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग केलि करथि मधु पाने॥

पच्छिमी हिंदी बोलनेवाले सारे प्रदेशों मे गीतो की भाषा व्रज ही थी। दिल्ली के आस-पास भी गीत व्रजभाषा मे ही गाए जाते थे, यह हम खुसरो (संवत् १३४०) के गीतों मे दिखा आए है। कबीर (संवत् १५६०) के प्रसंग मे कहा जा चुका है कि उनकी 'साखी' की भाषा तो 'सधुक्कड़ी' है, पर पदो की भाषा काव्य में प्रचलित व्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनों की रचनाओ के भीतर ज्यो का त्यो मिलता है—

है हरिभजन को परवाँन। नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो, तिरे जल पाषान।
अधम भील, अजाति गनिका, चढे जात बिवाँन॥
नवलख तारा चलै मंडल, चलै ससहर भान।
दास धू कौं अटल पदवी राम को दीवान।

निगम जाकी साखि बोलैं कथैं संत सुजान।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवान॥
(कबीर ग्रंथावली, पृ० १९०)

है हरि-भजन को परमान। नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो जल तरै पाषान।
अजामिल अरु भील गनिका चढे जात विमान।
चलत तारे सकल मंडल, चलत ससि अरु भान।
भक्त ध्रुव को अटल पदवी राम को दीवान।
निगम जाको सुजस गावत, सुनत संत सुजान।
सूर हरि की सरन आयौ, राखि ले भगवान॥

(सूरसागर, पृ० १९, वेंकटेश्वर)

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश मे फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए—

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि-आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि वृंदाबन-चंद बस किए सुनत ही कानन॥

जिस प्रकार रामचरित गान करनेवाले भक्त कवियों मे गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गानेवाले भक्त कवियो मे महात्मा सूरदासजी का। वास्तव में ये हिंदी काव्य-गगन के सूर्य और चंद्र है। जो तन्मयता इन दोनों भक्तशिरोमणि कवियो की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियो मे कहाँ? हिंदी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ; इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया। सूर की स्तुति मे, एक संस्कृत श्लोक के भाव को लेकर यह दोहा कहा गया है—

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बल बीर।
केशव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमे जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि मे उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र मे जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नही। इन दोनों क्षेत्रो मे तो इस महाकवि ने मानो औरो के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमे बाल-सुलभ भावो और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमे रूपवर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं। दो चार चित्र देखिए—

(१) काहे को आरि करत मेरे मोहन! यों तुम आँगन लोटी?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिए छोटी॥

(२) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरै पैयाँ॥

(४) पाहुनि करि दै तनक मह्यो।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो॥
व्याकुल मथत मथनियाँ रीति, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

बालकों के स्वाभाविक भावो की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। 'स्पर्द्धा' का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद मे आया है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी?
कितिक बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के ये वचन देखिए—

खेलत में को काको गोसैयाँ ?
जाति पाँति हम तें कछु नाहि, न बसत तुम्हारी छैयाँ ?
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ॥

वात्सल्य के समान ही शृंगार के संयोग और वियोग दोनो पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि मे नहीं। गोकुल मे जब तक श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग-पक्ष है। दानलीला, माखनलीला, चीरहरण-लीला, रासलीला आदि न जाने कितनी लीलाओ पर सहस्रो पद भरे पड़े है। राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है, यही देखिए—

(क) करि ल्यौ न्यारी, हरि आपनि गैयाँ।
नहिं न बसात लाल कछु तुमसों सबै ग्वाल इक ठैयाँ

(ख) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढी ॥
मोहन कर तें धार चलति पय मोहनि-मुख अति ही छबि बाढ़ी।

शृंगार के अंतर्गत भावपक्ष और विभावपक्ष दोनो के अत्यंत विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। राधाकृष्ण के रूप-वर्णन मे ही सैकड़ो पद कहे गए हैं जिनमे उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं; जैसे—

देखि री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन ॥
रजिवदल इंदीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति ॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाय।
मानो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय ॥

नेत्रा प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं—

मेरे नैना बिरह की वेल बई।
सींचत नैन-नीर के, सजनी! मूल पतार गई।
बिगसति लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौ, सजनी! सब तन पसरि छई॥

आँख तो आँख, कृष्ण की मुरली तक में प्रेम के प्रभाव से गोपियों को ऐसी सजीवता दिखाई पडती है कि वे अपनी सारी प्रगल्भता उसे कोसने में खर्च कर देती हैं—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी! जदपि नँदनंदहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पायँ ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति।
आपुन पौढि अधर-सज्जा पर करपल्लव सों पद पलुटावति।
भ्रुकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोपि कँपावति॥

कालिंदी के कूल पर शरत् की चाँदनी में होनेवाले रास की शोभा का क्या कहना है, जिसे देखने के लिये सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनंद-छटा अपने बंद नेत्रों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरहसागर उमड़ा है उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वार-पार नहीं मिलता। वियोग की जितने प्रकार की दशाएँ हो सकती हैं सबका समावेश उसके भीतर है। कभी तो गोपियों को सध्या होने पर यह स्मरण आता है—

एहि बेरियाँ बन तें चलि आवते।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंवार बजावते॥

कभी वे अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल मे न होने के कारण वृंदावन के हरे-भरे पेड़ो को कोसती हैं—

मधुबन! तुम कत रहत हरे?
बिरह-बियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े क्यो न जरे?
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।

ससा स्यार और बन के पखेरू धिक धिक सबन करे ॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

परंपरा से चले आते हुए चंद्रोपालंभ आदि सब विषयों का विधान सूर के वियोग-वर्णन के भीतर है, कोई बात छूटी नहीं है।

सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते। बाललीला और प्रेमलीला दोनों के अंतर्गत कुछ दूर तक चलनेवाले न जाने कितने छोटे छोटे मनोरंजक वृत्तों की कल्पना सूर ने की है। जीवन के एक क्षेत्र के भीतर कथा-वस्तु की यह रमणीय कल्पना ध्यान देने योग्य है।

राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्णभक्ति की जो काव्यधारा चली उसमें लीलापक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रही है। उसमें केलि, विलास, रास, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियों आदि बाहरी बातों का ही विशेष वर्णन है। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है। वियोग-वर्णन में कुछ संचारियों का समावेश मिलता है, पर वे रूढ़ और परंपरागत हैं, उनमें नूतन उद्भावना बहुत थोड़ी पाई जाती है। भ्रमरगीत के अंतर्गत अलबत्त सूर ने आभ्यंतर पक्ष का भी विस्तृत उद्घाटन किया है। प्रेमदशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों के वचनों द्वारा होती है।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश 'भ्रमरगीत' है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ-काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग-कथा द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियाँ उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं। उद्धव के बहुत बकने पर वे कहती हैं—

ऊधौ ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहति हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी ॥

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्तशिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से—हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्क पद्धति पर नहीं—किया है। सगुण निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए है जिससे संवाद मे बहुत रोचकता आ गई है। भागवत में यह प्रसंग नहीं है। सूर के समय मे निर्गुण संत संप्रदाय की बाते जोर शोर से चल रही थीं। इसी से उपयुक्त स्थल देखकर सूर ने इस प्रसंग का समावेश कर दिया। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोककर इस प्रकार पूछती है—

निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर हँसि समुझाय; सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।

और कहती है कि चारो ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करके तू क्यो व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर यो ही बक बक करता है।

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई संबंध हो सकता है, यह तो बताओ—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत?
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत?
सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यौं तुमको सोउ मोहत?

अंत मे वे यह कहकर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमे कृष्ण के अवगुणो मे ही अधिक रस जान पड़ता है—

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर श्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥

(२) नंददास—ये सूरदासजी के प्रायः समकालीन थे और इनकी गणना अष्टछाप मे है। इनका कविता-काल सूरदासजी की मृत्यु के पीछे संवत् १६२५

या उसके और आगे तक माना जा सकता है। इनका जीवन-वृत्त पूरा पूरा और ठीक ठीक नहीं मिलता। नाभाजी के भक्तमाल मे इन पर जो छप्पय है उसमे जीवन के संबंध मे इतना ही है—

चंद्रहास-अग्रज सुहृद परम-प्रेम-पथ में पगे।

इससे इतना ही सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था। इनके गोलोकवास के बहुत दिनों पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी के नाम से जो "दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता" लिखी गई उसमें इनका थोड़ा सा वृत्त दिया गया है। उक्त वार्ता मे नंददासजी तुलसीदासजी के भाई कहे गए है। गोकुलनाथजी का अभिप्राय प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदासजी से ही है, यह पूरी वार्त्ता पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। उसमे स्पष्ट लिखा है कि नंददासजी का कृष्णोपासक होना राम के अनन्य भक्त उनके भाई तुलसीदासजी को अच्छा नहीं लगा और उन्होने उलाहना लिखकर भेजा। यह वाक्य भी उसमें आया है—"सो एक दिन नंददासजी के मन मे ऐसी आई। जैसे तुलसीदासजी ने रामायण भाषा करी है सो हम हूँ श्रीमद्भागवत भाषा करे।" गोस्वामीजी का नंददास के साथ वृंदावन जाना और वहाँ "तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेव हाथ" वाली घटना भी उक्त वार्त्ता मे ही लिखी है। पर गोस्वामीजी का नंददासजी से कोई संबंध न था, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। अतः उक्त वार्त्ता की बातो को, जो वास्तव में भक्तो का गौरव प्रचलित करने और वल्लभाचार्य्यजी की गद्दी की महिमा प्रकट करने के लिये पीछे से लिखी गई हैं, प्रमाण-कोटि मे नहीं ले सकते।

उसी वार्त्ता में यह भी लिखा है कि द्वारका जाते हुए नंददासजी सिंधुनद ग्राम मे एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस स्त्री के घर के चारों ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवाले हैरान होकर कुछ दिनो के लिये गोकुल चले गए। वहाँ भी ये जा पहुँचे। अंत मे वहीं पर गोसाइं विट्ठलनाथजी के सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये अनन्य भक्त हो गए। इस कथा मे ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इन्होने गोसाईं विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। ध्रुवदासजी ने भी अपनी 'भक्त-नामावली' मे इनकी भक्ति की प्रशसा के अतिरिक्त और कुछ नही लिखा है।

अष्टछाप मे सूरदास जी के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है। इनके संबंध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया"। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रास-पंचाध्यायी' है जो रोला छंदों मे लिखी गई है। इसमे, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि-युक्त साहित्यिक भाषा मे विस्तार के साथ वर्णन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय लिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है, पर नददासजी में ये बाते पूर्ण रूप मे पाई जाती है। "रास-पचाध्यायी" के अतिरिक्त इन्होने ये पुस्तकें लिखी हैं—

भागवत दशमस्कध, रुक्मिणी मंगल, सिद्धात पंचाध्यायी, रूपमजरी, रस-मंजरी, मानमंजरी, विरह-मंजरी, नामचिंतामणिमाला, अनेकार्थनाममाला (कोष), ज्ञानमंजरी, दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी, श्यामसगाई, भ्रमरगीत और सुदामाचरित। दो ग्रथ इनके लिखे और कहे जाते है—हितोपदेश और नासिकेत-पुराण (गद्य मे)। दो सौ से ऊपर इनके फुटकल पद भी मिले हैं। जहाँ तक ज्ञात है, इनकी चार पुस्तकें ही अब तक प्रकाशित हुई हैं—रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थमंजरी और अनेकार्थनाममाला। इनमें रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत ही प्रसिद्ध है, अतः उनसे कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

(रासपंचाध्यायी से)

ताही छिन उडुराज उदित रस-रास-सहायक।
कुंकुम-मंडित-बदन प्रिया जनु नागरि-नायक॥
कोमल किरन अरुन मानो बन व्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यो फागु घुमडि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥
फटिक-छटा सी किरन कुंज-रंध्रन जब आई।
मानहुँ वितत बितान सुदेस तनाव तनाई॥
तब लीनो कर कमल योगमाया सी मुरली।
अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली॥

(भ्रमरगीत से)

कहन स्याम-संदेस एक मैं तुम पै आयो।
कहन समय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायो॥

सोचत ही मन में रह्यो, कब पाऊँ इक ठाउँ ।
कहि सँदेस नँदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउँ ।।
सुनौ ब्रजनागरी ।

जौं उनके गुन होय, वेद क्यों नेति बखानै ।
निरगुन सगुन आतमा-रुचि ऊपर सुख सानै ।।
वेद पुराननि खोजि कै पायो कतहुँ न एक ।
गुन ही के गुन होहि तुम, कहौ अकासेहि टेक ।।
सुनौ ब्रजनागरी ।

जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें ?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें ?
वा गुन को परछाँह री माया-दरपन बीच ।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच ।।
सखा सुनु श्याम के ।

(३) कृष्णदास—ये भी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य और अष्टछाप मे थे । यद्यपि ये शूद्र थे पर आचार्य्यजी के बड़े कृपापात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गए थे । "चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता" मे इनका कुछ वृत्त दिया हुआ है । एक बार गोसाईं विट्ठलनाथजी से किसी बात पर अप्रसन्न होकर इन्होने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी । इस पर गोसाईं विट्ठलनाथजी के कृपापात्र महाराज बीरबल ने इन्हे कैद कर लिया । पीछे गोसाईंजी इस बात से बड़े दुखी हुए और इनको कारागार से मुक्त कराके प्रधान के पद पर फिर ज्यो का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया । इन्होने भी और सब कृष्णभक्तों के समान राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार-रस के ही पद गाए हैं । जुगलमान-चरित्र नामक इनका एक छोटा सा ग्रंथ मिलता है । इसके अतिरिक्त इनके बनाए दो ग्रंथ और कहे जाते हैं—भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण । फुटकल पदो के संग्रह इधर उधर मिलते हैं । सूरदास और नंददास के सामने इनकी कविता साधारण कोटि की है । इनके कुछ पद नीचे दिए जाते है—

तरनि-तनया-तट आवत है प्रात समय,
कंदुक खेलत देख्यो आनंद को कँदवा ।।
नुपूर पद कुनित, पीतांबर कटि बाँधे,
लाल उपरना, सिर मौरन के चँदवा ।।

कंचन मनि मरकत रस ओपी ।
नदसुवन क संगम सुखकर अधिक विराजति गोपी ॥
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित सुरत-धुजा सुख रोपी ॥
वदन कांति कै सुनु री भामिनी ! सघन चंद-श्री लोपी ॥
प्राननाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगम कोपी ॥
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हें, प्रेमपुंज की चोपी ॥

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यो ।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो ॥
सजल स्याम-घन-बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो ।
कृष्णदास किए प्रान निछावर, यह तन जग-सिर पटक्यो ॥

कहते हैं कि इसी अंतिम पद को गाकर कृष्णदासजी ने शरीर छोड़ा था। इनका कविता-काल संवत् १६०० के आगे पीछे माना जा सकता है।

(४) **परमानंददास**—ये भी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य और अष्टछाप मे थे। ये संवत् १६०६ के आसपास वर्त्तमान थे। इनका निवासस्थान कन्नौज था। इसी से ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण अनुमान किए जाते हैं। ये अत्यत तन्मयता के साथ बड़ी ही सरस कविता करते थे। कहते है कि इनके किसी एक पद को सुनकर आचार्य्यजी कई दिनो तक तन बदन की सुध भूले रहे। इनके फुटकल पद कृष्णभक्तो के मुँह से प्रायः सुनने मे आते हैं। इनके ८३५ पद 'परमानंद सागर' मे है। दो पद देखिए—

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छायँ।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय वलाय ॥

राधे जू हारावलि टूटी ।
उरज कमलदल माल मरगजी, बाम कपोल अलक लट छूटी ।

वर उर उरज करज बिच अंकित, बाहु जुगल बलयावलि फूटी।
कंचुकि चीर विविध रँग रंजित गिरधर-अधर-माधुरी घूँटी॥
आलस-वलित नैन अनियारे, अरुन उनींदे रजनी खूटी।
परमानंद प्रभु सुरति समय रस मदन-नृपति की सेना लूटी॥

(५) **कुंभनदास**—ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और परमानंददासजी के ही समकालीन थे। ये पूरे विरक्त और धन, मान, मर्य्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर इसका इन्हे बराबर खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है—

संतन को कहा सीकरी सो काम?
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरि-नाम॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम॥

इनका कोई ग्रथ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते है। विषय वही कृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला—

तुम नीके दुहि जानत गैया।
चलिए कुँवर रसिक मनमोहन लगौं तिहारे पैयाँ॥
तुमहि जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया।
निकटहि है यह खरिक हमारो, नागर लेहुँ बलैया॥
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँव्यो सुँदरैया।
कुंभनदास प्रभु मानि लई रति गिरि-गोबरधन-रैया॥

(६) **चतुर्भुजदास**—ये कुंभनदास जी के पुत्र और गोसाईं विट्ठल-नाथजी के शिष्य थे। ये भी अष्टछाप के कवियो मे हैं। इनकी भाषा चलती और सुव्यवस्थित है। इनके बनाए तीन ग्रंथ मिले हैं—द्वादशयश, भक्ति-प्रताप, हितजू को मंगल।

इनके अतिरिक्त फुटकल पदो के संग्रह भी इधर उधर पाए जाते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है—

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात ॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात ।
जौ बरजौं तो आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात ॥
और अटपटी कहँ लौं बरनौं, छुवत पानि सो गात ।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात ॥

(७) **छीतस्वामी**—ये विट्ठलनाथजी के शिष्य और अष्टछाप के अंतर्गत थे। पहले ये मथुरा के एक सुसंपन्न पडा थे और राजा बीरबल ऐसे लोग इनके जजमान थे। पंडा होने के कारण ये पहले बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे, पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा लेकर परम शात भक्त हो गए और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। इनकी रचनाओं का समय सवत् १६१२ के इधर मान सकते हैं। इनके फुटकल पद ही लोगो के मुँह से सुने जाते है या इधर उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदों मे शृगार के अतिरिक्त व्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यंजना भी अच्छी पाई जाती है। 'हे बिधना तो सो अँचरा पसारि माँगौ जनम जनम दीजो याही व्रज बसिबो' पद इन्हीं का है। अष्टछाप के और कवियो की सी मधुरता और सरसता इनके पदों में पाई जाती है, देखिए—

भोर भए नवकुज-सदन तें आवत लाल गोवर्द्धनधारी ।
लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ॥
बिनु-गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वैजचंद अनुहारी ।
छीतस्वामि जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी ॥

(८) **गोविंदस्वामी**—ये अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे जो विरक्त की भाँति आकर महावन मे रहने लगे थे। पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदो से प्रसन्न होकर इन्हे अष्टछाप में लिया। ये गोवर्द्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही इन्होंने कदंबो का एक अच्छा उपवन लगाया था जो अब तक "गोविंदस्वामी की कदंब-खंडी" कहलाता है। इनका रचना-काल संवत् १६०० और १६२५ के भीतर ही माना जा सकता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैए भी थे। तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिये आया करते थे। इनका बनाया एक पद दिया जाता है—

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर सुत को उबटि न्हवावति।
करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि रचि पाग बनावति॥
छुटे बंद बागे अति सोभित, बिच बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु कि छबि कछु कहति न आवति॥
विबिध कुसुम की माला उर धरि श्री कर मुरली बेंत गहावति।
लै दरपन देखे श्रीमुख को, गोविंद प्रभु चरननि सिर नावति॥

(९) हितहरिवंश—राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाईं हितहरिवंश का जन्म संवत् १५५९ मे मथुरा से ४ मील दक्षिण बादगाँव मे हुआ था। राधावल्लभी संप्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने जन्म संवत् १५३० माना है, जो सब घटनाओ पर विचार करने से ठीक नहीं जान पड़ता। ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्रीहरिराम व्यासजी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। हितहरिवंशजी गौड ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था।

कहते हैं हितहरिवंशजी पहले माध्वानुयायी गोपालभट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हे स्वप्न मे राधिकाजी ने मंत्र दिया और इन्होने अपना एक अलग संप्रदाय चलाया। अतः हित सप्रदाय को माध्व संप्रदाय के अंतर्गत मान सकते हैं। हितहरिवशजी के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रो के नाम बनचंद्र, कृष्ण-चंद्र, गोपीनाथ और मोहनलाल थे। गोसाईंजी ने संवत् १५८२ मे श्री राधा-वल्लभजी की मूर्ति वृंदावन मे स्थापित की और वही विरक्त भाव से रहने लगे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा-काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। १७० श्लोकों का "राधासुधानिधि" आप ही का रचा कहा जाता है। व्रजभाषा की रचना आपकी यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, पर है बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी। आपके पदो का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है क्योकि उसमे ८४ पद हैं। प्रेमदास की लिखी इस ग्रंथ की एक बहुत बड़ी टीका (५०० पृष्ठों की) व्रजभाषा गद्य मे है।

इनके द्वारा व्रजभाषा की काव्यश्री के प्रसार मे बड़ी सहायता पहुँची है। इनके कई शिष्य अच्छे अच्छे कवि हुए हैं। हरिराम व्यास ने इनके गोलोकवास पर बड़े चुभते पद कहे है। सेवकजी, ध्रुवदास आदि इनके शिष्य बड़ी सुंदर

रचना कर गए हैं। अपनी रचना की मधुरता के कारण हितहरिवंशजी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। इनका रचना-काल सवत् १६०० से संवत् १६४० तक माना जा सकता है। 'हित चौरासी' के अतिरिक्त इनकी फुटकल बानी भी मिलती है, जिसमें सिद्धात-सबधी पद्य है। इनके 'हित चौरासी' पर लोकनाथ कवि ने एक टीका लिखी है। वृंदावनदास ने इनकी स्तुति और वंदना मे "हितजी की सहस्रनामावली" और चतुर्भुजदासने 'हितजू को मगल' लिखा है। इसी प्रकार हितपरमानंदजी और व्रजजीवनदास ने इनकी जन्म-बधाइयाँ लिखी है। हितहरिवंशजो की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते है जिनसे इनकी वर्णन प्रचुरता का परिचय मिलेगा—

(सिद्धांत-संबंधी कुछ फुटकल पदों से)

रहौ कोउ काहू मनहिं दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तिन छिए॥
जो अवतार-कदंब भजत है धरि दृढ व्रत जु हिए।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा बन बिहार रस पिए॥
खोए रतन फिरत जे घर घर कौन काज इमि जिए?
हितहरिवंस अनत सचु नाही बिन या रसहिं पिए॥

(हित-चौरासी से)

ब्रज नव तरुनि कदब मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अँग अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कबरी गूथित कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर बिधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भ्रुकुटि काम-कोदंड, नैन शर, कज्जल-रेख अनी॥
भाल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, पीतम-मन-समनी॥
हितहरिवंस प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर विश्व-दुरित-दवनी॥

विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि रुचि
स्याम स्यामा मिले सरद की जामिनी।
हृदय अति फूल, रसमूल पिय नागरी
कर निकर मत्त मनु विविध गुन रागिनी॥
सरस गति हास परिहास आवेस बस
दलित दल मदन बल कोक रस जामिनी।
हितहरिवंस सुनि लाल लावन्य भिदे
प्रिया अति सूर सुख-सुरत संग्रामिनी॥

(१०) **गदाधर भट्ट**—ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके जन्म-संवत् आदि का ठीक-ठीक पता नहीं। पर यह बात प्रसिद्ध है कि ये श्री चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। इनका समर्थन भक्तमाल की इन पंक्तियों से भी होता है—

भागवत सुधा बरखै बदन, काहू को नाहिंन दुखद।
गुण-निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद॥

श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव संवत् १५४२ मे और गोलोकवास १५८४ में माना जाता है। अतः संवत् १५८४ के भीतर ही आपने श्री महाप्रभु से दीक्षा ली होगी। महाप्रभु के जिन छः विद्वान् शिष्यों ने गौड़ीय संप्रदाय के मूल संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी उनमें जीव गोस्वामी भी थे। वे वृंदावन में रहते थें। एक दिन दो साधुओ ने जीव गोस्वामी के सामने गदाधर भट्टजी का यह पद सुनाया—

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै, सखि, नेकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अँखियनि में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।
गाय चरावन जात सुन्यो, सखि, सो धौं कन्हैया कौन?
कासों कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद?
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगे तें गुर-स्वाद?

इस पद को सुन जीव गोस्वामी ने भट्टजी के पास यह श्लोक लिख भेजा—

अनाराध्य राधा-पदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृंदाटवीं तत्पदाङ्कम् ।
असम्भाव्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुतःश्यामासन्धोः रसस्यावगाहः॥

यह श्लोक पढ़कर भट्टजी मूर्च्छित हो गए। फिर सुध आने पर सीधे वृंदा बन में जाकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य हुए। इस वृत्तात को यदि ठीक माने तो इनकी रचनाओं का आरंभ १५८० से मानना पड़ता है और अंत संवत् १६०० के पीछे। इस हिसाब से इनकी रचना का प्रादुर्भाव सूरदासजी के रचनाकाल के साथ साथ अथवा उससे भी कुछ पहले से मानना होगा।

संस्कृत के चूड़ांत पंडित होने के कारण शब्दो पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद-विन्यास बहुत ही सुंदर है। गोस्वामी तुलसीदासजी के समान इन्होंने संस्कृत पदो के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा-कविता भी की है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

जयति श्रीराधिके, सकल-सुख-साधिके,
तरुनि-मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्णतन-लीन-मन, रूप की चातकी,
कृष्ण-मुख हिम-किरन की चकोरी॥
कृष्ण-दृग-भृंग विश्राम हित पद्मिनी,
कृष्ण - दृग - मृगज - बंधन सुडोरी।
कृष्ण -अनुराग - मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण - गुण - गान - रससिंधु बोरी॥
विमुख पर चित्त तें चित्त जाको सदा,
करति निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बनै,
अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी॥

झूलति नागरि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल॥

फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल ।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छबि प्रकट भई तिहि काल ॥
सिलसिलात अति प्रिया सीस तें लटकति बेनी भाल ।
जनु पिय-मुकुट-बरहि-भ्रम वस तहँ व्याल विकल विहाल ॥
मल्लीमाल प्रिया के उर की, पिय तुलसीदल माल ।
जनु सुरसरि रवितनया मिलिकै सोभित श्रेनि-मराल ॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छबि सोभा बिसद विशाल ।
निरखि गदाधर रसिककुँवरि मन पर्‌यो सुरस-जंजाल ॥

(११) **मीराबाई**—ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा-कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था। ये आरंभ ही से कृष्णभक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के उपरांत थोड़े दिनों में इनके पति का परलोकवास हो गया। ये प्रायः मंदिर में जाकर उपस्थित भक्तों और संतों के बीच श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्त्ति के सामने आनंद-मग्न होकर नाचती और गाती थीं। कहते हैं कि इनके इस राजकुलविरुद्ध आचरण से इनके स्वजन लोकनिंदा के भय से रुष्ट रहा करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि इन्हें कई बार विष देने का प्रयत्न किया गया, पर भगवत्कृपा से विष का कोई प्रभाव इनपर न हुआ। घरवालों के व्यवहार से खिन्न होकर ये द्वारका और वृंदावन के मंदिरों में घूम घूमकर भजन सुनाया करती थीं। जहाँ जातीं वहाँ इनका देवियों का सा सम्मान होता। ऐसा प्रसिद्ध है कि घरवालों से तंग आकर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को यह पद लिखकर भेजा था—

स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषन दूषन-हरन गोसाईं ।
बारहिं बार प्रनाम करहु, अब हरहु सोक समुदाईं ॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाईं ।
साधु-संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाईं ॥
मेरे मात-पिता के सम हौ, हरिभक्तन्ह सुखदाईं ।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाईं ॥

इसपर गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका का यह पद लिखकर भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जौ फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौ॥

पर मीराबाई की मृत्यु द्वारका में संवत् १६०३ में हो चुकी थी। अतः यह जनश्रुति किसी की कल्पना के आधार पर ही चल पड़ी।

मीराबाई की उपासना 'माधुर्य' भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप मे करती थीं। पहले यह कहा जा चुका है कि इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य्य है[1]। इसी ढंग की उपासना का प्रचार सूफी भी कर रहे थे अतः उनका संस्कार भी इनपर अवश्य कुछ पड़ा। जब लोग इन्हे खुले मैदान मदिरो मे पुरुषो के सामने जाने से मना करते तब ये कहती कि 'कृष्ण के अतिरिक्त और पुरुष है कौन जिसके सामने मै लज्जा करूँ?' मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तो मे है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यासजी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है। इनके पद कुछ तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। पर सब में प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। इनके बनाए चार ग्रंथ कहे जाते हैं—नरसीजी का मायरा, गीत-गोविंद टीका, राग गोविंद, राग सोरठ के पद।

इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिए भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल॥

मन रे परसि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल-कोमल त्रिविध-ज्वाला-हरन ॥
जो चरन प्रहलाद परसे इंद्र-पदवी-हरन।
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों राखि अपनी सरन ॥
जिन चरन ब्रह्मांड भेंट्यो नखसिखौ श्री भरन।
जिन चरन प्रभु परस लीन्हें तरी गौतम-घरनि ॥
जिन चरन धारयो गोबरधन गरब-मघवा-हरन।
दास मीरा लाल गिरधर अगम तारन तरन ॥

(१२) **स्वामी हरिदास**—ये महात्मा वृंदावन मे निंबार्कमतांतर्गत टट्टी-संप्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय मे एक सिद्ध भक्त और संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। कविता-काल १६०० से १६१७ ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य्य तानसेन इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। यह प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह साधु के वेश मे तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिये गया था। कहते है कि तानसेन इनके सामने गाने लगे और उन्होने जान-बूझकर गाने मे कुछ भूल कर दी। इस पर स्वामी हरिदासजी ने उसी गान को शुद्ध करके गाया। इस युक्ति से अकबर को इनका गाना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। पीछे अकबर ने बहुत कुछ पूजा चढ़ानी चाही पर इन्होंने स्वीकृत न की। इनका जन्म-संवत् आदि कुछ ज्ञात नहीं, पर इतना निश्चित है कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे जैसा कि सहचरिसरनदासजी ने, जो इनकी शिष्यपरंपरा मे थे, लिखा है। वृंदाबन से उठकर स्वामी हरिदास जी कुछ दिन निधुवन मे रहे थे। इनके पद कठिन राग-रागिनियो मे गाने योग्य है, पढ़ने में कुछ कुछ उबड़-खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है, पर भाव उत्कृष्ट हैं। इनके पदों के तीन-चार संग्रह 'हरिदासजी के ग्रंथ,' 'स्वामी हरिदासजी के पद,' 'हरिदासजी की बानी' आदि नामो से मिलते हैं। एक पद देखिए—

ज्योंही ज्योंही तुम राखत हौ, त्योंही त्योंही रहियत हौं, हे हरि !
और अपरचै पाय धरौ सुतौ कहौ कौन के पैंड भरि ॥

जदपि हौं अपनो भायो कियो चाहौं, कैसे करि सकौं जौ तुम राखौ पकरि।
कहै हरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफाय रह्यो उड़िबे को कितोऊ करि॥

(१३) **सूरदास मदनमोहन**—ये अकबर के समय मे सँडीले के अमीन थे। जाति के ब्राह्मण और गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णव थे। ये जो कुछ पास मे आता प्रायः सब साधुओं की सेवा में लगा दिया करते थे। कहते है कि एक बार सँडीले तहसील की मालगुजारी के कई लाख रुपए सरकारी खजाने मे आए थे। इन्होंने सबका सब साधुओ को खिला पिला दिया और शाही खजाने मे कंकड़ पत्थरों से भरे संदूक भेज दिए जिनके भीतर कागज के चिट यह लिखकर रख दिए—

तेरह लाख सँडीले आए, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन आधी रातहि सटके॥

और आधी रात को उठकर कहीं भाग गए। बादशाह ने इनका अपराध क्षमा करके इन्हे फिर बुलाया, पर ये विरक्त होकर वृंदावन मे रहने लगे। इनकी कविता इतनी सरल होती थी कि इनके बनाए बहुत से पद सूरसागर मे मिल गए। इनकी कोई पुस्तक प्रसिद्ध नहीं। कुछ फुटकल पद लोगो के पास मिलते हैं। इनका रचनाकाल सवत् १५९० और १६०० के बीच अनुमान किया जाता है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

मधु के मतवारे स्याम! खोलौ प्यारे पलकैं?
सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं॥
सुर नर मुनि द्वार ठाढे, दरस- हेतु कलकैं।
नासिका के मोती सोहै बीच लाल ललकैं॥
कटि पीतांबर मुरली कर श्रवन कुंडल झलकै।
सूरदास मदनमोहन दरस दैहौ भल कै॥

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया॥
करत विनोद तरनि-तनया तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया।
यौं लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया॥

उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
सूर मदनमोहन बलि जोरी नँदनंदन वृषभानु-दुलरिया॥

(१८) श्री भट्ट—ये निंबार्क संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता-काल संवत् १६२५ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। इनकी कविता सीधी-सादी और चलती भाषा मे है। पद भी प्रायः छोटे-छोटे है। इनकी कृति भी अधिक विस्तृत नहीं है पर 'युगल शतक' नाम का इनका १०० पदो का एक ग्रंथ कृष्णभक्तो मे बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। 'युगल-शतक' के अतिरिक्त इनकी एक और छोटी सी पुस्तक 'आदि बानी' भी मिलती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब ये तन्मय होकर अपने पद गाने लगते थे तब कभी कभी उसी पद के ध्यानानुरूप इन्हे भगवान् की झलक प्रत्यक्ष मिल जाती थी। एक बार वे यह मलार गा रहे थे—

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामाजू की सुरँग चूनरी, मोहन को उपरैना॥

कहते हैं कि राधाकृष्ण इसी रूप मे इन्हे दिखाई पड़ गए और इन्होंने पद इस प्रकार पूरा किया—

स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि से घिरि आई जल-सेना॥

इनके 'युगल शतक' से दो पद उद्धृत किए जाते हैं—

ब्रजभूमि मोहनी मैं जानी।
मोहन कुंज, मोहन वृंदावन, मोहन जमुना-पानी॥
मोहन नारि सकल गोकुल की बोलति अमरित बानी।
श्रीभट के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी॥

बसौ मेरे नैननि में दोउ चंद।
गोर-बदनि वृषभानु-नंदिनी, स्यामबरन नँदनंद॥
गोलक रहे लुभाय रूप में निरखत आनँदकंद।
जय श्रीभट्ट प्रेमरस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद॥

(१५) व्यासजी—इनका पूरा नाम हरीराम व्यास था और ये ओरछा के रहनेवाले सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे। ओरछानरेश मधुकरसाह के ये राजगुरु थे। पहले ये गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे, पीछे हितहरिवंशजी के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए। इनका काल संवत् १६२० के आसपास है। पहले ये संस्कृत के शास्त्रार्थी पंडित थे और सदा शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार रहते थे। एक बार वृंदावन मे जाकर गोस्वामी हितहरिवंशजी को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। गोसाईंजी ने नम्र भाव से यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनै सचु पायो।
जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥

यह पद सुन व्यासजी चेत गए और हितहरिवंशजी के अनन्य भक्त हो गए। उनकी मृत्यु पर इन्होने इस प्रकार अपना शोक प्रकट किया—

हुतो रस रसिकन को आधार।
बिन हरिबंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार?
को राधा दुलरावै गावै, बचन सुनावै चार?
वृंदाबन की सहज माधुरी, कहिहै कौन उदार?
पद-रचना अब कापै ह्वैहै? निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग अनन्य सभा को, उठिगो ठाट सिंगार॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत सहज रूप-आगार।
व्यास एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूठी थार॥

जब हितहरिवंशजी से दीक्षा लेकर व्यासजी वृंदावन मे ही रह गए तब महाराज मधुकरसाह इन्हें ओरछा ले जाने के लिये आए, पर ये वृंदावन छोड़कर न गए और अधीर होकर इन्होंने यह पद कहा—

वृंदाबन के रूख हमारे मात पिता सुत बंध।
गुरु गोविंद साधुगति मति सुख, फल फूलन की गंध॥
इनहिं पीठि दै अनत डीठि करै सो अंधन में अंध।
व्यास इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै ताको परियो कंध॥

इनकी रचना परिमाण में भी बहुत विस्तृत है और विषय-भेद के विचार से भी अधिकांश कृष्णभक्तों की अपेक्षा व्यापक है। ये श्रीकृष्ण की बाललीला और शृंगारलीला में लीन रहने पर भी बीच-बीच में संसार पर भी दृष्टि डाला करते थे। इन्होंने तुलसीदासजी के समान खलों, पाखंडियों आदि का भी स्मरण किया है और रसगान के अतिरिक्त तत्त्व-निरूपण में भी ये प्रवृत्त हुए हैं। प्रेम को इन्होंने शरीर-व्यवहार से अलग 'अतन', अर्थात् मानसिक या आध्यात्मिक वस्तु कहा है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों पर बहुत से पद और साखियाँ इनकी मिलती हैं। इन्होंने एक 'रास पंचाध्यायी' भी लिखी है जिसे लोगों ने भूल से सूरसागर में मिला लिया है। इनकी रचना के थोड़े से उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

आज कछु कुंजन में बरषा सी।
बादल-दल में देखि सखी री! चमकति है चपला सी॥
नान्हीं-नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी।
मंद-मंद गरजनि सी सुनियतु, नाचति मोर-सभा सी॥
इंद्रधनुष बगपंगति डोलति, बोलति कोककला सी।
इंद्रबधू छबि छाइ रही मनु, गिरि पर अरुन-घटा सी॥
उमगि महीरुह स्यों महि फूली भूली मृगमाला सी।
रटति प्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी॥

सुघर राधिका प्रवीन बीना, बर रास रच्यो,
स्याम संग वर सुढंग तरनि-तनया तीरे।
आनँदकंद वृंदावन सरद मंद मंद पवन,
कुसुमपुंज तापदवन, धुनित कल कुटीरे॥
रुनित किंकनी सुचारु, नूपुर तिमि वलय हारु,
अंग वर मृदंग ताल तरल रंग भीरे।
गावत अति रंग रह्यो, मोपै नहिं जात कह्यो,
व्यास रसप्रवाह बह्यो निरखि नैन सीरे॥

(साखी) व्यास न कथनी काम की, करनी है इक सार।
भक्ति बिना पंडित वृथा ज्यों खर चंदन-भार॥
अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोर।
ज्यों त्यों सबको सेइबो एकै नंदकिसोर॥
प्रेम अतन या जगत में जानै बिरला कोय।
व्यास सतन क्यो परसिहै पचि हाऱ्यो जग रोय॥
सती, सूरमा संत जन इन समान नहिं और।
अगम पंथ पै पग धरै, डिगे न पावैं ठौर॥

(१६) **रसखान**—ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होने 'प्रेम-वाटिका' में अपने को शाही खानदान का कहा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा-बंस की ठसक छोड़ि रसखान॥

संभव है पठान बादशाहों की कुलपरंपरा से इनका संबंध रहा हो। ये बड़े भारी कृष्णभक्त और गोस्वामी विट्ठलनाथजी के बडे कृपापात्र शिष्य थे। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता" मे इनका वृत्तात आया है। उक्त वार्त्ता के अनुसार ये पहले एक बनिए के लड़के पर आसक्त थे। एक दिन इन्होने किसी को कहते हुए सुना कि भगवान् से ऐसा प्रेम करना चाहिए जैसे रसखान का उस बनिए के लड़के पर है। इस बात से मर्माहत होकर ये श्रीनाथजी को ढूँढ़ते ढूँढते गोकुल आए और वहॉ गोसाईं विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। यही आख्यायिका एक दूसरे रूप में भी प्रसिद्ध है। कहते हैं जिस स्त्री पर ये आसक्त थे वह बहुत मानवती थी और इनका अनादर किया करती थी। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फारसी तर्जुमा पढ़ रहे थे। उसमे गोपियो के अनन्य और अलौकिक प्रेम को पढ़ इन्हे ध्यान हुआ कि उसी से क्यो न मन लगाया जाय जिसपर इतनी गोपियॉ मरती थीं। इसी बात पर ये वृंदावन चले आए। 'प्रेमवाटिका' के इस दोहे का संकेत लोग इस घटना की ओर बताते हैं—

तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी-मान।
प्रेमदेव की छबिहि लखि, भए मियाँ रसखान।

इन प्रवादों से कम से कम इतना अवश्य सूचित होता है कि आरंभ से ही ये बड़े प्रेमी जीव थे। वही प्रेम अत्यंत गूढ़ भगवद्भक्ति मे परिणत हुआ। प्रेम के ऐसे सुंदर उद्गार इनके सवैयों मे निकले कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार संबंधी कवित्त-सवैयों को ही 'रसखान' कहने लगे—जैसे 'कोई रसखान सुनाओ'। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडंबर-मुक्त होती थी। शुद्ध व्रज-भाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओ मे है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका रचना-काल संवत् १६४० के उपरांत ही माना जा सकता है क्योंकि गोसाईं विट्ठलनाथजी का गोलोकवास संवत् १६४३ मे हुआ था। प्रेमवाटिका का रचना-काल सवत् १६७१ है। अतः उनके शिष्य होने के उपरांत ही इनकी मधुर वाणी स्फुरित हुई होगी। इनकी कृति परिमाण में तो बहुत अधिक नहीं है पर जो है वह प्रेमियो के मर्म को स्पर्श करनेवाली है। इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई है—प्रेम-वाटिका (दोहे) और सुजान-रसखान (कवित्त-सवैया)। और कृष्णभक्तो के समान इन्होंने 'गीतकाव्य' का आश्रय न लेकर कवित्त सवैयों मे अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है। व्रजभूमि के सच्चे-प्रेम से परिपूर्ण ये दो सवैये इनके अत्यंत प्रसिद्ध हैं—

मानुष हों तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हों तौ कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जौ खग हों तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदंब की डारन॥

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै व्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

अनुप्रास की सुंदर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफाई कहीं नहीं जाने पाई है। बीच बीच मे भावो की बड़ी ही सुंदर व्यंजना है। लीला-पक्ष को लेकर इन्होंने बड़ी रंजनकारिणी रचनाएँ की हैं।

भगवान् प्रेम के वशीभूत है, जहाँ प्रेम है वहीं प्रिय है, इस बातको रसखान यों कहते हैं—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन-गानन, वेदरिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‍यो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका-पायँन॥

कुछ और नमूने देखिए—

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पीतांबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥
सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक ब्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

(प्रेम-वाटिका से)

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जान कै रहि न जात कछु सेस॥
प्रेमफाँस सों फँसि मरै सोई जियै सदाहि।
प्रेम-मरम जाने बिना मरि कोउ जीवत नाहिं॥

(१७) **ध्रुवदास**—ये श्री हितहरिवंशजी के शिष्य स्वप्न मे हुए थे। इसके अतिरिक्त इनका कुछ जीवनवृत्त नहीं प्राप्त हुआ है। ये अधिकतर वृंदावन ही मे रहा करते थे। इनकी रचना बहुत ही विस्तृत है और इन्होने पदो के अतिरिक्त दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि अनेक छंदो में भक्ति और प्रेमतत्त्व का वर्णन किया है। छोटे मोटे सब मिलाकर इनके ४० ग्रंथ के लगभग मिले है जिनके नाम ये हैं—

वृंदावन-सत, सिंगार-सत, रस-रत्नावली, नेह मंजरी, रहस्य-मंजरी, सुख-मंजरी, रति-मंजरी, वन-विहार, रंग-विहार, रस-विहार, आनंद-दसा विनोद, रंग-विनोद, नृत्य-विलास, रंग-हुलास, मान-रस-लीला, रहसलता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजन-कुंडलिया, भक्त-नामावली, मन-सिंगार, भजन-सत, प्रीति-चौवनी, रस-मुक्तावली, वामन बृहत्-पुराण की भाषा, सभा-मंडली, रसानंदलीला, सिद्धांत-विचार, रस-हीरावली, हित-सिंगार-लीला, ब्रजलीला, आनंद-लता, अनुराग-लता, जीवदशा, वैद्यलीला, दान लीला, ब्याहलो।

नाभाजी के भक्तमाल के अनुकरण पर इन्होंने 'भक्तनामावली' लिखी है जिसमे अपने समय तक के भक्तो का उल्लेख किया है। इनकी कई पुस्तको मे संवत् दिए है; जैसे—सभा-मंडली १६८१, वृंदावन-सत १६८६ और रसमजरी १६९८। अतः इनका रचना-काल संवत् १६६० से १७०० तक माना जा सकता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते है—

('सिंगार-सत' से)

रूपजल उठत तरंग है कटाछन के,
अंग अंग भौंरन की अति गहराई है।
नैननको प्रतिबिंब पर्‌यो है कपोलन में,
तेई भए मीन तहाँ, ऐसी उर आई है॥

अरुन कमल मुसुकान मानो फबि रही,
थिरकन बेसरि के मोती की सुहाई है।
भयो है मुदित सखी लाल को मराल-मन,
जीवन-जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है॥

('नेहमंजरी' से)

प्रेम बात कछु कहि नहिं जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई॥
प्रेम-बात सुनि बौरो होई। तहाँ सयान रहै नहिं कोई॥
तन मन प्रान तिही छिन हारै। भली बुरी कछुवै न विचारै॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जबहीं। हित ध्रुव बात बनैगी तबहीं॥

('भजन-सत' से)

बहु बीती थोरी रही, सोऊ बीती जाय।
हित ध्रुव वेगि विचारि कै बसि वृंदावन आय॥
बसि वृंदावन आय त्यागि लाजहि अभिमानहि।
प्रेम लीन ह्वै दीन आपको तृन सम जानहि॥
सकल सार कौ सार, भजन तू करि रस-रीती।
रे मन सोच विचार, रही थोरी, बहु बीती॥

कृष्णोपासक भक्त कवियों की परंपरा अब यहीं समाप्त की जाती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि ऐसे भक्त कवि आगे और नहीं हुए। कृष्णगढ़-नरेश महाराज नागरीदासजी, अलबेली अलिजी, चाचा हितवृंदावनदासजी, भगवत् रसिक आदि अनेक पहुँचे हुए भक्त बराबर होते गए हैं जिन्होंने बड़ी सुदर रचनाएँ की है। पर पूर्वोक्त काल के भीतर ऐसे भक्त कवियो की जितनी प्रचुरता रही है उतनी आगे चलकर नहीं। वे कुछ अधिक अंतर देकर हुए है। ये कृष्ण-भक्त कवि हमारे साहित्य मे प्रेम माधुर्य का जो सुधा-स्रोत बहा गए हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्य-क्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःखवाद' की छाया आ आकर भी टिकने न पाएगी। इन भक्तों का हमारे साहित्य पर बड़ा भारी उपकार है।

प्रकरण ६

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो के बीच भक्ति का काव्य-प्रवाह उमड़ा उनका संक्षिप्त उल्लेख आरंभ हो चुका है[1]। वह प्रवाह राजाओ या शासकों के प्रोत्साहन आदि पर अवलंबित न था। वह जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था जिसका प्रवर्तक काल था। न तो उसको पुरस्कार या यश के लोभ ने उत्पन्न किया था और न भय रोक सकता था। उस प्रवाह-काल के बीच अकबर ऐसे योग्य और गुणग्राही शासक का भारत के अधीश्वर के रूप मे प्रतिष्ठित होना एक आकस्मिक बात थी। अतः सूर और तुलसी ऐसे भक्त कवीश्वरो के प्रादुर्भाव के कारणो मे अकबर द्वारा संस्थापित शांति-सुख को गिनना भारी भूल है। उस शांति-सुख का परिणामस्वरूप जो साहित्य उत्पन्न हुआ वह दूसरे ढंग का था। उसका कोई निश्चित स्वरूप न था; सच पूछिए तो वह उन कई प्रकार की रचना-पद्धतियो का पुनरुत्थान था जो पठानो के शासन-काल की अशांति और विप्लव के बीच दब-सी गई थी और धीरे-धीरे लुप्त होने जा रही थीं।

पठान शासक भारतीय संस्कृति से अपने कट्टरपन के कारण दूर ही दूर रहे। अकबर की चाहे नीति-कुशलता कहिए, चाहे उदारता; उसने देश की परंपरागत संस्कृति मे पूरा योग दिया जिससे कला के क्षेत्र मे फिर से उत्साह का संचार हुआ। जो भारतीय कलावंत छोटे-मोटे राजाओं के यहाँ किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हुए संगीत को सहारा दिए हुए थे वे अब शाही दरबार मे पहुँचकर 'वाह वाह' की ध्वनि के बीच अपना करतब दिखाने लगे। जहाँ बचे हुए हिंदू राजाओ की सभाओ मे ही कविजन थोड़ा बहुत उत्साहित या पुरस्कृत किए जाते थे वहाँ अब बादशाह के दरबार में भी

---

१ देखो पृ० ६०—६२।

उनका सम्मान होने लगा। कवियों के सम्मान के साथ साथ कविता का सम्मान भी यहाँ तक बढ़ा कि अब्दुर्रहीम खानखाना ऐसे उच्चपदस्थ सरदार क्या बादशाह तक व्रजभाषा की ऐसी कविता करने लगे—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि ।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि ॥

साहि अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद बिलोकन बालहि ।
आहट तें अबला निरख्यौ, चकि चौंकि चली करि आतुर चालहि ॥
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सु भई छबि यों ललना अरु लालहि ।
चंपक चारु कमान चढावत काम ज्यों हाथ लिए अहि-बालहि ॥

नरहरि और गंग ऐसे सुकवि और तानसेन ऐसे गायक अकबरी दरबार की शोभा बढ़ाते हैं।

यह अनुकूल परिस्थिति हिंदी-काव्य को अग्रसर करने मे अवश्य सहायक हुई। वीर, शृंगार और नीति की कविताओ के आविर्भाव के लिये विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गए। जैसा आरंभकाल मे दिखाया जा चुका है, फुटकल कविताएँ अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त-सवैयो और दोहों में हुआ करती थीं। मुक्तक रचनाओ के अतिरिक्त प्रबध-काव्य-परंपरा ने भी जोर पकड़ा और अनेक अच्छे आख्यान-काव्य भी इस काल मे लिखे गए। खेद है कि नाटकों की रचना की ओर ध्यान नहीं गया। हृदयराम के भाषा हनुमन्नाटक को नाटक नहीं कह सकते। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि व्यासजी (संवत् १६२० के आसपास) के देव नाम* एक शिष्य का रचा "देवमायाप्रपंचनाटक" भी नाटक नहीं, ज्ञानवार्त्ता है।

इसमें संदेह नहीं कि अकबर के राजत्वकाल मे एक ओर तो साहित्य की चली आती हुई परंपरा को प्रोत्साहन मिला; दूसरी ओर भक्त कवियो की दिव्य-वाणी का स्रोत उमड़ चला। इन दोनों की सम्मिलित विभूति से अकबर का राजत्वकाल जगमगा उठा और साहित्य के इतिहास मे उसका एक विशेष स्थान हुआ। जिस काल में सूर और तुलसी ऐसे भक्ति के अवतार तथा नरहरि, गंग और रहीम ऐसे निपुण भावुक कवि दिखाई पड़ें उसके साहित्यिक गौरव की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

(१) **छीहल**—ये राजपुताने की ओर के थे। संवत् १५७५ मे इन्होने पंच-सहेली नाम की एक छोटी सी पुस्तक दोहो में राजस्थानी-मिली भाषा में बनाई जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इसमे पॉच सखियों की विरह-वेदना का वर्णन है। दोहे इस ढॅग के हैं—

देख्या नगर सुहावना अधिक सुचंगा थानु।
नाउँ चँदेरी परगटा जनु सुरलोक समान॥
ठाइँ ठाइँ सरवर पेखिय सूभर भरे निवाण।
ठाइँ ठाइँ कुँवा बावरी सोहइ फटिक सवाँण॥
पंद्रह सै पचहत्तरै पूनिम फागुण मास।
पंच सहेली वर्णई कवि छीहल परगास॥

इनकी लिखी एक 'बावनी' भी है जिसमे ५२ दोहे है।

(२) **लालचदास**—ये रायबरेली के एक हलवाई थे। इन्होने सवत् १५८५ में "हरि-चरित्र" और संवत् १५८७ मे "भागवत दशम स्कंध भाषा" नाम की पुस्तक अवधी-मिली भाषा मे बनाई। ये दोनों पुस्तके काव्य की दृष्टि से सामान्य श्रेणी की हैं और दोहे चौपाइयों मे लिखी गई हैं। दशम स्कंध भाषा का उल्लेख हिंदुस्तानी के फरासीसी विद्वान् गार्सा द तासी ने किया है और लिखा है कि उसका अनुवाद फरासीसी भाषा में हुआ है। "भागवत भापा" इस प्रकार की चौपाइयो मे लिखी गई है—

पंद्रह सौ सत्तासी जहिया। समय बिलंबित बरनौं तहिया॥
मास असाढ़ कथा अनुसारी। हरिबासर रजनी उजियारी॥
सकल संत कहँ नावौं माथा। बलि बलि जैहौं जादवनाथा॥
राय बरेली बरनि अवासा। लालच रामनाम कै आसा॥

(३) **कृपाराम**—इनका कुछ वृत्तात ज्ञात नहीं। इन्होने संवत् १५९८ मे रस-रीति पर 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ दोहो मे बनाया। रीति या लक्षण-ग्रंथो मे यह बहुत पुराना है। कवि ने कहा है कि और कवियों ने बडे छंदो के विस्तार मे शृंगार-रस का वर्णन किया है पर मैंने 'सुघरता' के विचार से दोहो में वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि इनके पहले और लोगो ने भी रीति-ग्रथ लिखे थे जो अब नहीं मिलते है। 'हिततरंगिणी' के कई दोहे बिहारी के

दोहों से मिलते जुलते हैं। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यह ग्रंथ बिहारी के पीछे का है क्योंकि ग्रंथ मे निर्माण-काल बहुत स्पष्ट रूप से दिया हुआ है।—

सिधि निधि सिव मुख चंद्र लखि माघ सुदि तृतियासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥

दो में से एक बात हो सकती है—या तो बिहारी ने उन दोहों को जान बूझकर लिया अथवा वे दोहे पीछे से मिल गए। हिततरंगिणी के दोहे बहुत ही सरस, भावपूर्ण तथा परिमार्जित भाषा मे हैं। कुछ नमूने देखिए—

लोचन चपल कटाच्छ सर अनियारे विषपूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के जगजन सहत बिसूरि॥
आजु सबारे हौं गई नंदलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे औरै हाल॥
पति आयो परदेस तें ऋतु बसंत को मानि।
झमकि झमकि निज महल में टहलैं करै सुरानि॥

(४) **महापात्र नरहरि बंदीजन**—इनका जन्म संवत् १५६२ और मृत्यु संवत् १६६७ में कही जाती है। महापात्र की उपाधि इन्हे अकबर के दरबार से मिली थी। ये असनी-फतेहपुर के रहनेवाले थे और अकबर के दरबार मे इनका बहुत मान था। इन्होंने छप्पय और कवित्त कहे है। इनके बनाए दो ग्रंथ परंपरा से प्रसिद्ध हैं—'रुक्मिणीमंगल' और 'छप्पय नीति'। एक तीसरा ग्रंथ 'कवित्त-संग्रह' भी खोज में मिला है। इनका वह प्रसिद्ध छप्पय नीचे दिया जाता है जिसपर, कहते हैं कि, अकबर ने गोवध बंद कराया था—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, वच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

(५) **नरोत्तमदास**—ये सीतापुर जिले के बाड़ी नामक कसबे के रहने-वाले थे। शिवसिंह-सरोज मे इनका संवत् १६०२ मे वर्त्तमान रहना लिखा है। इनकी जाति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इनका 'सुदामा-चरित्र' ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसमे घर की दरिद्रता का बहुत ही सुंदर वर्णन है। यद्यपि यह छोटा है पर इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदयग्राहिणी है और कवि की भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियो के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमें नहीं है। कुछ लोगो के अनुसार इन्होने इसी प्रकार का एक और खंड-काव्य 'ध्रुवचरित्र' भी लिखा है। पर वह कहीं देखने मे नहीं आया। 'सुदामा-चरित्र' का यह सवैया बहुत लोगो के मुँह से सुनाई पड़ता है—

सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु ! जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पायँ उपानह को नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

कृष्ण की दीनवत्सलता और करुणा का एक यह और सवैया देखिए—

कैसे बिहाल बिवाइन सों भए, कंटक-जाल गड़े पग जोए।
हाय महादुख पाए सखा ! तुम आए इतै न, कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए॥

(६) **आलम**—ये अकबर के समय के एक मुसलमान कवि थे जिन्होने सन् ९९१ हिजरी अर्थात् संवत् १६३९-४० मे "माधवानल कामकंदला" नाम की प्रेमकहानी दोहा-चौपाई मे लिखी। पॉच पॉच चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर एक एक दोहा या सोरठा है। यह शृंगाररस की दृष्टि से ही लिखी जान पड़ती है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। इसमे जो कुछ रुचिरता है वह कहानी की है, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना आदि की नहीं। कहानी भी प्राकृत या अपभ्रंश-काल से चली आती हुई कहानी है।

कवि ने रचना काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

दिल्लीपति अकबर सुरताना। सप्तदीप में जाकी आना॥
धरमराज सब देस चलावा। हिंदू तुरुक पंथ सब लावा॥
* * * *
सन नौ सै इक्कानबे आही। करौं कथा औ बोलौं ताही॥

(७) महाराज टोडरमल—ये कुछ दिन शेरशाह के यहाँ ऊँचे पद पर थे, पीछे अकबर के समय मे भूमिकर-विभाग के मंत्री हुए। इनका जन्म संवत् १८५० मे और मृत्यु संवत् १६४६ में हुई। ये कुछ दिनो तक बंगाल के सूबेदार भी थे। ये जाति के खत्री थे। इन्होंने शाही दफ्तरो मे हिंदी के स्थान पर फारसी का प्रचार किया जिससे हिंदुओं का झुकाव फारसी की शिक्षा की ओर हुआ। ये प्रायः नीतिसंबंधी पद्य कहते थे। इनकी कोई पुस्तक तो नहीं मिलती, फुटकल कवित्त इधर-उधर मिलते हैं। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम की अरंडन की डार सी।
मदपी को सुचि कहाँ, साँच कहाँ लंपट को,
नीच को बचन कहा स्यार की पुकार सी।
टोडर सुकवि ऐसे हठी तौ न टारे टरैं,
भावै कहौ सूधी बात भावै कहौ फारसी॥

(८) महाराज बीरबल—इनकी जन्मभूमि कुछ लोग नारनौल बतलाते हैं और इनका नाम महेशदास। प्रयाग के किले के भीतर जो अशोक-स्तभ है उस पर यह खुदा है—"संवत् १६३२ शाके १४९३ मार्ग बदी ५ सोमवार गंगादास-सुत महाराज बीरबल श्रीतीरथराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं।" यह लेख महाराज बीरबल के संबंध में ही जान पड़ता है क्योकि गंगादास और महेशदास नाम मिलते जुलते हैं जैसे कि पिता पुत्र के हुआ करते हैं। बीरबल का जो उल्लेख भूषण ने किया है उससे इनके निवासस्थान का पता चलता है—

द्विज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर-सुत धीर।
बसत त्रिविक्रम पुर सदा तरनि-तनूजा तीर॥
वीर बीरवल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥

इनका जन्मस्थान तिकवाँपुर ही ठहरता है, पर कुल का निश्चय नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ये अकबर के मंत्रियो में थे और बड़े ही वाक्‌चतुर और प्रत्युत्पन्नमति थे। इनके और अकबर के बीच होनेवाले विनोद और चुटकुले उत्तर भारत के गॉव गॉव मे प्रसिद्ध है। महाराज बीरबल ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ी उदारता से सम्मान करते थे। कहते है, केशवदासजी को इन्होंने एक बार छः लाख रुपए दिए थे और केशवदासजी की पैरवी से ओरछा-नरेश पर एक करोड़ का जुरमाना मुआफ करा दिया था। इनके मरने पर अकबर ने यह सोरठा कहा था—

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हो दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहि राख्यो बीरबल॥

इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती है, पर कई सौ कवित्तो का एक संग्रह भरतपुर मे है। इनकी रचना अलंकार आदि काव्यांगो से पूर्ण और सरस होती थी। कविता मे ये अपना नाम ब्रह्म रखते थे। दो उदाहरण नीचे दिये जाते है—

उछरि उछरि केकी झपटै उरग पर,
उरग हू केकिन पै लपटैं लहकि हैं।
केकिन के सुरति हिए की ना कछू है, भए
एकी करि केहरि, न बोलत बहकि है॥
कहै कवि ब्रह्म वारि हेरत हरिन फिरैं,
बैहर बहुत बड़े जोर सों जहकि है।
तरनि के तावन तवा सी भई भूमि रही,
दसहू दिसान में दवारि सी दहकि है॥

× × ×

पूत कपूत, कुलच्छनि नारि, लराक परोसि, लजायन सारो।
बंधु कुबुद्धि, पुरोहित लंपट, चाकर चोर, अतीथ धुतारो॥

साहब सूम, अड़ाक तुरंग, किसान कठोर, दिवान नकारो।
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहौ बाँधि समुद्र में डारो॥

(९) **गंग**—ये अकबर के दरबारी कवि थे और रहीम खानखाना इन्हें बहुत मानते थे। इनके जन्म-काल तथा कुल आदि का ठीक वृत्त ज्ञात नहीं। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण कहते है पर अधिकतर ये ब्रह्मभट्ट ही प्रसिद्ध हैं। ऐसा कहा जाता है कि किसी नवाब या राजा की आज्ञा से ये हाथी से चिरवा डाले गए थे और उसी समय मरने से पहले इन्होने यह दोहा कहा था—

कबहुँ न भँड़ुवा रन चढे, कबहुँ न बाजी बंब।
सकल सभाहि प्रनाम करि विदा होत कवि गंग॥

इसके अतिरिक्त कई और कवियो ने भी इस बात का उल्लेख वा संकेत किया है। देव कवि ने कहा है—

"एक भए प्रेत, एक मीजि मारे हाथी"।

ये पद्य भी इस संबध में ध्यान देने योग्य हैं—

सब देवन को दरबार जुर्‍यो तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो।
जब काहू तें अर्थ कह्यो न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो॥
मृतलोक में है नर एक गुनी, कवि गंग को नाम सभा में बतायो।
सुनि चाह भई परमेसर को तब गंग को लेन गनेस पठायो।

'गंग ऐसे गुनी को गयंद सो चिराइए।'

इन प्रमाणो से यह घटना ठीक ठहरती है। गंग कवि बहुत निर्भीक होकर बात कहते थे। ये अपने समय के नर-काव्य करनेवाले कवियो मे श्रेष्ठ माने जाते थे। दासजी ने कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।

कहते है कि रहीम खानखाना ने इन्हे एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। वह छप्पय यह है—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमलबन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन वन॥

हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहै, न करै रति॥
खलभलित सेस कबि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो॥

सारांश यह कि गंग अपने समय के प्रधान कवि माने जाते थे। इनकी कोई पुस्तक अभी नहीं मिली है। पुराने संग्रह ग्रंथों मे इनके बहुत से कवित्त मिलते हैं। सरस हृदय के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी इनमे प्रचुर मात्रा मे था। वीर और शृंगार रस के बहुत ही रमणीक कवित्त इन्होंने कहे हैं। कुछ अन्योक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक है। हास्यरस का पुट भी बड़ी निपुणता से ये अपनी रचना मे देते थे। घोर अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तु-व्यंग्य-पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। उस समय की रुचि को रजित करनेवाले सब गुण इनमें वर्त्तमान थे, इसमे कोई संदेह नहीं। इनका कविता-काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अंत मानना चाहिए।' रचना के कुछ नमूने देखिए—

बैठी थी सखिन संग, पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूह में बियोग-आगि भरकी।
गंग कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की॥
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ,
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी॥

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन तें एक मानो सुषमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बल को बयारि लगे,
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,

रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति, गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की॥

देखत कै वृच्छन में दीरघ सुभायमान,
कीर चल्यो चाखिबे को, प्रेम जिय जग्यो है।
लाल फल देखि कै जटान मँडरान लागे,
देखत बटोही बहुतेरे डगमग्यो है।
गंग कवि फल फूटे भुआ उधिराने लखि,
सबही निरास ह्वै कै निज गृह भग्यो है।
ऐसो फलहीन वृच्छ बसुधा में भयो, यारो,
सेमर बिसासी बहुतेरन को ठग्यो है॥

(१०) **मनोहर कवि**—ये एक कछवाहे सरदार थे जो अकबर के दरबार में रहा करते थे। शिवसिंह-सरोज मे लिखा है कि ये फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और फारसी कविता मे अपना उपनाम 'तौसनी' रखते थे। इन्होने 'शत प्रश्नोत्तरी' नाम की पुस्तक बनाई है तथा नीति और शृंगाररस के बहुत से फुटकल दोहे कहे हैं। इनका कविता-काल सवत् १६२० के आगे माना जा सकता है। इनके शृंगारिक दोहे मार्मिक और मधुर हैं पर उनमे कुछ फारसी-पन के छींटे मौजूद हैं। दो चार नमूने देखिए—

इंदु वदन नरगिस नयन, संबुलवारे बार।
उर कुंकुम, कोकिल बयन, जेहि लखि लाजत मार॥
बिथुरे सुथुरे चीकने घने घने घुघुवार।
रसिकन को जंजीर से बाला तेरे बार॥
अचरज मोहिं हिंदू तुरुक बादि करत संग्राम।
इक दीपति सों दीपियत काबा काशीधाम॥

(११) **बलभद्र मिश्र**—ये ओरछा के सनाढ्य ब्राह्मण पंडित काशीनाथ के पुत्र और प्रसिद्ध कवि केशवदास के बडे भाई थे। इनका जन्म-काल संवत् १६०० के लगभग माना जा सकता है। इनका 'नखशिख' शृंगार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमे इन्होंने नायिका के अंगो का वर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा, सदेह आदि अलंकारों के प्रचुर विधान द्वारा किया है। ये केशवदासजी के समकालीन या पहले के उन कवियों मे थे जिनके चित्त मे रीति के अनुसार काव्य-रचना की

प्रवृत्ति हो रही थी। कृपाराम ने जिस प्रकार रसरीति का अवलंबन कर नायिकाओं का वर्णन किया उसी प्रकार बलभद्र नायिका के अंगों को एक स्वतंत्र विषय बनाकर चले थे। इनका रचनाकाल संवत् १६४० के पहले माना जा सकता है। रचना इनकी बहुत प्रौढ़ और परिमार्जित है, इससे अनुमान होता है कि नखशिख के अतिरिक्त इन्होंने और पुस्तकें भी लिखी होंगी। संवत् १८९१ में गोपाल कवि ने बलभद्रकृत नखशिख की एक टीका लिखी जिसमें उन्होंने बलभद्र-कृत तीन और ग्रंथों का उल्लेख किया है—बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक और गोवर्द्धनसतसई टीका। पुस्तकों की खोज में इनका 'दूषण-विचार' नाम का एक और ग्रंथ मिला है जिसमें काव्य के दोषों का निरूपण है। नखशिख के दो कवित्त उद्धृत किए जाते हैं—

पाटल नयन कोकनद के से दल दोऊ,
बलभद्र बासर उनींदी लखी बाल मैं।
सोभा के सरोवर में बाड़व की आभा कैधों,
देवधुनी भारती मिली है पुन्यकाल मैं॥
काम-कैवरत कैधौं नासिका-उडुप बैठो,
खेलत सिकार तरुनी के मुख-ताल मैं।
लोचन सितासित में लोहित लकीर मानो,
बाँधे जुग मीन लाल रेशम की डोर मैं॥

मरकत के सूत, कैधौं पन्नग के पूत, अति
राजत अभूत तमराज कैसे तार हैं।
मखतूल-गुनग्राम सोभित सरस स्याम,
काम-मृग-कानन, कै कुहू के कुमार हैं॥
कोप की किरन, कै जलज-नाल नील तंतु,
उपमा अनन्त चारु चँवर सिंगार हैं।
कारे सटकारे भींजे सोंधे सों सुगंध बास,
ऐसे बलभद्र नवबाला तेरे बार हैं॥

---

(१२) **जमाल**—ये भारतीय काव्य-परंपरा से पूर्ण परिचित कोई सहृदय मुसलमान कवि थे जिनका रचना-काल संवत् १६२७ अनुमान किया गया है। इनके नीति और शृंगार के दोहे राजपूताने की ओर बहुत जनप्रिय है। भावो की व्यंजना बहुत ही मार्मिक पर सीधे-साधे ढंग पर की गई है। इनका कोई ग्रथ तो नहीं मिलता, पर कुछ संगृहीत दोहे मिलते हैं। सहृदयता के अतिरिक्त इनमे शब्दक्रीड़ा की निपुणता भी थी, इससे इन्होने कुछ पहेलियाँ भी अपने दोहो मे रखी हैं। कुछ नमूने दिए जाते हैं—

पूनम चाँद, कुसूँभ रँग नदी-तीर द्रुम-डाल।
रेत भीत, भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल॥
रंग ज चोल मजीठ का, संत वचन प्रतिपाल।
पाहण-रेख रु करम गत, ए किमि मिटैं जमाल॥
जमला ऐसी प्रीत कर जैसी केस कराय।
कै काला, कै ऊजला, जब तब सिर स्यूँ जाय॥
मनसा तो गाहक भए, नैना भए दलाल।
धनी बसत बेचै नहीं, किस बिध बनै जमाल॥
बालपणे धौला भया, तरुणपणे भया लाल।
वृद्धपणे काला भया, कारण कोण जमाल॥
कामिण जावक-रँग रच्यो, दमकत मुकता-कोर।
इम हंसा मोती तजे, इम चुग लिए चकोर॥

(१३) **केशवदास**—ये सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१२ मे और मृत्यु १६७४ के आसपास हुई। ओरछानरेश महाराज रामसिंह के भाई इद्रजीतसिंह की सभा में ये रहते थे, जहाँ इनका बहुत मान था। इनके घराने मे बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। इनके बडे भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे। इस प्रकार की परिस्थिति मे रहकर ये अपने समय के प्रधान साहित्य-शास्त्रज्ञ कवि माने गए। इनके आविर्भाव-काल से कुछ पहले ही रस, अलंकार आदि काव्यांगो के निरूपण की ओर कुछ कवियो का ध्यान जा चुका था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिंदी-काव्य-रचना प्रचुर-मात्रा में हो चुकी थी। लक्ष्य ग्रंथो के उपरांत ही लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है। केशवदासजी संस्कृत के पंडित थे अतः शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-चर्चा का प्रचार भाषा मे पूर्ण रूप से करने की इच्छा इनके लिए स्वाभाविक थी।

केशवदास के पहले सं० १५९८ में कृपाराम थोड़ा रस-निरूपण कर चुके थे। इसी समय में चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार-सागर' नामक एक ग्रंथ शृंगाररस-संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार मे जानेवाले करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबन्धी लिखे थे पर अब तक किसी कवि ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यांगो का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम केशवदासजी ने किया।

ये काव्य में अलंकार का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि थे जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न, बिराजई कविता बनिता मित्त॥

अपनी इसी मनोवृत्ति के अनुसार इन्होने भामह, उद्भट और दंडी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस रीति आदि सब कुछ अलंकार के ही अंतर्गत लेते थे; साहित्य-शास्त्र को अधिक व्यवस्थित और समुन्नत रूप मे लानेवाले मम्मट, आनंदवर्द्धनाचार्य्य और विश्वनाथ का नहीं। अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद करके इन्होंने उसके अंतर्गत वर्णन की प्रणाली ही नहीं, वर्णन के विषय भी ले लिए हैं। 'अलंकार' शब्द का प्रयोग इन्होंने व्यापक अर्थ मे किया है। वास्तविक अलंकार इनके विशेष अलंकार ही हैं। अलंकारों के लक्षण इन्होंने दंडी के 'काव्यादर्श' से तथा और बहुत सी बातें अमर-रचित 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और केशव मिश्र कृत 'अलंकार शेखर' से ली हैं।

पर केशव के ५० या ६० वर्ष पीछे हिंदी मे लक्षण-ग्रंथो की जो परंपरा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। काव्य के स्वरूप के संबंध में तो वह रस को प्रधानता माननेवाले काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के पक्ष पर रही और अलंकारो के निरूपण में उसने अधिकतर चंद्रालोक और कुवलयानंद का अनुसरण किया। इसी से केशव के अलंकार-लक्षण हिंदी मे प्रचलित अलंकार-लक्षणो से नहीं मिलते। केशव ने अलंकारो पर 'कवि-प्रिया' और रस पर 'रसिकप्रिया' लिखी।

इन ग्रंथो में केशव का अपना विवेचन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। सारी सामग्री कई संकृत-ग्रंथों से ली हुई मिलती है। नामों में अवश्य कहीं कहीं

थोड़ा हेरफेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवा और कुछ नहीं हुआ है। 'उपमा' के जो २२ भेद केशव ने रखे हैं उनमें से १५ तो ज्यो के त्यो दंडी के हैं, ५ के केवल नाम भर बदल दिए गए है। शेष रहे दो भेद—संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इनमे विपरीतोपमा को तो उपमा कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार 'आक्षेप' के जो ९ भेद केशव ने रखे है उनमें ४ तो ज्यो के त्यो दंडी के हैं। पॉचवॉ 'मरणाक्षेप' दंडी का 'मूर्च्छाक्षेप' ही है। कविप्रिया का 'प्रेमालंकार' दंडी के (विश्वनाथ के नहीं) 'प्रेयस' का ही नामांतर है। 'उत्तर' अलंकार के चारों भेद वास्तव में पहेलियाँ हैं। कुछ भेदो को दंडी से लेकर भी केशव ने उनका और का और ही अर्थ समझा है।

केशव के रचे सात ग्रंथ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहदेव-चरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका।

केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमे वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हे प्राप्त न था। अपनी रचनाओ में उन्होने अनेक सस्कृत काव्यो की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियो को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने मे उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदो और वाक्यो की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दो के प्रयोग और संबंध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्राजल और ऊबड़ खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं। 'रामचन्द्रिका' मे 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'अनर्घराघव', 'कादंबरी' और नैषध' की बहुत सी उक्तियो का अनुवाद करके रख दिया गया है। कही कहीं अनुवाद अच्छा न होने के कारण उक्ति विकृत हो गई है, जैसे—प्रसन्नराघव के "प्रियतमपदैरङ्कितान्भूमिभागान्" का अनुवाद "प्यौ-पद-पंकज ऊपर" करके केशव ने उक्ति को एकदम बिगाड़ डाला है। हाँ, जिन उक्तियों मे जटिलता नही है—समास-

शैली का आश्रय नहीं लिया गया है—उनके अनुवाद मे कहीं कहीं बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई है, जैसे, भरत के प्रश्न और कैकेयी के उत्तर मे—

मातु, कहाँ नृप तात ? गए सुरलोकहिं; क्यो ? सुत-शोक लए। जो कि हनुमन्नाटक के एक श्लोक का अनुवाद है।

केशव ने दो प्रबन्ध-काव्य लिखे—एक 'वीरसिंहदेव चरित' दूसरा 'रामचंद्रिका'। पहला तो काव्य ही नहीं कहा जा सकता। इसमे वीरसिंहदेव का चरित तो थोड़ा है, दान, लोभ आदि के संवाद भरे हैं। 'रामचन्द्रिका' अवश्य एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर यह समझ रखना चाहिए कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। अतः वे मुक्तक-रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबन्ध-रचना के नहीं। प्रबन्ध-पटुता उनमे कुछ भी न थी। प्रबन्ध-काव्य के लिये तीन बातें अनिवार्य्य हैं—१ सम्बन्ध-निर्वाह, २ कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलो की पहचान और ३ दृश्यों की स्थानगत विशेषता।

सम्बन्ध-निर्वाह की क्षमता केशव मे न थी। उनकी 'रामचंद्रिका' अलग अलग लिखे हुए वर्णनो का संग्रह सी जान पड़ती है। कथा का चलता प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हे बोलनेवाले पात्रो के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े है। दूसरी बात भी केशव में कम पाई जाती है। रामायण की कथा का केशव के हृदय पर कोई विशेष प्रभाव रहा हो, यह बात नहीं पाई जाती। उन्हे एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिये राम की कथा ले ली। उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है। वे ऐसे स्थलो को या तो छोड़ गए है या यों ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर दिया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़नेवाले लोगो से कुछ कहलाया भी तो यह कि "किधौं मुनिशाप-हत, किधौ ब्रह्मदोष-रत, किधौ कोऊ ठग हौ।" ऐसा अलौकिक सौंदर्य्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्त्विक भावो का उदय होता है, इसका अनुभव शायद एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखनेवाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिये कठिन था।

दृश्यो की स्थानगत विशेषता (Local colour) केशव की रचनाओं में ढूँढ़ना तो व्यर्थ ही है। पहली बात तो यह है कि केशव के लिये प्राकृतिक दृश्यो में कोई आकर्षण नहीं था। वे उनकी देशगत विशेषताओं का निरीक्षण करने क्यो जाते? दूसरी बात यह है कि केशव के बहुत पहले से ही इसकी परंपरा एक प्रकार से उठ चुकी थी। कालिदास के दृश्य-वर्णनों मे देशगत विशेषताओ का जो रंग पाया जाता है वह भवभूति तक तो कुछ रहा, उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रूढ़ हो गए। चारो ओर फैली हुई प्रकृति के नाना रूपों के साथ केशव के हृदय का सामंजस्य कुछ भी न था। अपनी इस मनोवृत्ति का आभास उन्होंने यह कहकर कि—

"देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चंद,
ताते मुख मुखै, सखी, कमलौ न चंद री॥"

साफ दे दिया है। ऐसे व्यक्ति से प्राकृतिक दृश्यो के सच्चे वर्णन की भला क्या आशा की जा सकती है? पचवटी और प्रवर्षण गिरि ऐसे रमणीय स्थलो मे शब्द-साम्य के आधार पर श्लेष के एक भद्दे खेलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। केवल शब्द-साम्य के सहारे जो उपमान लाए गए है वे किसी रमणीय दृश्य से उत्पन्न सौंदर्य की अनुभूति के सर्वथा विरुद्ध या बेमेल हैं—जैसे प्रलयकाल, पांडव, सुग्रीव, शेषनाग। सादृश्य या साधर्म्य की दृष्टि से दृश्य वर्णन में जो उपमाएँ उत्प्रेक्षाएँ आदि लाई गई हैं वे भी सौंदर्य की भावना मे वृद्धि करने के स्थान पर कुतूहल मात्र उत्पन्न करती हैं। जैसे श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे हुए भौंरे पर यह उक्ति—

केशव केशवराय मनौ कमलासन के सिर ऊपरे सोहै।

पर कहीं कहीं रमणीय और उपयुक्त उपमान भी मिलते है; जैसे, जनकपुर के सूर्योदयवर्णन मे, जिसमे "कापालिक-काल" को छोड़कर और सब उपमान रमणीय है।

सारांश यह कि प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव मे अनुभूति ही थी, न शक्ति। परंपरा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे, युद्ध, सेना की तैयारी, उपवन, राजदरबार के ठाटबाट तथा शृंगार और वीर रस) फुटकल

वर्णन ही अलंकारों की भरमार के साथ वे करना जानते थे इसीसे बहुत से वर्णन यों ही, बिना अवसर का विचार किए, वे भरते गए हैं। वे वर्णन वर्णन के लिये करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। कहीं कहीं तो उन्होंने उचित-अनुचित को भी परवा नहीं की है, जैसे—भरत की चित्रकूट-यात्रा के प्रसंग में सेना की तैयारी और तड़क-भड़क का वर्णन। अनेक प्रकार के रूखे सूखे उपदेश भी बीच बीच मे रखना वे नहीं भूलते थे। दान-महिमा, लोभ-निंदा के लिये तो वे प्रायः जगह निकाल लिया करते थे। उपदेशों का समावेश दो एक जगह तो पात्र का बिना विचार किए अत्यंत अनुचित और भद्दे रूप में किया गया है, जैसे—बन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत का उपदेश।

रामचंद्रिका के लंबे चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गंभीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाटबाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन मे ही विशेषतः लगता है।

केशव की रचना को सब से अधिक विकृत और अरुचिकर करनेवाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति जिसके कारण न तो भावो की प्रकृत व्यंजना के लिये जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तु-वर्णन के लिये। पददोष, वाक्यदोष आदि तो बिना प्रयास जगह-जगह मिल सकते हैं। कहीं कहीं उपमान भी बहुत हीन और बेमेल हैं; जैसे, राम की वियोग-दशा के वर्णन मे यह वाक्य—

"बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत।"

रामचंद्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादो मे। इन संवादों में पात्रो के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुंदर है (जैसे, लक्ष्मण, राम, परशुराम-संवाद तथा लवकुश के प्रसंग के संवाद) तथा वाक्-पटुता और राजनीति के दाँव-पेच का आभास भी प्रभावपूर्ण है। उनका रावण-अंगद-संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुंदर है। 'राम-चंद्रिका' और 'कविप्रिया' दोनों का रचनाकाल कवि ने १६५८ दिया है; केवल मास में अंतर है।

रसिकप्रिया (सं० १६४८) की रचना प्रौढ़ है। उदाहरणों में चतुराई और कल्पना से काम लिया गया है और पद-विन्यास भी अच्छे हैं। इन उदाहरणों में वाग्वैदग्ध्य के साथ साथ सरसता भी बहुत कुछ पाई जाती है। 'विज्ञानगीता' सस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय नाटक' के ढंग की पुस्तक है। 'रतन-बावनी' मे इंद्रजीत के बडे भाई रत्नसिंह की वीरता का छप्पयों मे अच्छा वर्णन है। यह वीररस का अच्छा काव्य है।

केशव की रचना में सूर, तुलसी आदि की सी सरसता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिये मार्ग खोला। कहते हैं, वे रसिक जीव थे। एक दिन बुड्ढे होने पर किसी कूएँ पर बैठे थे। वहाँ स्त्रियो ने 'बाबा' कहकर संबोधन किया। इसपर इनके मुँह से यह दोहा निकला—

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि-कहि जाहिं॥

केशवदास की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जौ हौं कहौं रहिए तौ प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तौ हितहानि नाहिं सहनो।
'भावै सो करहु' तौ उदासभाव प्राननाथ!
'साथ लै चलहु' कैसे लोकलाज बहनो॥
केसवदास की सौं तुम सुनहु, छबीले लाल,
चलेही बनत जौ पै, नाही आज रहनो॥
जैसियै सिखाओ सीख तुमहीं सुजान प्रिय,
तुमहिं चलत मोहि जैसो कछु कहनो॥

× × × ×

चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खैंचौ हाथ,
सोवै नेक सारिकाऊ, सुक तौ सोवायो जू।
मंद करौ दीप-दुति चदमुख देखियत,
दारिकै दुराय आऊँ द्वार तौ दिखायो जू॥
मृगज मराल बाल बाहिरै बिडारि देउँ,

भायो तुम्हैं केशव सो मोहूँ मन भायो जू ॥
छल के निवास ऐसे वचन-विलास सुनि,
सौगुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू ॥

कैटभ सो, नरकासुर सो, पल में मधु सो, मुर सो निज मारयो।
लोक चतुर्दश रक्षक केशव, पूरन वेद पुरान विचारयो ॥
श्री कमला - कुच - कुंकुम - मंडन - पंडित देव अदेव निहारयो।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसारयो ॥

(रामचंद्रिका से)

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राननाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक-मयूख पट ॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को ॥

विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है।
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय कैधौं सूरज अमल है ॥
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है ॥

मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय।
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय ॥
दुर्गति दुर्गन हीं, जो कुटिलगति सरितन ही में।
श्रीफल कौ अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में ॥

कुंतल ललित नील, भ्रुकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूपनन,
मध्यदेश केशरी सु जग गति भाई है॥
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है॥
रामचंद्र जू की चमू, राजश्री बिभीषन की,
रावन की मीचु दर कूच चलि आई है॥

पढ़ौ विरंचि मौन वेद, जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संगही।
न बोलु चंद मंदबुद्धि, इंद्र की सभा नहीं॥

---

(१४) **होलराय**—ये ब्रह्मभट्ट अकबर के समय मे हरिवंश राय के आश्रित थे और कभी कभी शाही दरबार मे भी जाया करते थे। इन्होने अकबर से कुछ जमीन पाई थी जिसमे होलपुर गाँव बसाया था। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इन्हे अपना लोटा दिया था जिस पर इन्होंने कहा था—

लोटा तुलसीदास को लाख टका को मोल।

गोस्वामीजी ने चट उत्तर दिया—

मोल तोल कछु है नहीं, लेहु राय कवि होल॥

रचना इनकी पुष्ट होती थी, पर जान पड़ता है कि ये केवल राजाओ और रईसों की विरुदावली वर्णन किया करते थे जिसमे जनता के लिये ऐसा कोई विशेष आकर्षण नहीं था कि इनकी रचना सुरक्षित रहती। अकबर बादशाह की प्रशंसा मे इन्होने यह कवित्त लिखा है—

दिल्ली तें न तख्त ह्वैहै, बख्त ना मुगल कैसो,
ह्वै है ना नगर बढि आगरा नगर तें।
गंग तें न गुनी, तानसेन तें न तानबाज़,
मान तें न राजा औ न दाता बीरबर तें।

खान खानखाना तें न, नर नरहरि तें न,
हैहै ना दीवान कोऊ वेडर टुडर तें।
नवौ खंड सात दीप; सात हू समुद्र पार,
हैहै ना जलालुद्दीन साह अकब्बर तें॥

(१५) रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना)—ये अकबर बादशाह के अभिभावक प्रसिद्ध मोगल सरदार बैरमखॉ खानखाना के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१० मे हुआ। ये संस्कृत, अरबी और फारसी के पूर्ण विद्वान् और हिंदी काव्य के पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे। ये दानी और परोपकारी ऐसे थे कि अपने समय के कर्ण माने जाते थे। इनकी दानशीलता हृदय की सच्ची प्रेरणा के रूप में थी, कीर्ति की कामना से उसका कोई संपर्क न था। इनकी सभा विद्वानों और कवियो से सदा भरी रहती थी। गंग कवि को इन्होने एक बार छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। अकबर के समय में ये प्रधान सेना-नायक और मंत्री थे और अनेक बड़े बड़े युद्धो मे भेजे गए थे।

ये जहॉगीर के समय तक वर्तमान रहे। लड़ाई मे धोखा देने के अपराध मे एक बार जहॉगीर के समय मे इनकी सारी जागीर जब्त हो गई और ये कैद कर लिए गए। कैद से छूटने पर इनकी आर्थिक अवस्था कुछ दिनों तक बड़ी हीन रही। पर जिस मनुष्य ने करोड़ों रुपए दान कर दिए, जिसके यहॉ से कोई विमुख न लौटा उसका पीछा याचको से कैसे छूट सकता था? अपनी दरिद्रता का दुःख वास्तव मे इन्हे उसी समय होता था जिस समय इनके पास कोई याचक जा पहुँचता और ये उसकी यथेष्ट सहायता नहीं कर सकते थे। अपनी अवस्था के अनुभव की व्यंजना इन्होने इस दोहे मे की है—

तबही लौं जीबो भलो दैबौ होय न धीम।
जगमें रहिबो कुँचित गति उचित न होय रहीम॥

संपत्ति के समय में जो लोग सदा घेरे रहते हैं विपद के आने पर उनमे से अधिकांश किनारा खींचते है, इस बात का द्योतक यह दोहा है—

ये रहीम दर दर फिरैं, मॉगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छॉड़िए, अब रहीम वे नाहिं॥

कहते हैं कि इसी दीन दशा में इन्हे एक याचक ने आ घेरा। इन्होने यह दोहा लिखकर उसे रीवाँ नरेश के पास भेजा—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध-नरेस।
जापर विपदा परति है सो आवत यहि देस॥

रीवाँ-नरेश ने उस याचक को एक लाख रुपए दिए।

गो० तुलसीदासजी से भी इनका बड़ा स्नेह था। ऐसी जनश्रुति है कि एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिये धन न होने से घबराया हुआ गोस्वामीजी के पास आया। गोस्वामीजी ने उसे रहीम के पास भेजा और दोहे की एक यह पंक्ति लिखकर दे दी—

सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत सा द्रव्य देकर बिदा किया और दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार पूरी करके दे दी—

गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम ने बड़ी बड़ी चढ़ाइयाँ की थी और मोगल-साम्राज्य के लिये न जाने कितने प्रदेश जीते थे। इन्हें जागीर मे बहुत बड़े बडे सूबे और गढ़ मिले थे। संसार का इन्हें बड़ा गहरा अनुभव था। ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष को ग्रहण करने की भावुकता इनमें अद्वितीय थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारो के बीच रखकर जो संवेदना इन्होने प्राप्त की है उसी की व्यंजना अपने दोहे में की है। तुलसी के वचनो के समान रहीम के वचन भी हिंदी-भाषी भूभाग मे सर्वसाधारण के मुँह पर रहते है। इसका कारण है जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। रहीम के दोहे वृंद और गिरधर के पद्यो के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं। उनमे मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा। रहीम का हृदय, द्रवीभूत होने के लिये, कल्पना की उड़ान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारो मे ही अपने द्रवीभूत होने के लिये पर्य्याप्त स्वरूप पा जाता था। 'बरवै नायिका-भेद'

में भी जो मनोहर और छलकाते हुए चित्र है वे भी सच्चे हैं—कल्पना के झूठे खेल नहीं हैं। उनमे भारतीय प्रेम जीवन की सच्ची झलक है।

भाषा पर तुलसी का सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं। ये ब्रज और अवधी—पच्छिमी और पूरबी—दोनो काव्य-भाषाओ मे समान कुशल थे। 'बरवै नायिका-भेद' बड़ी सुदर अवधी भाषा मे है। इनकी उक्तियाँ ऐसी लुभावनी हुई कि बिहारी आदि परवर्त्ती कवि भी बहुतो का अपहरण करने का लोभ न रोक सके। यद्यपि रहीम सर्वसाधारण में अपने दोहो के लिये ही प्रसिद्ध है पर इन्होने बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, पद—सब मे थोड़ी-बहुत रचना की है।

रहीम का देहावसान संवत् १६८३ में हुआ। अब तक इनके निम्नलिखित ग्रंथ ही सुने जाते थे—रहीम-दोहावली या सतसई, बरवै नायिका-भेद, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी। पर भरतपुर के श्रीयुत पडित मयाशंकरजी याज्ञिक ने इनकी और भी रचनाओं का पता लगाया है—जैसे नगर-शोभा, फुटकल बरवै, फुटकल कवित्त सवैये—और रहीम का एक पूरा संग्रह 'रहीम-रत्नावली' के नाम से निकाला है।

कहा जा चुका है कि ये कई भाषाओं और विद्याओं मे पारंगत थे। इन्होंने फारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाकयात-बाबरी' का तुर्की से फारसी मे अनुवाद किया था। कुछ मिश्रित रचना भी इन्होंने की है—'रहीम काव्य' हिंदी-संस्कृत की खिचड़ी है। और 'खेट कौतुम्' नामक ज्योतिष का ग्रंथ संस्कृत और फारसी की खिचड़ी है। कुछ संस्कृत श्लोको की रचना भी ये कर गए हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

(सतसई या दोहावली से)

दुरदिन परे रहीम कह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं बित-हानि को, जौ न होय हित-हानि॥
कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात हैं, बिपति सबै लै जाय॥

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय॥
सर सूखे पंछी उड़ैं, और सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पंख के कहु रहीम कहँ जाहिं॥
माँगत मुकरिन को गयो केहि न त्यागियो साथ?
माँगत आगे सुख लह्यौ ते रहीम रघुनाथ॥
रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए जिन मुख निकसत "नाहिं"॥
रहिमन रहिला की भली, जौ परसै चितलाय।
परसत मन मैलो करै, सो मैदा जरि जाय॥

(बरवै नायिका-भेद से)

भोरहि बोलि कोइलिया बढवति ताप।
घरी एक भरि अलिया! रहु चुपचाप॥
बाहर लैकै दियवा बारन जाइ।
सासु ननद घर पहुँचत देति बुझाइ॥
पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन।
बिहँसत चतुर तिरियवा बैठक दीन॥
लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥
पीतम इक सुमरिनियाँ मोहिं देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु॥

(मदनाष्टक से)

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल-चखन-वाला चाँदनी में खडा था॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

(नगर शोभा से)

उत्तम जाति है बाम्हनी, देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय॥

रूपरंग रतिराज में, छतरानी इतरान।
मानौ रची बिरंचि पचि, कुसुम-कनक में सान॥
बनियाइनि बनि आइकै, बैठि रूप की हाट।
पेम पेक तन हेरिकै गरुवै टारति बाट॥
गरब तराजू करति चख, भौंह मोरि मुसकाति।
डाँड़ी मारति बिरह की, चित चिंता घटि जाति॥

(फुटकल कवित्त आदि से)

बड़न सो जान पहचान कै रहीम कहा,
जो पै करतार ही न सुख देनहार है।
सीतहर सूरज सों नेह कियो याहि हेत,
ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है॥
छीरनिधि माहिं धँस्यो संकर के सीस बस्यो,
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै।
बड़ो रिझवार या चकोर-दरबार है, पै
कलानिधि-यार तऊ चाखत अँगार है॥

जाति हुती सखि गोहन में मनमोहन को लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रज की उनहूँ नंदलाल को रीझिबो जानो॥
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यों कमनैत दमानक में फिरि तीर सों मारि लै जात निसानो॥

कमलदल नैनन की उनमानि।
बिसरति नाहिं, सखी! मो मन तें मंद मंद मुसकानि।
बसुधा की बस करी मधुरता सुधापगी बतरानि॥
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुतामल थहरानि।
नृत्य समय पीतांबर हू की फहर फहर फहरानि॥
अनुदिन श्रीवृंदावन ब्रज तें आवन आवन जानि।
अब रहीम चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि॥

(१६) **कादिर**—कादिरबख्श पिहानी जिला हरदोई के रहनेवाले और सैयद इब्राहीम के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६३५ मे माना जाता है अतः इनका कविता-काल सं० १६६० के आसपास समझा जा सकता है। इनकी कोई पुस्तक तो नहीं मिलती पर फुटकल कवित्त पाए जाते हैं। कविता ये चलती भाषा में अच्छी करते थे। इनका यह कवित्त लोगों के मुँह से बहुत सुनने मे आता है—

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी और पुरान-ज्ञान ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चबाइन को मान ठहरानो है॥
कादिर कहत यासों कछु कहिबे को नाहिं,
जगत की रीत देखि चुप मन मानो है॥
खोलि देखौ हियौ सब ओरन सों भाँति भाँति,
गुन ना हिरानो, गुनगाहक हिरानो है॥

(१७) **मुबारक**—सैयद मुबारक अली बिलग्रामी का जन्म सं० १६४० मे हुआ था, अतः इनका कविताकाल सं० १६७० के पीछे मानना चाहिए।

ये संस्कृत, फारसी और अरबी के अच्छे पंडित और हिंदी के सहृदय कवि थे। जान पड़ता है, ये केवल शृंगार की ही कविता करते थे। इन्होंने नायिका के अंगो का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर इन्होंने एक एक अंग पर सौ सौ दोहे बनाए थे। इनका प्राप्त ग्रंथ "अलक-शतक और तिल-शतक" उन्हीं के अन्तर्गत है। इन दोहों के अतिरिक्त इनके बहुत से कवित्त सवैये संग्रह-ग्रंथो मे पाए जाते और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं। इनकी उत्प्रेक्षा बहुत बढ़ी चढ़ी होती थी और वर्णन के उत्कर्ष के लिये कभी कभी ये बहुत दूर तक बढ़ जाते थे। कुछ नमूने देखिए—

(अलक-शतक और तिल-शतक से)

परी मुबारक तिय-बदन अलक ओप अति होय।
मनो चंद की गोद में रही निसा सी सोय॥

चिबुक-कूप में मन परयो छबिजल-तृषा विचारि।
कढ़ति मुबारक ताहि तिय अलक-डोरि सी डारि॥
चिबुक कूप रसरी-अलक, तिल सु चरस, दृग बैल॥
बारी बैस सिंगार को, सींचत मनमथ-छैल॥

(फुटकल से)

कनक-बरन बाल, नगन-लसत भाल,
मोतिन के माल उर सोहैं भली भाँति है।
चंदन चढ़ाय चारु चंद्रमुखी मोहनी सी,
प्रात ही अन्हाय पग धारे मुसकाति है॥
चूनरी विचित्र स्याम सजि कै मुबारकजू,
ढाँकि नखसिख तें निपट सकुचाति है।
चंद्रमै लपेटि कै, समेटि कै नखत मानो,
दिन को प्रनाम किए राति चली जाति है॥

(१८) **बनारसीदास**—ये जौनपुर के रहनेवाले एक जैन जौहरी थे जो आमेर में भी रहा करते थे। इनके पिता का नाम खड़गसेन था। ये संवत् १६४३ मे उत्पन्न हुए थे। इन्होने संवत् १६९८ तक का अपना जीवनवृत्त अर्द्धकथानक नामक ग्रंथ मे दिया है। पुराने हिंदी-साहित्य मे यही एक आत्म-चरित मिलता है, इससे इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि युवावस्था मे इनका आचरण अच्छा न था और इन्हें कुष्ठ रोग भी हो गया था। पर पीछे ये सँभल गए। ये पहले शृंगाररस की कविता किया करते थे, पर पीछे ज्ञान हो जाने पर इन्होने वे सब कविताएँ गोमती नदी मे फेक दीं और ज्ञानोपदेशपूर्ण कविताएँ करने लगे। कुछ उपदेश इनके ब्रजभाषा-गद्य मे भी है। इन्होंने जैनधर्म-संबंधी अनेक पुस्तकों के सारांश हिंदी में कहे हैं। अब तक इनकी बनाई इतनी पुस्तको का पता चला है—

बनारसी-विलास (फुटकल कवित्तो का संग्रह), नाटक-समयसार (कुंद-कुंदाचार्यकृत ग्रंथ का सार), नाममाला (कोश), अर्द्धकथानक, बनारसी

पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याणमंदिर भाषा, वेदनिर्णय पंचाशिका, मारगन विद्या।

इनकी रचना-शैली पुष्ट है और इनकी कविता दादूपंथी सुंदरदासजी की कविता से मिलती जुलती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

भोंदू! ते हिरदय की आँखैं।
जे सरबै अपनी सुख-संपति भ्रम की संपति भाखैं॥
जिन आँखिन सों निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारैं।
जिन आँखिन सों लखि सरूप मुनि ध्यान धारना धारैं॥

काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीति,
लिए हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्यौंही पायँ गाड़ै पै न छाँड़ै टेक पकरी॥
मोह की मरोर सों मरम को न ठौर पावैं,
धावैं चहुँ ओर ज्यौं वढावैं जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि, झूठ के झरोखे भूलि,
फूली फिरै ममता जँजीरन सों जकरी॥

(१६) **सेनापति**—ये अनूपशहर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर, पितामह का परशुराम और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। इनका जन्मकाल संवत् १६४६ के आस-पास माना जाता है। ये बड़े ही सहृदय कवि थे। ऋतुवर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतुवर्णन मे प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है। पदविन्यास भी इनका ललित है। कहीं कहीं विरामो पर अनुप्रास का निर्वाह और यमक का चमत्कार भी अच्छा है। सारांश यह कि अपने समय के ये बड़े भावुक और निपुण कवि थे। अपना परिचय इन्होंने इस प्रकार दिया है—

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम,
जिन कीन्हें जज्ञ, जाकी विपुल बड़ाई है।

गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है ॥
महा जानमनि, विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि दीच्छित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है ॥

इनकी गर्वोक्तियाँ खटकती नहीं, उचित जान पड़ती हैं। अपने जीवन के पिछले काल में ये संसार से कुछ विरक्त हो चले थे। जान पड़ता है कि मुसलमानी दरबारों में भी इनका अच्छा मान रहा, क्योंकि अपनी विरक्ति की झोक मे इन्होंने कहा है—

केतो करौ कोइ, पैए करम लिखोइ, तातें
दूसरी न होइ, उर सोइ ठहराइए।
आधी तें सरस बीति गई है बरस, अब
दुर्जन-दरस बीच रस न बढ़ाइए ॥
चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित,
सेनापति ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइए।
चारि-बर-दानि तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए ॥

शिवसिंह-सरोज मे लिखा है कि पीछे इन्होंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया था। इनके भक्तिभाव से पूर्ण अनेक कवित्त 'कवित्तरत्नाकर' मे मिलते हैं। जैसे—

महा मोह-कंदनि में जगत-जकंदनि में,
दिन दुख-दंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को,
सेनापति याहीं ते कहत अकुलाय कै ॥
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
डारौं लोकलाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन पुंजनि में वृंदावन-कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै ॥

यद्यपि इस कवित्त मे वृंदावन का नाम आया है पर इनके उपास्य राम ही जान पड़ते हैं; क्योंकि स्थान स्थान पर इन्होंने 'सियापति', 'सीतापति', 'राम' आदि नामों का ही स्मरण किया है। कवित्त रत्नाकर इनका सबसे पिछला ग्रंथ जान पड़ता है, क्योंकि उसकी रचना संवत् १७०६ मे हुई है, यथा—

संवत् सत्रह सै छ में सेइ सिआपति पाय।
सेनापति कविता सजी सज्जन सजौ सहाय॥

इनका एक ग्रंथ 'काव्य-कल्पद्रुम' भी प्रसिद्ध है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और रचना बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल है। जैसे एक ओर इनमे पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता भी। श्लेष का ऐसा साफ उदाहरण शायद ही और कहीं मिले—

नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगे सब दैन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार बार है।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सुभ जनमन भावै निरधार है॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै, दानपाठ परवार है।
सेनापति वचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हें इकसार है॥

भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियो का देखा जाता है। इनकी भाषा मे बहुत कुछ माधुर्य ब्रजभाषा का ही है, संस्कृत पदावली पर अवलंबित नहीं। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है। इनके ऋतुवर्णन के अनेक कवित्त बहुत से लोगो को कंठ हैं। रामचरित-संबंधी कवित्त भी बहुत ही ओजपूर्ण हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

बानि सों सहित सुबरन मुँह रहै जहाँ,
धरत बहुत भाँति अरथ-समाज को।

संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं,
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को ॥
सुनौ महाजन ! चोरी होति चार चरन की,
तातें सेनापति कहै तजि उर लाज को।
लीजियो बचाय ज्यों चुरावै नाहिं कोउ, सौंपी
बित्त की सी थाती मैं कबित्तन के ब्याज को ॥

वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।
तजति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है ॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत
धमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूँ भाँति
आने हैं पहार मानों काजर के ढोय कै।
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोय कै ॥

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।

धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ ॥
आई सुधि बर की, हिय में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ॥

बालि को सपूत कपिकुल-पुरहूत,
रघुबीर जू को दूत धरि रूप विकराल को।
युद्धमद गाढ़ो पाँव रोपि भयो ठाढो, सेना-
पति बल बाढो रामचंद्र भुवपाल को ॥
कच्छप कहलि रह्यो, कुडली टहलि रह्यो,
दिग्गज दहलि त्रास परो चकचाल को ॥
पाँव के धरत अति भार के परत भयो--
एक ही परत मिलि सपत-पताल को ॥

रावन को बीर, सेनापति रघुबीर जू की
आयो है सरन, छाँडि ताहि मद-अंध को।
मिलत ही ताको राम कोप कै करी है ओप
नाम जोय दुर्जनदलन दीनबंधु को ॥
देखौ दानवीरता-निदान एक दान ही में,
दीन्हें दोऊ दान, को बखानै सत्यसंध को।
लंका दसकंधर को दीनी है विभीपन को,
संका विभीपन की सो दीनी दसकंध को ॥

सेनापतिजी के भक्तिप्रेरित उद्‌गार भी बहुत अनूठे और चमत्कारपूर्ण हैं। "आपने करम करि हौं ही निबहौंगो तौ तौ हौं ही करतार, करतार तुम काहे के ?" वाला प्रसिद्ध कवित्त इन्हीं का है।

(२०) **पुहकर कवि**—ये परतापपुर (जिला मैनपुरी) के रहनेवाले थे,

पर गुजरात मे सोमनाथजी के पास भूमि-गॉव मे रहते थे। ये जाति के कायस्थ थे और जहाँगीर के समय मे वर्तमान थे। कहते हैं कि जहाँगीर ने किसी बात पर इन्हें आगरे में कैद कर लिया था। वहीं कारागार मे इन्होने 'रसरतन' नामक ग्रंथ संवत् १६७३ मे लिखा जिस पर प्रसन्न होकर बादशाह ने इन्हें कारागार से मुक्त कर दिया। इस ग्रंथ मे रंभावती और सूरसेन की प्रेम-कथा कई छंदों मे, जिनमे मुख्य दोहा और चौपाई हैं, प्रबंध-काव्य की साहित्यक पद्धति पर लिखी गई है। कल्पित कथा लेकर प्रबंध-काव्य रचने की प्रथा पुराने हिंदी-कवियों मे बहुत कम पाई जाती है। जायसी आदि सूफी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं, पर उनकी परिपाटी बिल्कुल भारतीय नहीं थी। इस दृष्टि से 'रसरतन' को हिंदी साहित्य मे एक विशेष स्थान देना चाहिए।

इसमे संयोग और वियोग की विविध दशाओ का साहित्य की रीति पर वर्णन है। वर्णन उसी ढंग के है जिस ढंग के शृंगार के मुक्तक-कवियो ने किए हैं। पूर्वराग, सखी, मंडन, नखशिख, ऋतु-वर्णन आदि शृंगार की सब सामग्री एकत्र की गई है। कविता सरस और भाषा प्रौढ़ है। इस कवि के और ग्रंथ नहीं मिले है पर प्राप्त ग्रंथ को देखने से ये एक अच्छे कवि जान पड़ते हैं। इनकी रचना की शैली दिखाने के लिये ये उद्धृत पद्य प्रर्याप्त होगे—

चले मैमता हस्ति झूमंत मत्ता। मनो बद्दला स्याम साथै चलंता॥
बनी बागरी रूप राजंत दंता। मनो बग्ग आषाढ पाँतैं उदंता॥
लसैं पीत लालैं, सुढालैं ढलक्कैं। मनों चंचला चौंधि छाया छलक्कैं॥

चंद की उजारी प्यारी नैनन तिहारे, परे
चंद की कला में दुति दूनी दरसाति है।
ललित लतानि में लता सी गहि सुकुमारि
मालती सी फूलै जब मृदु मुसुकाति है॥
पुहकर कहै जित देखिए विराजै तित
परम विचित्र चारु चित्र मिलि जाति है।
आवै मन माहि तब रहै मन ही में गड़ि,
नैननि बिलोके बाल नैननि समाति है॥

(२१) **सुंदर**—ये ग्वालियर के ब्राह्मण थे और शाहजहाँ के दरबार मे कविता सुनाया करते थे। इन्हें बादशाह ने पहिले कविराय की और फिर महा कविराय की पदवी दी थी। इन्होने सवत् १६८८ में 'सुंदर-शृंगार' नामक नायिकाभेद का एक ग्रंथ लिखा। कवि ने रचना की तिथि इस प्रकार दी है—

संवत सोरह सै बरस बीते अठतर सीति।
कातिक सुदि सतमी गुरौ रचे ग्रंथ करि प्रीति॥

इसके अतिरिक्त 'सिंहासन-बत्तीसी' और 'बारहमासा' नाम की इनकी दो पुस्तकें और कही जाती हैं। यमक और अनुप्रास की ओर इनकी कुछ विशेष प्रवृत्ति जान पड़ती है। इनकी रचना शब्द-चमत्कारपूर्ण है। एक उदाहरण दिया जाता है—

काके गए बसन? पलटि आए बसन, सु
  मेरो कछु बस न रसन उर लागे हौ।
भौहें तिरछौहैं कवि सुंदर सुजान सोहैं,
  कछू अलसौहैं गौं है जाके रस पागे हौ॥
परसौं मैं पाय हुते परसौं मैं पाय गहि
  परसौ वे पाय निसि जाके अनुरागे हौ।
कौन बनिता के हौ जू कौन बनिता के हौ सु,
  कौन बनिता के बनि, ताके संग जागे हौ?

(२२) **लालचंद या लब्धोदय**—ये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (सं० १६८५–१७०९) की माता जांबवतीजी के प्रधान श्रावक हंसराज के भाई डूँगरसी के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७०० मे 'पद्मिनी-चरित्र' नामक एक प्रबंध-काव्य की रचना की जिसमे राजा रत्नसेन और पद्मिनी की कथा का राजस्थानी मिली भाषा मे वर्णन है। जायसी ने कथा का जो रूप रखा है उससे इसकी कथा में बहुत जगह भेद है—जैसे, जायसी ने हीरामन तोते के द्वारा पद्मिनी का वर्णन सुनकर रत्नसेन का मोहित होना लिखा है, पर इसमें भाटो द्वारा एकबारगी घर से निकल पड़ने का कारण इसमे यह बताया गया है कि पटरानी प्रभावती ने राजा के सामने जो भोजन रखा वह उसे पसंद न आया। इस पर रानी ने चिढ़कर कहा कि यदि मेरा भोजन अच्छा नहीं लगता तो कोई पद्मिनी ब्याह लाओ।

तब तड़की बोली तिसे जो, राखी मन धरि रोस।
नारी आणों काँ न बीजी द्यो मत भूठो दोस॥
हम्मे कलेबी जीणा नहीं जी, किसूँ करीजै बाद।
पदमणि का परणो न बीजी, जिमि भोजन होय स्वाद॥

इस पर रत्नसेन यह कहकर उठ खड़ा हुआ—

राखो तो हूँ रनतंसी परणूँ पदमनि नारि।

राजा समुद्र-तट पर जा पहुँचा जहाँ से औघड़नाथ सिद्ध ने अपने योग-बल से उसे सिंहलद्वीप पहुँचा दिया। वहाँ राजा की बहिन पद्मिनी के स्वयंवर की मुनादी हो रही थी—

सिंहलदीप नो राजियो रे सिंगल सिंह समान रे।
तसु बहण छै पदमिणि रे, रूपे रंभ समान रे।
जोबन लहन्याँ जायछै रे, ते परणूँ भरतार रे।
परतज्ञा जे पूरवै रे तासु बरै बरमाल रे।

राजा अपना पराक्रम दिखाकर पद्मिनी को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जायसी के वृत्त से और भी कई बातो मे भेद है। इस चरित्र की रचना गीत-काव्य के रूप मे समझनी चाहिए।

सूफी-रचनाओं के अतिरिक्त
भक्तिकाल के अन्य आख्यान-काव्य

आश्रयदाता राजाओं के चरित्र-काव्य तथा ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान-काव्य लिखने की जैसी परंपरा हिंदुओं मे बहुत प्राचीन काल से चली आती थी वैसी पद्यबद्ध कल्पित कहानियाँ लिखने की नहीं थी। ऐसी कहानियाँ मिलती हैं, पर बहुत कम। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रसंगों या वृत्तों की कल्पना की प्रवृत्ति कम थी। पर ऐसी कल्पना किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष या घटना का कुछ—कभी कभी अत्यंत अल्प—सहारा लेकर खड़ी की जाती थी। कही कहीं तो केवल कुछ नाम ही ऐतिहासिक या पौराणिक रहते थे, वृत्त सारा कल्पित रहता था, जैसे, ईश्वरदास कृत 'सत्यवती-कथा'।

आत्मकथा का विकास भी नहीं पाया जाता। केवल जैन कवि बनारसीदास का 'अर्धकथानक' मिलता है।

नीचे मुख्य आख्यान काव्यो का उल्लेख किया जाता है—

ऐतिहासिक-पौराणिक	कल्पित	आत्म-कथा
१ रामचरित-मानस (तुलसी)	१ ढोला मारू रा दूहा (प्राचीन)	१ अर्धकथानक (बनारसीदास)
२ हरिचरित्र (लालचदास)	२ लक्ष्मणसेन पद्मावती-कथा (दामोकवि)	
३ रुक्मिणी मंगल (नरहरि)	३ सत्यवती-कथा (ईश्वरदास)	
४ ,, (नंददास)	४ माधवानल-कामकंदला (आलम)	
५ सुदामाचरित्र (नरोतमदास)	५ रसरतन (पुहकर कवि)	
६ रामचंद्रिका (केशवदास)	६ पद्मिनी-चरित्र (लालचंद)	
७ वीरसिंहदेव-चरित (केशव)	७ कनकमंजरी (काशीराम)	
८ वेलि क्रिसन रुकमणी री (जोधपुर के राठौड राजा प्रिथीराज)		

ऊपर दी हुई सूची मे 'ढोला मारू रा दूहा' और 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी भाषा में हैं। ढोला मारू की प्रेमकथा राजपुताने में बहुत प्रचलित है। दोहे बहुत पुराने है, यह बात उनकी भाषा से पाई जाती है। बहुत दिनो तक मुखाग्र ही रहने के कारण बहुत से दोहे लुप्त हो गए थे, जिससे कथा की शृंखला बीच बीच मे खंडित हो गई थी। इसी से संवत् १६१८ के लगभग जैनकवि कुशल-लाभ ने बीच बीच मे चौपाइयाँ रचकर जोड़ दी। दोहो की प्राचीनता का अनुमान इस बात से हो सकता है कि कबीर की साखियो में ढोला मारू के बहुत से दोहे ज्यो के त्यों मिलते हैं।

"बेलि क्रिसन रुकमणी री" जोधपुर के राठौड राजवंशीय स्वदेशाभिमानी पृथ्वीराज की रचना है जिनका महाराणा प्रताप को क्षोभ से भरा पत्र लिखना इतिहास-प्रसिद्ध है। रचना प्रौढ़ भी है और मार्मिक भी। इसमे श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है।

पदमिनी-चरित्र की भाषा भी राजस्थानी-मिली है।

उत्तर-मध्यकाल

(रीतिकाल १७००-१९००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

हिंदी-काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था। संवत् १५९८ मे कृपाराम थोड़ा बहुत रस-निरूपण भी कर चुके थे। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगार-सागर' नामक एक ग्रंथ श्रृंगार संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथी करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे। रस-निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदासजी ने काव्य के सब अंगो का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमे संदेह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी मे रीतिग्रंथो की अविरल और अखडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कवि-प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।

केशव के प्रसंग मे यह पहले कहा जा चुका है कि वे काव्य मे अलंकारो का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई। साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होने हिंदी-पाठकों को काव्यांग-निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह

और उद्भट के समय में थी; उस उत्तर-दशा का नहीं जो आनंदवर्धनाचार्य्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय मे अलंकार और अलंकार्य्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था; रस, रीति, अलंकार आदि सब के लिये 'अलंकार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कविप्रिया' में भी पाते हैं। उसमें 'अलंकार' के 'सामान्य' और 'विशेष' दो भेद करके, 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य विषय और 'विशेष' के अंतर्गत वास्तविक अलंकार रखे गए हैं। (विशेष दे० केशवदास)

पर केशवदास के उपरात तत्काल रीतिग्रंथों की परंपरा चली नहीं। कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे उसकी अखंड परंपरा का आरंभ हुआ। यह परंपरा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्य्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्त्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमे अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था। हिंदी के अलंकार-ग्रंथ अधिकतर 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों मे 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के संबंध में हिंदी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार दैव योग ये संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिंदी में हो गई।

हिंदी रीतिग्रंथो की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए। उन्होने संवत् १७०० के कुछ आगे पीछे 'काव्यविवेक,' 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य प्रकाश' ये तीन ग्रंथ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया और पिंगल या छंदःशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। उसके उपरांत तो लक्षणग्रंथो की भरमार सी होने लगी। कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप मे कवित्त या सवैया लिखना। हिंदी-साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत साहित्य मे कवि और आचार्य्य दो भिन्न भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी-काव्यक्षेत्र मे यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्य्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्यालोचन-शक्ति की

अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्य्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नए नए सिद्धांतो का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य मे ही लिखा जाता था। पद्य मे किसी बात की सम्यक् मीमासा या उस पर तर्क वितर्क हो नहीं सकता। इस अवस्था मे 'चंद्रालोक' की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण मे ही लक्षण कहकर छुट्टी ली।

उपर्युक्त बातो पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में लक्षण-ग्रंथ की परिपाटी पर रचना करनेवाले जो सैकड़ो कवि हुए वे आचार्य्य-कोटि मे नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमे आचार्य्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्य्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने मे असमर्थ हैं। बहुत स्थलों पर तो उनके द्वारा अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक ठीक बोध नही हो सकता। कहीं कहीं तो उदाहरण भी ठीक नहीं हैं। 'शब्द-शक्ति' का विषय तो दो ही चार कवियो ने नाममात्र के लिये लिया है जिससे उस विषय का स्पष्ट बोध होना तो दूर रहा, कहीं कही भ्रात धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। काव्य के साधारणतः दो भेद किए जाते है—श्रव्य और दृश्य। इनमे से दृश्य काव्य का निरूपण तो छोड़ ही दिया गया। सारांश यह कि इन रीतिग्रंथो पर ही निर्भर रहनेवाले व्यक्ति का साहित्यज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय कि रीतिकाल के भीतर साहित्यशास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई नई बातो की उद्भावना होती रही।

केशवदास के वर्णन मे यह दिखाया जा चुका है कि उन्होने सारी सामग्री कहाँ कहाँ से ली। आगे होनेवाले लक्षणग्रंथकार कवियों ने भी सारे लक्षण और भेद संस्कृत की पुस्तको से लेकर लिखे है जो कहीं कहीं अपर्य्याप्त हैं। अपनी ओर से उन्होने न तो अलंकार-क्षेत्र मे कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस-क्षेत्र मे। काव्यांगो का विस्तृत समावेश दासजी ने अपने 'काव्य-निर्णय' मे किया है। अलंकारो को जिस प्रकार उन्होने बहुत से छोटे छोटे प्रकरणों मे

बाँट कर रखा है उससे भ्रम हो सकता है कि शायद किसी आधार पर उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है। पर वास्तव में उन्होंने किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न नहीं किया है। दासजी की एक नई योजना अवश्य ध्यान देने योग्य है। संस्कृत-काव्य मे अंत्यानुप्रास या तुक का चलन नहीं था, इससे सस्कृत के साहित्यग्रथों मे उसका विचार नहीं हुआ है। पर हिंदी-काव्य मे वह बराबर आरंभ से ही मिलता है। अतः दासजी ने अपनी पुस्तक मे उसका विचार करके बड़ा ही आवश्यक कार्य किया।

भूषण का 'भाविक छवि' एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है, पर है वास्तव मे सस्कृतग्रंथों के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप। 'भाविक' का संबंध कालगत दूरी से है, इसका देशगत से। बस इतना ही अंतर है।

दासजी के 'अतिशयोक्ति' के पाँच नए दिखाई पड़नेवाले भेदो में से चार तो भेदो के भिन्न भिन्न योग हैं। पाँचवाँ 'संभावनातिशयोक्ति' तो संबंधातिशयोक्ति ही है।

देव कवि का संचारियो के बीच 'छल' बढ़ा देना कुछ लोगो को नई सूझ समझ पड़ा है। उन्हें समझना चाहिए कि देव ने जैसे और सब बाते संस्कृत की 'रस-तरंगिणी' से ली हैं, वैसे ही यह 'छल' भी। सच पूछिए तो छल का अंतर्भाव अवहित्था मे हो जाता है।

इस बात का संकेत पहले किया जा चुका है कि हिंदी के पद्यबद्ध लक्षण-ग्रंथो मे दिए हुए लक्षणो और उदाहरणो में बहुत जगह गड़बड़ी पाई जाती है। अब इस गड़बड़ी के सबंध मे दो बाते कही जा सकती हैं। या तो यह कहे कि कवियो ने अपना मतभेद प्रकट करने के लिये जानबूझकर भिन्नता कर दी है अथवा प्रमादवश और का और समझ कर। मतभेद तो तब कहा जाता जब कहीं कोई नूतन विचार-पद्धति मिलती। अतः दूसरा ही कारण ठहरता है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) केशवदास ने रूपक के तीन भेद दंडी से लिए—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक-रूपक। इनमे से प्रथम का लक्षण भी स्वरूप व्यक्त

नहीं करता और उदाहरण भी अधिकताद्रूप्य रूपक का हो गया है। विरुद्ध-रूपक भी दंडी से नहीं मिलता और रूपकातिशयोक्ति हो गया है। रूपक रूपक दंडी के अनुसार वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत पर एक अप्रस्तुत का आरोप करके फिर दूसरे प्रस्तुत का भी आरोप कर दिया जाता है। केशव के न तो लक्षण से यह बात प्रकट होती है, न उदाहरण से। उदाहरण मे दंडी के उदाहरण का ऊपरी ढाँचा भर कुछ झलकता है, पर असल बात का पता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि बिना ठीक तात्पर्य समझे ही लक्षण और उदाहरण हिंदी मे दे दिए गए है।

(२) भूषण क्या प्रायः सब हिंदी कवियों ने 'भ्रम', 'संदेह' और 'स्मरण' अलंकारो के लक्षणों मे सादृश्य की बात छोड़ दी है। इससे बहुत जगह उदाहरण अलंकार के न होकर भाव के हो गए हैं। भूषण का उदाहरण सबसे गड़बड़ है।

(३) शब्द-शक्ति का विषय दास ने थोड़ा सा लिया है, पर उससे उसका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। 'उपादान लक्षणा' का लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण भी असंगत। उदाहरण से साफ झलकता है कि इस लक्षणा का स्वरूप ही समझने मे भ्रम हुआ है।

जब कि काव्यांगों का स्वतंत्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह तरह के 'वाद' कैसे प्रतिष्ठित होते? संस्कृत-साहित्य मे जैसे, अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद, इत्यादि अनेक वाद पाए जाते हैं, वैसे वादों के लिये हिंदी के रीतिक्षेत्र मे रास्ता ही नहीं निकला। केशव को ही अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलंकारवादी कह सकते हैं। केशव के उपरात रीतिकाल मे होनेवाले कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया। वे रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु मान कर चले। महाराज जसवंतसिंह ने अपने 'भाषा-भूषण' की रचना 'चंद्रालोक' के आधार पर की, पर उसके अलंकार की अनि-वार्य्यतावाले सिद्धांत का समावेश नहीं किया।

इन रीति-ग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण

करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारो के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रंथो से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिकाभेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगाररस के अंतर्गत बहुत सुदर मुक्तकरचना हिंदी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिंदी-साहित्य मे हुआ कि इसके एक एक अंग को लेकर स्वतत्र ग्रंथ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिका-भेद के भीतर दिखाया। रसग्रंथ वास्तव में नायिका भेद के ही ग्रंथ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से सक्षेप मे चलते कर दिए गए हैं। नायिका शृंगार रस का आलंबन है। इस आलबन के अंगों का वर्णन एक स्वतत्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रथ केवल नखशिख-वर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप षट्ऋतु-वर्णन पर भी कई अलग पुस्तके लिखी गईं। विप्रलंभ-संबंधी 'बारहमासे' भी कुछ कवियोंने लिखे।

रीति-ग्रंथों की इस परंपरा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास मे कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य वातो तथा जगत् के नाना रहस्यो की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र सकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों मे प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियो की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषा-शैली, पद-विन्यास, अलंकार-विधान आदि बाहरी बातो का भेद हम थोडा बहुत दिखा सके तो दिखा सकें, पर उनकी अभ्यंतर प्रकृति के अन्वीक्षण मे समर्थ उच्च कोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं।

रीति-काल मे एक बड़े भारी अभाव की पूर्त्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियो द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे

उस च्युत-संस्कृति दोष का निराकरण होता जो व्रज-भाषाकाव्य मे थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नही तो वाक्य-दोषो का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा मे कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते है जिनकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होने लिया उसका पूरा आवेश उनमे था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलो पर सदोष है[1]। यदि शब्दो के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दो को तोड़-मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियो को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नही हुई, जिससे भाषा मे बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण व्रज और अवधी इन दोनो काव्य-भाषाओ का कवि के इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगो तक ही परिमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है। काव्य की व्रजभाषा के संबंध मे भी अधिकतर यही बात रही। सूरदास की भाषा मे यत्र तत्र पूरबी प्रयोग—जैसे, मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि—बराबर मिलते है। बिहारी की भाषा भी 'कीन' 'दीन' आदि से खाली नहीं। रीति-ग्रंथो का विकास अधिकतर अवध मे हुआ। अतः इस काल मे काव्य की व्रजभाषा मे अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। इस बात को किसी किसी कवि ने लक्ष्य भी किया। दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' मे काव्यभाषा पर भी कुछ दृष्टिपात किया। मिश्रित भाषा के समर्थन मे वे कहते है—

> व्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोई।
> मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होई॥
> व्रज, मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
> सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

उक्त दोहों मे 'मागधी' शब्द से पूरबी भाषा का अभिप्राय है। अवधी अर्द्ध-मागधी से निकली मानी जाती है और पूरबी हिंदी के अंतर्गत है। जबाँदानी के लिये व्रज का निवास आवश्यक नहीं है, आत कवियो की वाणी भी प्रमाण है, इस बात को दासजी ने स्पष्ट कहा—

१—देखो अगले प्रकरण में भूपण का परिचय।

सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
ब्रजभापा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए॥

मिली-जुली भाषा के प्रमाण मे दासजी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने, जो कवियों के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में, मिली भापा विविध प्रकार॥

इस सीधे सादे दोहे का जो यह अर्थ ले कि तुलसी और गंग इसीलिये कवियो के सरदार हुए कि उनके काव्यो मे विविध प्रकार की भाषा मिली है, उसकी समझ को क्या कहा जाय ?

दासजी ने काव्यभाषा के स्वरूप का जो निर्णय किया वह कोई सौ वर्षों की काव्य-परंपरा के पर्य्यालोचन के उपरात। अतः उनका स्वरूप निरूपण तो बहुत ही ठीक है। उन्होने काव्यभाषा ब्रजभाषा ही कही है जिसमे और भाषाओं के शब्दों का भी मेल हो सकता है। पर भाषा-सबधी और अधिक मीमासा न होने के कारण कवियो ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दो तक ही परिमित नहीं रखा; उनके कारकचिह्नों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौकर्य्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धांत के अनुसार नहीं। 'करना' के भूतकाल के लिये वे छंद की आवश्यकता के अनुसार 'कियो', 'कीनो', 'कस्यो', 'करियो' 'कीन', यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिये आवश्यक है। रूपों के स्थिर न होने से यदि कोई

विदेशी काव्य की व्रजभाषा का अध्ययन करना चाहे तो उसे कितनी कठिनता होगी !

भक्तिकाल की प्रारंभिक अवस्था मे ही किस प्रकार मुसलमानों के संसर्ग से कुछ फारसी के शब्द और चलते भाव मिलने लगे थे इसका उल्लेख हो चुका है। नामदेव और कबीर आदि की तो बात ही क्या, तुलसीदासजी ने भी गनी, गरीब, साहब इताति, उमरदराज आदि बहुत से शब्दों का प्रयोग किया। सूर में ऐसे शब्द अवश्य कम मिलते हैं। फिर मुसलमानी राज्य की दृढ़ता के साथ-साथ इस प्रकार के शब्दो का व्यवहार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यो-त्यों कवि लोग उन्हे अधिकाधिक स्थान देने लगे। राजा महाराजाओ के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे। अतः भाट या कवि लोग 'आयुष्मान्' और 'जयजयकार' ही तक अपने को कैसे रख सकते थे ? वे भी दरबार मे खडे होकर "उमरदराज महाराज तेरी चाहिए" पुकारने लगे। 'बखतबलंद' आदि शब्द उनकी जबान पर भी नाचने लगे।

यह तो हुई व्यावहारिक भाषा की बात। फारसी-काव्य के शब्दों को भी थोड़ा बहुत कवियो ने अपनाना आरंभ किया। रीति-काल मे ऐसे शब्दों की संख्या कुछ और बढ़ी। पर यह देखकर हर्ष होता है कि अपनी भाषा की स्वाभाविक सरसता का ध्यान रखनेवाले उत्कृष्ट कवियों ने ऐसे शब्दों को बहुत ही कम स्थान दिया। परंपरागत साहित्य का कम अभ्यास रखनेवाले साधारण कवियो ने कहीं-कहीं बड़े बेढंगे तौर पर ऐसे विदेशी शब्द रखे है। कहीं-कहीं 'खुसबोयन' आदि उनके विकृत शब्दो को देखकर शिक्षितो को एक प्रकार की विरक्ति सी होती है और उनकी कविता गँवारो की रचना सी लगती है। शब्दो के साथ साथ कुछ थोड़े से कवियों ने इश्क की शायरी की पूरी अलंकार-सामग्री तक उठाकर रख ली है और उनके भाव भी बाँध गए हैं। रस-निधि-कृत 'रतनहजारा' मे यह बात अरुचिकर मात्रा मे पाई जाती है। बिहारी ऐसे परम उत्कृष्ट कवि भी यद्यपि फारसी भावों के प्रभाव से नहीं बचे है पर उन्होंने उन भावो को अपने देशी साँचे में ढाल लिया है जिससे वे खटकते क्या सहसा लक्ष्य भी नहीं होते।

उनकी विरह-ताप की अत्युक्तियो मे दूर की सूझ और नाजुकखयाली बहुत कुछ फारसी की शैली की है, पर बिहारी रसभंग करनेवाले बीभत्स रूप कहीं नही लाए हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद कवित्त और सवैया ही रहे। कवित्त तो शृंगार और वीर दोनों रसो के लिये समान रूप से उपयुक्त माना गया था। वास्तव मे पढ़ने के ढंग मे थोड़ा विभेद कर देने से उसमे दोनों के अनुकूल नादसौंदर्य पाया जाता है। सवैया, शृंगार और करुण इन दो कोमल रसो के बहुत उपयुक्त होता है, यद्यपि वीररस की कविता मे भी इसका व्यवहार कवियो ने जहाँ तहाँ किया है। वास्तव मे शृंगार और वीर इन्ही दो रसो की कविता इस काल मे हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है। शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नही, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

प्रकरण २

रीति-ग्रंथकार कवि

हिंदी साहित्य की गति का ऊपर जो संक्षिप्त उल्लेख हुआ उससे रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति का पता चल सकता है। अब इस काल के मुख्य-मुख्य कवियों का विवरण दिया जाता है।

(१) **चिंतामणि त्रिपाठी**—ये तिकवॉपुर (जि० कानपुर) के रहनेवाले और चार भाई थे—चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारो कवि थे, जिनमे प्रथम तीन तो हिंदी साहित्य मे बहुत यशस्वी हुए। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ दिन से यह विवाद उठाया गया है कि भूषण न तो चिंतामणि और मतिराम के भाई थे, न शिवाजी के दरबार में थे। पर इतनी प्रसिद्ध बात का जब तक पर्याप्त विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक वह अस्वीकार नही की जा सकती। चिंतामणिजी का जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग और कविता-काल संवत् १७०० के आसपास ठहरता है। इनका 'कविकुलकल्पतरु' नामक ग्रंथ सं० १७०७ का लिखा है। इनके संबंध मे शिवसिंहसरोज मे लिखा है कि ये "बहुत दिन तक नागपुर मे सूर्य्यवंशी भोसला मकरन्द शाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर 'छंदविचार' नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया और 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'रामायण', ये पॉच ग्रंथ इनके बनाए हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं। इनकी बनाई रामायण कवित्त और नाना अन्य छंदों मे बहुत अपूर्व है। बाबू रुद्रसाहि सोलंकी, शाहजहाँ बादशाह और जैनदीं अहमद ने इनको बहुत दान दिए हैं। इन्होने अपने ग्रंथ मे कहीं-कहीं अपना नाम मणिमाल भी कहा है।"

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि चिंतामणि ने काव्य के सब अंगों पर ग्रंथ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध के पिछले कवियों की भाषा देखते हुए इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध दिखाई पड़ती है। विषय वर्णन

की प्रणाली भी मनोहर है। ये वास्तव मे एक उत्कृष्ट कवि थे। रचना के कुछ नमूने लीजिए—

येई उधारत हैं तिन्हैं जे परे मोह-महोदधि के जल-फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन, ते न परैं कबहूँ जम-घेरे॥
राजै रमा-रमनी-उपधान अभै बरदान रहै जन नेरे।
है बलभार उदंड भरे हरि के भुजदंड सहायक मेरे॥

इक आजु मैं कुंदन-बेलि लखी मनिमंदिर की रुचिवृंद भरैं
कुरविंद के पल्लव इंदु तहाँ अरविंदन तें मकरंद झरैं।
उत बुंदन के मुकुतागन ह्वै फल सुंदर ध्वै पर आनि परैं
लखि यों दुति कंद अनंद कला नदनंद सिलाद्रव रूप धरैं।

आँखिन मूँदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छल सो छतियाँ, हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
जोबन के मद मत्त तिया हित सों पति को नित चित्त चुरावै॥

(२) **बेनी**—ये असनी के बंदीजन थे और सवत् १७०० के आसप विद्यमान थे। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता पर फुटकल कवित्त बहुत से सुने जाते हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि इन्होंने नखशिख और षट्ऋतु पर पुस्तकें लिखी होंगी। कविता इनकी साधारणतः अच्छी होती थी, भाषा चलती होने पर भी अनुप्रासयुक्त होती थी। दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

छहरै सिर पै छबि मोरपखा उनकी नथ के मुकुता थहरैं।
फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झवा झहरैं॥
रसरंग भिरे अभिरे हैं तमाल दोऊ रसख्याल चहै लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं॥

कबि बेनी नई उनई है घटा, मोरवा बन बोतल कूकन री।
छहरै बिजुरी छिति-मंडल छ्वै लहरै मन मैन-भभूकन री॥
पहिरौ चुनरी चुनिकै दुलही, सँग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यों ही बितावति हौ, मरिहौ, फिर बावरि! हूकन री॥

(३) **महाराज जसवंतसिंह**—ये मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज थे जो अपने समय के सबसे प्रतापी हिंदू नरेश थे और जिनका भय औरंगजेब को बराबर बना रहता था। इनका जन्म संवत् १६८३ मे हुआ। ये शाहजहाँ के समय मे ही कई लड़ाइयों पर जा चुके थे। ये महाराज गजसिंह के दूसरे पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरांत संवत् १६९५ मे गद्दी पर बैठे। इनके बड़े भाई अमरसिंह अपने उद्धत स्वभाव के कारण पिता द्वारा अधिकारच्युत कर दिए गए थे। महाराज जसवंतसिंह बड़े अच्छे साहित्यमर्मज्ञ और तत्त्वज्ञान संपन्न पुरुष थे। उनके समय मे राज्य भर में विद्या की बड़ी चर्चा रही और अच्छे-अच्छे कवियों और विद्वानों का बराबर समागम होता रहा। महाराज ने स्वयं तो ग्रंथ लिखे ही; अनेक विद्वानो और कवियो से न जाने कितने ग्रंथ लिखाए। औरंगजेब ने इन्हे कुछ दिनो के लिये गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ताखाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गए थे। कहते हैं कि चढ़ाई मे शाइस्ताखाँ की जो दुर्गति हुई वह बहुत कुछ इन्हीं के इशारे से। अंत मे ये अफगानो को सर करने के लिये काबुल भेजे गए जहाँ संवत् १७३५ मे इनका परलोकवास हुआ।

ये हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्यों मे माने जाते हैं और इनका 'भाषा-भूषण' ग्रंथ अलंकारों पर एक बहुत ही प्रचलित पाठ्य ग्रंथ रहा है। इस ग्रंथ को इन्होंने वास्तव मे आचार्य्य के रूप मे लिखा है, कवि के रूप मे नहीं। प्राक्कथन मे इस बात का उल्लेख हो चुका है कि रीतिकाल के भीतर जितने लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले हुए वे वास्तव मे कवि थे और उन्होने कविता करने के उद्देश्य से ही वे ग्रंथ लिखे थे, न कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से। पर महाराज जसवंतसिंहजी इस नियम के अपवाद थे। वे आचार्य्य की हैसियत से ही हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में आए, कवि की हैसियत से नहीं। उन्होने अपना 'भाषा भूषण'

बिलकुल 'चंद्रालोक' की छाया पर बनाया और उसी की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण किया। जिस प्रकार 'चंद्रालोक' मे प्रायः एक ही श्लोक के भीतर लक्षण और उदाहरण दोनों का सन्निवेश है उसी प्रकार भाषा भूषण में भी प्रायः एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गए है। इससे विद्यार्थियो को अलंकार कंठ करने मे बड़ा सुबीता हो गया और 'भाषा-भूषण' हिंदी काव्य रीति के अभ्यासियो के बीच वैसा ही सर्वप्रिय हुआ जैसा कि संस्कृत के विद्यार्थियो के बीच चंद्रालोक। भाषा-भूषण बहुत छोटा सा ग्रंथ है।

भाषा-भूषण के अतिरिक्त जो और ग्रंथ इन्होने लिखे है वे तत्त्वज्ञान-संबंधी हैं। जैसे—अपरोक्ष-सिद्धांत, अनुभव-प्रकाश, आनंद-विलास, सिद्धात-बोध, सिद्धांतसार, प्रबोधचंद्रोदय नाटक। ये सब ग्रथ भी पद्य मे ही है, जिनसे पद्य-रचना की पूरी निपुणता प्रकट होती है। पर साहित्य से जहाँ तक संबंध है, ये आचार्य या शिक्षक के रूप मे ही हमारे सामने आते हैं। अलकार-निरूपण की इनकी पद्धति का परिचय कराने के लिये 'भाषा-भूषण' के दोहे नीचे दिए जाते हैं—

अत्युक्ति—अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें भए कलपतरु भूप॥

पर्य्यस्तापह्नुति—पर्यस्त जु गुन एक को और विषय आरोप।
होइ सुधाधर नाहिं यह, वदन सुधाधर ओप।

ये दोहे चंद्रालोक के इन श्लोकों की स्पष्ट छाया हैं—

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादिवर्णनम्।
त्वयि दातरि राजेंद्र याचका कल्पशाखिनः॥
पर्य्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्॥

भाषा-भूषण पर पीछे तीन टीकाएँ रची गई—'अलंकार-रत्नाकर' नाम की टीका, जिसे बंसीधर ने संवत् १७९२ मे बनाया, दूसरी टीका प्रतापसाहि की और तीसरी गुलाब कवि की 'भूषण-चंद्रिका'।

(४) **बिहारीलाल**—ये माथुर चौबे कहे जाते हैं और इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर गाँव मे संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड मे बीती और तरुणावस्था मे ये अपनी ससुराल मथुरा मे आ रहे। अनुमानतः ये संवत् १७२० तक वर्तमान रहे। ये जयपुर के मिर्ज़ा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जिस समय ये कवीश्वर जयपुर पहुँचे उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम मे इतने लीन रहा करते थे कि राजकाज देखने के लिये महलो के बाहर निकलते ही न थे। इसपर सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा किसी प्रकार महाराज के पास भीतर भिजवाया—

नहिँ पराग नहिँ मधुर मधु, नहिँ विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

कहते है कि इसपर महाराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का मान बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के सरस दोहे बनाने की आज्ञा दी। बिहारी दोहे बना बनाकर सुनाने लगे और उन्हे प्रति दोहे पर एक एक अशरफी मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहे बने जो संगृहीत होकर 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शृंगाररस के ग्रंथो मे जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक एक दोहा हिंदी साहित्य मे एक एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासो टीकाएँ रची गईं। इन टीकाओं मे ४-५ टीकाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं—कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तो में है, हरिप्रकाश टीका, लल्लूजी लाल की लालचंद्रिका, सरदार कवि की टीका और सूरति मिश्र की टीका। इन टीकाओ के अतिरिक्त बिहारी के दोहों के भाव पल्लवित करनेवाले छप्पय, कुंडलिया, सवैया आदि कई कवियों ने रचे। पठान सुलतान की कुंडलिया इन दोहो पर बहुत अच्छी है, पर अधूरी है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कुछ और कुंडलिया रचकर पूर्ति करनी चाही थी। पं० अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी-बिहार' मे सब दोहो के भावो को पल्लवित करके रोला छंद लगाए है। पं० परमानंद ने 'शृंगारसप्तशती' नाम से दोहों संस्कृत का

अनुवाद किया है। यहाँ तक कि उर्दू शेरो में भी एक अनुवाद थोड़े दिन हुए बुदेलखंड के मुंशी देवीप्रसाद (प्रीतम) ने लिखा। इस प्रकार बिहारी संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है। बिहारी का सबसे उत्तम और प्रामाणिक संस्करण बड़ी मार्मिक टीका के साथ थोड़े दिन हुए प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ और व्रजभाषा के प्रधान आधुनिक कवि बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने निकाला। जितने श्रम और जितनी सावधानी से यह संपादित हुआ है, आज तक हिंदी का और कोई ग्रथ नहीं हुआ।

बिहारी ने सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रथ नहीं लिखा। यही एक ग्रथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता मे जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों मे अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई सदेह नही। मुक्तक मे प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमे कथा प्रसंग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमे उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारो का एक छोटा सा स्तबक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा मे प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना मे सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छंद मे इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे है। इसी से किसी ने कहा है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर। देखत में छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर॥

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभवों के विधान मे दिखाई पड़ता है। अधिक स्थलो पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति-कौशल के दर्शन होते है, पर इस विधान मे इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावो और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है। नीचे की हावभरी सजीव मूर्तियाँ देखिए—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिए, गड़ी कँटीली भौंह॥

ललन-चलन सुनि पलन में अँसुवा झलकै आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हू झूठै ही जमुहाइ॥

भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु-व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है—विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन मे। कहीं-कहीं इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप मे हो गई है, जैसे—इन दोहो मे—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥

छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियैं गुलाब कैं झवा झवावति पाइ॥
इत आवति, चलि जात उत चली छ सातक हाथ।
चढी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ॥

सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिनन परयो परोसिनि पाप॥
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥

अनेक स्थानो पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिये बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलो पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी मे बहुत से है। पर यहाँ दो एक उदाहरण ही पर्य्याप्त होंगे—

ढीठि परोसिनि ईठ ह्वै कहे जु गहे संयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यो मुसकाहट मैं मान॥
नए बिरह बढती बिथा खरी विकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौं हरषि हँसी तिहि काल॥

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि बिहारी का 'गागर मे सागर' भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से हो संभव हुआ है। यदि नायिकाभेद की प्रथा इतने जोर शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

अलंकारो की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी दोहे मे कई अलंकार उलझे पडे है, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है। 'असंगति' और 'विरोधाभास' की ये मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियाँ कितनी अनूठी हैं!

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन-हिए, दई नई यह रीति॥
तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूडे, तिरे जे बूडे सब अंग॥

दो एक जगह व्यंग्य अलंकार भी बड़े अच्छे ढंग से आए हैं। इस दोहे में रूपक व्यंग्य है—

करे चाह सों चुटकि कै खरे उडौहैं मैन।
लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन॥

शृंगार की संचारी भावो की व्यंजना भी ऐसी मर्मस्पर्शिनी है कि कुछ दोहे सहृदयो के मुँह से बार बार सुने जाते हैं। इस स्मरण मे कैसी गंभीर तन्मयता है—

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही है जिनमे बहुत सी नीति-संबंधिनी हैं। सूक्तियों में वर्णन वैचित्र्य या शब्द-वैचित्र्य ही प्रधान रहता है अतः उनमे से कुछ एक की ही गणना असल काव्य मे हो सकती है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिये बिहारी ने बहुत कम दोहे रचे है। कुछ दोहे यहाँ दिए जाते हैं—

यद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुनौ दीपक-देह।
तऊ प्रकास करै तितो भरिए जितो सनेह॥
कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय॥
तोपर वारौं उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

बिहारी के बहुत से दोहे "आर्य्यासप्तशती" और "गाथासप्तशती" की छाया लेकर बने है, इस बात को पंडित पद्मसिंह शर्मा ने विस्तार से दिखाया है। पर साथ ही उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारी ने गृहीत भावो को अपनी प्रतिभा के बल से किस प्रकार एक स्वतन्त्र और कहीं कहीं अधिक सुंदर रूप दे दिया है।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्यरचना व्यवस्थित है और शब्दो के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों मे पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियो मे शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग-भंग किया है और कहीं कहीं गढंत शब्दो का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिये 'समर', 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नही जानते कि क्रांति को 'संक्रमण' (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ मे संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ मे आगरे के आस पास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाति' से निकला है—जुही से कोई मतलब नही, संस्कृत मे 'वारि' और 'वार्' दोनो शब्द है और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ मे पुरानी कविता मे भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा मे 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन मे भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ मे न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?

बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर 'नख-शिख', 'नायिकाभेद', 'षट्ऋतु' के अंतर्गत उनके सब शृंगारी दोहे

आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहो को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसा कि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसीलिये हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों मे न रख उक्त काल के प्रतिनिधि कवियो मे ही रखा है।

बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यागो के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखनेवाले पारखियो के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी दाँत के टुकडे पर महीन बेल-बूटे देख घटो 'वाह वाह' किया करते है। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा मे कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय मे किसी ऐसी लय या सगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावो का आभ्यंतर प्रवाह बिहारी मे होता तो वे एक एक दोहे पर ही संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करे तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का सा गूँजनेवाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी मे नही मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नही पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।

(५) **मंडन**—ये जैतपुर (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे और संवत् १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में वर्त्तमान थे। इनके फुटकल कवित्त-सवैये बहुत सुने जाते है, पर कोई ग्रंथ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। पुस्तकों की खोज मे इनके पाँच ग्रंथों का पता लगा है—रस-रत्नावली, रस-विलास, जनक-पचीसी, जानकी जू को व्याह, नैन-पचासा।

प्रथम दो ग्रंथ रसनिरूपण पर हैं, यह उनके नामों से ही प्रकट होता है। सग्रह-ग्रथों मे इनके कवित्त-सवैये बराबर मिलते हैं। "जेइ जेइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्ती" यह पद भी इनका मिलता है। इससे जान पड़ता है कि कुछ पद भी इन्होंने रचे थे। जो पद इनके मिलते

हैं उनसे ये बड़ी सरस कल्पना के भावुक कवि जान पड़ते हैं। भाषा इनकी बड़ी ही स्वाभाविक चलती और व्यंजनापूर्ण होती थी। उसमे और कवियो का सा शब्दाडंबर नही दिखाई पड़ता। यह सवैया देखिए—

अलि हौं तौ गई जमुना जल को सो कहा कहौं वीर! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीस धरी॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिर जीवहु नंद को बारो, अरी, गहि बाहँ गरीब ने ठाढ़ी करी॥

(६) **मतिराम**—ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में है और चिंतामणि तथा भूषण के भाई परंपरा से प्रसिद्ध है। ये तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में संवत् १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे और बहुत दिनो तक जीवित रहे। ये बूँदी के महाराव भावसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय मे अपना 'ललितललाम' नामक अलंकार का ग्रंथ संवत् १७१६ और १७४५ के बीच किसी समय बनाया। इनका 'छंदसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रंथ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और हैं—'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार'। बिहारी सतसई के ढंग पर इन्होंने एक 'मतिराम-सतसई' भी बनाई जो हिंदी-पुस्तको की खोज में मिली है। इसके दोहे सरसता मे बिहारी के दोहो के समान ही हैं।

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमे भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है—केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिये अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना से ही प्रयुक्त है। रीति ग्रंथवाले कवियो में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियो मे मिलती है, पर कहीं कहीं वह अनुप्रास के जाल मे बेतरह जकड़ी पाई जाती है। सारांश यह कि मतिराम की सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करनेवालो मे बहुत ही कम मिलती है।

भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम है और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ। भावो को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े है। नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के

समान मजाक इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारो की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचन-वक्रता भी इन्हे बहुत पसद न थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार खयाल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीको पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव विभूति दिखाते, इसमे कोई सदेह नहीं। भारतीय जीवन से छाँटकर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रो मे जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं।

'रसराज' और 'ललितललाम', मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योकि रस और अलंकार की शिक्षा मे इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारो का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललितललाम' मे भी अलंकारो के उदाहरण बहुत सरस और स्पष्ट हैं। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने सर्वप्रिय रहे हैं। रीति-काल के प्रतिनिधि कवियो मे पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नही मिलती। बिहारी की प्रसिद्धि का कारण बहुत कुछ उनका वाग्वैदग्ध्य है। दूसरी बात यह है कि उन्होंने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमे वह नादसौंदर्य नहीं आ सका है जो कवित्त सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।

मतिराम की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यौं त्यौं खरी निकरै सी निकाई॥

क्यो इन आँखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै?
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै?

होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै।

केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयो', भीतर बैठि के बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही, सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजै असाढ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं॥

सूबन को मेटि दिल्ली देस दलिबे को चमू,
सुभट समूह निसि वाकी उमहति है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को संगर में,
काहू के न हिम्मति हिए में उलहति है॥
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब,
गरब गनीम-बरगीन को दहति है।
पति पातसाह की इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है॥

(७) भूषण—वीररस के ये प्रसिद्ध कवि चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्मकाल संवत् १६७० है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हे कविभूषण की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण के नाम से ही प्रसिद्ध हो गए। इनका असल नाम क्या था, इसका पता नहीं। ये कई राजाओं के यहाँ रहे। अंत में इनके मन के अनुकूल आश्रयदाता, जो इनके वीर-काव्य के नायक हुए, छत्रपति महाराज शिवाजी मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा मान हुआ। कहते है कि महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी मे अपना कंधा लगाया था जिसपर इन्होने कहा था—"सिवा को

बखानौ कि बखानौ छत्रसाल को।" ऐसा प्रसिद्ध है कि इन्हे एक एक छंद पर शिवाजी से लाखों रुपए मिले। इनका परलोकवास सं० १७७२ में माना जाता है।

रीति-काल के भीतर श्रृंगार रस की ही प्रधानता रही। कुछ कवियो ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति मे उनके प्रताप आदि के प्रसग मे उनकी वीरता का भी थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है पर वह शुष्क प्रथा-पालन के रूप मे ही होने के कारण ध्यान देने योग्य नहीं है। ऐसे वर्णनों के साथ जनता की हार्दिक सहानुभूति कभी हो नहीं सकती थी। पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीरकाव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन मे तत्पर, हिंदू-धर्म के संरक्षक, दो इतिहास-प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिंदू-जनता के हृदय मे उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की सपत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्ति-संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी। क्या संस्कृत-साहित्य मे, क्या हिंदी-साहित्य मे, सहस्रो कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओ की प्रशंसा मे ग्रंथ रचे जिनका आज पता तक नहीं है। पुरानी वस्तु खोजनेवालो को ही कभी कभी किसी राजा के पुस्तकालय मे, कहीं किसी घर के कोने में, उनमे से दो चार इधर उधर मिल जाते हैं। जिस भोज ने दान दे देकर अपनी इतनी तारीफ कराई उसके चरित-काव्य भी कवियो ने लिखे होंगे। पर उन्हें आज कौन जानता है?

शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनो को कोई कवियो की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदाताओ की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं। इन दो वीरो का जिस उत्साह के साथ सारी हिंदू-जनता स्मरण करती है उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू-जाति के प्रतिनिधि कवि है। जैसा कि आरंभ मे कहा गया है, शिवाजी के दरबार में पहुँचने के पहले वे और राजाओं के पास भी रहे। उनके प्रताप आदि की प्रशंसा भी उन्हे

अवश्य ही करनी पड़ी होगी। पर वह झूठी थी, इसी से टिक न सकी। पीछे से भूषण को भी अपनी उन रचनाओं से विरक्ति ही हुई होगी। इनके 'शिवराज-भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' ये ग्रंथ ही मिलते है। इनके अतिरिक्त ३ ग्रंथ और कहे जाते है—'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा'।

जो कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हैं उनके संबंध मे यहाँ यह कहना कि वे कितनी ओजस्विनी और वीरदर्पपूर्ण हैं, पिष्टपेषण मात्र होगा। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि भूषण वीर रस के ही कवि थे। इधर इनके दो चार कवित्त शृंगार के भी मिले हैं, पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। रीति काल के कवि होने के कारण भूषण ने अपना प्रधान ग्रंथ 'शिवराज भूषण' अलंकार के ग्रंथ के रूप मे बनाया। पर रीति-ग्रंथ की दृष्टि से अलंकार-निरूपण के विचार से, यह उत्तम ग्रंथ नही कहा जा सकता। लक्षणो की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलो पर ठीक नहीं हैं। भूषण की भाषा मे ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित है। व्याकरण का उल्लंघन प्रायः है और वाक्य-रचना भी कहीं कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दो के रूप भी बहुत बिगाड़े गए हैं और कही कहीं बिल्कुल गढ़त के शब्द रखे गए है। पर जो कवित्त इन दोषों से मुक्त हैं वे बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

इंद्र जिमि जृंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं;
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥

डाढी के रखैयन की डाढी सी रहति छाती,
वाढी मरजाद जस-हद्द हिंदुवाने की।
कढि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की॥

सबन के ऊपर ही ठाढो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों ना सलाम, न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उढाय गए जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भयो
स्याह मुख नौरंग, सिपाह-मुख पियरे॥

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधों मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न वास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को॥
गाढ़े गढ लीन्हें अरु वैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करपति है।
बिलखि बदन बिलखत बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारि फरकति है॥
थर थर काँपत कुतुब साहि गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती धरकति है।

जिहि फन फूतकार उड़त पहार भार,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
बिषजाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो॥
कीन्हों जिहि पान पयपान सो जहान कुल,
कोलहू उछलि जलसिंधु खलभलिगो।
खग्ग-खगराज महाराज सिवराजजू को,
अखिल भुजंग मुगलदल निगलिगो॥

(८) **कुलपति मिश्र**—ये आगरे के रहनेवाले माथुर चौबे थे और महाकवि बिहारी के भानजे प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। कुलपतिजी जयपुर के महाराज जयसिंह (बिहारी के आश्रयदाता) के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके 'रसरहस्य' का रचनाकाल कार्तिक कृष्ण ११ संवत् १७२७ है। अब तक इनका यही ग्रंथ प्रसिद्ध और प्रकाशित है। पर खोज मे इनके निम्नलिखित ग्रंथ और मिले हैं—

द्रोणपर्व (स० १७३७), युक्ति-तरंगिणी (१७४३), नखशिख, संग्रामसार, रसरहस्य (१७२४)।

अतः इनका कविता-काल सं० १७२४ और सं० १७४३ के बीच ठहरता है। रीति-काल के कवियों में ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'रस-रहस्य'

मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखने के कारण इनके लिये यह स्वाभाविक था कि ये प्रचलित लक्षण-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ निरूपण का प्रयत्न करें। इसी उद्देश्य से इन्होंने अपना 'रस-रहस्य' लिखा। शास्त्रीय निरूपण के लिये पद्य उपयुक्त नहीं होता, इसका अनुभव इन्होने किया, इससे कही कहीं कुछ गद्य वार्त्तिक भी रखा। पर गद्य परिमार्जित न होने के कारण जिस उद्देश्य से इन्होने अपना यह ग्रंथ लिखा वह पूरा न हुआ। इस ग्रंथ का जैसा प्रचार चाहिए था, न हो सका। जिस स्पष्टता से 'काव्यप्रकाश' मे विषय प्रतिपादित हुए हैं वह स्पष्टता इनके व्रज-भाषा-गद्यपद्य में न आ सकी। कहीं कहीं तो भाषा और वाक्य-रचना दुरूह हो गई है।

यद्यपि इन्होने शब्दशक्ति और भावादि-निरूपण मे लक्षण उदाहरण दोनों बहुत कुछ काव्यप्रकाश के ही दिए हैं पर अलंकार प्रकरण मे इन्होंने प्रायः अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशसा के स्वरचित उदाहरण दिए हैं। ये व्रजमडल के निवासी थे अतः इनको व्रज की चलती भाषा पर अच्छा अधिकार होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है, जहाँ इनको अधिक स्वच्छंदता रही होगी वहाँ इनकी रचना और सरस होगी। इनकी रचना का एक नमूना दिया जाता है—

> ऐसिय कुंज बनी छबिपुंज रहै अलिगुंजत यों सुख लीजै।
> नैन बिसाल हिए बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै॥
> जामिनि-जाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
> आनँद यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

(९) **सुखदेव मिश्र**—दौलतपुर (जि॰ रायबरेली) मे इनके वंशज अब तक हैं। कुछ दिन हुए उसी ग्राम के निवासी सुप्रसिद्ध पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने इनका एक अच्छा जीवनवृत्त 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा था। सुखदेव मिश्र का जन्मस्थान 'कंपिला' था जिसका वर्णन इन्होंने अपने "वृत्त-विचार" मे किया है। इनका कविता-काल संवत् १७२० से १७६० तक माना जा सकता है। इनके सात ग्रंथों का पता अब तक है—

वृत्तविचार (संवत् १७२८), छंदविचार, फाजिलअली-प्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश (सवत् १७५५), दशरथ राय।

अध्यात्म-प्रकाश में कवि ने ब्रह्मज्ञान-संबंधी बातें कही हैं जिससे यह जन-श्रुति पुष्ट होती है कि वे एक निस्पृह विरक्त साधु के रूप में रहते थे।

काशी से विद्याध्ययन करके लौटने पर ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची तथा डौंड़िया खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे। कुछ दिनों तक ये औरंगजेब के मंत्री फाजिलअलीशाह के यहाँ भी रहे। अंत मे मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ गए जिनके बहुत आग्रह पर ये सकुटुंब दौलतपुर में जा बसे। राजा राजसिंह गौड़ ने इन्हे 'कविराज' की उपाधि दी थी। वास्तव मे ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्य्यत्व भी इनमे पूरा था। छंदःशास्त्र पर इनका सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पडित थे वैसे ही काव्यकला में भी निपुण थे। "फाजिलअली-प्रकाश" और "रसार्णव" दोनों मे शृंगाररस के उदाहरण बहुत ही सुंदर हैं। दो नमूने लीजिए—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन वहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग ना सहेली, बैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली-महा, लाग्यो मैन-सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है॥

जोहै जहाँ मगु नंदकुमार तहाँ चली चंद्रमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डार है॥
भीतर ही जो लखी सो लखी, अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्ह सी जोन्हैं गई मिलि यों मिलि जाति ज्यों दूध में दूध की धार है॥

(१०) कालिदास त्रिवेदी—ये अतर्वेद के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। जान पड़ता है कि संवत् १७४५ वाली गोलकुंडे की चढाई मे ये औरंगजेब की सेना में किसी राजा के साथ गए थे। इस लड़ाई का औरंगजेब की प्रशंसा से युक्त वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है—

गढ़न गढी से गढि, महल मढी से मढि,
बीजापुर ओप्यो दलमलि सुघराई में।
कालिदास कोप्यो बीर औलिया अलमगीर,
तीर तरवारि गही पुहमी पराई में॥
बूँद तें निकसि महिमंडल घमंड मची,
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई में।
गाड़ि के सुझंडा आड़ कीनी बादसाही तातें,
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई में॥

कालिदास का जबू-नरेश जोगजीतसिंह के यहाँ भी रहना पाया जाता है जिनके लिये संवत् १७४९ में इन्होने 'वारवधू विनोद' बनाया। यह नायिका-भेद और नखशिख की पुस्तक है। बत्तीस कवित्तो की इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'जँजीराबंद' भी है। 'राधा-माधव-बुधमिलन-विनोद' नाम का एक कोई और ग्रंथ इनका खोज मे मिला है। इन रचनाओं के अतिरिक्त इनका बड़ा संग्रहग्रंथ 'कालिदास हजारा' बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। इस संग्रह के संबंध में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि इसमे संवत् १४८१ से लेकर संवत् १७७६ तक के २१२ कवियों के १००० पद्य संगृहीत हैं। कवियो के काल आदि के निर्णय मे यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इनके पुत्र कवींद्र और पौत्र दूलह भी बड़े अच्छे कवि हुए।

ये अभ्यस्त और निपुण कवि थे। इनके फुटकल कवित्त इधर उधर बहुत सुने जाते हैं जिनसे इनकी सरस-हृदयता का अच्छा परिचय मिलता है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह ! मो तन निहारि दै।

कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै ॥
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु,
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेहँदी लगी लग है नंदलाल प्यारे!
लट उरझी है नकवेसर सँभारि दै ॥

हाथ हँसि दीन्हों भीति अंतर वरसि प्यारी
देखत ही छकी मति कान्हर प्रवन की।
निकस्यो झरोखे माँझ विगस्यौ कमल सम,
ललित अँगूठी तामें चमक चुनीन की ॥
कालिदास तैसी लाल मेहँदी के बुंदन की,
चारु नख-चंदन की लाल अँगुरीन की।
कैसी छवि छाजति है छाप औ छलान की सु-
कंकन चुरीन की, जड़ाऊ पहुँचीन की ॥

(११) **राम**—शिवसिंहसरोज में इनका जन्म संवत् १७०३ लिखा है और कहा गया है कि इनके कवित्त कालिदास के हजारा में हैं। इनका नायिकाभेद का एक ग्रंथ शृंगारसौरभ है जिसकी कविता बहुत ही मनोरम है। खोज मे एक "हनुमान नाटक" भी इनका पाया गया है। शिवसिंह के अनुसार इनका कविता-काल संवत् १७३० के लगभग माना जा सकता है। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

उमड़ि घुमड़ि घन छोड़त अखंड धार,
चंचला उठति तामें तरजि तरजि कै।
वरही पपीहा भेक पिक खग टेरत हैं,
धुनि सुनि प्रान उठे लरजि लरजि कै ॥
कहै कवि राम लखि चमक खदोतन की,
पीतम को रही मैं तो बरजि वरजि कै।

लागे तन तावन बिना री मनभावन के,
सावन दुवन आयो गरजि गरजि कै ॥

(१२) नेवाज—ये अंतर्वेद के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग वर्त्तमान थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ ये किसी भगवत् कवि के स्थान पर नियुक्त हुए थे। जिसपर भगवत् कवि ने यह फबती छोड़ी थी—

भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महराज।
जहँ भगवत गीता पढी तहँ कवि पढत नेवाज ॥

शिवसिंह ने नेवाज का जन्म सवत् १७३९ लिखा है जो ठीक नहीं जान पड़ता क्योकि इनके 'शकुंतला नाटक' का निर्माण-काल संवत् १७३७ है। दो और नेवाज हुए हैं जिनमें एक भगवंतराय खीची के यहाँ थे। प्रस्तुत नेवाज का औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के यहाँ रहना भी पाया जाता है। इन्होने 'शकुंतला नाटक' का आख्यान दोहा, चौपाई, सवैया आदि छदों में लिखा। इनके फुटकल कवित्त बहुत स्थानों पर संगृहीत मिलते हैं जिनसे इनकी काव्य-कुशलता और सहृदया टपकती है। भाषा इनकी बहुत परिमार्जित, व्यवस्थित और भावोपयुक्त है। उसमे भरती के शब्द और वाक्य बहुत ही कम मिलते है। इनके अच्छे शृंगारी कवि होने मे सदेह नहीं। संयोग-शृंगार के वर्णन की प्रवृत्ति इनकी विशेष जान पड़ती है जिसमे कहीं कहीं ये अश्लीलता की सीमा के भीतर जा पड़ते है। दो सवैये इनके उद्धृत किए जाते हैं—

देखि हमैं सब आपुस में जो कछू मन भावै सोई कहती हैं।
ये घरहाई लुगाई सबै निसि द्यौस नेवाज हमैं दहती हैं॥
बातैं चवाव भरी सुनि कै रिस आवति, पै चुप ह्वै रहती है।
कान्ह पियारे तिहारे लिये सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती है॥

आगे तौ कीन्हीं लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूँ जौ छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो, ब्रज की बनिता सब यो ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहू तरसावति।
बावरी! जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

(१३) देव—ये इटावा के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हे कान्यकुब्ज सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। 'भावविलास' का रचनाकाल इन्होने १७४६ दिया है और उस ग्रंथ-निर्माण के समय अपनी अवस्था सोलह ही वर्ष की कही है। इस हिसाब से इनका जन्म-सवत् १७३० निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त इनका और कुछ वृत्तांत नही मिलता। इतना अवश्य अनुमित होता है कि इन्हे कोई अच्छा उदार आश्रयदाता नहीं मिला जिसके यहाँ रहकर इन्होने सुख से कालयापन किया हो। ये बराबर अनेक रईसों के यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे, पर कहीं जमे नहीं। इसका कारण या तो इनकी प्रकृति की विचित्रता माने या इनकी कविता के साथ उस काल की रुचि का असामंजस्य। इन्होने अपने 'अष्टयाम' और 'भावविलास' को औरंगजेब के बड़े पुत्र आजमशाह को सुनाया था जो हिंदी-कविता के प्रेमी थे। इसके पीछे इन्होने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर "भवानीविलास" और कुशलसिह के नाम पर 'कुशलविलास' की रचना की। फिर मर्दनसिह के पुत्र राजा उद्योतसिंह बैस के लिये 'प्रेमचंद्रिका' बनाई। इसके उपरात ये बराबर अनेक प्रदेशो मे भ्रमण करते रहे। इस यात्रा के अनुभव का इन्होंने अपने 'जाति-विलास' नामक ग्रंथ मे कुछ उपयोग किया। इस ग्रंथ मे भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशो की स्त्रियों का वर्णन है। पर वर्णन मे उनकी विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त हुई हो, यह बात नहीं है। इतने पर्यटन के उपरांत जान पड़ता है कि इन्हे एक अच्छे आश्रयदाता राजा भोगीलाल मिले जिनके नाम पर संवत् १७८३ मे इन्होने 'रसविलास' नामक ग्रंथ बनाया। इन राजा भोगीलाल की इन्होने अच्छी तारीफ की है, जैसे, "भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।"

रीति काल के प्रतिनिधि कवियो मे शायद सबसे अधिक ग्रंथ-रचना देव ने की है। कोई इनकी रची पुस्तको की संख्या ५२ और कोई ७२ तक बतलाते हैं। जो हो, इनके निम्नलिखित ग्रंथों का तो पता है—

(१) भाव-विलास, (२) अष्टयाम, (३) भवानी-विलास, (४) सुजान-

विनोद, (५) प्रेम-तरंग, (६) राग-रत्नाकर, (७) कुशल-विलास, (८) देव-चरित्र, (९) प्रेमचद्रिका, (१०) जाति-विलास, (११) रस-विलास, (१२) काव्य-रसायन या शब्द-रसायन, (१३) सुख-सागर-तरंग, (१४) वृत्त-विलास, (१५) पावस-विलास, (१६) ब्रह्म दर्शन पचीसी, (१७) तत्त्व-दर्शन पचीसी, (१८) आत्म दर्शन पचीसी, (१९) जगद्दर्शन पचीसी, (२०) रसानंद लहरी, (२१) प्रेमदीपिका, (२२) सुमिल-विनोद, (२३) राधिका-विलास, (२४) नीति शतक और (२५) नख-शिख-प्रेमदर्शन।

ग्रथों की अधिक संख्या के सबध में यह जान रखना भी आवश्यक है कि देवजी अपने पुराने ग्रंथों के कवित्तो को इधर उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्रायः तैयार कर दिया करते थे। इससे वे ही कवित्त बार बार इनके अनेक ग्रथो मे मिलेगे। 'सुखसागर तरंग' तो प्रायः अनेक ग्रंथो से लिए हुए कवित्तों का संग्रह है। 'राग-रत्नाकर' मे राग-रागिनियों के स्वरूप का वर्णन है। 'अष्टयाम' तो रात-दिन के भोग-विलास की दिनचर्य्या है जो मानो उस काल के अकर्मण्य और विलासी राजाओ के सामने कालयापन-विधि का ब्योरा पेश करने के लिये बनी थी। 'ब्रह्मदर्शन-पचीसी' और 'तत्त्व-दर्शन पचीसी' मे जो विरक्ति का भाव है वह बहुत संभव है कि अपनी कविता के प्रति लोक की उदासीनता देखते देखते उत्पन्न हुई हो।

ये आचार्य और कवि दोनो रूपो में हमारे सामने आते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने मे रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई समर्थ नहीं हुआ। कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्य-शास्त्र के अभ्यासी पडित भी विशद रूप मे सिद्धात-निरूपण का मार्ग नही पा सके। बात यह थी कि एक तो व्रजभाषा का विकास काव्योपयोगी रूप मे ही हुआ; विचार-पद्धति के उत्कर्ष-साधन के योग्य वह न हो पाई। दूसरे उस समय पद्य मे ही लिखने की परिपाटी थी। अतः आचार्य्य के रूप मे देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कुछ लोगों ने भक्ति-वश अवश्य और बहुत सी बातो के साथ इन्हे कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। वे ऐसे ही लोग है जिन्हें "तात्पर्य्य-वृत्ति" एक नया

नाम मालूम होता है और जो संचारियों मे एक 'छल' और बढ़ा हुआ देखकर चौंकते हैं। नैयायिकों की तात्पर्य-वृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आ रही है और वह संस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी। तात्पर्य्य-वृत्ति वास्तव मे वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों (शब्दों) के वाच्यार्थ को एक मे समन्वित करनेवाली वृत्ति मानी गई है अतः वह अभिधा से भिन्न नहीं; वाक्यगत अभिधा ही है। रहा 'छलसंचारी'; वह संस्कृत की 'रसतरंगिणी' से, जहाँ से और बातें ली गयी है, लिया गया है। दूसरी बात यह कि साहित्य के सिद्धांत-ग्रंथों से परिचित मात्र जानते हैं कि गिनाए हुए ३३ संचारी उपलक्षण मात्र है, संचारी और भी कितने हो सकते है।

अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों का निरूपण हिंदी के रीति-ग्रंथों मे प्रायः कुछ भी नही हुआ है। इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक जरा है भी कठिन। इस दृष्टि से देवजी के इस कथन पर कि—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस-विरस, उलटी कहत नवीन॥

यहाँ अधिक कुछ कहने का अवकाश नहीं। व्यंजना की व्याप्ति कहाँ तक है, उसकी किस-किस प्रकार क्रिया होती है, इत्यादि बातो का पूरा विचार किए बिना कुछ कहना कठिन है। देवजी का यहाँ 'व्यंजना' से तात्पर्य पहेली बुझौवलवाली "वस्तुव्यंजना" का ही जान पड़ता है। यह दोहा लिखते समय उसी का विकृत रूप उनके ध्यान मे था।

कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण मे उनकी रुचि विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही मे उसका अंग-भग करके सारे पद्य को कीचड़ मे फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा मे कहीं कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था। अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्दव्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्प।

अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकांत और अनुप्रास के लिये ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते मरोड़ते न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है, या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी है, वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुई है। इनका सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों मे मिलता है। रीतिकाल के कवियों मे ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-संपन्न कवि थे, इसमे संदेह नहीं। इस काल के बड़े कवियों मे इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दूरारूढ़ है। इनकी कविता के कुछ उत्तम उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

सूनो कै परम पद, ऊनो कै अनंत मद,
नूनो कै नदीस नद, इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रजवीथी विथुरै परी॥
भादों की अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ,
पाय के सँयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि,
जसुदा के कोरै एक बारही कुरै परी॥

डार द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावैं देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सो उतारो करै राई लोन
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक वसंत, ताहि
प्रातहि जगावत, गुलाब चटकारी दै॥

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात॥
को जानै, री बीर! बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात।
बड़े बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि
गोरो-गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात॥

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे को आज'
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं॥
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसु ह्वै दृगन में॥

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

जब तें कुँवर कान्ह रावरी, कलानिधान!
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तब ही तें देव देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी, खीझति सी, रूठति रिसानी सी॥

छोही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी, छिन
जकी सी, टकी सी, लगी थकी थहरानी सी।
बींधी सी, बँधी सी, विष बूडति बिमोहित सी,
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी सी॥

'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद-बिंदु कै भाख्यौ।
कंचुकि में चुपन्यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप में नैनन को कजरा करि राख्यो॥

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसीं न उधेरी।
री! अगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी॥
'देव', कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

(१४) **श्रीधर या मुरलीधर**—ये प्रयाग के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग उत्पन्न हुए थे। यद्यपि अभी तक इनका "जंगनामा" ही प्रकाशित हुआ है जिसमे फर्रुखसियर और जहाँदार के युद्ध का वर्णन है, पर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने इनके बनाए कई रीति-ग्रंथों का उल्लेख किया है; जैसे, नायिकाभेद, चित्रकाव्य आदि। इनका कविताकाल सवत् १७६० के आगे माना जा सकता है।

(१५) **सूरति मिश्र**—ये आगरे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, जैसा कि इन्होंने स्वयं लिखा है—"सूरति मिश्र कनौजिया, नगर आगरे बास"। इन्होने 'अलंकारमाला' संवत् १७६६ मे और बिहारी सतसई की 'अमरचंद्रिका' टीका संवत् १७९४ मे लिखी। अतः इनका कविता काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है।

ये नसरुल्लाखाँ नामक सरदार के यहाँ तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार मे आया जाया करते थे। इन्होने 'बिहारी-सतसई', 'कविप्रिया'

और 'रसिकप्रिया' पर विस्तृत टीकाएँ रची हैं जिनसे इनके साहित्य-ज्ञान और मार्मिकता का अच्छा परिचय मिलता है। टीकाएँ व्रजभाषा गद्य मे हैं। इन टीकाओ के अतिरिक्त इन्होने 'वैताल-पंशविंशति' का व्रजभाषा गद्य मे अनुवाद किया है और निम्नलिखित रीतिग्रथ रचे है—

१—अलंकार-माला, २—रसरत्न-माला, ३—सरस रस, ४—रस-ग्राहक चंद्रिका, ५—नख-शिख, ६—काव्य-सिद्धांत, ७—रस-रत्नाकर।

अलंकार-माला की रचना इन्होने 'भाषाभूषण' के ढंग पर की है। इसमें भी लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही दोहे मे मिलते है। जैसे—

(क) हिम सो, हर के हास सो जस **मालोपम** ठानि ॥
(ख) सो **असँगति**, कारन अवर, कारज, औरै थान ॥
चलि अहि श्रुति आनहि डसत, नसत और के प्रान ॥

इनके ग्रंथ सब मिले नहीं हैं। जितने मिले हैं उनसे ये अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कवि जान पड़ते हैं। इनकी कविता मे तो कोई विशेषता नही जान पड़ती पर साहित्य का उपकार इन्होने बहुत कुछ किया है। 'नख-शिख' से इनका एक कवित्त दिया जाता है—

तेरे ये कपोल बाल अतिही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है॥
नेकु दरपन समता की चाह करी कहूँ,
भए अपराधी ऐसो चित्त धारियत है।
'सूरति' सो याही तें जगत बीच आजहूँ लौं
उनके बदन पर छार डारियत है॥

(१६) कवींद्र (उदयनाथ)—ये कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे और संवत् १७३६ के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका "रसचंद्रोदय" नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'विनोदचंद्रिका' और 'जोगलीला' नामक इनकी दो और पुस्तकों का पता खोज मे लगा है। 'विनोदचंद्रिका' संवत्

१७७७ और 'रसचंद्रोदय' संवत् १८०४ मे बना। अतः इनका कविता काल संवत् १८०४ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह (भूपति) के यहाँ बहुत दिन रहे।

इनका 'रसचंद्रोदय' शृंगार का एक अच्छा ग्रंथ है। इनकी भाषा मधुर और प्रसादपूर्ण है। वर्ण्य विषय के अनुकूल कल्पना भी ये अच्छी करते थे। इनके दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

शहर मँझार ही पहर एक लागिं जैहै,
छोरे पै नगर के सराय है उतारे की।
कहत कविंद मग माँझ ही परैगी साँझ,
खबर उडानी है बटोही द्वैक मारे की॥
घर के हमारे परदेस को सिधारे,
यातें दया कै बिचारी हम रीति राह बारे की।
उतरौ नदी के तीर, बर के तरे ही तुम,
चौंकौ जनि चौंकी तहीं पाहरू हमारे की॥

राजै रसमै री तैसी बरषा समै री चढ़ी,
चंचला नचै री चकचौधा कौंधा बारैं री।
व्रती व्रत हारैं हिए परत फुहारैं,
कछू छोरैं कछू धारैं ज़लधर जलधारैं री॥
भनत कविंद कुंजभौन पौन सौरभ सों
काके न कँपाय प्रान परहथ पारैं री?
काम-कंदुका से फूल डोलि डोलि डारैं, मन,
औरै किए डारैं ये कदंबन की डारैं री॥

(१७) **श्रीपति**—ये कालपी के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होने संवत् १७७७ मे 'काव्य-सरोज' नामक रीतिग्रंथ बनाया। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और हैं—

१—कविकल्पद्रुम, २—रस-सागर, ३—अनुप्रास-विनोद, ४—विक्रम-विलास, ५—सरोज-कालिका, ६—अलंकार गंगा।

श्रीपति ने काव्य के सब अंगो का निरूपण विशद रीति से किया है। दोषों का विचार पिछले ग्रंथों से अधिक विस्तार के साथ किया है और दोषो के उदाहरणो मे केशवदास के बहुत से पद्य रखे हैं। इससे इनका साहित्यिक विषयो का सम्यक् और स्पष्ट बोध तथा विचार-स्वातंत्र्य प्रगट होता है। 'काव्य-सरोज' बहुत ही प्रौढ़ ग्रंथ है। काव्यांगो का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होने किया है उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है। यदि गद्य मे व्याख्या की परिपाटी चल गई होती तो आचार्य्यत्व ये और भी अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित कर सकते। दासजी तो इनके बहुत अधिक ऋणी हैं। उन्होने इनकी बहुत सी बातें ज्यो की त्यो अपने "काव्य-निर्णय" मे चुपचाप रख ली है। आचार्य्यत्व के अतिरिक्त कवित्व भी इनमे ऊँची कोटि का था। रचना-विवेक इनमें बहुत ही जाग्रत और रुचि अत्यंत परिमार्जित थी। झूठे शब्दाडंबर के फेर मे ये बहुत कम पड़े हैं। अनुप्रास इनकी रचनाओ मे बराबर आए हैं पर उन्होने अर्थ या भाव-व्यंजना मे बाधा नहीं डाली है। अधिकतर अनुप्रास रसानुकूल वर्णविन्यास के रूप मे आकर भाषा में कहीं ओज, कहीं माधुर्य्य घटित करते पाए जाते है। पावस ऋतु का तो इन्होने बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जलभरे झूमैं मानौ भूमैं परसत आय,
दसहू दिसान घूमैं दामिनि लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुँधारे कारे,
धुरवान धारे धावैं छवि सों छए छए॥
श्रीपति सुकवि कहै घेरि घेरि घहराहिं,
तकत अतन तन ताव तें तए तए।
लाल विनु कैसे लाज-चादर रहैगी आज,
कादर करत मोहि बादर नए नए॥

सारस के नादन को बाद ना सुनात कहूँ;
नाहक ही बकवाद दादुर महा करै।
श्रीपति सुकवि जहाँ ओज ना सरोजन की,
फूल ना फुलत जाहि चित दै चहा करै॥
बकन की बानी की विराजति है राजधानी,
काई सों कलित पानी फेरत हहा करै।
घोंघन के जाल, जामे नरई सेवाल व्याल,
ऐसे पापी ताल को मराल लै कहा करै?

घूँघट-उदयगिरिवर तें निकसि रूप,
सुधा सो कलित छबि-कीरति बगारो है।
हरिन डिठौना स्याम, सुख सील बरषत,
करषत सोक, अति तिमिर विदारो है॥
श्रीपति बिलोकि सौति-वारिज मलिन होत,
हरषि कुमुद फूलै नंद को दुलारो है।
रंजन मदन, तन गंजन बिरह, बिबि
खंजन सहित चंदवदन तिहारो है॥

(१८) वीर—ये दिल्ली के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने "कृष्णचंद्रिका" नामक रस और नायिकाभेद का एक ग्रंथ संवत् १७७९ में लिखा। कविता साधारण है। वीररस का एक कवित्त देखिए—

अरुन बदन और फरकैं बिसाल बाहु,
कौन को हियो है करै सामने जो रुख को।
प्रबल प्रचंड निसिचर फिरैं धाए,
धूरि चाहत मिलाए दसकंध-अंध मुख को॥
चमकैं समरभूमि बरछी, सहस फन,
कहत पुकारे लंक-अंक दीह दुख को।
बलकि बलकि बोलैं बीर रघुबर धीर,
महि पर मीड़ि मारौं आज दसमुख को॥

(१९) **कृष्ण कवि**—ये माथुर चौबे थे और बिहारी के पुत्र प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के मंत्री, राजा आयामल्ल की आज्ञा से बिहारी-सतसई की जो टीका की उसमे महाराज जयसिंह के लिये वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है और उनकी प्रशंसा भी की है। अतः यह निश्चित है कि यह टीका जयसिंह के जीवनकाल मे ही बनी। महाराज जयसिंह संवत् १७९९ तक वर्तमान थे। अतः यह टीका संवत् १७८५ और १७९० के बीच बनी होगी। इस टीका मे कृष्ण ने दोहों के भाव पल्लवित करने के लिये सवैये लगाए हैं और वार्तिक मे काव्यांग स्फुट किए हैं। काव्यांग इन्होने अच्छी तरह दिखाए हैं और वे इस टीका के एक प्रधान अंग हैं, इसी से ये रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो के बीच ही रखे गए हैं।

इनकी भाषा सरल और चलती है तथा अनुप्रास आदि की ओर बहुत कम झुकी है। दोहो पर जो सवैये इन्होने लगाए हैं उनसे इनकी सहृदयता, रचनाकौशल और भाषा पर अधिकार अच्छी तरह प्रमाणित होता है। इनके दो सवैये देखिए—

"सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥"

छबि सो फबि सीस किरीट बन्यो, रुचिसाल हिए बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥
कवि कृष्ण कहैं लखि सुंदर मूरति यों अभिलाष हिए सरसै।
वह नंदकिसोर बिहारी सदा यदि बानिक मों हिय माँझ बसै॥

"थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तमहू कान्ह मनौ भए आजुकालि के दानि॥"

ह्वै अति आरत मैं बिनती बहु बार करी करुना रस-भीनी।
कृष्ण कृपानिधि दीनके बंधु सुनी अपनी तुम काहे को कीनी॥
रीझते रंचक ही गुन सों वह बानि बिसारि मनो अब दीनी।
जानि परी तुमहू हरि जू! कलिकाल के दानिन की गति लीनी॥

(२०) **रसिक सुमति**—ये ईश्वरदास के पुत्र थे और सन् १७८५ मे वर्त्तमान थे। इन्होंने "अलंकार-चंद्रोदय" नामक एक अलंकार-ग्रंथ कुवलयानंद के आधार पर दोहो मे बनाया। पद्यरचना साधारणतः अच्छी है। 'प्रत्यनीक' का लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे मे देखिए—

प्रत्यनीक अरि सों न बस, अरि-हितूहि दुख देय।
रवि सों चलै न, कंज की दीपति ससि हरि लेय॥

(२१) **गंजन**—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होने संवत् १७८६ मे "कमरुद्दीनखॉ हुलास" नामक श्रृंगाररस का एक ग्रंथ बनाया जिसमे भावभेद, रसभेद के साथ षट्ऋतु का विस्तृत वर्णन किया है। इस ग्रंथ मे इन्होंने अपना पूरा वंश-परिचय दिया है और अपने प्रपितामह मुकुटराय के कवित्व की प्रशंसा की है। कमरुद्दीनखॉ दिल्ली के बादशाह के वजीर थे और भाषाकाव्य के अच्छे प्रेमी थे। इनकी प्रशसा गंजन ने खूब जी खोलकर की है जिससे जान पड़ता है इनके द्वारा कवि का बड़ा अच्छा सम्मान हुआ था। उपर्युक्त ग्रथ एक अमीर को खुश करने के लिये लिखा गया है इससे ऋतु-वर्णन के अंतर्गत उसमें अमीरी शौक और आराम के बहुत से सामान गिनाए गए हैं। इस बात में ये ग्वाल कवि से मिलते जुलते हैं। इस पुस्तक मे सच्ची भावुकता और प्रकृतिरजन की शक्ति बहुत अल्प है। भाषा भी शिष्ट और प्राजल नहीं। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

मीना के महल जरवाफ दर परदा है,
हलबी फनूसन में रोशनी चिराग की।
गुलगुली गिलम गरकआब पग होत,
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाम की॥
केती महताबमुखी खचित जवाहिरन,
गंजन सुकवि कहैं बौरी अनुराग की।
एतमादुदौला कमरुद्दीखाँ की मजलिस,
सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़ भाग की॥

(२२) **अलीमुहिबखाँ (प्रीतम)**—ये आगरे के रहनेवाले थे। इन्होंने

संवत् १७८७ मे "खटमल-बाईसी" नाम की हास्यरस की एक पुस्तक लिखी। इस प्रकरण के आरंभ में कहा गया है कि रीतिकाल मे प्रधानता शृंगाररस की रही। यद्यपि वीररस लेकर भी रीति-ग्रंथ रचे गए, पर किसी और रस को अकेला लेकर मैदान मे कोई नहीं उतरा था। यह हौसले का काम हजरत अलीमुहिब्बखॉ साहिब ने कर दिखाया। इस ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व कई पक्षों मे दिखाई पड़ता है। हास्य आलंबन-प्रधान रस है। आलंबन मात्र का वर्णन ही इस रस में प्रर्य्याप्त होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए जब हम अपने साहित्यक्षेत्र में हास के आलंबनों की परंपरा की जॉच करते हैं तब एक प्रकार की बँधी रूढ़ि सी पाते हैं। संस्कृत के नाटकों मे खाऊपन और पेट की दिल्लगी वहुत कुछ बँधी सी चली आई। भाषा-साहित्य मे कंजूसों की बारी आई। अधिकतर ये ही हास्यरस के आलंबन रहे। खॉ साहब ने शिष्ट हास का एक बहुत अच्छा मैदान दिखाया। इन्होने हास्यरस के लिये खटमल को पकड़ा जिसपर यह संस्कृत उक्ति प्रसिद्ध है—

कमला कमले शेते, हरश्शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ च हरिश्शेते मन्ये मत्कुण-शंकया॥

क्षुद्र और महान् के अभेद की भावना उसके भीतर कहीं छिपी हुई है। इन सब बातो के विचार से हम खॉ साहब या प्रीतमजी को एक उत्तम श्रेणी का पथप्रदर्शक कवि मानते हैं। इनका और कोई ग्रंथ नहीं मिलता, न सही; इनकी "खटमल-बाईसी" ही वहुत काल तक इनका स्मरण बनाए रखने के लिये काफी है।

"खटमलबाईसी" के दो कवित्त देखिए—

जगत के कारन करन चारौ वेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरिकै।
पोषन अवनि, दुख-सोषन तिलोकन के,
सागर में जाय सोए सेस सेज करिकै॥
मदन जरायो जो, सँहारैं दृष्टि ही में सृष्टि,
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरवरि कै।

विधि हरि हर, और इनतें न कोऊ तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन कों डरिकै ॥

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो काहू दारू ना बताई है ॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है ॥

---

(२३) दास (भिखारीदास)—ये प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना वंश-परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु, प्रपितामह राय रामदास और वृद्धप्रपितामह राय नरोत्तमदास थे। दासजी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे जिनके अपुत्र मर जाने से वंशपरंपरा खंडित हो गई। दासजी के इतने ग्रंथों का पता लग चुका है—

रससारांश (संवत् १७९९), छंदोर्णव पिंगल (संवत् १७९९), काव्यनिर्णय (संवत् १८०३), शृंगारनिर्णय (संवत् १८०७), नामप्रकाश (कोश, संवत् १७९५), विष्णुपुराण भाषा (दोहे चौपाई में), छंदप्रकाश, शतरंज-शतिका अमरप्रकाश (संस्कृत अमरकोष भाषा-पद्य मे)।

'काव्यनिर्णय' मे दासजी ने प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई बाबू हिंदूपतिसिंह को अपना आश्रयदाता लिखा है। राजा पृथ्वीपति संवत् १७९१ में गद्दी पर बैठे थे और १७०७ मे दिल्ली के वजीर सफदरजंग द्वारा छल से मारे गए थे। ऐसा जान पड़ता है कि संवत् १८०७ के बाद इन्होंने कोइ ग्रंथ नहीं लिखा अतः इनका कविता-काल संवत् १७८५ से लेकर संवत् १८०७ तक माना जा सकता है।

काव्यांगों के निरूपण मे दासजी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, श्रीपति से इन्होने बहुत कुछ लिया है[१]। इनकी विषय प्रतिपादन शैली उत्तम है और आलोचन शक्ति भी इनमे कुछ पाई जाती है। जैसे, हिन्दी काव्यक्षेत्र मे इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अंतर्गत आता है। बहुत से स्थलो पर तो राधा कृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दासजी ने स्वकीया का लक्षण ही कुछ अधिक व्यापक करना चाहा और कहा—

श्रीमानन के भौन में भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में गनैं सुकवि-सिरमौर॥

पर यह कोई बड़े महत्व की उद्भावना नहीं की जा सकती। जो लोग दासजी के दस और हावों के नाम लेने पर चौंके हैं उन्हें जानना चाहिए कि साहित्यदर्पण मे नायिकाओ के स्वभावज अलंकार १८ कहे गए हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, विहृद, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इनमे से अंतिम आठ को लेकर यदि दासजी ने भाषा मे प्रचलित दस हावों मे और जोड़ दिया तो क्या नई बात की? यह चौंकना तब तक बना रहेगा जब तक हिंदी में संस्कृत के मुख्य सिद्धांत-ग्रथो के सब विषयों का यथावत् समावेश न हो जायगा और साहित्य-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन न होगा।

अतः दासजी के आचार्य्यत्व के संबंध मे भी हमारा यही कथन है जो देव आदि के विषय मे। यद्यपि इस क्षेत्र में औरो को देखते दासजी ने अधिक काम किया है, पर सच्चे आचार्य का पूरा रूप इन्हें भी नहीं प्राप्त हो सका है। परिस्थिति से ये भी लाचार थे। इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्य्याप्त और कहीं कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे,

---

१—देखो पृ० २७२

उपादान-लक्षण लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है। अतः दासजी भी औरों के समान वस्तुतः कवि के रूप मे ही हमारे सामने आते हैं।

दासजी ने साहित्यिक और परिमार्जित-भाषा का व्यवहार किया है। शृंगार ही उस समय का मुख्य विषय रहा है। अतः इन्होंने भी उसका वर्णन विस्तार देव की तरह बढ़ाया है। देव ने भिन्न भिन्न देशों और जातियों की स्त्रियों के वर्णन के लिये जाति-विलास लिखा जिसमे नाइन, धोबिन, सब आ गईं, पर दासजी ने रसाभास के डर से या मर्यादा के ध्यान से इनको आलंबन के रूप मे न रखकर दूती के रूप मे रखा है। इनके 'रससारांश' मे नाइन, नटिन, धोबिन, कुम्हारिन, बरइन, सब प्रकार की दूतियाँ मौजूद है। इनमें देव की अपेक्षा अधिक रस-विवेक था। इनका शृंगार-निर्णय अपने ढंग का अनूठा काव्य है। उदाहरण मनोहर और सरस है। भाषा मे शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द-चमत्कार पर टूटे है, न दूर की सूझ के लिये व्याकुल हुए है। इनकी रचना कलापक्ष मे संयत और भावपक्ष मे रंजनकारिणी है। विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त इन्होने नीति की सूक्तियाॅ भी बहुत सी कही है जिनमे उक्ति-वैचित्र्य अपेक्षित होता है। देव की सी ऊँची आकांक्षा या कल्पना जिस प्रकार इनमें कम पाई जाती है उसी प्रकार उनकी सी सफलता भी कहीं नहीं मिलती। जिस बात को ये जिस ढंग से—चाहे वह ढंग बहुत विलक्षण न हो—कहना चाहते थे उस बात को उस ढंग से कहने की पूरी सामर्थ्य इनमे थी। दासजी ऊँचे दरजे के कवि थे। इनकी कविता के कुछ नमूने लीजिए—

वाही घरी तें न सान रहै, न गुमान रहै, न रहै सुघराई।
दास न लाज को साज रहै, न रहै तनकौ घरकाज की घाई॥
ह्वाॅ दिखसाध निवारे रहौं तब ही लौं भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्है न चेत रहै, नहि चित्त रहै, न रहै चतुराई॥

नैनन को तरसैए कहाॅ लौं, कहाँ लौं हियो विरहागि मैं तैए?
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए?

आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देख न पैए॥

ऊधो! तहाँ ई चलौ लै हमें जहँ कूबरि कान्ह बसै एक ठौरी।
देखिय दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढाइए चंदन बंदन रोरी॥

कढ़िकै निसंक पैठि जाति झुंड झुंडन में,
लोगन को देखि दास आनँद पगति है।
दौरि दौरि जहीं तहीं लाल करि डारति है,
अंक लगि कंठ लगिबे को उमगति है॥
चमक – झमक – बारी, ठमक – जमक – बारी,
रमक – तमक – बारी जाहिर जगति है।
राम! असि रावरे को रन में नरन में—
निलज वनिता सी होरी खेलन लगति है॥

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री, तेरी
तन – दुति – केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी – स्वाति – बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो॥
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो, री!
जियरो मनोभव – सरन को तुनीर भो।
एरी! बेगि करिकै मिलापु थिर थापु, न तौ
आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

अँखियाँ हमारी दईमारी सुधि बुधि हारीं,
मोहू तें जु न्यारी दास रहैं सब काल में।
कौन गहै ज्ञानै, काहि सौंपत सयाने, कौन
लोक ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल में॥
प्रेम पगि रहीं, महामोह में उमगि रही,
ठीक ठगि रहीं, लगि रहीं बनमाल में।
लाज को अँचै कै, कुलधरम पचै कै, वृथा
बंधन सँचै कै भईं मगन गोपाल में॥

(२४) भूपति (राजा गुरुदत्तसिंह)—ये अमेठी के राजा थे। इन्होंने संवत् १७९१ मे शृंगार के दोहों की एक सतसई बनाई। उदयनाथ कवींद्र इनके यहाँ बहुत दिनो तक रहे। ये महाशय जैसे सहृदय और काव्य-मर्मज्ञ थे वैसे ही कवियों का आदर-सम्मान करनेवाले थे। क्षत्रियो की वीरता भी इनमे पूरी थी। एक बार अवध के नवाब सआदतखाँ से ये बिगड़ खड़े हुए। सआदतखाँ ने जब इनकी गढ़ी घेरी तब ये बाहर सआदतखाँ के सामने ही बहुतों को मारकाटकर गिराते हुए जंगल की ओर निकल गए। इनका उल्लेख कवींद्र ने इस प्रकार किया है—

समर अमेठी के सरेष गुरुदत्तसिंह,
सादत की सेना समरसेन सों भानी है।
भनत कवींद्र काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति सरसानी है॥
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी लै उडी,
सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्यालो लै चिनी को नीको जोबन-तरंग मानो,
रंग हेतु पीवत मजीठ मुगलानी है॥

'सतसई' के अतिरिक्त भूपतिजी ने 'कंठाभूषण' और 'रसरत्नाकर' नाम के दो रीति-ग्रंथ भी लिखे थे जो कहीं देखे नहीं गए हैं। शायद अमेठी में हो। सतसई के दोहे दिए जाते हैं—

घूँघट पट की आड़ दै हँसति जबै वह दार।
ससि-मंडल त कढति छनि जनु पियूष की धार॥
भए रसाल रसाल हैं भरे पुहुप मकरंद।
मान-सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद-मंद॥

(२५) **तोषनिधि**—ये एक प्रसिद्ध कवि हुए है। ये शृंगवेरपुर (सिगरौर जिला इलाहाबाद) के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इन्होने संवत् १७९१ में 'सुधानिधि' नामक एक अच्छा बड़ा ग्रंथ रसभेद और भाव-भेद का बनाया। खोज मे इनकी दो पुस्तकें और मिली हैं—विनयशतक और नखशिख। तोषजी ने काव्यांगों के बहुत अच्छे लक्षण और सरस उदाहरण दिए हैं। उठाई हुई कल्पना का अच्छा निर्वाह हुआ है और भाषा स्वाभाविक प्रवाह के साथ आगे बढ़ती है। तोषजी एक बड़े सहृदय और निपुण कवि थे। भावो का विधान सघन होने पर भी कहीं उलझा नही है। बिहारी के समान इन्होने भी कहीं कहीं ऊहात्मक अत्युक्ति की है। कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

भूषन-भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस मैं छवि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जेहि में परमारथ स्वारथ पाई॥
औ उकतैं मुकतैं उलही कवि तोष अनोष-धरी चतुराई।
होत सबै सुखकी जनिता बनि आवति जौं बनिता कविताई॥

एक कहै हँसि ऊधवजू! ब्रज की जुवती तजि चंद्रप्रभा सी।
जाय कियो कह तोष प्रभू! एक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी॥
जो हूते कान्ह प्रवीन महा सो हहा! मथुरा में कहा मति नासी।
जीव नहीं उबियात जबै ढिग पौढति है कुबजा कछुवा सी॥

श्रीहरि की छवि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहिं में करि देतो।
बैनन के सुनिबे हित स्त्रौत जितै-तित सो करतौ करि हेतो॥
सो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहे तोष कहै लिखितो बिधि एतो।
तौ करतार इतो करनी करिकै कलि में कल कीरति लेतो॥

चौ तन में रवि को प्रतिबिंब परै किरनैं सो घनी सरसाती।
भीतर ह्वू रहि जात नहीं, अँखियाँ चकचौंधि ह्वै जाति हैं राती॥
बैठि रहौ, बलि, कोठरी में कह तोष करौं बिनती बहु भाँती।
सारसी-नैनि लै आरसी सो अँग काम कहा कढ़ि धाम में जाती?

(२६-२७) **दलपतिराय और बंसीधर**—दलपतिराय महाजन और बंसीधर ब्राह्मण थे। दोनो अहमदाबाद (गुजरात) के रहनेवाले थे। इन लोगों ने संवत् १७९२ मे उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के नाम पर "अलंकार-रत्नाकर" नामक ग्रथ बनाया। इसका आधार महाराज जसवंतसिंह का 'भाषा-भूषण' है। इसका 'भाषाभूषण' के साथ प्रायः वही संबध है जो 'कुवलयानंद' का 'चंद्रालोक' के साथ। इस ग्रंथ मे विशेषता यह है कि इसमे अलंकारों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य के लिये गद्य व्यवहृत हुआ है। रीतिकाल के भीतर व्याख्या के लिये कभी कभी गद्य का उपयोग कुछ ग्रंथकारों की सम्यक् निरूपण की उत्कंठा सूचित करता है। इस उत्कंठा के साथ ही गद्य की उन्नति की आकांक्षा का सूत्रपात समझना चाहिए जो सैकड़ो वर्ष बाद पूरी हुई।

'अलंकार-रत्नाकर' में उदाहरणो पर अलंकार घटाकर बताए गए हैं और उदाहरण दूसरे अच्छे कवियों के भी बहुत से हैं। इससे यह अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी है। दंडी आदि कई संस्कृत आचार्यों के उदाहरण भी लिए गए हैं। हिंदी कवियो की लंबी नामावली ऐतिहासिक खोज मे बहुत उपयोगी है।

कवि भी ये लोग अच्छे थे। पद्य-रचना की निपुणता के अतिरिक्त इनमे भावुकता और बुद्धि-वैभव दोनो हैं। इनका एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

अरुन हरौल नभ-मंडल-मुलुक पर
चढ्यो अक्क चक्कवै कि तानि कै किरिन-कोर।
आवत ही साँवत नछत्र जोय धाय धाय,
घोर घमसान करि काम आए ठौर ठौर॥
ससहर सेत भयो, सटक्यो सहमि ससी,
आमिल-उलूक जाय गिरे कंदरन ओर।

दुंद देखि अरबिंद - वंदीखाने तें भगाने
पायक पुलिंद वै मलिंद मकरंद - चोर ॥

(२८) **सोमनाथ**—ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराज वदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १७९४ मे 'रसपीयूषनिधि' नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमे पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दासजी के काव्य-निर्णय से बड़ा ग्रंथ है। काव्यांग-निरूपण मे ये श्रीपति और दास के समान ही है। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।

विषय-निरूपण के अतिरिक्त कवि कर्म मे भी ये सफल हुए हैं। कविता मे ये अपना उपनाम 'ससिनाथ' भी रखते थे। इनमें भावुकता और सहृदयता पूरी थी, इससे इनकी भाषा मे कृत्रिमता नहीं आने पाई। इनकी एक अन्योक्ति कल्पना की मार्मिकता और प्रसादपूर्ण व्यंग्य के कारण बहुत प्रसिद्ध है। सघन और पेचीले मजमून गॉठने के फेर में न पड़ने के कारण इनकी कविता को साधारण समझना सहृदयता के सर्वथा विरुद्ध है। 'रसपीयूषनिधि' के अतिरिक्त खोज मे इनके तीन और ग्रंथ मिले हैं—

कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी (संवत् १८००)
सुजान-विलास (सिंहासन बत्तीसी, पद्य में; संवत् १८०७)
माधव-विनोद नाटक (संवत् १८०९)

उक्त ग्रंथों के निर्माण-काल की ओर ध्यान देने से इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८१० तक ठहरता है।

रीतिग्रंथ और मुक्तक-रचना के सिवा इस सत्कवि ने प्रबंधकाव्य की ओर भी ध्यान दिया। सिंहासन-बत्तीसी के अनुवाद को यदि हम काव्य न मानें तो कम से कम पद्यप्रबंध अवश्य ही कहना पड़ेगा। 'माधव-विनोद' नाटक शायद मालती माधव के आधार पर लिखा हुआ प्रेमप्रबंध है। पहले कहा जा चुका है कि कल्पित कथा लिखने की प्रथा हिंदी के कवियो मे प्रायः नहीं के बराबर रही। जहाँगीर के समय मे संवत् १६७३ मे बना पुहकर कवि का 'रसरत्न' ही

अब तक नाम लेने योग्य कल्पित प्रबंधकाव्य था। अतः सोमनाथजी का यह प्रयत्न उनके दृष्टि-विस्तार का परिचायक है। नीचे सोमनाथजी की कुछ कविताएँ दी जाती है—

दिसि विदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
छाँड़ि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरि गे।
डहडहे भए द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरि गे॥
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदाबूँदि हू न करि गे।
सोर भयो घोर चारो ओर महिमंडल में,
'आए घन, आए घन', आयकै उघरि गे॥

प्रीति नई नित कीजत है, सब सों छलि की बतरानि परी है।
सीखी ढिठाई कहाँ ससिनाथ, हमैं दिन द्वैक तें जानि परी है॥
और कहा लहिए, सजनी! कठिनाई गरै अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू अब ऐसी सुजानहिं बानि परी है॥

झमकतु बदन मतंग कुंभ उत्तंग अंग वर।
वंदन-बलित भुसुंड कुंडलित सुंड सिद्धिधर॥
कंचन-मनिमय मुकुट जगमगै सुघर सीस पर।
लोचन तीनि विसाल चार भुज ध्यावत सुर नर॥
ससिनाथ नंद स्वच्छंद नीति कोटि-विघन-छरछंदहर।
जय बुद्धि-विलंद अमंद दुति इंदुभाल आनंदकर॥

(२९) **रसलीन**—इनका नाम सैयद गुलाम नबी था। ये प्रसिद्ध बिलग्राम (जि० हरदोई) के रहनेवाले थे, जहाँ अच्छे अच्छे विद्वान् मुसलमान होते आए हैं। अपने नाम के आगे 'बिलगरामी' लगाना एक बड़े सम्मान की बात यहाँ के लोग समझते थे। गुलाम नबी ने अपने पिता का नाम बाकर लिखा है।

इन्होने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अंगदर्पण" संवत् १७९४ मे लिखी जिसमे अंगों का, उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है। सूक्तियो के चमत्कार के लिये यह ग्रंथ काव्य-रसिको मे बराबर विख्यात चला आया है। यह प्रसिद्ध दोहा जिसे जनसाधारण बिहारी का समझा करते हैं, अंगदर्पण का ही है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

'अंगदर्पण' के अतिरिक्त रसलीनजी ने सं० १७९८ मे 'रसप्रबोध' नामक रसनिरूपण का ग्रंथ दोहो मे बनाया। इसमे ११५५ दोहे हैं और रस, भाव, नायिकाभेद, षट्ऋतु, बारहमासा आदि अनेक प्रसंग आए हैं। रस-विषय का अपने ढंग का यह छोटा सा अच्छा ग्रंथ है। रसलीन ने स्वयं कहा है कि छोटे से ग्रंथ को पढ़ लेने पर रस का विषय जानने के लिये और ग्रंथ पढने की आवश्यकता न रहेगी। पर यह ग्रंथ अंगदर्पण के ऐसा प्रसिद्ध न हुआ।

रसलीन ने अपने को दोहो की रचना तक ही रखा जिनमे पदावली की गति द्वारा नाद-सौंदर्य का अवकाश बहुत ही कम रहता है। चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य की ओर इन्होने अधिक ध्यान रखा। नीचे इनके कुछ दोहे दिए जाते हैं—

धरति न चौकी नगजरी, यातें उर में लाय।
छाँह परे पर-पुरुष की, जनि तिय-धरम नसाय॥
चख चलि स्रवन मिल्यो चहत, कच बढि छुवन छवानि।
कटि निज दरब धरयो चहत, बक्षस्थल में आनि॥
कुमति चंद प्रति द्यौस बढि, मास मास कढ़ि आय।
तुव मुख-मधुराई लखे फीको परि घटि जाय॥
रमनी-मन पावत नहीं लाज प्रीति को अंत।
दुहूँ ओर ऐंचो रहै, जिमि बिबि तिय को कंत॥
तिय-सैसव-जोबन मिले, भेद न जान्यो जात।
प्रात समय निसि द्यौस के दुवौ भाव दरसात॥

(३०) **रघुनाथ**—ये बंदीजन एक प्रसिद्ध कवि हुए है जो काशिराज

महाराज बरिवंडसिंह की सभा को सुशोभित करते थे। काशी-नरेश ने इन्हे चौरा ग्राम दिया था। इनके पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने महाभारत का भाषा-अनुवाद किया जो काशिराज के पुस्तकालय में है। शिवसिंहजी ने इनके चार ग्रंथों के नाम लिखे हैं—

काव्य-कलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन, और इश्क-महोत्सव। बिहारी-सतसई की एक टीका का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८१० तक समझना चाहिए।

'रसिकमोहन' (सं० १७९६) अलंकार का ग्रंथ है। इसमे उदाहरण केवल शृंगार के ही नहीं हैं, वीर आदि अन्य रसों के भी बहुत अधिक हैं। एक अच्छी विशेषता तो यह है कि इसमे अलंकारो के उदाहरण मे जो पद्य आए हैं उनके प्रायः सब चरण प्रस्तुत अलंकार के सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण होते हैं। इस प्रकार इनके कवित्त या सवैये का सारा कलेवर अलंकार को उदाहृत करने मे प्रयुक्त हो जाता है। भूषण आदि बहुत से कवियो ने अलंकारों के उदाहरण मे जो पद्य रखे हैं उनका अंतिम या और कोई चरण ही वास्तव मे उदाहरण होता है। उपमा के उदाहरण मे इनका यह प्रसिद्ध कवित्त लीजिए—

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
कहै रघुनाथ भरे चैनरस सियरे।
दौरि आए भौंर से करत गुनी गुनगान,
सिद्ध से सुजान सुखसागर सों नियरे॥
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिंता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आजु,
भोर कैसे नखत नरिंद भए पियरे॥

"काव्य-कलाधर" (सं० १८०२) रस का ग्रंथ है। इसमें प्रथानुसार भावभेद, रसभेद, थोड़ा बहुत कहकर नायिकाभेद और नायकभेद का ही विस्तृत वर्णन है। विषय-निरूपण इसका उद्देश्य नहीं जान पड़ता। 'जगत्मोहन' (सं० १८०७)

वास्तव में एक अच्छे प्रतापी और ऐश्वर्यवान् राजा की दिनचर्या बताने के लिये लिखा गया है। इसमे कृष्ण भगवान् की १२ घंटे की दिनचर्या कही गई है। इसमें ग्रंथकार ने अपनी बहुज्ञता अनेक विषयो—जैसे, राजनीति, सामुद्रिक, वैद्यक, ज्योतिष, शालिहोत्र, मृगया, सेना, नगर, गढ़-रक्षा, पशुपक्षी, शतरंज इत्यादि—के विस्तृत और अरोचक वर्णनो द्वारा प्रदर्शित की है। इस प्रकार वास्तव में पद्य मे होने पर भी यह काव्यग्रंथ नहीं है। 'इश्क-महोत्सव' मे आपने 'खड़ी बोली' की रचना का शौक दिखाया है। उससे सूचित होता है कि खड़ी बोली की धारणा तब तक अधिकतर उर्दू के रूप मे ही लोगों को थी।

कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

ग्वाल संग जैबो, ब्रज गैयन चरैबो ऐबो,
अब कहा दाहिने ये नैन फरकत हैं।
मोतिन की माल वारि डारौं गुंजमाल पर,
कुंजन की सुधि आए हियो धरकत हैं॥
गोबर को गारो रघुनाथ कछू यातें भारो,
कहा भयो महलनि मनि मरकत हैं।
मंदिर हैं मंदर तें ऊँचे मेरे द्वारका के,
ब्रज के खरिक तऊ हिये खरकत हैं॥

कैधों सेस देस तें निकसि पुहुमी पै आय,
बदन उचाय बानी जस-असपंद की।
कैधौं छिति चँवरी उसीर की दिखावति है,
ऐसी सोहै उज्ज्वल किरन जैसे चंद की॥
जानि दिनपाल श्रीनृपाल नंदलाल जू को,
कहैं रघुनाथ पाय सुघरी अनंद की।
छूटत फुहारे कैधों फूल्यो है कमल, तासों
अमल अमंद कढै धार मकरंद की॥

सुधरे सिलाह राखै, वायु वेग वाह राखै,
रसद की राह राखै, राखे रहे बैन को।
चोर को समाज राखै बजा औ नजर राखै,
खवरि के काज बहुरूपी हर फन को॥
आगम-भखैया राखै, सगुन-लेवैया राखै,
कहैं रघुनाथ औ बिचार बीच मन को।
बाजी हारै कबहूँ न औसर के परे जौन
ताजी राखै प्रजन को, राजी सुभटन को॥

आप दरियाव, पास नदियों के जाना नहीं,
दरियाव पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि-आसरे को कभी राखता न,
दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी॥
मेरे तो लायक जो था कहना सो कहा मैंने,
रघुनाथ मेरी मति न्याव ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है, आप उसके न,
आप क्यों चलोगे? वह आप पास आवैगी॥

(३१) दूलह—ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ 'कवींद्र' के पुत्र थे। ऐसा जान पड़ता है कि ये अपने पिता के सामने ही अच्छी कविता करने लगे थे। ये कुछ दिनो तक अपने पिता के सम सामयिक रहे। कवींद्र के रचे ग्रंथ १८०४ तक के मिले हैं। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०० से लेकर संवत् १८२५ के आस पास तक माना जा सकता है। इनका बनाया एक ही ग्रथ "कविकुल-कंठाभरण" मिला है जिसमे निर्माण-काल नहीं दिया है। पर इनके फुटकल कवित्त और भी सुने जाते हैं।

"कविकुल-कठाभरण" अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमे यद्यपि लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य मे कहे गए हैं पर कवित्त और सवैया के समान बड़े छंद लेने से अलंकार-स्वरूप और उदाहरण दोनो के सम्यक् कथन के लिये पूरा अवकाश मिला है। भाषाभूषण आदि दोहो मे रचे हुए इस

प्रकार के ग्रंथो से इसमे यही विशेषता है। इसके द्वारा सहज मे अलंकारो का चलता बोध हो सकता है। इसी से दूलहजी ने इसके संबंध मे आप कहा है—

जो या कंठाभरण को, कंठ करै चित लाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इनके कविकुल-कंठाभरण मे केवल ८५ पद्य है। फुटकल जो कवित्त मिलते हैं वे अधिक से अधिक १५ या २० होंगे। अतः इनकी रचना बहुत थोड़ी है, पर थोड़ी होने पर भी उसने इन्हे बड़े अच्छे और प्रतिभा संपन्न कवियो की श्रेणी मे प्रतिष्ठित कर दिया है। देव, दास, मतिराम आदि के साथ दूलह का भी नाम लिया जाता है। इनकी इस सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुर कल्पना, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलंकारो के प्रमाण मे भी सुनाए जाते है और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिए भी। किसी कवि ने इन पर प्रसन्न होकर यहाँ तक कहा है कि "और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय"।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

माने सनमाने तेइ माने सनमाने सन,
　　माने सनमाने सनमान पाइयतु है।
कहैं कवि दूलह अजाने अपमाने,
　　अपमान सों सदन तिनही को छाइयतु है॥
जानत हैं जेऊ तेऊ जात हैं बिराने द्वार,
　　जानि बूझि भूले तिनको सुनाइयतु है।
कामबस परे कोऊ गहत गरूर तौ वा,
　　अपनी जरूर जाजरूर जाइयतु है॥

धरी जब बाहीं तब करी तुम 'नाहीं',
　　पायँ दियौ पलकाही 'नाहीं नाहीं'कै सुहाई हौ॥
बोलत मे नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
　　कवि दूलह, उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ॥

चुंबन में नाही, परिरंभन में नाही,
सब आसन विलासन में नाही ठीक ठाई हौ॥
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चितचाही, यह
'हाँ' ते भली 'नाही' सो कहाँ ते सीखि आई हौ॥

उरज उरज धँसे, बसे उर आडे लसे,
बिन गुन माल गरे धरे छबि छाए हौ।
नैन कवि दूलह हैं राते, तुतराते बैन,
देखे सुने सुख के समूह सरसाए हौ॥
जावक सों लाल भाल पलकन पीकलीकी,
प्यारे ब्रज चंद सुचि सूरज सुहाए हौ।
होत अरुनोद यहि कोद मति बसी आजु,
कौन घरबसी घर बसी करि आए हौ?

सारी की सरोंट सब सारी में मिलाय दीन्ही,
भूषन की जेब जैसे जेब जहियतु है।
कहै कवि दूलह छिपाए रदछद मुख,
नेह देखे सौतिन की देह दहियतु है॥
बाला चित्रसाला तें निकसि गुरुजन आगे,
कीन्हीं चतुराई सो लखाई लहियतु है।
सारिका पुकारै "हम नाही, हम नाही",
"एजू! राम राम कहौ" 'नाहीं नाही' कहियतु है॥

फल विपरीत को जतन सों 'विचित्र',
हरि ऊँचे होत वामन भे बलि के सदन में।
आधार बड़े तें बड़ो आधेय 'अधिक' जानौ,
चरन समानो नाहिं चौदहो भुवन में॥

आधेय अधिक तें आधार की अधिकताई,
"दूसरो अधिक" आयो ऐसो गननन में।
तीनों लोक तन में, अमान्यो ना गगन में,
बसैं ते संत-मन में, कितेक कहौ मन में॥

(३२) **कुमारमणिभट्ट**—इनका कुछ वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होने संवत् १८०३ के लगभग "रसिक रसाल" नामक एक बहुत अच्छा रीतिग्रंथ बनाया। ग्रंथ मे इन्होंने अपने को हरिवल्लभ का पुत्र कहा है। शिवसिंह ने इन्हे गोकुलवासी कहा है। इनका एक सवैया देखिये—

गावैं बधू मधुरे सुर गीतन, प्रीतम संग न बाहिर आई।
छाई कुमार नई छिति में छवि, मानो बिछाई नई दरियाई॥
ऊँचे अटा चढ़ि देखि चहूँ दिसि बोली यों बाल गरो भरि आई।
कैसी करौं हहरै हियरा, हरि आए नहीं उलही हरिआई॥

(३३) **शंभुनाथ मिश्र**—इस नाम के कई कवि हुए हैं जिनमें से एक संवत् १८०६ मे, दूसरे १८६७ में और तीसरे १९०१ मे हुए है। यहाँ प्रथम का उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने 'रसकल्लोल', 'रसतरंगिणी' और 'अलंकार-दीपक' नामक तीन रीतिग्रंथ बनाए है। ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहते थे। 'अलंकारदीपक' मे अधिकतर दोहे हैं, कवित्त सवैया कम। उदाहरण शृंगार-वर्णन मे अधिक प्रयुक्त न होकर आश्रयदाता के यश और प्रताप वर्णन मे अधिक प्रयुक्त हैं। एक कवित्त दिया जाता है—

आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही,
धौंसा की धुकार धूरि परी मुँह माही के।
भय के अजीरन तें जीरन उजीर भए,
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के॥
बीर खेत बीच बरछी लै बिरुझानो, इतै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के।

भूप भगवंत बीर ग्वाही कै खलक सब,
स्याही लाई बदन तमाम पातसाही के ॥

(३४) **शिवसहायदास**—ये जयपुर के रहनेवाले थे। इन्होने संवत् १८०९ मे 'शिवचौपाई' और 'लोकोक्तिरस-कौमुदी' दो ग्रथ बनाए। लोकोक्तिरस-कौमुदी मे विचित्रता यह है कि पखानो या कहावतो को लेकर नायिकाभेद कहा गया है, जैसे—

करौ रुखाई नाहिंन बाम। बेगिहिं लै आऊँ घनस्याम ॥
कहै पखानो भरि अनुराग। बाजी ताँत, कि बूझ्यौ राग ॥
बोलै निठुर पिया बिनु दोस। आपुहि तिय बैठी गहि रोस ॥
कहै पखानो जेहि गहि मोन। बैल न कूद्यो, कूदी गोन ॥

(३५) **रूपसाही**—ये पन्ना के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने संवत् १८११ में 'रूपविलास' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमे दोहे मे ही कुछ पिंगल, कुछ अलंकार, कुछ नायिकाभेद आदि हैं। दो दोहे नमूने के लिये दिए जाते है—

जगमगाति सारी जरी झलमल भूषन-जोति।
भरी दुपहरी तिया की भेंट पिया सों होति ॥
लालन बेगि चलौ न क्यों? बिना तिहारे बाल।
मार मरोरनि सो मरति; करिए परसि निहाल ॥

---

(३६) **ऋषिनाथ**—ये असनी के रहनेवाले बंदीजन, प्रसिद्ध कवि ठाकुर के पिता और सेवक के प्रपितामह थे। काशिराज के दीवान सदानंद और रघुवर कायस्थ के आश्रय मे इन्होने 'अलंकारमणि-मंजरी' नाम की एक अच्छी पुस्तक बनाई जिसमे दोहों की संख्या अधिक है, यद्यपि बीच बीच मे घनाक्षरी और छप्पय भी है। इसका रचना-काल सं० १८३१ है जिससे यह इनकी वृद्धावस्था का ग्रंथ जान पड़ता है। इनका कविता-काल सं० १७९० से १८३१ तक माना जा सकता है। कविता ये अच्छी करते थे। एक कवित्त दिया जाता है—

छाया छत्र ह्वै करि करति महिपालन को,
पालन को पूरो फैलो रजत अपार ह्वै।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख स्रौनन में,
जगत जगत हंस, हास, हीरहार ह्वै॥
ऋषिनाथ सदानंद-सुजस बिलंद,
तमवृंद के हरैया चंदचंद्रिका सुढार ह्वै।
हीतल को सीतल करत घनसार ह्वै,
महीतल को पावन करत गंगाधार ह्वै॥

(३७) **बैरीसाल**—ये असनी के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशधर अब तक असनी में हैं। इन्होने 'भाषाभरण' नामक एक अच्छा अलंकार ग्रंथ सं० १८२५ मे बनाया जिसमे प्रायः दोहे ही हैं। दोहे बहुत सरस हैं और अलंकारों के गुच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते है। दो दोहे उद्धृत किए जाते है—

नहिं कुरंग नहिं ससक यह, नहिं कलंक, नहिं पंक।
बीस बिसे बिरहा दही गडी दीठि ससि अंक॥
करत कोकनद मदहि रद तुव पद हर सुकुमार।
भए अरुन अति द्रवि मनो पायजेब के भार॥

(३८) **दत्त**—ये माढ़ी (जिला कानपुर) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दरबार मे रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८३० माना जा सकता है। इन्होंने 'लालित्यलता' नाम की एक अलंकार की पुस्तक लिखी है जिससे ये बहुत अच्छे कवि जान पड़ते हैं। एक सवैया दिया जाता है—

ग्रीषम में तपै भीषन भानु, गई वनकुंज सखीन की भूल सों।
घाम सों बाम-लता मुरझानी, बयारि करैं घनस्याम दुकूल सों॥
कंपत यों प्रकट्यो तन स्वेद उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरविंद-कलीन पै मानो गिरै मकरंद गुलाब के फूल सों॥

(३९) **रतन कवि**—इनका वृत्त कुछ ज्ञात नहीं। शिवसिंह ने उनका जन्मकाल सं० १७९८ लिखा है। इससे इनका कविता काल सं० १८३० के

आसपास माना जा सकता है। ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतहसाही के यहाँ रहते थे। उन्हीं के नाम पर 'फतेहभूषण' नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ इन्होने बनाया। इसमे लक्षणा, व्यंजना, काव्यभेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। उदाहरण मे शृंगार के ही पद्य न रखकर इन्होने अपने राजा की प्रशसा के कवित्त बहुत रखे है। संवत् १८२७ मे इन्होंने 'अलंकारदर्पण' लिखा। इनका निरूपण भी विशद है और उदाहरण भी बहुत ही मनोहर और सरस हैं। ये एक उत्तम श्रेणीके कुशल कवि थे, इसमे संदेह नहीं। कुछ नमूने लीजिए—

बैरिन की बाहिनी को भीपन निदाघ-रवि,
कुबलय केलि को सरस सुधाकरु है।
दान-झरि सिंधुर है, जग को वसुंधर है,
बिबुध कुलनि को फलित कामतरु है॥
पानिप मनिन को, रतन रतनाकर को,
कुबेर पुन्य जनन को, छमा महीधरु है।
अंग को सनाह, बन-राह को रमा को नाह,
महाबाह फतेहसाह एकै नरवरु है॥

काजर की कोरवारे भारे अनियारे नैन,
कारे सटकारे बार छहरे छ्वानि छ्वै।
श्याम सारी भीतर भभक गोरे गातन की,
ओपवारी न्यारी रही वदन उजारी ह्वै॥
मृगमद बेंदी भाल में दी, याही आभरन,
हरन हिए को तू है, रंभा रति ही अबै।
नीके नथुनी के तैसे सुंदर सुहात मोती,
चंद पर च्वै रहे सु मानो सुधाबुंद ह्वै॥

(४०) नाथ (हरिनाथ)—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होने संवत् १८२६ में "अलंकार-दर्पण" नामक एक छोटा सा ग्रंथ

बनाया जिसमें एक एक पद के भीतर कई कई उदाहरण हैं। इनका क्रम औरों से विलक्षण है। ये पहले अनेक दोहो मे बहुत से लक्षण कहते गए है फिर एक साथ सबके उदाहरण कवित्त आदि मे देते गए है। कविता साधारणतः अच्छी है। एक दोहा देखिए—

तरुनी लसति प्रकास तें, मालति लसत सुबास।
गोरस गोरस देत नहिं, गोरस चहति हुलास॥

(४१) **मनीराम मिश्र**—ये कन्नौज-निवासी इच्छाराम मिश्र के पुत्र थे। इन्होने संवत् १८२९ मे 'छंदछप्पनी' और 'आनंदमंगल' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। 'आनंदमंगल' भागवत दशम स्कध का पद्य मे अनुवाद है। 'छंदछप्पनी' छंदःशास्त्र का बड़ा ही अनूठा ग्रंथ है।

(४२) **चंदन**—ये नाहिल पुवायाँ (जिला शाहजहाँपुर) के रहनेवाले वंदीजन थे और गौड़ राजा केसरीसिंह के पास रहा करते थे। इन्होने 'शृंगार-सागर', 'काव्याभरण', 'कल्लोलतरंगिणी'—ये तीन रीतिग्रंथ लिखे। इनके निम्न-लिखित ग्रंथ और हैं—

(१) केसरीप्रकाश, (२) चदन-सतसई, (३) पथिकबोध, (४) नख-शिख, (५) नाममाला (कोप), (६) पत्रिका-बोध, (७) तत्त्वसंग्रह, (८) सीतवसंत (कहानी), (९) कृष्णकाव्य, (१०) प्राज्ञ-विलास।

ये एक अच्छे चलते कवि जान पड़ते है। इन्होने 'काव्याभरण' संवत् १८४५ में लिखा। फुटकल रचना तो इनकी अच्छी है ही। सीतवसंत की कहानी भी इन्होने प्रबंधकाव्य के रूप में लिखी है। सीतवसंत की रोचक कहानी इन प्रान्तो मे बहुत प्रचलित है। उसमे विमाता के अत्याचार से पीड़ित सीत-वसंत नामक दो राजकुमारो की बडी लंबी कथा है। इनकी पुस्तकों की सूची देखने से यह धारणा होती है कि इनकी दृष्टि रीतिग्रंथो तक ही बद्ध न रहकर साहित्य के और और अंगो पर भी थी।

ये फारसी के भी अच्छे शायर थे और अपना तखल्लुस 'संदल' रखते थे। इनका 'दीवाने संदल' कहीं कहीं मिलता है। इनका कविता-काल संवत् १८२० से १८५० तक माना जा सकता है। इनका एक सवैया नीचे दिया जाता है—

ब्रजवारी गँवारी दै जानै कहा, यह चातुरता न लुगायन में।
पुनि बारिनी जानि अनारिनी है, रुचि एती न चंदन नायन में॥
छबि रंग सुरंग के बिंदु बने लगैं इंद्रबधू लघुतायन में।
चित जो चहै दी चकि सी रहैं दी केहि दी मेंहदी इन पायन में॥

(४३) **देवकीनंदन**—ये कन्नौज के पास मकरंदनगर ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शषली शुक्ल था। इन्होने सं० १८४१ मे 'शृंगार चरित्र' और १८५७ मे 'अवधूत-भूषण' और 'सरफराज-चद्रिका' नामक रस और अलंकार के ग्रंथ बनाए। सवत् १८४३ मे ये कुँवर सरफराज गिरि नामक किसी धनाढ्य महंत के यहाँ थे जहाँ इन्होने 'सरफराज-चंद्रिका' नामक अलंकार का ग्रंथ लिखा। इसके उपरांत ये रुद्दामऊ (जिला हरदोई) के रईस अवधूत-सिह के यहाँ गए जिनके नाम पर 'अवधूत-भूषण' बनाया। इनका एक नखशिख भी है। शिवसिंह को इनके इस नखशिख का ही पता था, दूसरे ग्रंथो का नहीं।

'शृगारचरित्र' मे रस, भाव, नायिकाभेद आदि के अतिरिक्त अलंकार भी आ गए है। 'अवधूत-भूषण' वास्तव मे इसी का कुछ प्रवर्द्धित रूप है। इनकी भाषा मँजी हुई और भाव प्रौढ़ है। बुद्धि वैभव भी इनकी रचना मे पाया जाता है। कही कहीं कूट भी इन्होंने कहे हैं। कला-वैचित्र्य की ओर अधिक झुकी हुई होने पर भी इनकी कविता मे लालित्य और माधुर्य्य पूरा है। दो कवित्त नीचे दिए जाते है—

बैठी रंग-रावटी में हेरत पिया की बाट,
आए न बिहारी भई निपट अधीर मैं।
देवकीनंदन कहै स्याम घटा घिरि आई,
जानि गति प्रलय की डरानी बहु, बीर! मै॥
सेज पै सदासिव की मूरत्ति बनाय पूजी,
तीनि डर तीनहू की करी तदबीर मै।
पाखन में सामरे, सुलाखन में अखैबट,
ताखन में लाखन की लिखो तसवीर मै॥

मोतिन की माल तोरि, चीर सब चीरि डारै,
फेरि कै न जैहौं आली, दुख विकरारे हैं।
देवकीनंदन कहै धोखे नागछौनन के,
अलकैं प्रसून नोचि नोचि निरवारे हैं॥
मानि मुख चंद-भाव चोंच दई अधरन,
तीनौ ये निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
ठौर ठौर डोलत मराल मतवारे, तैसे
मोर मतवारे त्यो चकोर मतवारे हैं॥

(४४) **महाराज रामसिंह**—ये नरवलगढ़ के राजा थे। इन्होने रस और अलंकार पर तीन ग्रंथ लिखे हैं—अलंकार-दर्पण, रसनिवास (सं० १८३९) और रसविनोद (सं० १८६०)। अलंकार-दर्पण दोहो मे है। नायिकाभेद भी अच्छा है। ये एक अच्छे और प्रवीण कवि थे। उदाहरण लीजिए—

सोहत सुंदर स्याम सिर मुकुट मनोहर जोर।
मनो नीलमनि सैल पर नाचत राजत मोर॥
दमकन लागी दामिनी, करन लगे घन रोर।
बोलति माती कोइलैं, बोलत माते मोर॥

(४५) **भान कवि**—इनके पूरे नाम तक का पता नहीं। इन्होंने सवत् १८४५ मे 'नरेद्र-भूषन' नामक अलंकार का एक ग्रंथ बनाया जिससे केवल इतना ही पता लगता है कि ये राजा जोरावरसिह के पुत्र थे और राजा रनजोरसिह बुँदेले के यहाँ रहते थे। इन्होने अलंकारों के उदाहरण शृंगाररस के प्रायः बराबर ही वीर, भयानक, अद्भुत आदि रसो के रखे हैं। इससे इनके ग्रंथ मे कुछ नवीनता अवश्य दिखाई पड़ती है जो शृंगार के सैकड़ों वर्ष के पिष्टपेषण के ऊबे हुए पाठक को विराम सा देती है। इनकी कविता मे भूषण की सी फड़क और प्रसिद्ध शृङ्गारियो की सी तन्मयता और मधुरता तो नहीं है, पर रचना प्रायः पुष्ट और परिमार्जित है। दो कवित्त नीचे दिए जाते है—

रन-मतवारे ये जोरावर दुलारे तव,
बाजत नगारे भए गालिब दिलीस पर।

दल के चलत भर भर होत चारो ओर,
चालति धरनि भारी भार सों फनीस पर ॥
देखि कै समर-सनमुख भयो ताहि समै,
बरनत भान पैज कै कै विसे बीस पर ।
तेरी समसेर की सिफत सिह रनजोर,
लखी एकै साथ हाथ अरिन के सीस पर ॥

घन से सघन स्याम, इंदु पर छाय रहे,
बैठी तहाँ असित द्विरेफन की पाँति सी ।
तिनके समीप तहाँ खंज की सी जोरी, लाल !
आरसी से अमल निहारे बहु भाँति सी ॥
ताको ढिग अमल ललौहैं बिवि विद्रुम से,
फरकति ओप जामैं मोतिन की कांति सी ॥
भीतर तें कढ़ति मधुर बीन कैसी धुनि,
सुनि करि भान परि कानन सुहाति सी ॥

(४६) **थान कवि**—ये चंदन बंदीजन के भानजे थे और डौंड़ियाखेरे (जिला रायबरेली) मे रहते थे । इनका पूरा नाम थानराय था । इनके पिता निहालराय, पितामह महासिह और प्रपितामह लालराय थे । इन्होंने संवत् १८५८ मे 'दलेलप्रकाश' नामक एक रीतिग्रंथ चँडरा (बैसवारा) के रईस दलेलसिह के नाम पर बनाया । इस ग्रंथ मे विषयो का कोई क्रम नहीं है । इसमें गणविचार, रस-भाव-भेद, गुणदोष आदि का कुछ निरूपण है और कहीं कहीं अलंकारो के कुछ लक्षण आदि भी दे दिए गए हैं । कहीं राग-रागिनियो के नाम आए, तो उनके भी लक्षण कह दिए । पुराने टीकाकारों की सी गति है । अंत में चित्रकाव्य भी रखे हैं । सारांश यह है कि इन्होंने कोई सर्वांगपूर्ण ग्रंथ बनाने के उद्देश्य से इसे नहीं लिखा है । अनेक विषयो मे अपनी निपुणता का प्रमाण सा इन्होने उपस्थित किया है । ये इसमे सफल हुए हैं, यह अवश्य कहना पड़ता है । जो विषय लिया है उसपर उत्तम कोटि

की रचना की है। भाषा मे मंजुलता और लालित्य है। ह्रस्व वर्णों की मधुर योजना इन्होने बड़ी सुंदर की है। यदि अपने ग्रंथ को इन्होने भानमती का पिटारा न बनाया होता और एक ढंग पर चले होते तो इनकी बड़े कवियो की सी ख्याति होती, इसमे संदेह नहीं। इनकी रचना के दो नमूने देखिए—

दासन पै दाहिनी परम हंसवाहिनी हौ,
पोथी कर, बीना सुरमंडल मढ़त है।
आसन कँवल, अंग अंबर धवल,
मुख चंद सो अवँल, रंग नवल चढत है॥
ऐसी मातु भारती की आरती करत थान,
जाको जस विधि ऐंसो पंडित पढत है।
ताकी दया-दीठि लाख पाथर निराखर के,
मुख ते मधुर मंजु आखर कढत है॥

कलुष-हरनि सुख-करनि सरनजन
बरनि बरनि जस कहत घरनिधर।
कलिमल-कलित बलित-अघ खलगन
लहत परमपद कुटिल कपटतर॥
मदन-कदन सुर-सदन बदन ससि,
अमल नवल दुति भजन भगतवर।
सुरसरि! तव जल दरस परस करि,
सुर सरि सुभगति लहत अधम नर॥

(४७) **बेनो बंदीजन**—ये बैंती (जिला रायबरेली) के रहनेवाले थे और अवध के प्रसिद्ध वजीर महाराज टिकैतराय के आश्रय मे रहते थे। उन्हीं के नामपर इन्होंने "टिकैतराय प्रकाश" नामक अलंकार-ग्रंथ संवत् १८४९ मे बनाया। अपने दूसरे ग्रंथ "रसविलास" मे इन्होने रस-निरूपण किया है। पर ये अपने इन दोनों ग्रंथों के कारण इतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने

अपने भँडौवो के लिये। इनके भँड़ौवो का एक संग्रह "भँड़ौवा-संग्रह" के नाम से भारतजीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

भँड़ौवा हास्यरस के अतर्गत आता है। इसमे किसी की उपहासपूर्ण निंदा रहती है। यह प्रायः सब देशों मे साहित्य का एक अंग रहा है। जैसे फारसी और उर्दू की शायरी मे 'हजो' का एक विशेष स्थान है वैसे ही अँगरेजी मे सटायर (Satire) का। पूरबी साहित्य मे 'उपहास-काव्य' के लक्ष्य अधिकतर कजूस अमीर या आश्रयदाता ही रहे है और योरपीय साहित्य मे समसामयिक कवि और लेखक। इससे योरप के उपहास-काव्य मे साहित्यिक मनोरजन की सामग्री अधिक रहती थी। उर्दू-साहित्य मे सौदा 'हजो' के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने किसी अमीर के दिए घोडे की इतनी हँसी की है कि सुननेवाले लोट पोट हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी कवि ने औरगजेब की दी हुई हथिनी की निंदा की है—

तिमिरलंग लइ मोल, चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ संग फेरि अकबर के दल के॥
जहाँगीर जस लियो पीठि को भार हटायो।
साहजहाँ करि न्याव ताहि पुनि माँड़ चटायो॥

बल-रहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत वन स्यार डर।
औरंगजेब करिनी सोई लै दीन्ही कविराज कर॥

इस पद्धति के अनुयायी बेनीजी ने भी कहीं बुरी रजाई पाई तो उसकी निंदा की, कहीं छोटे आम पाए तो उनकी निंदा जी खोल कर की।

पर जिस प्रकार उर्दू के शायर कभी कभी दूसरे कवि पर छींटा दे दिया करते हैं, उसी प्रकार बेनीजी ने भी लखनऊ के ललकदास महंत (इन्होंने 'सत्योपाख्यान' नामक एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें रामकथा बडे विस्तार से चौपाइयो में कही है) पर कुछ कृपा की है। जैसे "बाजे बाजे ऐसे डलमऊ में बसत जैसे मऊ के जुलाहे, लखनऊ के ललकदास"। इनका 'टिकैत-प्रकाश' संवत् १८४९ मे और "रसविलास' संवत् १८७४ में बना। अतः इनका कविता-

काल संवत् १८४६ से १८८० तक माना जा सकता है। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे देखिए—

अलि डसे अधर सुगंध पाय आनन को,
कानन में ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
फटि गई कंचुकी लगे तें कंट कुंजन के,
बेनी बरहीन खोली, बार छबि छाए हैं॥
वेग तें गवन कीनो, धक धक होत सीनो,
ऊरध उसासैं तन सेद सरसाए हैं।
भली प्रीति पाली वनमाली के बुलाइबे को,
मेरे हेत आली बहुतेरे दुख पाए हैं'॥

घर घर घाट घाट बाट बाट ठाट ठटे,
बेला औ कुबेला फिरैं चेला लिए आस पास।
कविन सों बाद करैं, भेद बिन नाद करैं,
महा उनमाद करैं, धरम करम नास॥
बेनी कवि कहैं बिभिचारिन को बादसाह,
अतन प्रकासत न सतन सरम तास।
ललना ललक, नैन मैन की झलक,
हँसि हेरत अलक रद खलक ललकदास॥

चींटी की चलावै को? मसा के मुख आपु जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मनमोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सों लगत है।

(४८) **बेनी प्रवीन**—ये लखनऊ के वाजपेयी थे और लखनऊ के बादशाह गाजीउद्दीन हैदर के दीवान राजा दयाकृष्ण कायस्थ के पुत्र नवल-कृष्ण उर्फ ललनजी के आश्रय मे रहते थे जिनकी आज्ञा से स० १८७४ मे इन्होंने 'नवरस-तरग' नामक ग्रंथ बनाया। इसके पहले 'शृंगार-भूषण' नामक एक ग्रंथ ये बना चुके थे। ये कुछ दिन के लिये महाराज नाना राव के पास बिठूर भी गए थे और उनके नाम पर "नानाराव-प्रकाश" नामक अलंकार का एक बड़ा ग्रथ कविप्रिया के ढंग पर लिखा था। खेद है इनका कोई ग्रथ अब तक प्रकाशित न हुआ। इनके फुटकल कवित्त इधर उधर बहुत कुछ संगृहीत और उद्धृत मिलते है। कहते हैं कि बेनी बंदीजन (भँड़ौवावाले) से इनसे एक बार कुछ वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हे 'प्रवीन' की उपाधि दी थी। पीछे से रुग्ण होकर ये सपत्नीक आबू चले गए और वही इनका शरीर-पात हुआ। इन्हे कोई पुत्र न था।

इनका 'नवरस-तरग' बहुत ही मनोहर ग्रंथ है। उसमे नायिकाभेद के उपरात रसभेद और भावभेद का संक्षेप में निरूपण हुआ है। उदाहरण और रसों के भी दिये है पर रीतिकाल के रससबंधी और ग्रथो की भाँति यह शृगार का ही ग्रंथ है। इसमें नायिकाभेद के अंतर्गत प्रेम-क्रीड़ा की बहुत सी सुदर कल्पनाएँ भरी पड़ी है। भाषा इनकी बहुत साफ सुथरी और चलती है, बहुतों की भाषा की तरह लद्दू नहीं। ऋतुओ के वर्णन भी उद्दीपन की दृष्टि से जहाँ तक रमणीय हो सकते हैं किए है, जिनमे प्रथानुसार भोग-विलास की सामग्री भी बहुत कुछ आ गई है। अभिसारिका आदि कुछ नायिकाओं के वर्णन बडे ही सरस है। ये ब्रजभाषा के मतिराम ऐसे कवियों के समकक्ष हैं और कहीं कहीं तो भाषा और भाव के माधुर्य्य मे पद्माकर तक से टक्कर लेते हैं। जान पड़ता है, शृगार के लिये सवैया ये विशेष उपयुक्त समझते थे। कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते है—

> भोर ही न्योति गई ती तुम्है वह गोकुल गाँव की ग्वालिनि गोरी।
> अधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि करी बरजोरी॥
> आवैं हँसी मोहिं देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
> एते बड़े ब्रजमंडल में न मिली कहुँ माँगेहु रंचक रोरी॥

जान्यो न मैं ललिता अलि ताहि जो सोवत माहिं गई करि हाँसी ।
लाए हिए नख केहरि के सम, मेरी तऊ नहिं नींद विनासी ॥
लै गई अंबर बेनी प्रवीन ओढ़ाय लटी दुपटी दुखरासी ।
तोरि तनी, तन छोरि अभूषन भूलि गई गर देन को फाँसी ॥
घनसार पटीर मिलै मिलै नीर चहै तन लावै न लावै चहै ।
न बुझै बिरहागिनि झार झरी हू चहै घन लावै न लावै चहै ॥
हम टेरि सुनावतीं बेनी प्रवीन चहै मन लावै न लावै चहै ।
अब आवै विदेस तें पीतम गेह, चहै धन लावै, न लावै चहै ॥
काल्हि ही गूँधी बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला ।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की, संग एई जमुना तट बाला ॥
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन, हँसैं सुनि बैनन नैन रसाला ।
जानति ना अँग की बदली, सब सों "बदली बदली" कहै माला ॥

सोभा पाई कुंजभौन जहाँ जहाँ कीन्हो गौन,
सरस सुगंध पौन पाई मधुपनि है ।
वीथिन बिथोरे मुकुताहल मराल पाए,
आली दुसाल साल पाए अनगनि है ॥
रैनि पाई चाँदनी फटक सी चटक रुख,
सुख पायो पीतम प्रवीन बेनी धनि है ।
बैन पाई सारिका, पढ़न लागी कारिका,
सो आई अभिसारिका कि चारु चिंतामनि है ॥

(४९) **जसवंतसिंह द्वितीय**—ये बघेल क्षत्रिय और तेरवाँ (कन्नौज के पास) के राजा थे और बड़े विद्या-प्रेमी थे। इनके पुस्तकालय मे संस्कृत और भाषा के बहुत से ग्रथ थे। इनका कविताकाल संवत् १८५६ अनुमान किया गया है। इन्होंने दो ग्रंथ लिखे—एक सालिहोत्र और दूसरा शृंगार शिरोमणि। यहाँ इसी दूसरे ग्रंथ से प्रयोजन है, जो शृंगार रस का एक बड़ा ग्रंथ है। कविता साधारण है। एक कवित्त देखिए—

घनन के घोर, सोर चारों ओर मोरन के,
अति चितचोर तैसे अंकुर मुनै रहैं।
कोकिलन कूक हूक होति बिरहीन हिय
लूक से लगत चीर चारन चुनै रहैं॥
झिल्ली झनकार तैसी पिकन पुकार डारी,
मारि डारी डारी द्रुम अंकुर सुनै रहैं।
लुनै रहैं प्रान प्रानप्यारे जसवंत बिनु,
कारे पीरे लाल ऊदे बादर उनै रहैं॥

(५०) **यशोदानंदन**—इनका कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं। शिवसिंहसरोज मे जन्म-संवत् १८२८ लिखा पाया जाता है। इनका एक छोटा सा ग्रथ "बरवै नायिका-भेद" ही मिलता है जो निस्संदेह अनूठा है और रहीमवाले से अच्छा नहीं तो उसकी टक्कर का है। इसमे ९ बरवा संस्कृत मे और ५३ ठेठ अवधी भाषा में हैं। अत्यंत मृदु और कोमल भाव अत्यंत सरल और स्वाभाविक रीति से व्यंजित हैं। भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है। इस दृष्टि से इनकी यह छोटी सी रचना बहुत ही बड़ी बड़ी रचनाओं से मूल्य मे बहुत अधिक है। कवियो की श्रेणी में ये निस्संदेह उच्च स्थान के अधिकारी हैं। इनके बरवै के नमूने देखिए—

(संस्कृत) यदि च भवति बुध-मिलनं किं त्रिदिवेन।
यदि च भवति शठ-मिलनं किं निरयेण॥

(भाषा) अहिरिनि मन कै गहिरिनि उतरु न देइ।
नैना करै मथनिया, मन मथि लेइ॥
तुरकिनि जाति हुरुकिनी अति इतराइ।
छुवन न देइ इजरवा मुरि मुरि जाइ॥
पीतम तुम कचलोइया, हम गजबेलि।
सारस कै असि जोरिया, फिरौं अकेलि॥

(५१) **करन कवि**—ये षट्कुल कान्यकुब्जों के अंतर्गत पाँडे थे और

छत्रसाल के वंशधर पन्ना-नरेश महाराज हिंदूपति की सभा मे रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८६० के लगभग माना जा सकता है। इन्होने 'साहित्यरस' और 'रसकल्लोल' नामक दो रीतिग्रंथ लिखे हैं। 'साहित्यरस' में इन्होने लक्षणा, व्यंजना, ध्वनिभेद, रसभेद, गुण, दोष आदि काव्य के प्रायः सब विषयो का विस्तार से वर्णन किया है। इस दृष्टि से यह एक उत्तम रीतिग्रंथ है। कविता भी इसकी सरस और मनोहर है। इससे इनका एक सुविज्ञ कवि होना सिद्ध होता है। इनका एक कवित्त देखिए—

कंटकित होत गात विपिन-समाज देखि,
हरी हरी भूमि हेरि हियो लरजतु है।
एते पै करन धुनि परति मयूरन की,
चातक पुकारि तेह ताप सरजतु है॥
निपट चबाई भाई बंधु जे बसत गाँव,
दाँव परे जानि कै न कोऊ बरजतु है।
अरज्यो न मानी तू, न गरज्यो चलत बार,
एरे घन बैरी! अब काहे गरजतु है॥

खल खंडन, मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड।
दलमंडन दारुन समर, हिंदुराज भुजदंड॥

(५२) **गुरदीन पाँडे**—इनके संबंध मे कुछ ज्ञात नहीं। इन्होने संवत् १८६० मे 'बागमनोहर' नामक एक बहुत ही बड़ा रीतिग्रंथ कविप्रिया की शैली पर बनाया। 'कवि-प्रिया' से इसमें विशेषता यह है कि इसमे पिंगल भी आ गया है। इस एक ही ग्रंथ मे पिंगल, रस, अलंकार, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि सब कुछ अध्ययन के लिये रख दिया गया है। इससे यह साहित्य का एक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमे हर प्रकार के छंद हैं। संस्कृत के वर्ण वृत्तों मे बड़ी सुन्दर रचना है। यह अत्यंत रोचक और उपादेय ग्रंथ है। कुछ पद्य देखिए—

मुख-सरसी ससि दून कला धरे। कि मुकता-गन जावक में भरे।
ललित कुंदकली अनुहारि के। दसन हैं वृषभानु-कुमारि के॥
सुखद जंत्र कि भाल सुहाग के। ललित मंत्र किधौं अनुराग के।
भ्रुकुटि यों वृषभानु-सुता लसैं। जनु अनंग-सरासन को हँसैं॥
मुकुर तौ पर-दीपति को धनी। ससि कलंकित, राहु-बिथा घनी।
अपर ना उपमा जग में लहै। तव प्रिया! मुख के सम को कहै?

(५३) ब्रह्मदत्त—ये ब्राह्मण थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायण-सिह के छोटे भाई बाबू दीपनारायणसिंह के आश्रित थे। इन्होने संवत् १८६० मे 'विद्वद्विलास' और १८६५ मे 'दीपप्रकास' नामक एक अच्छा अलकार का ग्रथ बनाया। इनकी रचना सरल और परिमार्जित है। आश्रय-दाता की प्रशसा मे यह कवित्त देखिए—

कुसल कलानि में, करनहार कीरति को,
कवि कोविदन को कलप-तरुवर है।
सील सनमान बुद्धि विद्या को निधान ब्रह्म,
मतिमान हंसन को मानसरवर है॥
दीपनारायन, अवनीप को अनुज प्यारो,
दीन दुख देखत हरत हरबर है।
गाहक गुनी को, निरवाहक दुनी को नीको,
गनी गज-बकस, गरीबपरवर है॥

(५४) पद्माकर भट्ट—रीतिकाल के कवियों मे सहृदय-समाज इन्हे बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर फिर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि मे अतिम भी। देश मे जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल भट्ट का जन्म बाँदे मे हुआ

था। ये पूर्ण पंडित और अच्छे कवि भी थे जिसके कारण इनका कई राजधानियों मे अच्छा सम्मान हुआ था। ये कुछ दिनों तक नागपुर के महाराज रघुनाथराव (अप्पा साहब) के यहाँ रहे, फिर पन्ना के महाराज हिंदूपति के गुरु हुए और कई गाँव प्राप्त किए। वहाँ से ये फिर जयपुर-नरेश महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ जा रहे जहाँ इन्हें 'कविराज-शिरोमणि' की पदवी और अच्छी जागीर मिली। उन्हीं के पुत्र सुप्रसिद्ध पद्माकरजी हुए। पद्माकरजी का जन्म संवत् १८१० में बाँदे मे हुआ। इन्होने ८० वर्ष की आयु भोगकर अंत मे कानपुर में गंगातट पर संवत् १८९० मे शरीर छोड़ा। ये कई स्थानो पर रहे। सुगरा के नोने अर्जुनसिंह ने इन्हें अपना मंत्रगुरु बनाया। संवत् १८४९ मे ये गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ गए जो बड़े अच्छे योद्धा थे और पहले बाँदे के नवाब के यहाँ थे, फिर अवध के बादशाह के यहाँ सेना के बड़े अधिकारी हुए थे। इनके नाम पर पद्माकरजी ने "हिम्मत बहादुर-विरदावली" नाम की वीररस की एक बहुत ही फड़कती हुई पुस्तक लिखी। संवत् १८५६ में ये सितारे के महाराज रघुनाथराव (प्रसिद्ध राघोबा) के यहाँ गए और एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव पाए। इसके उपरांत पद्माकरजी जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे और वहाँ बहुत दिन तक रहे। महाराज प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगतसिंह के समय मे भी ये बहुत काल तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' बनाया। ऐसा जान पड़ता है जयपुर में ही इन्होने अपना अलंकार का ग्रंथ 'पद्माभरण' बनाया जो दोहो में है। ये एक बार उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दरबार मे भी गए थे जहाँ इनका बहुत अच्छा सम्मान हुआ था। महाराणा साहब की आज्ञा से इन्होंने "गनगौर" के मेले का वर्णन किया था। महाराज जगतसिंह का परलोकवास संवत् १८६० में हुआ। अतः उसके अनंतर ये ग्वालियर के महाराज दौलतराव सेंधिया के दरबार मे गए और यह कवित्त पढ़ा—

मीनागढ़ बंबई सुमंद मंदराज बंग,
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो।

कहै पद्माकर कसकि कासमीर हू को,
पिंजर सों घेरि के कलिंजर छुड़ावैगो ॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो ॥

सेंधिया के दरबार में भी इनका अच्छा मान हुआ। कहते हैं कि वहाँ सरदार ऊदाजी के अनुरोध से इन्होने हितोपदेश का भाषानुवाद किया था। ग्वालियर से ये बूँदी गए और वहाँ से फिर अपने घर बाँदे मे आ रहे। आयु के पिछले दिनों में ये रोगग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने "प्रबोध-पचासा" नामक विराग और भक्तिरस से पूर्ण ग्रंथ बनाया। अन्तिम समय निकट जान पद्माकर जी गगातट के विचार से कानपुर चले आए और वहीं अपने जीवन के शेष सात वर्ष पूरे किए। अपनी प्रसिद्ध 'गंगालहरी' इन्होंने इसी समय के बीच बनाई थी।

'राम-रसायन' नामक वाल्मीकि-रामायण का आधार लेकर लिखा हुआ एक चरित काव्य भी इनका दोहे-चौपाइयो में है पर उसमे इन्हे काव्य संबधिनी सफलता नहीं हुई है। संभव है वह इनका न हो।

मतिरामजी के 'रसराज' के समान पद्माकरजी का 'जगद्विनोद' भी काव्य रसिकों और अभ्यासियो दोनों का कठहार रहा है। वास्तव मे यह शृंगाररस का सार-ग्रथ सा प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भावपूर्ण मूर्तिविधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति मे मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्त्ति विधान करनेवाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि मे नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती, या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का सयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इन कवि का अधिकार दिखाई

पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव-भरी प्रेम-मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासो की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कही वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्यजीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा मे वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि मे होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदासजी मे दिखाई पड़ती है।

अनुप्रास की प्रवृत्ति तो हिंदी के प्रायः सब कवियों में आवश्यकता से अधिक रही है। पद्माकरजी भी उसके प्रभाव से नहीं बचे हैं। पर थोड़ा ध्यान देने पर यह प्रवृत्ति इनमें अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यो में ही मिलेगी जिसमें ये जान बूझकर शब्द-चमत्कार प्रकट करना चाहते थे। अनुप्रास की दीर्घ शृंखला अधिकतर इनके वर्णनात्मक (Descriptive) पद्यों में पाई जाती है। जहाँ मधुर कल्पना के बीच सुंदर कोमल भाव-तरंग का स्पंदन है वहाँ की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ सुथरी है— वहाँ अनुप्रास भी है तो बहुत संयम रूप मे। भाव-मूर्ति विधायिनी कल्पना का क्या कहना है? ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मजमून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमे थी। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्त्तिदान कर देते हैं कि सुननेवालों का हृदय आप से आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

पद्माकरजी की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस इँडुरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई ओर बंसीबट की।
तान लागे लटकी, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन के
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली! याही कोद कहूँ
नीके कै निहारैं ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो श्यामरंग में चोराइ चित चोराचोरी
बोरत तो बोर्यो, पै निचोरत बनै नहीं॥

आरस सों आरत, सँभारत न सीस-पट,
गजब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहै पदमाकर सुरा सों सरसार, तैसे
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥

मोहिं लखि सोवत बिथोरिगो सुबेनी बनी,
तोरिगो हिए को हार, छोरिगो सुगैया को।
कहै पदमाकर त्यों घोरिगो घनेरो दुख,
बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को॥
अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास ? यातें
सोचन खरी मैं परी जोवति जुन्हैया को।
बूझिहैं चवैया तब कैहौं कहा, दैया !
इत पारिगो को, मैया ! मेरी सेज पै कन्हैया को?

एहो नंदलाल ! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल हीं चलौ तौ चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौं ये झकोरे लगे
औरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौही लगि चैन जौ लौ चेतिहै न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी॥

चालो सुनि चंदमुखी चित में सुचैन करि,
तित बन बागन घनेरे अलि घूमि रहे।
कहै पदमाकर मयूर मंजु नाचत हैं,
चाय सों चकोरनी चकोर चूमि चूमि रहे॥
कदम, अनार, आम, अगर, असोक-थोक,
लतनि समेत लोने लोने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे, फलि रहे, फबि रहे, फैलि रहे,
झपि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे॥

तीखे तेगवाही जे सिलाही चढ़ैं घोड़न पै,
स्याही चढ़ैं अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै पदमाकर निसान चढ़ैं हाथिन पै,
धूरि धार चढ़ै पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ै वाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै वैल पै॥

ए ब्रजचंद गोबिंद गोपाल! सुन्यो क्यों न एते कलाम किए मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नद हौ, नँदनंदन! जानि लिए मै॥
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछु भय मानि जिए मै।
दूरि न दौरि दुरयौ जौ चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिए मै?

(५५) **ग्वाल कवि**—ये मथुरा के रहनेवाले बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। ये ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए है। इनका कविताकाल संवत् १८७९ से संवत् १९१८ तक है। अपना पहला ग्रंथ 'यमुना-लहरी' इन्होंने संवत् १८७९ मे और अंतिम ग्रंथ 'भक्तभावन' संवत् १९१९ मे बनाया। रीतिग्रथ इन्होंने चार लिखे हैं—'रसिकानद' (अलकार), 'रसरग' (संवत् १९०४), कृष्णजू को नख-शिख (संवत् १८८४) और 'दूषण-दर्पण' (संवत् १८९१)। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—हम्मीर हठ (संवत् १८८१) और गोपी पच्चीसी।

और भी दो ग्रंथ इनके लिखे कहे जाते है—'राधा-माधव-मिलन' और 'राधा अष्टक'। 'कविहृदय विनोद' इनकी बहुत सी कविताओं का संग्रह है।

रीतिकाल की सनक इनमें इतनी अधिक थी कि इन्हें 'यमुना-लहरी' नामक देवस्तुति में भी नवरस और षट्ऋतु सुझाई पडे है। भाषा इनकी चलती और व्यवस्थित है। वाग्विदग्धता भी इनमे अच्छी है। षट्ऋतुओं का वर्णन इन्होंने विस्तृत किया है, पर वही शृंगारी उद्दीपन के ढंग का। इनके कवित्त

लोगों के मुँह से अधिक सुने जाते हैं जिनमे बहुत से भोग-विलास के अमीरी सामान भी गिनाए गए हैं। ग्वाल कवि ने देशाटन अच्छा किया था और इन्हे भिन्न भिन्न प्रान्तों की बोलियो का अच्छा ज्ञान हो गया था। इन्होने ठेठ पूरबी हिंदी, गुजराती और पंजाबी भाषा में भी कुछ कवित्त सवैये लिखे हैं। फारसी अरबी शब्दों का इन्होंने बहुत प्रयोग किया है। सारांश यह कि ये एक विदग्ध और कुशल कवि थे पर कुछ फक्कड़पन लिए हुए। इनकी बहुत सी कविता बाजारी है। थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी॥
ग्वाल कवि कहै कोरे कुंभन तें कूपन तें,
ले लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेरि अब,
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥

मोरन के सोरन[1] की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने या फरद की।
अंबर अमल, सर सरिता विमल भल,
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए,
पंथिन की दूर भई दूषन दरद की।
जल पर, थल पर, महल, अचल पर,
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की॥

जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ,
ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।

जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन में,
ताकी बदजाती बदज़ाती ह्वाँ उराहना ॥
ग्वाल कवि वे ही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग,
वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ ह्वाँ सराहना ।
जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना ॥

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो, देव लेव, यही रह जाना है ॥
राजा राव उमराव केते बादसाह भए,
कहाँ ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है ॥
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे!
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है ।
आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है ॥

(५६) **प्रतापसाहि**—ये रतनेस बंदीजन के पुत्र थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १८८२ मे "व्यंग्यार्थ-कौमुदी" और संवत् १८८६ में "काव्य विलास" की रचना की। इन दोनों परम प्रसिद्ध ग्रंथो के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकें इनकी बनाई हुई और हैं—

जयसिंहप्रकाश (सं० १८५२), शृंगारी-मंजरी (सं० १८८९), शृंगार-शिरोमणि (सं० १८९४), अलंकार-चिंतामणि (सं० १८९४), काव्य-विनोद (१८९६), रसराज की टीका (सं० १८९६), रत्नचंद्रिका (सतसई की टीका, सं० १८९६), जुगल नखशिख (सीताराम का नखशिख वर्णन), बलभद्र नखशिख की टीका।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८८० से १९०० तक ठहरता है। पुस्तकों के नाम से ही इनकी साहित्य-मर्मज्ञता और पांडित्य का

अनुमान हो सकता है। आचार्य्यत्व मे इनका नाम मतिराम, श्रीपति और दास के साथ आता है और एक दृष्टि से इन्होने उनके चलाए हुए कार्य्य को पूर्णता को पहुँचाया था। लक्षणा व्यंजना का उदाहरणों द्वारा विस्तृत निरूपण पूर्ववर्ती तीनो कवियों ने नहीं किया था। इन्होने व्यंजना के उदाहरणों की एक अलग पुस्तक ही "व्यंग्यार्थ-कौमुदी" के नाम से रची। इसमे कवित्त, दोहे, सवैये मिलाकर १३० पद्य है जो सब व्यंजना या ध्वनि के उदाहरण हैं। साहित्यमर्मज्ञ तो बिना कहे ही समझ सकते हैं कि ये उदाहरण अधिकतर वस्तु-व्यंजना के ही होगे। वस्तु-व्यंजना को बहुत दूर घसीटने पर बड़े चक्करदार ऊहापोह का सहारा लेना पड़ता है और व्यंग्यार्थ तक पहुँच केवल साहित्यिक रूढ़ि के अभ्यास पर अवलंबित रहती है। नायिकाओ के भेदो, रसादि के सब अंगों तथा भिन्न भिन्न बँधे उपमानों का अभ्यास न रखने-वाले के लिये ऐसे पद्य पहेली ही समझिए। उदाहरण के लिये 'व्यग्यार्थ-कौमुदी' का यह सवैया लीजिए—

सीख सिखाई न मानति है, बर ही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल में, बिना काम वृथा कत जाम बितावै॥
छोड़ि कै साथ सहेलिन को, रहि कै कहि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि, अरी! नित नीरभरी गगरी ढरकावै॥

सहृदयो की सामान्य दृष्टि मे तो वयःसंधि की मधुर क्रीड़ा-वृत्ति का यह एक परम मनोहर दृश्य है। पर फन मे उस्ताद लोगों की आँखें एक और ही ओर पहुँचती हैं। वे इसमे से यह व्यंग्यार्थ निकालते हैं—घड़े के पानी में अपने नेत्रो का प्रतिबिंब देख उसे मछलियों का भ्रम होता है। इस प्रकार का भ्रम एक अलंकार है। अतः भ्रम या भ्रांति अलंकार यहाँ व्यंग्य हुआ। और चलिए। 'भ्रम' अलंकार में 'सादृश्य' व्यंग्य रहा करता है अतः अब इस व्यंग्यार्थ पर पहुँचे कि "नेत्र मीन के समान हैं"। अब अलंकार का पीछा छोड़िए; नायिकाभेद की तरफ आइए। वैसा भ्रम जैसा ऊपर कहा गया है "अज्ञातयौवना" को हुआ करता है। अतः ऊपर का सवैया अज्ञात-यौवना का उदाहरण हुआ। यह इतनी बड़ी अर्थ-यात्रा रूढ़ि के सहारे हुई है। जब

तक यह न ज्ञात हो कि कवि परंपरामें आँख की उपमा मछली से दिया करते हैं, तब तक यह सब अर्थ स्फुट नहीं हो सकता।

प्रतापसाहिजी का यह कौशल अपूर्व है कि उन्होंने एक रसग्रंथ के अनुरूप नायिकाभेद के क्रम से सब पद्य रखे है जिससे उनके ग्रंथ को जी चाहे तो नायिकाभेद का एक अत्यंत सरस और मधुर ग्रंथ भी कह सकते हैं। यदि हम आचार्य्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते है तो मतिराम, श्रीपति और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्त्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम, श्रीपति और बेनी प्रवीन के मेल मे जाती है तो उधर आचार्य्यत्व इन तीनों से भी और दास से भी कुछ आगे दिखाई पड़ता है। इनकी प्रखर प्रतिभा ने मानो पद्माकर के साथ साथ रीतिबद्ध काव्यकला को पूर्णता पर पहुँचा-कर छोड़ दिया। पद्माकर की अनुप्रास-योजना कभी कभी रुचिकर सीमा के बाहर जा पड़ी है, पर भावुक और प्रवीण की वाणी में यह दोष कहीं नहीं आने पाया है। इनकी भाषा में बड़ा भारी गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है—उसमे न कहीं कृत्रिम आडबरका अडंगा है, न गति का शैथिल्य और न शब्दो की तोड़-मरोड़। हिन्दी के मुक्तक कवियो मे समस्यापूर्ति की पद्धति पर रचना करने के कारण एक अत्यंत प्रत्यक्ष दोष देखने मे आता है। उनके अंतिम चरण की भाषा तो बहुत ही गँठी हुई, व्यवस्थित और मार्मिक होती है पर शेष तीनो चरणों में यह बात बहुत ही कम पाई जाती है। बहुत से स्थलो पर तो प्रथम तीन चरणों की वाक्यरचना बिल्कुल अव्यवस्थित और बहुत सी पद-योजना निरर्थक होती है। पर 'प्रताप' की भाषा एकरस चलती है। इन सब बातो के विचार से हम प्रतापजी को पद्माकरजी के समकक्ष ही बहुत बड़ा कवि मानते हैं।

प्रतापजी की कुछ रचनाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

चंचलता अपनी तजि कै रस ही रस सों रस सुंदर पीजियो।
कोऊ कितेक कहै तुमसों तिनकी कही बातन को न पतीजियो॥

चोज चवाइन के सुनियो न, यही इक मेरी कही नित कीजियो।
मंजुल मंजरी पैहो, मलिंद! बिचारि कै भार सँभारि कै दीजियो॥

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन तें, छिति छाई समीरन की लहरैं।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं॥
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सों गहरैं।
घन ये नभ मंडल में छहरैं, घहरैं कहुँ जाय, कहूँ ठहरैं॥

कानि करै गुरुलोगन की, न सखीन की सीखन ही मन लावति।
एँड़ भरी अँगराति खरी, कत घूँघट में नए नैन नचावति॥
मंजन कै दृग अंजन आँजति, अंग अनंग-उमंग बढावति।
कौन सुभाव री तेरो परयो, खिन आँगन में, खिन पौरि में आवति॥

कहा जानि, मन में मनोरथ बिचारि कौन,
चेति कौन काज, कौन हेतु उठि आई प्रात।
कहै परताप छिन डोलिबो पगन कहूँ,
अंतर को खोलिबो न बोलिबो हमैं सुहात॥
ननद जिठानी सतरानी, अनखानि अति,
रिस कै रिसानी, सो न हमैं कछू जानी जात।
चाहौ पल बैठी रहौ, चाहौ उठि जाव तौ न,
हमको हमारी परी, बूझै को तिहारी बात?

चंचल चपला चारु चमकत चारो ओर,
झूमि झूमि धुरवा धरनि परसत है।
सीतल समीर लगै दुखद वियोगिन्ह,
सँयोगिन्ह समाज सुखसाज सरसत है॥
कहै परताप अति निबिड़ अँधेरी माँह,
मारग चलत नाहिं नेकु दरसत है।

झुमड़ि झलानि चहुँ कोद तें उमडि आज
धाराधर धारन अपार बरसत हैं ॥

महाराज रामराज रावरो सजत दल
होत मुख अमल अनंदित महेस के ।
सेवत दरीन केते गब्बर गनीम रहैं,
पन्नग पताल त्योंही डरन खगेस के ॥
कहै परताप धरा धँसत त्रसत,
कसमसत कमठ-पीठि कठिन कलेस के ।
क़हरत कोल, हहरत हैं दिगीस दस,
लहरत सिंधु, थहरत फन सेस के ॥

(५७) रसिक गोविंद—ये निंबार्क संप्रदाय के एक महात्मा हरिव्यास की गद्दी के शिष्य थे और वृन्दावन मे रहते थे। हरिव्यासजी की शिष्यपरंपरा मे सर्वेश्वरशरण देवजी बड़े भारी भक्त हुए हैं। रसिकगोविंदजी उन्हीं के शिष्य थे। ये जयपुर (राजपूताना) के रहनेवाले और नटाणी जाति के थे। इनके पिता का नाम शालिग्राम, माता का गुमाना, चाचा का मोतीराम और बड़े भाई का बालमुकुंद था। इनका कविता काल संवत् १८५० से १८९० तक अर्थात् विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर अंत तक स्थिर होता है। अब तक इनके ९ ग्रंथों का पता चला है—

(१) रामायण सूचनिका—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से रामायण की कथा संक्षेप मे कही गई है। यह सं० १८५८ के पहले की रचना है। इसके ढंग का पता इन दोहों से लग सकता है—

चकित भूप बानी सुनत गुरु बसिष्ठ समुझाय।
दिए पुत्र तब, ताड़का मग में मारी जाय॥
छाँड़त सर मारिच उड़्यो, पुनि प्रभु हत्यो सुबाह।
मुनि मख पूरन, सुमन सुर बरसत अधिक उछाह॥

(२) रसिक गोविदानंदघन—यह सात आठ सौ पृष्ठो का बड़ा भारी रीतिग्रंथ है जिसमे रस, नायक-नायिकाभेद, अलंकार, गुण-दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। इसे इनका प्रधान ग्रंथ समझना चाहिए। इसका निर्माणकाल वसंत पंचमी संवत् १८५८ है। यह चार प्रबंधों में विभक्त है। इसमे बड़ी भारी विशेषता यह है कि लक्षण गद्य मे हैं और रसो अलंकारों आदि के स्वरूप गद्य मे समझाने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के बड़े बड़े आचार्यों के मतों का उल्लेख भी स्थान स्थान पर है। जैसे, रस का निरूपण इस प्रकार है—

"अन्य-ज्ञान-रहित जो आनंद सो रस। प्रश्न—अन्य-ज्ञान-रहित-आनंद तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन। भरत आचार्य्य सूत्रकर्ता को मत—विभाव, अनुभाव, संचारी, भाव के जोग ते रस की सिद्धि। अथ काव्यप्रकाश को मत—कारण कारज सहायक हैं जे लोक मे इनही को नाट्य मे, काव्य मे, विभाव संज्ञा है। अथ टीकाकर्त्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्त्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद, चित्, अन्य ज्ञान नहिं संग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस"।

इसके आगे अभिनवगुप्ताचार्य्य का मत कुछ विस्तार से दिया है। सारांश यह कि यह ग्रंथ आचार्य्यत्व की दृष्टि से लिखा गया है और इसमें संदेह नहीं कि और ग्रथों की अपेक्षा इसमें विवेचन भी अधिक है और छूटी हुई बातों का समावेश भी। दोषों का वर्णन, जो हिंदी के लक्षण ग्रंथो मे बहुत कम पाया जाता है, इन्होने काव्यप्रकाश के अनुसार विस्तार से किया है। रसो, अलंकारो आदि के उदाहरण कुछ तो अपने हैं, पर बहुत से दूसरे कवियो के। उदाहरणो के चुनने मे इन्होने बड़ी सहृदयता का परिचय दिया है। संस्कृत के उदाहरणों के अनुवाद भी बहुत सुदर करके रखे है। साहित्यदर्पण के मुग्धा के उदाहरण (दत्ते सालसमंथरं...इत्यादि) को देखिए। हिंदी में ये किस सुंदरता से लाए हैं—

आलस सों मंद मंद धरा पै धरति पाय,
भीतर तें बाहिर न आवै चित चाय कै।
रोकति दृगनि छिनछिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनी बानि बिसराय कै॥

बोलति बचन मृदु मधुर बनाय, उर
अंतर के भाव की गँभीरता जनाय कै।
बात सखी सुंदर गोविंद की कहात तिन्हैं
सुंदरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै॥

(३) लछिमन चद्रिका—'रसिकगोविदानंदघन' में आए लक्षणो का सक्षित सग्रह जो संवत् १८८६ मे लछिमन कान्यकुब्ज के अनुरोध से कवि ने किया था।

(४) अष्टदेशभाषा—इसमें ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, पूरबी आदि आठ बोलियो में राधा-कृष्ण की शृगारलीला कही गई है।

(५) पिंगल।

(६) समय प्रबंध—राधाकृष्ण की ऋतुचर्य्या ८५ पद्यों में वर्णित है।

(७) कलिजुग रासो—इसमें १६ कवित्तो में कलिकाल की बुराइयो का वर्णन है। प्रत्येक कवित्त के अन्त मे "कीजिए सहाय जू कृपाल श्रीगोविंदराय, कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है" यह पद आता है। निर्माणकाल संवत् १८६५ है।

(८) रसिक गोविंद—चद्रालोक या भाषाभूषण के ढग की अलंकार की एक छोटी पुस्तक जिसमे लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे मे है। रचना-काल सं० १८९० है।

(९) युगलरस माधुरी—रोला छंद मे राधाकृष्णविहार और वृंदावन का बहुत ही सरस और मधुर भाषा में वर्णन है जिससे इनकी सहृदयता और निपुणता पूरी पूरी टपकती है। कुछ पक्तियाँ दी जाती है—

मुकलित पल्लव फूल सुगंध परागहि झारत।
जुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत॥
फूल फलन के भार डार झुकि यो छबि छाजै।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकन काजै॥
मधु मकरंद पराग-लुब्ध अलि मुदित मत्त मन।
बिरद पढ़त ऋतुराज नृपत के मनु बंदीजन॥

प्रकरण ३

रीतिकाल के अन्य कवि

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियो का, जिन्होंने लक्षणग्रंथ के रूप मे रचनाएँ की हैं, संक्षेप मे वर्णन हो चुका है। अब यहाँपर इस काल के भीतर होनेवाले उन कवियो का उल्लेख होगा जिन्होंने रीति-ग्रंथ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तके लिखी हैं। ऐसे कवियो मे कुछ ने तो प्रबंध-काव्य लिखे है, कुछ ने नीति या भक्ति-ज्ञान संबंधी पद्य और कुछ ने शृंगार रस की फुटकल कविताएँ लिखी हैं। ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियो से केवल इस बात मे भिन्न हैं कि इन्होने क्रम से रसो, भावो, नायिकाओ और अलंकारो के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यो को नहीं रखा है। अधिकांश मे ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होने भी शृंगार रस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना-शैली मे किसी प्रकार का भेद नही है। ऐसे कवियों मे घनानंद सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओ मे प्रायः मार्मिक और मनोहर पद्यो की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है। बात यह है कि इन्हें कोई बन्धन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी ये लिख गए। रीतिबद्ध ग्रंथ जो लिखने बैठते थे उन्हे प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिये पद्य लिखना आवश्यक था जिनमे सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे। रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए है उनमे किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।

प्रबंध-काव्य की उन्नति इस काल मे कुछ विशेष न हो पाई। लिखे तो अनेक कथा-प्रबंध गए पर उनमे से दो ही चार मे कवित्व का यथेष्ट आकर्षण पाया जाता है। सबलसिंह का महाभारत, छत्रसिंह की विजयमुक्तावली, गुरु गोविंदसिंहजी का चंडीचरित्र, लाल कवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीर-रासो, गुमान मिश्र का नैषधचरित, सरयूराम का जैमिनि पुराण, सूदन का सुजानचरित्र, देवीदत्त की वैतालपचीसी, हरनारायण की माधवानल कामकंदला,

ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, गोकुलनाथ आदि का महाभारत, मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, कृष्णदास की भाषा भागवत, नवलसिंहकृत भाषा सप्तशती, आल्हारामायण, आल्हाभारत, मूलढोला तथा चंद्रशेखर का हम्मीरहठ, श्रीधर का जंगनामा, पद्माकर का रामरसायन, ये इस काल के मुख्य कथात्मक काव्य हैं। इनमे चद्रशेखर के हम्मीरहठ, लाल कवि के छत्रप्रकाश, जोधराज के हम्मीररासो, सूदन के सुजानचरित्र और गोकुलनाथ आदि के महाभारत मे ही काव्योपयुक्त रसात्मकता भिन्न भिन्न परिमाण मे पाई जाती है। 'हम्मीररासो' की रचना बहुत प्रशस्त है। 'रामाश्वमेध' की रचना भी साहित्यिक है। 'ब्रजविलास' मे काव्य के गुण अल्प हैं पर उसका थोड़ा बहुत प्रचार कम पढ़े लिखे कृष्णभक्तो मे है।

कथात्मकप्रबधो से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने में आती है जिसे हम वर्णनात्मक प्रबंध कह सकते है। दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जन्मोत्सव-वर्णन, मगलवर्णन, रामकलेवा, इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ है। बड़े बड़े प्रबंधकाव्यो के भीतर इस प्रकार के वर्णनात्मक प्रसंग रहा करते हैं। काव्य पद्धति मे जैसे शृंगाररस से 'नखशिख', 'षट्ऋतु' आदि लेकर स्वतत्र पुस्तके बनने लगीं वैसे ही कथात्मक महाकाव्यों के अग भी निकाल कर अलग पुस्तकें लिखी गई। इनमें बडे विस्तार के साथ वस्तुवर्णन चलता है। कभी कभी तो इतने विस्तार के साथ कि परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है। जहाँ कविजी अपने वस्तु-परिचय का भंडार खोलते हैं—जैसे, बरात का वर्णन है तो घोड़े की सैकड़ो जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पचीसो प्रकार के कपड़ों के नाम और भोजन की बात आई तो सैकडो मिठाइयो, पकवानो और मेवों के नाम—वहाँ तो अच्छे अच्छे धीरो का धैर्य्य छूट जाता है।

चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहनेवालो का है। इनको हम 'कवि' कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्य-कथन के ढंग में कभी कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य के द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों मे आ जाते हैं जिनमें कुछ

मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति में भी संबंध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना करनेवालो को हम 'कवि' न कहकर 'सूक्तिकार' कहेगे। रीतिकाल के भीतर वृंद, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हुए है।

पॉचवॉं वर्ग ज्ञानोपदेशको का है जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य मे कहते है। ये कभी कभी समझाने के लिये उपमा रूपक आदि का प्रयोग कर देते है, पर समझाने के लिये ही करते है, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं। इनका उद्देश्य अधिकतर बोधवृत्ति जाग्रत करने का रहता है, मनोविकार उत्पन्न करने का नही। ऐसे ग्रंथकारो को हम केवल 'पद्यकार' कहेगे। हॉ, इनमे जो भावुक और प्रतिभा-सपन्न है, जो अन्योक्तियो आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने मे समर्थ हुए हैं वे अवश्य ही कवि क्या, उच्चकोटि के कवि, कहे जा सकते हैं।

छठा वर्ग कुछ भक्त कवियो का है जिन्होने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढग पर गाए हैं।

इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा मे वीररस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं, जिनमे युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती थी। ऐसी कविताएँ थोड़ी बहुत तो रसग्रंथो के आदि मे मिलती हैं, कुछ अलंकार ग्रंथो के उदाहरण रूप (जैसे, शिवराजभूषण) और कुछ अलग पुस्तकाकार जैसे "शिवा बावनी", "छत्रसाल-दशक", "हिम्मतबहादुर विरुदावली" इत्यादि। ऐसी पुस्तकों मे सर्वप्रिय और प्रसिद्ध वे ही हो सकी हैं जो या तो देवकाव्य के रूप मे हुई है अथवा जिनके नायक कोई देशप्रसिद्ध वीर या जनता के श्रद्धाभाजन रहे हैं—जैसे, शिवाजी, छत्रसाल, महाराज प्रताप आदि। जो पुस्तके यो ही खुशामद के लिये, आश्रित कवियो की रूढ़ि के अनुसार लिखी गई, जिनके नायको के लिये जनता के हृदय मे कोई स्थान न था, वे प्राकृतिक नियमानुसार प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकी। बहुत सी तो लुप्त हो गई। उनकी रचना में सच पूछिए तो कवियो ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय ही किया। उनके द्वारा कवियो को अर्थ-सिद्धि भर प्राप्त हुई, यश

का लाभ न हुआ। यदि बिहारी ने जयसिंह की प्रशंसा मे ही अपने सात सौ दोहे बनाए होते तो उनके हाथ केवल अशर्फियाँ ही लगी होतीं। संस्कृत और हिंदी के न जाने कितने कवियों का प्रौढ साहित्यिक श्रम इस प्रकार लुप्त हो गया। काव्यक्षेत्र मे यह एक शिक्षाप्रद घटना हुई है।

भक्तिकाल के समान रीतिकाल में भी थोड़ा बहुत गद्य इधर-उधर दिखाई पड जाता है पर अधिकाश कच्चे रूप मे। गोस्वामियो की लिखी 'वैष्णव-वार्ताओं' के समान कुछ पुस्तको मे ही पुष्ट ब्रजभाषा मिलती है। रही खड़ी बोली। वह पहले कुछ दिनो तक तो मुसलमानों के व्यवहार की भाषा समझी जाती रही। मुसलमानो के प्रसंग में उसका कभी-कभी प्रयोग कवि लोग कर देते थे, जैसे—अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा (भूषण)। पर पीछे दिल्ली राजधानी होने से रीतिकाल के भीतर ही खड़ी बोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो गई थी और उसमे अच्छे गद्य ग्रथ लिखे जाने लगे थे। सवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'योगवासिष्ठ भाषा' बहुत ही परिमार्जित गद्य मे लिखा। (विशेष दे० आधुनिक काल)।

इसी रीतिकाल के भीतर रीवॉ के महाराज विश्वनाथसिंह ने हिंदी का प्रथम नाटक (आनंदरघुनदन) लिखा। इसके उपरात गणेश कवि ने 'प्रद्युम्न-विजय' नामक एक पद्यबद्ध नाटक लिखा जिसमे पात्रप्रवेश, विष्कभक, प्रवेशक आदि रहने पर भी इतिवृत्तात्मक पद्य रखे जाने के कारण नाटक का प्रकृत स्वरूप न दिखाई पड़ा।

(१) **बनवारी**—ये संवत् १६९० और १७०० के बीच वर्त्तमान थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने महाराज जसवतसिंह के बड़े भाई अमर-सिंह की वीरता की बड़ी प्रशसा की है। यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि एक बार शाहजहाँ के दरबार में सलावतखाँ ने किसी बात पर अमरसिह को गँवार कह दिया, जिसपर उन्होंने चट तलवार खींचकर सलावतखाँ को वहीं मार डाला। इस घटना का बड़ा ओजपूर्ण वर्णन इनके पद्यो मे मिलता है—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलावत खान॥

उत गकार सुख ते कढी इतै कढी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं भई कटारी पार॥

आनि कै सलावत खाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर-पंजर करेजे जाय करकी।
दिलीपति साहि को चलन चलिबे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को, सुनी जो बात बर की॥
कहै बनवारी बादसाही के तखत पास,
फरकि फरकि लोथ लोथिन सों अरकी।
कर की बड़ाई, कै बड़ाई बाहिबे की करौं,
बाढ की बडाई, कै बडाई जमधर की॥

बनवारी कवि की शृंगाररस की कविता भी बड़ी चमत्कारपूर्ण होती थी। यमक लाने का ध्यान इन्हें विशेष रहा करता था। एक उदाहरण लीजिए—

नेह बर साने तेरे नेह बरसाने देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे।
साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री, लाल देखे सुख पावैंगे॥
तू ही उर बसी, उर बसी, नाहिं और तिय,
कोटि उरबसी तजि तोसों चित लावैंगे।
सजे बनवारी बनवारी तन आभरन,
गोरे-तन-वारी बनवारी आजु आवैंगे॥

(२) सबलसिंह चौहान—इनके निवासस्थान का ठीक निश्चय नहीं। शिवसिंहजी ने यह लिखकर कि कोई इन्हे चदागढ़ का राजा और कोई सबलगढ़ का राजा बतलाते है, यह अनुमान किया है कि ये इटावे के किसी गॉव के जमींदार थे। सबलसिंहजी ने औरंगजेब के दरबार मे रहनेवाले किसी राजा मित्रसेन के साथ अपना संबंध बताया है। इन्होने सारे महाभारत की कथा दोहो चौपाइयों मे लिखी है। इनका महाभारत बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसे इन्होंने

संवत् १७१८ और संवत् १७८१ के बीच पूरा किया। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इन्होने 'ऋतुसंहार' का भाषानुवाद, 'रूपविलास' और एक पिंगल ग्रंथ भी लिखा था पर वे प्रसिद्ध नहीं हुए। ये वास्तव मे अपने महाभारत के लिये ही प्रसिद्ध हैं। उसमें यद्यपि भाषा का लालित्य या काव्य की छटा नही है पर सीधी-सादी भाषा में कथा अच्छी तरह कही गई है। रचना का ढंग नीचे के अवतरण से विदित होगा—

अभिमनु धाइ खड़ग परहारे। सम्मुख जेहि पायो तेहि मारे॥
भूरिश्रवा बान दस छाँटे। कुँवर-हाथ के खड़गहि काटे॥
तीनि बान सारथि उर मारे। आठ बान तें अस्व सँहारे॥
सारथि जूझि गिरे मैदाना। अभिमनु वीर चित्त अनुमाना॥
यहि अंतर सेना सब धाई। मारु मारु कै मारन आई॥
रथ को खैंचि कुँवर कर लीन्हें। ताते मार भयानक कीन्हें॥
अभिमनु कोपि खंभ परहारै। इक इक घाव वीर सब मारे॥
अर्जुनसुत इमि मार किय महाबीर परचंड।
रूप भयानक देखियत जिमि जम लीन्हें दंड॥

---

(३) वृंद—ये मेड़ता (जोधपुर) के रहनेवाले थे और कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे। संवत् १७६१ में ये शायद कृष्णगढ़-नरेश के साथ औरंगजेब की फौज मे ढाके तक गए थे। इनके वंशधर अब तक कृष्णगढ़ मे वर्त्तमान है। इनकी "वृंदसतसई" (सवत् १७६१), जिसमे नीति के सात सौ दोहे है, बहुत प्रसिद्ध है। खोज में 'शृंगारशिक्षा' (सवत् १७४८) और 'भावपंचाशिका' नाम की दो रस-संबंधी पुस्तकें और मिली हैं पर इनकी ख्याति अधिकतर सूक्तिकार के रूप में ही है। वृंदसतसई के कुछ दोहे नीचे दिए जाते है—

भले बुरे सब एक सम जौ लौं बोलत नाहिं।
जानि परत है काग पिक ऋतु वसंत के माहिं॥

हितहू की कहिए न तेहि जो नर होत अबोध ।
ज्यों नकटे को आरसी होत दिखाए क्रोध ॥

(४) **छत्रसिंह कायस्थ**—ये बटेश्वर क्षेत्र के अटेर नामक गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके आश्रयदाता अमरावती के कोई कल्याणसिंह थे। इन्होने 'विजयमुक्तावली' नाम की पुस्तक संवत् १७५७ मे लिखी जिसमे महाभारत की कथा एक स्वतंत्र प्रबंधकाव्य के रूप मे कई छंदो मे वर्णित है। पुस्तक मे काव्य के गुण यथेष्ट परिमाण मे हैं और कहीं-कहीं की कविता बड़ी ओजस्विनी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

निरखत ही अभिमन्यु को, बिदुर डुलायो सीस ।
रच्छा बालक की करौ, ह्वै कृपाल जगदीस ॥
आपुन काँधो युद्ध नहि, धनुष दियो भुव डारि ।
पापी बैठे गेह कत, पांडुपुत्र तुम चारि ॥
पौरुष तजि, लज्जा तजी, तजी सकल कुलकानि ।
बालक रनहिं पठाय कै, आपु रहे सुख मानि ॥

कवच कुंडल इन्द्र लीने, बाण कुंती लै गई ।
भई बैरिनि मेदिनी, चित कर्ण के चिंता भई ॥

(५) **बैताल**—ये जाति के बंदीजन थे और राजा विक्रमसाहि की सभा मे रहते थे। यदि ये विक्रमसाहि चरखारीवाले प्रसिद्ध विक्रमसाहि ही हैं जिन्होंने 'विक्रमसतसई' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं और जो खुमान, प्रताप आदि कई कवियों के आश्रयदाता थे, तो वैताल का समय संवत् १८३९ और १८८६ के बीच मानना पड़ेगा। पर शिवसिंहसरोज में इनका जन्मकाल स० १७३४ लिखा हुआ है। वैताल ने गिरिधरराय के समान नीति की कुंडलियो की रचना की है और प्रत्येक कुडलिया विक्रम को संबोधन करके कही है। इन्होंने लौकिक व्यवहार-संबंधी अनेक विषयो पर सीधे सादे पर जोरदार पद्य कहे है। गिरिधरराय के समान इन्होने भी वाक्चातुर्य्य या उपमा रूपक आदि लाने का प्रयत्न नहीं किया है। बिलकुल सीधी-सादी बात ज्यो की त्यों छंदोबद्ध कर दी गई है।

फिर भी कथन के ढंग मे अनूठापन है। एक कुंडलिया नीचे दी जाती है—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू॥
वाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै॥
अरु वेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइए।
बैताल कहै बिक्रम सुनौ, एते मरे न रोइए॥

(६) **आलम**—ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रँगरेजिन के प्रेम में फँसकर पीछे से मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। आलम को शेख से जहान नामक एक पुत्र भी हुआ। ये औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय मे रहते थे जो पीछे बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। अतः आलम का कविताकाल सवत् १७४० से सवत् १७६० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलमकेलि' के नाम से निकला है। इस पुस्तक मे आए पद्यो के अतिरिक्त इनके और बहुत से सुंदर और उत्कृष्ट पद्य ग्रंथो मे संगृहीत मिलते हैं और लोगो के मुँह से सुने जाते हैं।

शेख रँगरेजिन भी अच्छी कविता करती थी। आलम के साथ प्रेम होने की विचित्र कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि आलम ने एक बार उसे पगडी रँगने को दी जिसकी खूँट मे भूल से कागज का चिट बँधा चला गया। उस चिट मे दोहे की एक आधी पंक्ति लिखी थी "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन"। शेख ने दोहा इस तरह पूरा करके "कटि को कंचन काट बिधि कुचन मध्य धरि दीन", उस चिट को फिर ज्यों का त्यो पगड़ी की खूँट मे बाँधकर लौटा दिया। उसी दिन से आलम शेख के पूरे प्रेमी हो गये और अंत में उसके साथ विवाह कर लिया। शेख बहुत ही चतुर और हाजिरजवाब स्त्री थी। एक बार शाहजादा मुअज्जम ने हँसी से शेख से पूछा—"क्या आलम की औरत आप ही हैं?" शेख ने चट उत्तर दिया कि "हाँ, जहाँपनाह! जहान की माँ मैं ही हूँ।" "आलम केलि" मे बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम के कवित्त-सवैयों मे भी

बहुत सी रचना-शेख की मानी जाती है। जैसे, नीचे लिखे कवित्त मे चौथा चरण शेख का बनाया कहा जाता है—

प्रेमरंग-पगे जगमगे जगे जामिनि के,
　　जोबन की जोति जगि जोर उगमत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
　　झूमत हैं झुकि झुकि झँपि उघरत हैं॥
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
　　पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबे को, देखत मयंक-मुख,
　　जानत हैं रैनि तातें ताहि में रहत हैं॥

आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसीसे इनकी रचनाओ मे हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। "प्रेम की पीर" वा "इश्क का दर्द" इनके एक एक वाक्य में भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षाएँ भी इन्होने बड़ी अनूठी और बहुत अधिक कही है। शब्दवैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमे विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। शृंगाररस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना मे मिलती है कि पढ़ने और सुननेवाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग मे ही संभव है। रेखता या उर्दू भाषा मे भी इन्होने कवित्त कहे हैं। भाषा भी इस कवि की परिमार्जित और सुव्यवस्थित है पर उसमे कही कहीं "कीन, दीन, जौन" आदि अवधी या पूरबी हिंदी के प्रयोग भी मिलते है। कहीं कहीं फारसी की शैली के रस-बाधक भाव भी इनमे मिलते हैं। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' और 'घनानंद' की कोटि मे होनी चाहिए। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते है—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं, ए दई !
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं बगपाँति उत अंतगति ह्वै गई ?
आलम कहै, हो आली ! अजहूँ न आए प्यारे,
कैधौं उत रीत विपरीत विधि ने ठई ?
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही,
जूझि गए मेघ, कैधौं बीजुरी सती भई ? ॥

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते
अति कजरारे दृग तेरे यो सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढे जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं ॥
ज्यों ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवै बार बार,
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
कैवर के भाले, कैधौं नाहर नहनवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात हैं ?

दाने की न पानी की, न आवै सुध खाने की,
यौं गली महबूब की अराम खुसखाना है।
रोज ही से है जो राजी यार की रजाय बीच,
नाज की नजर तेज तीर का निशाना है।
सूरत चिराग रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै वलि जैसे परवाना है।
दिल से दिलासा दीजै, हाल के न ख्याल हूजै,
बेखुद फकीर वह आशिक दीवाना है ॥

(७) **गुरु गोविंदसिंहजी**—ये सिखों के महापराक्रमी दसवें या अंतिम गुरु थे। इनका जन्म सं० १७२३ में और सत्यलोक-वास संवत् १७६५ मे हुआ।

यद्यपि सब गुरुओ ने थोड़े बहुत पद भजन आदि बनाए हैं पर ये महाराज काव्य के अच्छे ज्ञाता और ग्रंथकार थे। सिखो मे शास्त्रज्ञान का अभाव इन्हे बहुत खटका था और इन्होंने बहुत से सिखों को व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि के अध्ययन के लिये काशी भेजा था। ये हिंदू भावों और आर्य्य संस्कृति की रक्षा के लिये बराबर युद्ध करते रहे। 'तिलक' और 'जनेऊ' की रक्षा मे इनकी तलवार सदा खुली रहती थी। यद्यपि सिख-संप्रदाय की निर्गुण उपासना है पर सगुण स्वरूप के प्रति इन्होंने पूरी आस्था प्रकट की है और देवकथाओ की चर्चा बड़े भक्तिभाव से की है। यह बात प्रसिद्ध है कि ये शक्ति के आराधक थे। इनके इस पूर्ण हिंदू भाव को देखते यह समझ मे नहीं आती कि वर्त्तमान में सिखो की एक शाखा-विशेष के भीतर पैगंबरी मजहबो का कट्टरपन कहाँ से और किसकी प्रेरणा से आ घुसा है।

इन्होंने हिंदी में कई अच्छे और साहित्यिक ग्रंथों की रचना की है जिनमे से कुछ के नाम ये है—सुनीति-प्रकाश, सर्वलोह-प्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर और चंडीचरित्र। चंडीचरित्र की रचनापद्धति बड़ी ही ओजस्विनी है। ये प्रौढ़ साहित्यिक ब्रजभाषा लिखते थे। चंडीचरित्र मे दुर्गासप्तशती की कथा बड़ी सुंदर कविता मे कही गई है। इनकी रचना के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> निर्जन निरूप हौ, कि सुंदर स्वरूप हौ,
> कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ?
> प्रान के बचैया, दूध पूत के देवैया,
> रोग सोग के मिटैया, किधौं मानी महामान हौ?
> विद्या के बिचार हौ, कि अद्वैत अवतार हौ,
> कि सुद्धता की मूर्त्ति हौ, कि सिद्धता की सान हौ?
> जोवन के जाल हौ, कि कालहू के गाल हौ,
> कि सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ?

(८) श्रीधर या मुरलीधर—ये प्रयाग के रहनेवाले थे। इन्होंने कई पुस्तके लिखीं और बहुत सी फुटकल कविता बनाई है। संगीत की पुस्तक, नायिकाभेद, जैन मुनियों के चरित्र, कृष्णलीला के फुटकल पद्य, चित्रकाव्य

इत्यादि के अतिरिक्त इन्होने 'जंगनामा' नामक एक ऐतिहासिक प्रबंध-काव्य लिखा जिसमे फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। यह ग्रंथ काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस छोटी सी पुस्तक मे सेना की चढ़ाई, साज सामान आदि का कवित्त-सवैयों मे अच्छा वर्णन है। इनका कविता-काल स० १७६७ के आसपास माना जा सकता है। 'जगनामा' का एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

इत गलगाजि चढ्यो फर्रुखसियरसाह
उत मौजदीन करी भारी भट भरती।
तोप की डकारनि सो बीर हहकारनि सों,
धौंसे की धुकारनि धमकि उठी धरती।
श्रीधर नवाब फरजंदखाँ सुजंग जुरे,
जोगिनी अघाई जुग जुगन की बरती।
हहरयौ हरौल, भीर गोल पै परी ही, तून
करतो हरौली तौ हरौलै भीर परती॥

(९) **लाल कवि**—इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था और ये मऊ (बुदेलखड) के रहनेवाले थे। इन्होने प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल की आज्ञा से उनका जीवन-चरित दोहों चौपाइयों में बडे ब्योरे के साथ वर्णन किया है। इस पुस्तक मे छत्रसाल का संवत् १७६४ तक का ही वृत्तात आया है, इससे अनुमान होता है कि या तो यह ग्रंथ अधूरा ही मिला है अथवा लाल कवि का परलोकवास छत्रसाल के पूर्व ही हो गया था। जो कुछ हो, इतिहास की दृष्टि से "छत्र-प्रकाश" बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इसमे सब घटनाएँ सच्ची और सब ब्योरे ठीक ठीक दिए गए हैं। इसमें वर्णित घटनाएँ और सवत् आदि ऐतिहासिक खोज के अनुसार बिल्कुल ठीक हैं, यहाँ तक कि जिस युद्ध मे छत्रसाल को भागना पड़ा है उसका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह ग्रथ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

ग्रथ की रचना प्रौढ़ और काव्यगुण-युक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर ओजस्वी भाषण हैं। लाल कवि मे प्रबंधपटुता पूरी

थी। संबंध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिये मार्मिक स्थलों का चुनाव भी। वस्तु परिगणन द्वारा वर्णनों का अरुचिकर विस्तार बहुत ही कम मिलता है। सारांश यह कि लाल कवि का सा प्रबंध-कौशल हिंदी के कुछ इने-गिने कवियों में ही पाया जाता है। शब्दवैचित्र्य और चमत्कार के फेर मे इन्होने कृत्रिमता कहीं से नहीं आने दी है। भावो का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियो का ही समावेश किया है, न तो कल्पना की उड़ान दिखाई है और न ऊहा की जटिलता। देश की दशा की ओर भी कवि का पूरा ध्यान जान पड़ता है। शिवाजी का जो वीरव्रत था वही छत्रसाल का भी था। छत्रसाल का जो भक्ति-भाव शिवाजी पर कवि ने दिखाया है तथा दोनों के सम्मिलन का जो दृश्य खींचा है दोनों इस संबंध मे ध्यान देने योग्य हैं।

"छत्रप्रकाश" मे लाल कवि ने बुंदेल-वंश की उत्पत्ति, चंपतराय के विजय-वृत्तांत, उनके उद्योग और पराक्रम, चंपतराय के अंतिम दिनो मे उनके राज्य का मोगलों के हाथ मे जाना, छत्रसाल का थोड़ी सी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मोगलों का नाकों दम करना इत्यादि बातो का विस्तार से वर्णन किया है। काव्य और इतिहास दोनो की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी में अपने ढंग का अनूठा है। लाल कवि का एक और ग्रंथ 'विष्णु-विलास' है जिसमे बरवै छंद में नायिकाभेद कहा गया है। पर इस कवि की कीर्त्ति का स्तंभ 'छत्रप्रकाश' ही है।

'छत्रप्रकाश' से नीचे कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

(छत्रसाल-प्रशंसा)

लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै॥
सतकवि कवित सुनत रस पागै। बिलसति मति अरथन में आगै॥
रुचि सों लखत तुरंग जो नीके। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के॥
चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं सूबा खान खुमान।
अब धौं धावैं कौन पर छत्रसाल बलवान॥

(युद्ध-वर्णन)

छत्रसाल हाडा तहँ आयो। अरुन रंग आनन छवि छायो॥
भयो हरौल बजाय नगारो। सार धार को पहिरनहारो॥
दौरि देस मुगलन के मारौ। दपटि दिली के दल संहारौ॥
एक आन सिवराज निबाही। करै आपने चित की चाही॥
आठ पातसाही झकझोरे। सूबनि पकरि दंड लै छोरै॥

काटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सो, बाँटि धरनि धरि लेहु॥

चहूँ ओर सो सूबनि घेरो। दिसनि अलातचक्र सो फेरो॥
पजरे सहरं साहि के बाँके। धूम धूम में दिनकर ढाँके॥
कबहूँ प्रगटि युद्ध में हाँकै। मुगलनि मारि पुहुमि तल ढाँकै॥
बानन बरखि गयंदनि फोरै। तुरकनि तमक तेग तर तोरै॥
कबहूँ उमड़ि अचानक आवै। घन सम घुमड़ि लोह बरसावै॥
कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै। कबहूँ चापि चँदालनि लूटै॥
कबहूँ देस दौरि कै लावै। रसद कहूँ की कढन न पावै॥

(१०) **घन आनंद**—ये साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा के प्रधान स्तभो मे हैं। इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था और ये संवत् १७९६ मे नादिरशाही मे मारे गए। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मद-शाह के मीरमुंशी थे। कहते हैं कि एक दिन दरबार मे कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह से इन्होंने बहुत टालमटोल किया। इस पर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे, यदि इनकी प्रेमिका सुजान नाम की वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई। इन्होने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह इनके गाने पर जितना ही खुश हुआ उतना ही बे अदबी पर नाराज। उसने इन्हे शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तब सुजान से भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इसपर इन्हे विराग उत्पन्न हो गया और ये वृंदावन जाकर निंबार्क-संप्रदाय के वैष्णव हो गए और

वही पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे। वृंदावन-भूमि का प्रेम इनके इस कवित्त से झलकता है—

> गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो,
> सदा सुखद सुहायो वृंदावन गाढे गहि रे।
> अद्भुत अभूत महिमंडन, परे तें परे,
> जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥
> आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही,
> सरस सुदेय सो, पपीहापन बहि रे।
> जमुना के तीर केलि कोलाहल भार ऐसी,
> पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

संवत् १७९६ में जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगो ने उनसे कह दिया कि वृंदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है; उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हे आ घेरा और 'जर जर जर' (अर्थात् धन, धन, धन, लाओ) चिल्लाने लगे। घनानंदजी ने शब्द को उलटकर 'रज' 'रज' रज' कहकर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूल उन पर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या? सैनिको ने क्रोध मे आकर इनका हाथ काट डाला। कहते है कि मरते समय इन्होने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

> बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
> खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
> कहि कहि आवन छबीले मन-भावन को,
> गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को॥
> झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
> अब ना घिरत घनआनँद निदान को।
> अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
> चाहत चलन ये, सँदेसो लै सुजान को॥

घन-आनंदजी के इतने ग्रंथों का पता लगता है—सुजान-सागर, विरह-लीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड। इसके अतिरिक्त इनके कवित्त सवैयों के फुटकल संग्रह डेढ़ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्तो तक के मिलते हैं। कृष्णभक्ति सबंधी इनका एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राज-पुस्तकालय में है जिसमें प्रियाप्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगवेली, कृपाकंद निबध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृंदावन-मुद्रा, प्रेमपत्रिका, रस वसंत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इनकी 'विरह लीला' व्रजभाषा में पर फारसी के छंद मे है।

इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी व्रजभाषा लिखने मे और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य्य भी अपूर्व ही है। विप्रलभ शृंगार ही अधिकतर इन्होने लिया है। ये वियोग-शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। "प्रेम की पीर" ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम-मार्ग का एक ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखनेवाला व्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। अतः इनके सबंध मे निम्न-लिखित उक्ति बहुत ही संगत है—

> नेही महा, व्रजभाषा-प्रवीन औ सुंदरताहु के भेद को जानै।
> योग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै॥
> चाह के रंग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
> भाषा-प्रवीन, सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै॥

इन्होंने अपनी कविताओ मे बराबर 'सुजान' को संबोधन किया है जो शृंगार मे नायक के लिये और भक्तिभाव मे कृष्ण भगवान् के लिये प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते है कि इन्हे अपनी पूर्व प्रेयसी 'सुजान' का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होने उसे नहीं छोड़ा। यद्यपि अपने पिछले जीवन मे घनानंद विरक्त भक्त के रूप मे वृंदावन जा रहे पर इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि मे नहीं आएगी, शृंगार की ही कही जायगी। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम मे लीन हुए। कविता इनकी भावपक्षप्रधान है। कोरे विभावपक्ष का चित्रण इनमे कम मिलता है। जहाँ रूप-छटा का वर्णन

इन्होंने किया भी है वहाँ उसके प्रभाव का ही वर्णन मुख्य है। इनकी वाणी की प्रवृत्ति अंतर्वृत्ति-निरूपण की ओर ही विशेष रहने के कारण वाह्यार्थ-निरूपक रचना कम मिलती है। होली के उत्सव, मार्ग में नायक-नायिका की भेंट, उनकी रमणीय चेष्टाओ आदि के वर्णन के रूप में ही वह पाई जाती है। संयोग का भी कहीं कहीं बाह्य वर्णन मिलता है, पर उसमे भी प्रधानता वाहरी व्यापारों या चेष्टाओ की नही है, हृदय के उल्लास और लीनता की ही है।

प्रेमदशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिंदी के अन्य शृंगारी कवि मे नहीं। इस दशा का पहला स्वरूप है हृदय या प्रेम का आधिपत्य और बुद्धि का अधीन पद, जैसा कि घनानंद ने कहा है—

"रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुधि वापुरी ह्वै करि दासी।"

प्रेमियों की मनोवृत्ति इस प्रकार की होती है कि वे प्रिय की कोई साधारण चेष्टा भी देखकर उसका अपनी ओर झुकाव मान लिया करते हैं और फूले फिरते हैं। इसका कैसा सुंदर आभास कवि ने नायिका के इस वचन द्वारा दिया है जो मन को संबोधन करके कहा गया है—

"रुचि के वे राजा जान प्यारे हैं अनंदघन,
होत कहा हेरे, रंक! मानि लीनो मेल सो"।

कवियों की इसी अंतर्दृष्टि की ओर लक्ष्य करके एक प्रसिद्ध मनस्तत्त्ववेत्ता ने कहा है कि भावो या मनोविकारों के स्वरूप-परिचय के लिये कवियों की वाणी का अनुशीलन जितना उपयोगी है उतना मनोविज्ञानियों के निरूपण नहीं।

प्रेम की अनिर्वचनीयता का अभ्यास घनानंद ने विरोधाभासो के द्वारा दिया है। उनके विरोध-मूलक वैचित्र्य की प्रवृत्ति का कारण यही समझना चाहिए।

यद्यपि इन्होने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है, पर वियोग की अंतर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है। इसी से इनके वियोग सम्बन्धी पद्य ही प्रसिद्ध हैं। वियोग-वर्णन भी अधिकतर अंतर्वृत्ति-निरूपक है, वाह्यार्थ-निरूपक नहीं। घनानंद ने न तो बिहारी की तरह विरह-ताप को वाहरी मान से मापा है, न वाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है—

बाहर से वह वियोग प्रशांत और गंभीर है; न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी "मौन मधि पुकार" है।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़ कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप मे मोड सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बँधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानदजी उन विरले कवियो मे हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करनेवाला हिंदी के पुराने कवियो मे दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।

लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिंदी-कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया। एक घनानद ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनमे दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्यधारा मे ही, 'अभि-व्यंजनावाद' के प्रभाव से कुछ विदेशी रग लिए प्रकट हुई। घनानंद का प्रयोगवैचित्र्य दिखाने के लिये कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

(क) अरसानि गही वह बानि कछू, सरसानि सों आनि निहोरत है।

(ख) है है सोऊ घरी भाग-उघरी अनंदघन सुरस बरसि, लाल ! देखिहौ हरी हमे। ('खुले भाग्यवाली घडी' मे विशेषण-विपर्यय)।

(ग) उघरो जग, छाय रहे घन-आनँद, चातक ज्यों तकिए अब तौ। (उघरो जग = संसार जो चारों ओर घेरे था वह दृष्टि से हट गया।)

(घ) कहिए सु कहा, अब मौन भली, नहिं खोवते जो **हमैं** पावते जू।
(हमैं = हमारा हृदय)।

विरोधमूलक वैचित्र्य भी जगह जगह बहुत सुंदर मिलता है, जैसे—

(च) **झूठ की सचाई** छाक्यो, त्यों **हित-कचाई पाक्यो**, ताके गुनगन घनआनँद कहा गनौं।

(छ) **उजरनि बसी** है हमारी अँखियानि देखौ, सुबस सुदेस जहाँ रावरे बसत हो।

(ज) गति सुनि हारी, देखि थकनि मैं चली जाति, थिर चर दशा कैसी **ढकी उघरति** है।

(झ) तेरे ज्यौं न लेखो, मोहि मारत परेखो महा, जान घनआनँद पै **खोयबो लहत हैं।**

इन उद्धरणों से कवि की चुभती हुई वचन-वक्रता पूरी पूरी झलकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की उक्ति ने वक्र पथ हृदय के वेग के कारण पकड़ा है।

भाव का स्रोत जिस प्रकार टकरा कर कहीं कहीं वक्रोक्ति के छींटे फेंकता है उसी प्रकार कहीं कहीं भाषा के स्निग्ध, सरल और चलते प्रवाह के रूप में भी प्रकट होता है। ऐसे स्थलों पर अत्यंत चलती और प्रांजल ब्रज-भाषा की रमणीयता दिखाई पड़ती है—

कान्ह परे बहुतायत में, इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम?
हौ मन-मोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम?
बौरे बियोगिन्ह आप 'सुजान ह्वै, हाय! कछू उर आनौ कहा तुम?
आरतिवंत पपीहन को घन आनँद जू! पहिचानौ कहा तुम?

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबही करेजो किन कोरि लै।
पैंड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यों ही,
चातक रे घातक ह्वै तूहू कान फोरि लै॥

आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो-दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥

इस प्रकार की सरल रचनाओं मे कहीं कहीं नाद-व्यंजना भी बड़ी अनूठी है। एक उदाहरण लीजिए—

ए रे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन, वारि
तो सों और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा को मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पायँन की हा हा! नैकु आनि दै॥

ऊपर के कवित्त के दूसरे चरण मे आए हुए "आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै" मे मृदंग की ध्वनि का बड़ा सुंदर अनुकरण है।

उक्ति का अर्थगर्भत्व भी घनानंद का स्वतत्र और स्वावलंबी होता है, बिहारी के दोहो के समान साहित्य की रूढ़ियो (जैसे, नायिकाभेद) पर आश्रित नहीं रहता। उक्तियों की सागोपांग योजना या अन्विति इनकी निराली होती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यो।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यों पचि कै रचि राखि विसेख्यो॥
ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जो आन कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो घन-आनँद जान अजान लौं टूक कियो, पर बाँचि न देख्यो॥

आनाकानी-आरसी निहारिबो करौगे कौलौं?
कहा मो चकित दसा त्यों न दीठि डोलिहै?

मौन हू सों देखिहौं कितेक पन पालिहौ जू
कूक-भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै।
जान घन-आनँद यों मोहिं तुम्हैं पैज परी,
जानियैगो टेक टरे कौन धौं मलोलिहै।
रुई दिए रहौगे कहाँ लौं बहराइबे की ?
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलिहै॥

अंतर में बासी पै प्रवासी कैसो अंतर है,
मेरी न सुनत, दैया ! आपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे ह्वै सुझाओ सब, सूझौ नाहिं,
बूझी न परति ऐसो सोचनि कहा दहौ॥
हौ तौ जानराय, जाने जाहु न, अजान यातें,
आनँद के घन छाया छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा ! सूरति दिखैए नैकु,
हमैं खोय या विधि हो ! कौन धौं लहा लहौ॥

मूरति सिंगार की उजारी छबि आछी भाँति,
दीठि-लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति-रसना-सवाद पाँवड़े पुनीतकारी पाय,
चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजिहौं।
जान प्यारे प्रान अंग-अंग-रुचि-रंगनि में,
बोरि सब अंगन अनंग-दुख भाँजिहौं।
कब घन-आनँद ढरौंहौं बानि देखें,
सुधा-हेत मन-घट दरकनि सुठि राँजिहौं॥
(राँजना = फूटे बरतन में जोड़ या टाँका लगाना)

निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छवि रंग-भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यों चख ढोरि रहैं, ढरिगो हिय ढोरनि बाहनि की।
चट दै कटि पै वट प्रान गए गति सों मति में अवगाहनि की।
घन आनँद जान लख्यो जब तें जक लागियै मोहि कराहनि की ॥

इस अंतिम सवैये के प्रथम तीन चरणों में कवि ने बहुत सूक्ष्म कौशल दिखाया है। 'मुरि चाहनि' और 'तकि मोरनि' से यह व्यक्त किया गया है कि एक बार नायक ने नायिका की ओर मुड़कर देखा फिर देखकर मुड़ गए और अपना रास्ता पकड़ा। देख कर जब वे मुड़ें तब नायिका का मन उनकी ओर इस प्रकार ढल पड़ा जैसे पानी नाली मे ढल जाता है। कटि मे बल देकर प्यारे नायिका के मन मे डूबने के ढब से निकल गए।

घनानंद के ये दो सवैये बहुत प्रसिद्ध हैं—

पर कारज देह को धारे फिरौ परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुंदरता सरसौ।
घनआनँद जीवनदायक हौ, कवौं मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौ लै बरसौ॥

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नही॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नही।
तुम कौन सी पाटी पढे हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

('विरहलीला' से)

सलोने श्याम प्यारे क्यों न आवौ। दरस प्यासी मरैं तिनकौं जिवावौ॥
कहाँ हौ जू, कहाँ हौ जू, कहाँ हौ। लगे ये प्रान तुमसो हैं जहाँ हौ॥
रहौ किन प्रान प्यारे नैन आगैं। तिहारे कारनै दिनरात जागैं॥
सजन ! हित मान कै ऐसी न कीजै। भई है बावरी सुध आय लीजै॥

(११) **रसनिधि**—इनका नाम पृथ्वीसिंह था और ये दतिया के एक

जमींदार थे। इनका संवत् १७१७ तक वर्तमान रहना पाया जाता है। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने बिहारी-सतसई के अनुकरण पर "रतनहजारा" नामक दोहों का एक ग्रंथ बनाया। कहीं कहीं तो इन्होंने बिहारी के वाक्य तक रख लिए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी बहुत से दोहे बनाए जिनका संग्रह बाबू जगन्नाथप्रसाद (छत्रपुर) ने किया है। "अरिल्ल और मॉझो" का संग्रह भी खोज में मिला है। ये शृंगार-रस के कवि थे। अपने दोहों में इन्होने फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। फारसी की आशिकी कविता के शब्द भी इन्होंने इस परिमाण मे कहीं कहीं रखे हैं कि सुरुचि और साहित्यिक शिष्टता को आघात पहुँचता है। पर जिस ढंग की कविता इन्होने की है उसमे इन्हे सफलता हुई है। कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

अद्भुत गति यहि प्रेम की, बैनन कही न जाय।
दरस-भूख लागै दृगन, भूखहिं देत भगाय॥
लेहु न मजनू-गोर ढिग, कोऊ लैला नाम।
दरदवंत को नेकु तौ, लेन देहु विसराम॥

चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराय।
कलम छुवत कर-आँगुरी कटी कटाछन जाय॥
मनगयंद छबिमद-छके तोरि जँजीर भगात।
हिय के झीने तार सों सहजै ही बँधि जात॥

(१२) **महाराज विश्वनाथसिंह**—ये रीवॉ के बड़े ही विद्यारसिक और भक्त नरेश तथा प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह के पिता थे। आप संवत् १८७० से लेकर १९११ तक रीवॉ की गद्दी पर रहे। ये जैसे भक्त थे वैसे ही विद्या-व्यसनी तथा कवियों और विद्वानो के आश्रयदाता थे। काव्य-रचना मे भी ये सिद्धहस्त थे। यह ठीक है कि इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रंथ दूसरे कवियो के रचे है पर इनकी रचनाऍ भी कम नहीं है। नीचे इनकी

बनाई पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं जिनसे विदित होगा कि कितने विषयों पर इन्होंने लिखा है—

(१) अष्टयाम-आह्निक, (२) आनंद-रघुनंदन नाटक, (३) उत्तम-काव्य-प्रकाश, (४) गीता-रघुनंदन शतिका, (५) रामायण, (६) गीता-रघुनंदन प्रामाणिक, (७) सर्वसंग्रह, (८) कबीर बीजक की टीका, (९) विनयपत्रिका की टीका, (१०) रामचंद्र की सवारी, (११) भजन, (१२) पदार्थ, (१३) धनुर्विद्या, (१४) आनंद-रामायण, (१५) परधर्म निर्णय, (१६) शाति-शतक, (१७) वेदांत-पंचक शतिका, (१८) गीतावली पूर्वार्द्ध, (१९) ध्रुवाष्टक, (२०) उत्तम नीतिचंद्रिका, (२१) अबोधनीति, (२२) पाखंड-खडिनी, (२३) आदिमंगल, (२४) बसंत-चौतीसी, (२५) चौरासी रमैनी, (२६) ककहरा, (२७) शब्द, (२८) विश्वभोजन-प्रसाद, (२९) ध्यानमंजरी, (३०) विश्वनाथ-प्रकाश, (३१) परमतत्त्व, (३२) संगीत रघुनंदन, इत्यादि ।

यद्यपि ये रामोपासक थे पर कुलपरंपरा के अनुसार निर्गुण संत मत की बानी का भी आदर करते थे। कबीरदास के शिष्य धर्मदास का बॉधव नरेश के यहाँ जाकर उपदेश सुनाना परंपरा से प्रसिद्ध है। 'ककहरा', 'शब्द', 'रमैनी' आदि उसी प्रभाव के द्योतक हैं। पर इनकी साहित्यिक रचना प्रधानतः रामचरित-संबधिनी है। कबीर बीजक की टीका इन्होंने निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण राम पर घटाई है। ब्रजभाषा मे नाटक पहले पहल इन्हीं ने लिखा। इस दृष्टि से इनका "आनद-रघुनदन नाटक" विशेष महत्त्व की वस्तु है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इसे हिंदी का प्रथम नाटक माना है। यद्यपि इसमे पद्यों की प्रचुरता है पर संवाद सब ब्रजभाषा गद्य मे हैं। अंकविधान और पात्रविधान भी है। हिंदी के प्रथम नाटककार के रूप में ये चिरस्मरणीय हैं।

इनकी कविता अधिकतर या तो वर्णनात्मक है अथवा उपदेशात्मक। भाषा स्पष्ट और परिमार्जित है। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

भाइन भृत्यन विष्णु सो, रैयत भानु सो, सत्रुन काल सो भावै।
सत्रु बली सों बचै करि बुद्धि औ अस्त्र सों धर्म की रीति चलावै॥

जीतन को करै केते उपाय औ दीरघ दृष्टि सबै फल पावै।
भाखत है बिसुनाथ ध्रुवै नृप सो कबहूँ नहि राज गँवावै॥

बाजि गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,
प्यादे ऐंड़वारे जे सबीह सरदार के।
कुँवर छबीले जे रसीले राजबंसवारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के॥
केते जातिवारे, केते केते देसवारे,
जीव स्वान सिंह आदि सैलवारे जे सिकार के।
डंका की धुकार ह्वै सवार सबै एक बार,
राज वार पार कार कोशलकुमार के॥

उठौ कुँवर दोउ प्रान पियारे।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे॥
जगवन महँ निकस्यो हरपित हिय बिचरन हेत दिवस मनियारो।
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिनि उजियारो॥

करि जो कर मैं कयलास लियो कसिकै अब नाक सिकोरत है।
दइ तालन दीस भुजा भहराय झुको धनु को झकझोरत है॥
तिल एक हलै न हलै पुहुमी रिसि पीसि कै दाँतन तोरत है।
मन में यह ठीक भयो हमरे मद काको महेस व मोरत है॥

(१३) **भक्तवर नागरीदासजी**—यद्यपि इस नाम के कई भक्त कवि व्रज मे हो गए पर उसमे सबसे प्रसिद्ध कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावंतसिंहजी है जिनका जन्म पौष कृष्ण १२ संवत् १७५६ में हुआ था। ये बाल्यावस्था मे ही बड़े शूरवीर थे। १३ वर्ष की अवस्था मे इन्होंने बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को मारा था। सवत् १८०४ मे ये दिल्ली के शाही दरबार मे थे। इसी बीच मे इनके पिता महाराज राजसिह का देहांत हुआ। बादशाह

अहमदशाह ने इन्हे दिल्ली मे ही कृष्णगढ़ राज्य का उत्तराधिकार दिया। पर जब ये कृष्णगढ़ पहुँचे तब राज्य पर अपने भाई बहादुरसिंह का अधिकार पाया जो जोधपुर की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। ये व्रज की ओर लौट आए और मरहठो से सहायता लेकर इन्होने अपने राज्य पर अधिकार किया। पर इस गृहकलह से इन्हें कुछ ऐसी विरक्ति हो गई कि ये सब छोड़-छाड़कर वृंदावन चले गए और वहाँ विरक्त भक्त के रूप मे रहने लगे। अपनी उस समय की चित्तवृत्ति का उल्लेख इन्होने इस प्रकार किया है—

जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल॥
कहा भयो नृप हू भए, ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरिभक्ति को सकल सुखन को सार॥
मैं अपने मन मूढ तें डरत रहत हौं हाय।
वृंदावन की ओर तें मति कबहूँ फिर जाय॥

वृंदावन पहुँचने पर वहाँ के भक्तो ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो "कृष्णगढ़ के राजा" यह व्यावहारिक नाम सुनकर वे कुछ उदासीन-से रहे पर जब उन्होने मेरे 'नागरीदास' ('नागरी' शब्द श्रीराधा के लिये आता है) नाम को सुना तब तो उन्होने उठकर दोनो भुजाओ से मेरा आलिंगन किया—

सुनि व्यवहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥
इक मिलत भुजन भरि दौर दौर। इक टेरि बुलावत और ठौर॥

वृंदावन मे उस समय वल्लभाचार्य्यजी की गद्दी की पाँचवीं पीढ़ी थी। वृंदावन से इन्हे इतना प्रेम था कि एक बार ये वृंदावन के उस पार जो पहुँचे। रात को जब जमुना के किनारे लौटकर आए तब वहाँ कोई नाव-बेड़ा न था। वृंदावन का वियोग इन्हे इतना असह्य हो गया कि ये जमुना मे कूद

पड़े और तैरकर वृंदावन आए। इस घटना का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

देख्यो श्रीवृंदाविपिन पार। बिच बहति महा गंभीर धार॥
नहिं नाव, नाहीं कछु और दाव। हे दई! कहा कीजै उपाव॥
रहे वार लगन की लगै लाज। गए पारहि पूरै सकल काज॥
यह चित्त माहिं करि कै विचार। परे कूदि कूदि जलमध्य-धार॥

वृंदावन में इनके साथ इनकी उपपत्नी 'बणीठणीजी' भी रहती थीं, जो कविता भी करती थीं।

ये भक्त कवियों मे बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए है। इनका कविता-काल सं० १७८० से १८१९ तक माना जा सकता है। इनका पहला ग्रंथ "मनोरथ-मंजरी" संवत् १७८० मे पूरा हुआ। इन्होने संवत् १८१४ मे आश्विन शुक्ल १० को राज्य पर अपने पुत्र सरदारसिंहजी को प्रतिष्ठित करके, घरबार छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि विरक्त होने के बहुत पहिले ही ये कृष्ण-भक्ति और ब्रजलीला-संबंधिनी बहुत सी पुस्तके लिख चुके थे। कृष्णगढ़ मे इनकी लिखी छोटी बड़ी सब मिलाकर ७३ पुस्तके संगृहीत हैं, जिनके नाम ये हैं—

सिंगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश (१८००), पदप्रसंगमाला, ब्रजवैकुंठ तुला, ब्रजसार (संवत् १७९९), भोरलीला, प्रातरस-मंजरी, विहार-चंद्रिका (सं० १७८८), भोजनानंदाष्टक, जुगलरस माधुरी, फूलविलास, गोधन-आगमन दोहन, आनंदलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्म-विहार, पावसपचीसी, गोपीबैनविलास, रास-रसलता, नैनरूपरस, शीतसार, इश्कचलन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षा ऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्धन-धारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमगदीपिका (सं० १८०२), तीर्थानंद (१८१०), फाग विहार (१८०८), बालविनोद, बन-विनोद, (१८०९), सुजानानद (१८१०), भक्तिसार (१७९९), देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिक-रत्नावली (१७८२), कलि-वैराग्य-वल्लरी (१७९५), अरिल्ल-पचीसी, छूटक-विधि, पारायण-विधि-प्रकाश

(१७६६), शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियाँ, रेखता, मनोरथ-मंजरी (१७८०), रामचरित्रमाला, पदप्रबोधमाला, जुगल-भक्तिविनोद (१८०८), रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझी फूल-बीनन संवाद, वसंत-वर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फाग-खेलन समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंज विलास (१७९४), गोविद परचई, वनजन-प्रशंसा, छूटक दोहा, उत्सव-माला पद-मुक्तावली।

इनके अतिरिक्त "वैन-विलास" और "गुप्तरस-प्रकाश" नाम की दो अप्राप्य पुस्तकें भी हैं। इस लंबी सूची को देखकर आश्चर्य करने के पहले पाठको को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न-भिन्न प्रसंगो या विषयो के कुछ पद्यों मे वर्णन मात्र हैं, जिन्हे यदि एकत्र करे तो ५ या ७ अच्छे आकार की पुस्तकों मे आ जायँगे। अतः ऊपर लिखे नामों को पुस्तको के नाम न समझकर वर्णन के शीर्षक मात्र समझना चाहिए। इनमें से बहुतो को पाँच पाँच, दस दस, पचीस पचीस पद्य मात्र समझिए। कृष्णभक्त कवियो की अधिकांश रचनाएँ इसी ढंग की है। भक्तिकाल के इतने अधिक कवियो की कृष्णलीला-संबंधिनी फुटकल उक्तियो से ऊबे हुए और केवल साहित्यिक दृष्टि रखनेवाले पाठकों को नागरीदासजी की ये रचनाएँ अधिकांश मे पिष्टपेषण सी प्रतीत होगी। पर ये भक्त थे और साहित्य-रचना की नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। फिर भी इनकी शैली और भावों मे कुछ नवीनता और विशिष्टता है। कहीं कहीं बड़े सुदर भावो की व्यजना इन्होने की है। काल-गति के अनुसार फारसी काव्य का आशिकी और सूफियाना रंग-ढंग भी कहीं कहीं इन्होने दिखाया है। इन्होने गाने के पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रोला आदि कई छदो का व्यवहार किया है। भाषा भी सरस और चलती है, विशेषतः पदो की कवित्तो की भाषा में वह चलतापन नहीं है। कविता के नमूने देखिए—

(वैराग्य-सागर से)

काहे को रे नाना मत सुनै तू पुरान के,
तै ही कहा? तेरी मूढ़ मूढ मति पंग की।
वेद के विवादनि को पावैगो न पार कहूँ,
छाँड़ि देहु आस सब दान न्हान गंग की॥

और सिद्धि सोधे अब, नागर, न सिद्ध कछू,
मानि लेहु मेरी कही वार्त्ता सुढंग की।
जाइ ब्रज भोरे! कोरे मन को रँगाइ लै रे,
वृंदावन रेनु रची गौर स्याम रंग की॥

(अरिल्ल)

अंतर कुटिल मठोर भरे अभिमान सों। तिन के गृह नहिं रहै संत सनमान सों॥
उनकी संगति भूलि न कबहूँ जाइए। वृज-नागर नँदलाल सु निसि दिन गाइए॥

(पद)

जौ मेरे तन होते दोय।
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोतें कछु कहतो नहिं कोय॥
एक जो तन हरि बिमुखन के संग रहतो देस विदेस।
विविध भाँति के जग-दुख-सुख जहँ, नहिं भक्ति लवलेस॥
एक जौ तन सतसंग-रंग रँगि रहतो अति सुख-पूर।
जनम सफल करि लेतो ब्रज बसि जहँ ब्रज-जीवन-मूर।
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वैहैं, आयु तो छिन छिन छीजै॥
नागरिदास एक तन तें अब कहौ काह करि लीजै?

(मनोरथ-मंजरी से)

चरन छिदत काँटेनि तें स्त्रवत रुधिर सुधि नाहिं।
पूछति हौं फिर हौं भटू खग मृग तरु बन माहिं॥
कबै झुकत मो ओर को ऐहैं मदगज-चाल।
गरबाहीं दीने दोऊ प्रिया नवल नँदलाल॥

(इश्क-चमन से)

सब मजहब सब इल्म अरु सबै ऐश के स्वाद।
अरे! इश्क के असर बिनु ये सब ही बरबाद॥
आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक में और भरैं सब पेट॥

(वर्षा के कवित्त से)

भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि वादर मंद फुही वरसावै ।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस-रीति मलारहि गावै ॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावैं ।
पौन मया करि घूँघट टारै, दया करि दामिनि दीप दिखावै ॥

(१४) **जोधराज**—ये गौड़ ब्राह्मण बालकृष्ण के पुत्र थे। इन्होने नींवगढ़ (वर्त्तमान नीमराणा—अलवर) के राजा चन्द्रभान चौहान के अनुरोध से "हम्मीर रासो" नामक एक बड़ा प्रबंध-काव्य संवत् १८७५ मे लिखा जिसमे रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव का चरित्र वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति पर वर्णन किया गया है। हम्मीरदेव सम्राट् पृथ्वीराज के वंशज थे। उन्होंने दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन को कई बार परास्त किया था और अंत मे अलाउद्दीन की चढ़ाई मे ही वे मारे गये थे। इस दृष्टि से इस काव्य के नायक देश के प्रसिद्ध वीरों में है। जोधराज ने चन्द आदि प्राचीन कवियों की पुरानी भाषा का भी यत्र तत्र अनुकरण किया है:—जैसे जगह जगह 'हि' विभक्ति के प्राचीन रूप 'ह' का प्रयोग। 'हम्मीररासो' की कविता बडी ओजस्विनी है। घटनाओ का वर्णन ठीक ठीक और विस्तार के साथ हुआ है। काव्य का स्वरूप देने के लिये कवि ने कुछ घटनाओ की कल्पना भी की है। जैसे महिमा मंगोल का अपनी प्रेयसी वेश्या के साथ दिल्ली से भागकर हम्मीरदेव की शरण मे आना और अलाउद्दीन का दोनों को मॉगना। यह कल्पना राजनीतिक उद्देश्य हटाकर प्रेम-प्रसंग को युद्ध का कारण बताने के लिये, प्राचीन कवियो की प्रथा के अनुसार, की गई है। पीछे सवत् १९०२ मे चन्द्रशेखर वाजपेयी ने जो हम्मीरहठ लिखा उसमें भी यह घटना ज्यो की त्यो ले ली गई है। ग्वाल कवि के हम्मीरहठ में भी, बहुत संभव है कि, यह घटना ली गई होगी।

प्राचीन वीरकाल के अंतिम-राजपूत वीर का चरित जिस रूप मे और जिस प्रकार की भाषा मे अंकित होना चाहिए था उसी रूप और उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने मे सफल हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इन्हें हिंदी-काव्य की ऐतिहासिक परंपरा की अच्छी जानकारी थी, यह बात स्पष्ट लक्षित होती है। नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

कब हठ करै अलावदीं रणथंभवर गढ़ आहि।
कबै सेख सरनै रहै बहुरयो महिमा साहि॥
सूर सोच मन में करौ, पदवी लहौं न फेरि।
जो हठ छंडो राव तुम, उत न लजै अजमेरि॥
सरन राखि सेख न तजौ, तजौ सीस गढ़ देस।
रानी राव हमीर को यह दीन्हों उपदेस॥

कहँ पँवार जगदेव सीस आपन कर कट्ट्यो।
कहाँ भोज विक्रम सुराव जिन पर-दुख मिट्ट्यो॥
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दीनो।
रह्यो न रहिए कोय देव नर नाग सु चीनो॥
यह बात राव हम्मीर सूँ रानी इमि आसा कही।
जो भई चक्कवै-मंडली सुनौ राव दीखे नहीं॥

जीवन-मरन-सँजोग जग कौन मिटावै ताहि।
जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आहि॥
कहाँ जैत कहँ सूर, कहँ सोमेश्वर राणा।
कहाँ गए प्रथिराज साह दल जीति न आणा॥
होतब मिटै न जगत में कीजै चिंता कोहि।
आसा कहै हमीर सौं अब चूकौ मत सोहि॥

पुंडरीक-सुत-सुता तासु पद-कमल मनाऊँ।
विसद बरन बर बसन बिषद भूषन हिय ध्याऊँ॥
विषद जंत्र सुर सुद्ध तंत्र तुंबर जुत सोहै।
विपद ताल इक भुजा, दुतिय पुस्तक मन मोहै॥
गति राजहंस हंसह चढ़ी रटी सुरन कीरति विमल।
जय मातु सदा बरदायिनी, देहु सदा बरदान-बल॥

(१५) **बख्शी हंसराज**—ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म संवत् १७९९ में पन्ना में हुआ था। इनके पूर्वज बख्शी हरकिशुनजी पन्ना राज्य के मंत्री थे। हंसराजजी पन्नानरेश श्री अमानसिंहजी के दरबारियों में थे। ये ब्रज की व्यासगद्दी के "विजय सखी" नामक महात्मा के शिष्य थे, जिन्होंने इनका

सांप्रदायिक नाम 'प्रेमसखी' रखा था। 'सखी-भाव' के उपासक होने के कारण इन्होंने अत्यत प्रेम-माधुर्य्य-पूर्ण रचनाएँ की हैं। इनके चार ग्रंथ पाए जाते हैं—

(१) सनेह सागर, (२) विरहविलास, (३) रायचंद्रिका, (४) बारह-मासा (संवत् १८११)।

इनमें से प्रथम बड़ा ग्रंथ है। दूसरा शायद इनकी पहली रचना है। 'सनेह-सागर' का संपादन श्रीयुत लाला भगवानदीनजी बड़े अच्छे ढंग से कर चुके हैं। शेष ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं।

'सनेह-सागर' नौ तरंगों में समाप्त हुआ है जिनमे कृष्ण की विविध लीलाएँ सार छंद में वर्णन की गई है। भाषा बहुत ही मधुर, सरस और चलती है। भाषा का ऐसा स्निग्ध सरल प्रवाह बहुत कम देखने में आता है। पद-विन्यास अत्यंत कोमल और ललित हैं। कृत्रिमता का लेश नहीं। अनुप्रास बहुत ही संयत मात्रा में और स्वाभाविक हैं। माधुर्य प्रधानतः संस्कृत की पदावली का नहीं, भाषा की सरल सुबोध पदावली का है। एक शब्द का भी समावेश व्यर्थ केवल पादपूर्त्यर्थ नहीं है। साराश यह कि इनकी भाषा सब प्रकार से आदर्श-भाषा है। कल्पना भाव-विधान में ही पूर्णतया प्रवृत्त है, अपनी अलग उड़ान दिखाने मे नहीं। भाव-विकास के लिये अत्यंत परिचित और स्वाभाविक व्यापार ही रखे गए हैं। वास्तव मे 'सनेह-सागर' एक अनूठा ग्रंथ है। उसके कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दमकति दिपति देह दामिनि सी चमकत चंचल नैना।
घूँघट बिच खेलत खंजन से उड़ि उड़ि दीठि लगै ना॥
लटकति ललित पीठ पर चोटी बिच बिच सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैर सो आवत, मनहुँ भुजंगिनि कारी॥

इत तें चली राधिका गोरी सौंपन अपनी गैया।
उत तें अति आतुर आनँद सों आए कुँवर कन्हैया॥
कसि भौहैं, हँसि कुँवरि राधिका कान्ह कुँवर सों बोली।
अँग अँग उमगि भरे आनँद सों, दरकति छिन छिन चोली॥

एरे मुकुटवार चरवाहे ! गाय हमारी लीजौ।
जाय न कहूँ तुरत की ब्यानी, सौंपि खरक कै दीजौ ॥
होहु चरावनहार गाय के बाँधनहार छुरैया।
कर दीजौ तुम आय दोहनी, पावै दूध लुरैया ॥

कोऊ कहूँ आय बन-बीथिन या लीला लखि जैहै।
कहि कहि कुटिल कठिन कुटिलन सों सिगरे ब्रज बगरैहै ॥
जो तुम्हरी इनकी ये बातैं सुनिहै कीरति रानी।
तो कैसे पटिहै पाटे ते, घटिहै कुल को पानी ॥

(१६) **जनकराज किशोरीशरण**—ये अयोध्या के एक वैरागी थे और संवत् १६६७ मे वर्त्तमान थे। इन्होने भक्ति, ज्ञान और रामचरित-संबंधिनी बहुत सी कविता की है। कुछ ग्रथ संस्कृत मे भी लिखे हैं। हिंदी कविता साधारणतः अच्छी है। इनकी बनाई पुस्तकों के नाम ये है—

आंदोलरहस्य दीपिका, तुलसीदासचरित्र, विवेकसार चद्रिका, सिद्धांतचौतीसी, बारहखड़ी, ललित-शृंगार-दीपक, कवितावली, जानकीसरणाभरण, सीताराम-सिद्धांतमुक्तावली, अनन्य-तरंगिणी, रामरस-तरंगिणी, आत्मसंबंध-दर्पण, होलिका-विनोद-दीपिका, वेदांतसार, श्रुति-दीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर-करुणाभरण।

उपर्युक्त सूची से प्रकट है कि इन्होने राम-सीता के शृंगार, ऋतुविहार आदि के वर्णन में ही भाषा कविता की है। इनका एक पद्य नीचे दिया जाता है—

फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगंध के चहुँ चाव।
गुंजत मधुप मधुमत्त नाना रंग रज अँग फाव ॥
सीरो सुगंध सुमंद बात विनोद कत बहंत।
परसत अनंग उदोत हिय अभिलाष कामिनि कंत ॥

(१७) **अलबेली अलि**—ये विष्णुस्वामी संप्रदाय के महात्मा 'वंशीअलि' जी के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त इनका और कोई वृत्त ज्ञात नहीं। अनुमान

से इनका कविता-काल विक्रम की १८ वीं शताब्दी का अंतिम भाग आता है। ये भाषा के सत्कवि होने के अतिरिक्त संस्कृत में भी सुंदर रचना करते थे जिसका प्रमाण इनका लिखा 'श्रीस्तोत्र' है। इन्होंने "समय-प्रबंध पदावली" नामक एक ग्रंथ लिखा है जिसमे ,३१३ बहुत ही भाव भरे पद हैं। नीचे कुछ पद उद्धृत किए जाते हैं—

लाल तेरे लोभी लोलुप नैन।
केहि रस-छकनि छके हौ छबीले मानत नाहिंन चैन।
नींद नैन घुरि घुरि आवत अति, घोरि रही कछु नैन॥
अलबेली अलि रस के रसिया, कत बितरत ये बैन।

बने नवल प्रिय प्यारी।
सरद रैन उजियारी॥
सरद रैन सुखदैन मैनमय जमुना-तीर सुहायो।
सकल कला-पूरन ससि सीतल महि-मंडल पर आयो॥
अतिसय सरस सुगंध मंद गति बहत पवन रुचिकारी!
नव नव रूप नवल नव जोबन बने नवल पिय प्यारी॥

(१८) **चाचा हित वृंदावन दास**—ये पुष्कर क्षेत्र के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे और संवत् १७६५ मे उत्पन्न हुए थे। ये राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूपजी के शिष्य थे। तत्कालीन गोसाईंजी के पिता के गुरुभ्राता होने के कारण गोसाईंजी की देखादेखी सब लोग इन्हें "चाचाजी" कहने लगे। ये महाराज नागरीदासजी के भाई बहादुरसिंहजी के आश्रय में रहते थे, पर जब राजकुल मे विग्रह उत्पन्न हुआ तब ये कृष्णगढ़ छोड़कर वृंदावन चले आए और अंत समय तक वही रहे। संवत् १८०० से लेकर सवत् १८४४ तक की इनकी रचनाओं का पता लगता है। जैसे सूरदास के सवा लाख पद बनाने की जनश्रुति है वैसे ही इनके भी एक लाख पद और छंद बनाने की बात प्रसिद्ध है। इनमें से २०००० के लगभग पद्य तो इनके मिले हैं। इन्होंने नखशिख, अष्टयाम, समय-प्रबंध, छद्मलीला आदि असंख्य प्रसंगों का विशद वर्णन किया

है। छद्मलीलाओं का वर्णन तो बड़ा ही अनूठा है। इनके ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं। रागरत्नाकर आदि ग्रंथों मे इनके बहुत से पद संगृहीत मिलते हैं। छत्रपुर के राज-पुस्तकालय में इनकी बहुत सी रचनाएँ सुरक्षित हैं।

इतने अधिक परिमाण में होने पर भी इनकी रचना शिथिल या भरती की नहीं है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार प्रकट होता है। लीलाओं के अंतर्गत वचन और व्यापार की योजना भी इनकी कल्पना की स्फूर्ति का परिचय देती है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

(मनिहारी लीला से)

मिठबोलनी नवल मनिहारी।
भौहैं गोल गरूर हैं, याके नयन चुटीले भारी।
चूरी लखि मुख तें कहै, घूँघट में मुसकाति।
ससि मनु बदरी ओट तें दुरि दरसत यहि भाँति॥
चूरो बड़ो है मोल को, नगर न गाहक कोय।
मो फेरी खाली परी, आई सब घर टोय॥

प्रीतम तुम मो दृगन बसत हौ।
कहा भरोसे ह्वै पूछत हौ, कै चतुराई करि जु हँसत हौ॥
लीजै परखि स्वरूप आपनो, पुतरिन में तुमहीं तौ लसत हौ।
वृंदावन हित रूप-रसिक तुम, कुंज लड़ावत हिय हुलसत हौ॥

(१९) गिरिधर कविराज—इनका कुछ भी वृत्तांत ज्ञात नहीं। नाम से भाट जान पड़ते हैं। शिवसिंह ने इनका जन्म संवत् १७७० दिया है जो संभवतः ठीक हो। इस हिसाब से इनका कविताकाल संवत् १८०० के उपरांत ही माना जा सकता है। इनकी नीति की कुंडलिया ग्राम ग्राम मे प्रसिद्ध हैं। अपढ़ लोग भी दो चार चरण जानते हैं। इस सर्वप्रियता का कारण है बिल्कुल सीधी सादी भाषा मे तथ्य मात्र का कथन। इनमे न तो अनुप्रास आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार। कथन की पुष्टि मात्र के लिये (अलंकार की दृष्टि से नहीं) दृष्टांत आदि इधर उधर मिलते हैं। कहीं

कहीं, पर बहुत कम, कुछ अन्योक्ति का सहारा इन्होने लिया है। इन सब बातों के विचार से ये कोरे पद्यकार ही कहे जा सकते हैं; सूक्तिकार नहीं। वृंद कवि में और इनमे यही अंतर है। वृंद ने स्थान स्थान पर अच्छी घटती हुई और सुंदर उपमाओं आदि का भी विधान किया है। पर इन्होंने कोरा तथ्य-कथन किया है। कहीं कहीं तो इन्होंने शिष्टता का ध्यान भी नहीं रखा है। पर घर गृहस्थी के साधारण व्यवहार, लोकव्यवहार आदि का बड़े स्पष्ट शब्दों में इन्होंने कथन किया है। यही स्पष्टता इनकी सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है। दो कुंडलियाँ दी जाती हैं—

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुस अरु कंस को गयो दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे।
दुसमन दावागीर भए महिमंडल सिगरे॥
कह गिरिधर कविराय जुगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई?

———

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहि में सोय।
छाहँ न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरिधर कविराय छाहँ मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

(२०) भगवत रसिक—ये टट्टी संप्रदाय के महात्मा स्वामी ललितमोहनीदास के शिष्य थे। इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया और निर्लिप्त भाव से भगवद्भजन मे ही लगे रहे। अनुमान से इनका जन्म संवत् १७९५ के लगभग हुआ। अतः इनका रचनाकाल संवत् १८३० और १८५० के बीच माना जा सकता है। इन्होंने अपनी उपासना से संबंध रखनेवाले अनन्य-प्रेम-रस-पूर्ण बहुत से पद, कवित्त, कुंडलिया, छप्पय आदि रचे हैं जिनमे एक ओर तो

वैराग्य का भाव और दूसरी ओर अनन्य प्रेम का भाव छलकता है। इनका हृदय प्रेम-रसपूर्ण था। इसीसे इन्होंने कहा है कि "भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।" ये कृष्णभक्ति मे लीन एक प्रेम-योगी थे। इन्होंने प्रेमतत्त्व का निरूपण बड़े ही अच्छे ढंग से किया है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कुंजन तें उठि प्रात गात जमुना में धोवै।
निधुबन करि दंडवत बिहारी को मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेय प्रसाद लगै जब भोजन-साधा॥
संग करै भगवत रसिक, कर करवा, गूदरि गरे।
वृंदावन बिहरत फिरै, जुगल रूप नैनन भरे॥

हमरो वृंदावन उर और।
माया काल तहाँ नहिं व्यापै जहाँ रसिक-सिरमौर॥
छूटि जात सत असत वासना, मन की दौरा-दौर।
भगवत रसिक बतायो श्री गुरु, अमल अलौकिक ठौर॥

(२१) **श्री हठीजी**—ये श्रीहितहरिवंशजी की शिष्य-परंपरा मे बड़े ही साहित्यमर्मज्ञ और कला-कुशल कवि हो गए हैं। इन्होंने संवत् १८३७ मे "राधा-सुधाशतक" बनाया जिसमे ११ दोहे और १०३ कवित्त-सवैये हैं। अधिकांश भक्तों की अपेक्षा इनमें विशेषता यह है कि इन्होंने कला-पक्ष पर भी पूरा जोर दिया है। इनकी रचना मे यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का बाहुल्य पाया जाता है। पर साथ ही भाषा या वाक्य-विन्यास मे लद्धड़पन नहीं आने पाया है। वास्तव मे "राधासुधाशतक" छोटा होने पर भी अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को यह ग्रंथ अत्यंत प्रिय था। उससे कुछ अवतरण दिए जाते हैं—

कलप लता के कैधों पल्लव नवीन दोऊ,
हरन मंजुता के कंज ताके बनिता के हैं।

पावन पतित गुन गावैं मुनि ताके छवि,
छलै सविता के जनता के गुरुता के हैं ॥
नवौ निधि ताके सिद्धता के आदि आलै हठी,
तीनौ लोकता के प्रभुता के प्रभु ताके हैं।
कटै पाप ताकै बढ़ैं पुन्य के पताके जिन,
ऐसे पद ताके वृषभानु के सुता के हैं।

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन? तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
तट कीजै वर कूल कालिंदी-कगर को ॥
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
रखिए न आन फेर हठी के झगर को।
गोपी पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को ॥

(२२) **गुमान मिश्र**—ये महोवे के रहनेवाले गोपालमणि के पुत्र थे। इनके तीन भाई और थे। दीपसाहि, सुमान और अमान। गुमान ने पिहानी के राजा अकबरअली खाँ के आश्रय में संवत् १८०० में श्रीहर्षकृत नैषध काव्य का पद्यानुवाद नाना छंदों मे किया। यही ग्रंथ इनका प्रसिद्ध है और प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त खोज मे इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—कृष्ण-चंद्रिका और छंदाटवी (पिंगल)। कृष्णचंद्रिका का निर्माणकाल संवत् १८३८ है। अतः इनका कविताकाल संवत् १८०० से संवत् १८४० तक माना जा सकता है। इन तीन ग्रंथो के अतिरिक्त रस, नायिकाभेद, अलंकार आदि कई और ग्रंथ सुने जाते है।

यहाँ केवल इनके नैषध के संबंध मे ही कुछ कहा जा सकता है। इस ग्रंथ में इन्होने बहुत से छंदों का प्रयोग किया है और बहुत जल्दी जल्दी छंद बदले हैं। इंद्रवज्रा, वंशस्थ, मंदाक्राता, शार्दूलविक्रीड़ित आदि कठिन वर्णवृत्तों से

लेकर दोहा चौपाई तक मौजूद हैं। ग्रंथारंभ मे अकबरअली खाँ की प्रशंसा मे जो बहुत से कवित्त इन्होंने कहे हैं, उनसे इनकी चमत्कार-प्रियता स्पष्ट प्रकट होती है। उनमें परिसंख्या अलंकार की भरमार है। गुमानजी अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कला-कुशल थे, इसमें कोई संदेह नही। भाषा पर भी इनका अधिकार था। जिन श्लोको के भाव जटिल नहीं है उनका अनुवाद बहुत ही सरस और सुदर है। वह स्वतंत्र रचना के रूप में प्रतीत होता है पर जहाँ कुछ जटिलता है वहाँ की वाक्यावली उलझी हुई और अर्थ अस्पष्ट है। बिना मूल श्लोक सामने आए ऐसे स्थलो का स्पष्ट अर्थ निकालना कठिन ही है। अतः सारी पुस्तक के संबंध मे यही कहना चाहिए कि अनुवाद मे वैसी सफलता नहीं हुई है। संस्कृत के भावों के सम्यक् अवतरण मे यह असफलता गुमान ही के सिर नहीं मढ़ी जा सकती। रीतिकाल के जिन जिन कवियों ने संस्कृत से अनुवाद करने का प्रयत्न किया है उनमें से बहुत से असफल हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस काल मे जिस मधुर रूप मे व्रजभाषा का विकास हुआ वह सरल रस-व्यंजना के तो बहुत ही अनुकूल हुआ पर जटिल भावो और विचारों के प्रकाशन मे वैसा समर्थ नहीं हुआ। कुलपति मिश्र ने अपने "रसरहस्य" मे काव्यप्रकाश का जो अनुवाद किया है उसमे भी जगह जगह इसी प्रकार की अस्पष्टता है।

गुमानजी उत्तम श्रेणी के कवि थे, इसमे संदेह नहीं। जहाँ वे जटिल भाव भरने की उलझन में नहीं पड़े हैं वहाँ की रचना अत्यंत मनोहारिणी हुई है। कुछ पद्य उद्धृत किए जाते है—

दुर्जन की हानि, बिरधापनोई करै पीर,
गुन लोप होत एक मोतिन के हार ही।
टूटै मनिमालै, निरगुन गायताल लिखै,
पोथिन ही अंक, मन कलह विचार ही॥
संकर बरन पसु पच्छिन में पाइयत,
अलक ही पारें अंससंग निराधार ही।
चिर चिर राजौ राज अली अकबर सुरराज,
के समाज जाके राज पर वारही॥

दिग्गज दबत दबकत, दिगपाल भूरि,
धूरि की धुँधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को, माल बाल अबला को अरि,
तजत परान राह चाहत परान की॥
सैयद समर्थ भूप अली अकबर-दल
चलत बजाय मारू दुंदुभी धुकान की।
फिरि फिरि फननि फनीस उलटतु ऐसे,
चोली खोलि ढोली ज्यों तमोली पाके पान की॥

न्हाती वहाँ सुनयना नित बावली में,
छूटे उरोजतल कुंकुम नीर ही में।
श्रीखंड चित्र दृग-अंजन संग साजै,
मानौ त्रिबेनि नित ही घर ही बिराजै॥

हाटक-हंस चल्यो उड़िकै नभ में, दुगनी तन-ज्योति भई।
लीक सी खैंचि गयो छन में, छहराय रही छबि सोनमई॥
नैनन सों निरख्यो न बनायके, कै उपमा मन माहिं लई।
स्यामल चीर मनौ पसरयो, तेहि पै कल कंचन बेलि नई॥

(२३) **सरजूराम पंडित**—इन्होंने "जैमिनि पुराण भाषा" नामक एक कथात्मक ग्रंथ संवत् १८०५ में बनाकर तैयार किया। इन्होंने अपना कुछ भी परिचय अपने ग्रंथ में नहीं दिया है। जैमिनि पुराण दोहों चौपाइयों में तथा और कई छंदों में लिखा गया है और ३६ अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसमें बहुत सी कथाएँ आई हैं; जैसे युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, संक्षिप्त रामायण, सीतात्याग, लवकुश-युद्ध, मयूरध्वज, चंद्रहास आदि राजाओं की कथाएँ। चौपाइयों का ढंग "रामचरितमानस" का सा है। कविता इनकी अच्छी हुई है। उसमे गाभीर्य है। नमूने के लिए कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

गुरुपद-पंकज पावन रेनू। कहा कलपतरु, का सुरधेनू॥
गुरुपद-रज अज हरिहर धामा। त्रिभुवन-विभव, विस्व बिश्रामा॥
तब लगि जग जड़ जीव भुलाना। परम तत्त्व गुरु जिय नहिं जाना॥
श्रीगुरु-पंकज पाँव पसाऊ। स्रवत सुधामय तीरथराऊ।
सुमिरत होत हृदय असनाना। मिटत मोहमय मन-मल नाना॥

(२४) **भगवंतराय खीची**—ये असोथर (जिला फतहपुर) के एक बड़े गुणग्राही राजा थे जिनके यहाँ बराबर अच्छे कवियों का सत्कार होता रहता था। शिवसिंह सरोज में लिखा है कि इन्होंने सातों कांड रामायण बड़े सुंदर कवित्तों मे बनाई है। यह रामायण तो इनकी नहीं मिलती पर हनुमानजी की प्रशंसा के ५० कवित्त इनके अवश्य पाए गए है जो संभव है रामायण के ही अंश हों। खोज मे जो इनकी "हनुमत् पचीसी" मिली है उसमें निर्माणकाल १८१७ दिया है। इनकी कविता बड़ी ही उत्साहपूर्ण और ओजस्विनी है। एक कवित्त देखिए—

विदित विसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की।
जाही सों चपेटि कै गिराए गिरि गढ, जासों
कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सों मार की॥
भनै भगवंत जासो लागि भेंटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
ओड़े ब्रह्मअस्त्र की अवाती महाताती, बंदौं
युद्ध-मद-माती छाती पवन-कुमार की॥

(२५) **सूदन**—ये मथुरा के रहनेवाले माथुर चौबे थे। इनके पिता का नाम बसंत था। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। उन्हीं के पराक्रमपूर्ण चरित्र का वर्णन इन्होने "सुजानचरित्र" नामक प्रबंधकाव्य में किया है। मोगल-साम्राज्य के गिरे दिनों में भरतपुर के जाट राजाओं का कितना प्रभाव बढ़ा था यह इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्होने शाही महलो और खजानों को कई बार लूटा था। पानीपत की अंतिम

लड़ाई के संबंध में इतिहासज्ञों की यह धारणा है कि यदि पेशवा की सेना का संचालन भरतपुर के अनुभवी महाराज के कथनानुसार हुआ होता और वे रूठकर न लौट आए होते तो मरहठों की हार कभी न होती। इतने ही से भरतपुरवालों के आतंक और प्रभाव का अनुमान हो सकता है। अतः सूदन को एक सच्चा वीर चरित्रनायक मिल गया।

'सुजानचरित्र' बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसमें संवत् १८०२ से लेकर १८१० तक की घटनाओ का वर्णन है। अतः इसकी समाप्ति १८१० के दस पंद्रह वर्ष पीछे मानी जा सकती है। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८२० के आसपास माना जा सकता है। सूरजमल की वीरता की जो घटनाएँ कवि ने वर्णित की हैं वे कपोलकल्पित नहीं, ऐतिहासिक हैं। जैसे, अहमदशाह बादशाह के सेनापति असदखाँ के फतहअली पर चढ़ाई करने पर सूरजमल का फतहअली के पक्ष में होकर असदखाँ का ससैन्य नाश करना, मेवाड़, माँडौगढ़ आदि जीतना, संवत् १८०४ में जयपुर की ओर होकर मरहठो को हटाना, संवत् १८०५ में बादशाही सेनापति सलाबतखाँ बख्शी को परास्त करना, संवत् १८०६ में शाही वजीर सफदरजग मंसूर की सेना से मिलकर बंगश पठानों पर चढ़ाई करना, बादशाह से लड़कर दिल्ली लूटना इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों के विचार से 'सुजानचरित्र' का ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत कुछ है।

इस काव्य की रचना के संबंध में सबसे पहली बात जिस पर ध्यान जाता है वह वर्णनो का अत्यधिक विस्तार और प्रचुरता है। वस्तुओं की गिनती गिनाने की प्रणाली का इस कवि ने बहुत अधिक अवलंबन किया है, जिससे पाठकों को बहुत से स्थलो पर अरुचि हो जाती है। कही घोड़ों की जातियो के नाम ही नाम गिनाते चले गए हैं, कहीं अस्त्रों और वस्त्रो की सूची की भरमार है, कहीं भिन्न भिन्न देशवासियों और जातियों की फिहरिस्त चल रही है। इस कवि को साहित्यिक मर्यादा का ध्यान बहुत ही कम था। भिन्न भिन्न भाषाओं और बोलियो को लेकर कहीं कहीं इन्होंने पूरा खेलवाड़ किया है। ऐसे चरित्र को लेकर जो गाभीर्य कवि में होना चाहिए वह इनमें नहीं पाया जाता। पद्य में व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम भरने की निपुणता इस कवि की एक विशेषता

समझिए। ग्रंथारंभ में ही १७५ कवियों के नाम गिनाए गए हैं। सूदन में युद्ध, उत्साहपूर्ण भाषण, चित्त की उमंग आदि वर्णन करने की पूरी प्रतिभा थी पर उक्त त्रुटियों के कारण उनके ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व बहुत कुछ घटा हुआ है। प्रगल्भता और प्रचुरता का प्रदर्शन सीमा का अतिक्रमण कर जाने के कारण जगह जगह खटकता है। भाषा के साथ भी सूदनजी ने पूरी मनमानी की है। पंजाबी, खड़ी बोली, सब का पुट मिलता है। न जाने कितने गढ़ंत के और तोड़े मरोड़े शब्द लाए गए हैं। जो स्थल इन सब दोषों से मुक्त हैं वे अवश्य मनोहर हैं पर अधिकतर शब्दों की तड़ातड़ भड़ाभड़ से जी ऊबने लगता है। यह वीर रसात्मक ग्रंथ है और इसमे भिन्न भिन्न युद्धों का ही वर्णन है इससे अध्यायो का नाम जंग रखा गया है। सात जंगों मे ग्रथ समाप्त हुआ है। छंद बहुत से प्रयुक्त हुए हैं। कुछ पद्य नीचे उद्‌धृत किए जाते हैं—

बखत बिलंद तेरी दुंदुभी धुकारन सों,
दुंद दबि जात देस देस सुख जाही के।
दिन दिन दूनो महिमंडल प्रताप होत,
सूदन दुनी में ऐसे बखत न काही के॥
उद्धत सुजान-सुत बुद्धि बलवान सुनि,
दिल्ली के दरनि बाजैं आवज उछाही के।
जाही के भरोसे अब तखत उमाही करैं,
पाही से खरे हैं जो सिपाही पातसाही के॥

———

दुहुँ ओर बंदूक जहँ चलत बेचूक,
रव होत धुकधूक, किलकार कहुँ कूक।
कहुँ धनुष-टंकार जिहि बान झंकार,
भट देत हुँकार संकार मुँह सूक॥
कहुँ देखि दपटंत, गज बाजि झपटंत,
अरिब्यूह लपटंत, रपटंत कहुँ चूक।

समसेर सटकंत, सर सेल फटकंत,
कहुँ जात हटकंत, लटकंत लगि झूक ॥

दब्बत लुत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से।
चब्बत लोह, अचब्बत सोनित गब्बत से।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही।
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तंग गही।
कुट्टित घुट्टित, काय बिछुट्टित प्रान सही।
छुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही ॥

धड़धद्धरं धडधद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं।
तड़तत्तरं तड़तत्तरं कड़कक्करं कड़कक्करं ॥
घड़घग्घरं घड़घग्घरं झड़झज्झरं झड़झज्झरं।
अररर्रं अररर्रं सररर्रं सररर्रं ॥

सोनित अरघ ढारि, लुत्थ जुत्थ पाँवड़े दै,
दारूधूम धूपदीप, रंजक की ज्वालिका।
चरबी को चंदन, पुहुप पल-टूकनु के,
अच्छत अखंड गोला गोलिन की चालिका ॥
नैवेद्य नीको साहि सहित दिली को दल,
कामना विचारी मनसूर-पन-पालिका ॥
कोटरा के निकट विकट जंग जोरि सूजा,
भली विधि पूजा कै प्रसन्न कीन्ही कालिका ॥

इसी गल्ल धरि कन्न में बकसी मुसक्याना।
हमनूँ बूझत हौं तुसी 'क्यों किया पयाना' ॥
'असी आवने भेदनू तूने कहिं जाना।
साह अहम्मद ने मुझे अपना करि माना' ॥

डोलतीं ड़रानी खतरानी बतरानी बेबे,
कुड़िए न बेखी अणी मी गुरून पावाँ हाँ।
कित्थे जला पेऊँ, कित्थे उज्जले भिड़ाऊँ असी,
तुसी को लै गीवा असीं जिंदगी बचावा हाँ॥
भट्टरा साहि हुआ चंदला वज़ीर बेखो,
एहा हाल कीता, वाह गुरूनूँ मनावा हाँ।
जावाँ कित्थे जावाँ अम्मा बाबे केही पावाँजली,
एहि गल्ल अक्खैं लक्खौं लक्खौं गल्ली जावाँ हाँ॥

(२६) **हरनारायण**—इन्होंने 'माधवानल कामकंदला' और 'बैताल पचीसी' नामक दो कथात्मक काव्य लिखे हैं। 'माधवानल कामकंदला' का रचना-काल सं० १८१२ है। इनकी कविता अनुप्रास आदि से अलंकृत है। एक कवित्त दिया जाता है—

सोहै मुंड चंद सों, त्रिपुंड सों विराजै भाल,
तुंड राजै रदन उदंड के मिलन तें।
पाप-रूप-पानिप बिघन-जल-जीवन के,
कुंड सोखि सुजन बचावै अखिलन तें॥
ऐसे गिरिनंदिनी के नंदन को ध्यान ही में,
कीबे छोड़ि सकल अपानहि दिलन तें।
भुगुति मुकुति ताके तुंड तें निकसि तापै
कुंड बाँधि कढ़ती भुसुंड के बिलन तें॥

(२७) **ब्रजवासीदास**—ये वृंदावन के रहनेवाले और वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने संवत् १८२७ में 'ब्रजविलास' नामक प्रबंधकाव्य तुलसीदासजी के अनुकरण पर दोहो चौपाइयों मे बनाया। इसके अतिरिक्त इन्होने 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक का अनुवाद भी विविध छंदों में किया है। पर इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रजविलास' ही है जिसका प्रचार साधारण श्रेणी के पाठको में है। इस ग्रंथ में कथा भी सूरसागर के क्रम से ली गई है और बहुत से स्थलो

पर सूर के शब्द और भाव भी चौपाइयो मे करके रख दिए गए हैं। इस बात को ग्रंथकार ने स्वीकार भी किया है—

यामें कछुक बुद्धि नहिं मेरी। उक्ति युक्ति सब सूरहि केरी॥

इन्होंने तुलसी का छंदःक्रम ही लिया है, भाषा शुद्ध व्रजभाषा ही है। उसमें कहीं अवधी या बैसवाड़ी का नाम तक नहीं है। जिनको भाषा की पहचान तक नहीं, जो वीर-रस वर्णन-परिपाटी के अनुसार किसी पद्य मे वर्णों का द्वित्व देख उसे प्राकृत भाषा कहते है, वे चाहे जो कहें। व्रजविलास में कृष्ण की भिन्न भिन्न लीलाओ का जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक का वर्णन किया गया है। भाषा सीधी सादी, सुव्यवस्थित और चलती हुई है। व्यर्थ शब्दों की भरती न होने से उसमे सफाई है। यह सब होने पर भी इसमे वह बात नहीं है जिसके बल से गोस्वामीजी के रामचरितमानस का इतना देशव्यापी प्रचार हुआ। जीवन की परिस्थितियों की वह अनेकरूपता, गंभीरता और मर्मस्पर्शिता इसमे कहाँ जो रामचरित और तुलसी की वाणी में है? इसमें तो अधिकतर क्रीड़ामय जीवन का ही चित्रण है। फिर भी साधारण श्रेणी के कृष्णभक्त पाठको मे इसका प्रचार है। आगे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

कहति जसोदा कौन विधि, समझाऊँ अब कान्ह।
भूलि दिखायो चंद मैं, ताहि कहत हरि खान॥
यहै देत नित माखन मोकों। छिन छिन देति तात सो तोकों॥
जो तुम स्याम चंद कौ खैहौ। बहुरो फिर माखन कहँ पैहौ?
देखत रहौ खिलौना चंदा। हठ नहिं कीजै बालगोविंदा॥
पा लागौं हठ अधिक न कीजै। मैं बलि, रिसहि रिसहि तन छीजै॥
जसुमति कहति कहा धौं कीजै। माँगत चंद कहाँ तें दीजै॥
तब जसुमति इक जलपुट लीनो। कर मैं लै तेहि ऊँचो कीनो॥
ऐसे कहि स्यामै बहरावै। आव चंद! तोहि लाल बुलावै॥
हाथ लिए तेहि खेलत रहिए। नैकु नहीं धरनी पै धरिए॥

(२८) **गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव**—इन तीनों महानुभावों ने मिलकर हिंदी-साहित्य में बड़ा भारी काम किया है। इन्होंने समग्र महाभारत

और हरिवंश (जो महाभारत का ही परिशिष्ट माना जाता है) का अनुवाद अत्यंत मनोहर विविध छंदो मे पूर्ण कवित्व के साथ किया है। कथा प्रबंध का इतना बड़ा काव्य हिंदी-साहित्य में दूसरा नहीं बना। यह लगभग दो हजार पृष्ठों मे समाप्त हुआ है। इतना बड़ा ग्रंथ होने पर भी न तो इसमे कहीं शिथिलता आई है और न रोचकता और काव्यगुण मे कमी हुई है। छंदो का विधान इन्होंने ठीक उसी रीति से किया है जिस रीति से इतने बड़े ग्रंथ मे होना चाहिए। जो छंद उठाया है उसका कुछ दूर तक निर्वाह किया है। केशवदास की तरह छंदों का तमाशा नही दिखाया है। छंदो का चुनाव भी बहुत उत्तम हुआ है। रूपमाला, घनाक्षरी, सवैया आदि मधुर छंद अधिक रखे गए हैं; बीच बीच में दोहे और चौपाइयाँ भी हैं। भाषा प्रांजल और सुव्यवस्थित है। अनुप्रास आदि का अधिक आग्रह न होने पर भी आवश्यक विधान है। रचना सब प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है और लेखकों की काव्यकुशलता का परिचय देती है। इस ग्रंथ के बनने मे भी ५० वर्ष के ऊपर लगे हैं। अनुमानतः इसका आरंभ संवत् १८३० मे हो चुका था और यह संवत् १८८४ मे जाकर समाप्त हुआ है। इसकी रचना काशीनेश महाराज उदितनारायणसिंह की आज्ञा से हुई जिन्होंने इसके लिये लाखों रुपए व्यय किए। इस बड़े भारी साहित्यिक यज्ञ के अनुष्ठान के लिये हिंदी-प्रेमी उक्त महाराज के सदा कृतज्ञ रहेंगे।

गोकुलनाथ और गोपीनाथ प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बंदीजन के पुत्र और पौत्र थे। मणिदेव बंदीजन भरतपुर राज्य के जहानपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे और अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से रुष्ट होकर काशी चले आए थे। काशी मे वे गोकुलनाथजी के यहाँ ही रहते थे। और स्थानो पर भी उनका बहुत मान हुआ था। जीवन के अंतिम दिनों मे वे कभी कभी विक्षिप्त भी हो जाया करते थे। उनका परलोकवास संवत् १९२० मे हुआ।

गोकुलनाथ ने इस महाभारत के अतिरिक्त निम्नलिखित और भी ग्रंथ लिखे हैं—

चेतचंद्रिका, गोविंद सुखदविहार, राधाकृष्ण-विलास (सं० १८५८), राधा-

नखशिख, नामरत्नमाला (कोश) (सं० १८७०), सीताराम-गुणार्णव, अमर-कोष भाषा (सं० १८७०), कविमुखमंडन ।

चेतचंद्रिका अलंकार का ग्रंथ है जिसमें काशिराज की वंशावली भी दी हुई है। 'राधाकृष्ण-विलास' रस संबंधी ग्रंथ है और 'जगतविनोद' के बराबर है। 'सीताराम गुणार्णव' अध्यात्मरामायण का अनुवाद है जिसमे पूरी रामकथा वर्णित है। 'कविमुखमंडन' भी अलंकार संबधी ग्रंथ है। गोकुलनाथ का कविता-काल सवत् १८४० से १८७० तक माना जा सकता है। ग्रथो की सूची से ही स्पष्ट है कि ये कितने निपुण कवि थे। रीति और प्रबध दोनो ओर इन्होने प्रचुर रचना की है। इतने अधिक परिमाण मे और इतने प्रकार की रचना वही कर सकता है जो पूर्ण साहित्यमर्मज्ञ, काव्यकला मे सिद्धहस्त और भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाला हो। अतः महाभारत के तीनो अनुवादको मे तो ये श्रेष्ठ है ही, साहित्य-क्षेत्र में भी ये बहुत ही ऊँचे पद के अधिकारी हैं। रीतिग्रंथ-रचना और प्रबंध-रचना दोनो में समान रूप से कुशल और कोई दूसरा कवि रीति-काल के भीतर नही पाया जाता।

महाभारत के जिस जिस अंश का अनुवाद जिसने जिसने किया है उस उस अंश मे उसका नाम दिया हुआ है। नीचे तीनों कवियों की रचना के कुछ उदाहरण दिए जाते है।

गोकुलनाथ—

सखिन के श्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हू पै पुनि लाज के कथान की।
गोकुल अरुन चरनांबुज पै गुंजपुंज
धुनि सी चढति चंचरीक चरचान की॥
पीतम के श्रवन समीप ही जुगुति होति
मैन-तंत्र-मंत्र के वरन गुनगान की।
सौतिन के कानन में हलाहल ह्वै हलति,
एरी सुखदानि! तौ बजनि बिछुवान की॥
(राधाकृष्णविलास)

दुर्ग अतिही महत् रक्षित भटन सों चहुँ ओर।
ताहि घेरयो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह।
परी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध-उछाह॥

लहि सुदेष्णा की सुआज्ञा नीच कीचक जौन।
जाय सिंहिनि पास जंबुक तथा कीनो गौन।
लग्यो कृष्णा सों कहन या भाँति सस्मित बैन।
यहाँ आई कहाँ तें? तुम कौन हौ छवि-ऐन?

नहीं तुम सी लखी भू पर भरी-सुषमा बाम।
देवि, जच्छिनि, किन्नरी, कै श्री, सची अभिराम॥
कांति सों अति भरो तुम्हरो लखत बदन अनूप।
करैगो नहिं स्वबस काको महा मन्मथ भूप॥

(महाभारत)

गोपीनाथ—

सर्वदिसि में फिरत भीषम को सुरथ मन-मान।
लखे सब कोउ तहाँ भूप अलातचक्र समान॥
सर्व थर सब रथिन सों तेहिं समय नृप सब ओर।
एक भीषम सहस सम रन जुरो हो तहँ जोर॥

मणिदेव—

बचन यह सुनि कहत भो चक्रांग हंस उदार।
उड़ौगे मम संग किमि तुम कहहु सो उपचार।
खाय जूठो पुष्ट, गर्वित काग सुनि ये बैन।
कह्यो जानत उड़न की शत रीति बलऐन॥

(२६) **बोधा**—ये राजापुर (जि० बाँदा) के रहनेवाले सरयूपारी ब्राह्मण थे। पन्ना दरबार में इनके संबंधियों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। उसी संबंध से ये बाल्यकाल ही मे पन्ना चले गए। इनका नाम बुद्धिसेन था, पर महाराज इन्हे प्यार से 'बोधा' कहने लगे और वही नाम इनका प्रसिद्ध हो गया। भाषा-काव्य के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत और फारसी का भी अच्छा बोध था। शिवसिंह-सरोज में इनका जन्म संवत् १८०४ दिया हुआ है। इनका कविता-काल संवत् १८३० से १८६० तक माना जा सकता है।

बोधा एक बडे रसिक जीव थे। कहते हैं कि पन्ना दरबार मे सुभान (सुबहान) नाम की एक वेश्या थी जिस पर इनका प्रेम हो गया। इस पर रुष्ट होकर महाराज ने इन्हे ६ महीने देश-निकाले का दंड दिया। सुभान के वियोग मे ६ महीने इन्होंने बड़े कष्ट से बिताए और उसी बीच मे "विरह-वारीश" नामक एक पुस्तक लिखकर तैयार की। ६ महीने पीछे जब ये फिर दरबार मे लौटकर आए तब अपने "विरह-वारीश" के कुछ कवित्त सुनाए। महाराज ने प्रसन्न होकर इनसे कुछ माँगने को कहा। इन्होने कहा "सुभान अल्लाह"। महाराज ने प्रसन्न होकर सुभान को इन्हें दे दिया और इनकी मुराद पूरी हुई।

"विरह-वारीश" के अतिरिक्त "इश्कनामा" भी इनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इनके बहुत से फुटकल कवित्त, सवैये इधर उधर पाए जाते है। बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे, इससे इन्होंने कोई रीतिग्रंथ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यो की ही रचना की है। ये अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होने बहुत से पद्य कहे है। 'प्रेम की पोर' की व्यंजना भी इन्होने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है। यत्र तत्र व्याकरण-दोष रहने पर भी भाषा इनकी चलती और महावरेदार होती थी। उससे प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है। इनके स्वभाव मे फक्कडपन भी कम नहीं था। 'नेजे', 'कटारी' और 'कुरबान' वाली बाजारी ढंग की रचना भी इन्होने कहीं कहीं की है। जो कुछ हो, ये भावुक और रसज्ञ कवि थे, इसमे कोई संदेह नहीं। कुछ पद्य इनके नीचे दिए जाते है—

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है ॥

कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पैं धावनो है॥

एक सुभान के आनन पै क़ुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटिए लखि कै मुसकाहट ताको॥
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तौ जहान मिलै, नहिं जान मिलै तौ जहान कहाँ को॥

'कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो' यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर तें कढ़ि आवै, गरे तें फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करै॥
कवि बोधा न चाँड़ सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै॥

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत,
हित को न जानै ताको हितू न बिसाहिए।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै,
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिए॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति अहै,
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिए।
दाता कहा, सूर कहा, सुंदर सुजान कहा,
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए॥

(३०) रामचंद्र—इन्होंने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। भाषा महिम्न के कर्त्ता काशीवासी मनियारसिंह ने अपने को "चाकर अखंडित श्रीरामचंद्र पंडित के" लिखा है। मनियारसिंह ने अपना "भाषा महिम्न" संवत् १८४१ मे लिखा। अतः इनका समय संवत् १८४० माना जा सकता है। इनकी एक ही पुस्तक "चरणचंद्रिका" ज्ञात है जिस पर इनका सारा यश स्थिर है। यह भक्ति-रसात्मक ग्रंथ केवल ६२ कवित्तो का है। इसमे

पार्वतीजी के चरणों का वर्णन अत्यंत रुचिर और अनूठे ढंग से किया गया है। इस वर्णन से अलौकिक सुषमा, विभूति, शक्ति और शांति फूटी पड़ती है। उपास्य के एक अंग में अनत ऐश्वर्य की भावना भक्ति की चरम भावुकता के भीतर ही सभव है। भाषा लाक्षणिक और पांडित्यपूर्ण है। कुछ और अधिक न कहकर इनके दो कवित्त ही सामने रख देना ठीक है।

नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
मीन होत जानि चरनामृत-झरनि को।
खंजन से नचैं देखि सुषमा सरद की सी,
सचैं मधुकर से पराग केसरनि को॥
रीझि रीझि तेरी पदछबि पै तिलोचन के,
लोचन ये, अंब धारैं केतिक धरनि को।
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख,
पंकज से खिलैं लखि तरवा-तरनि को॥

मानिए करींद्र जो हरींद्र को सरोप हर,
मानिए तिमिर घेरै भानु किरनन को।
मानिए चटक बाज जुर्रा को पटकि मारै,
मानिए झटकि डारै भेक भुजगन को॥
मानिए कहै जो वारिधार पै दवारि औ
अंगार बरसाइबो बतावै वारिदन को।
मानिए अनेक विपरीत की प्रतीत, पै न
भीति आई मानिए भवानी-सेवकन को॥

(३१) मंचित—ये मऊ (बुंदेलखड) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३६ में वर्त्तमान थे। इन्होने कृष्ण-चरित संबधी दो पुस्तकें लिखी हैं—सुरभी-दानलीला और कृष्णायन। सुरभी-दानलीला मे बाललीला, यमलार्जुन-पतन और दानलीला का विस्तृत वर्णन सार छंद मे किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण का नखशिख भी बहुत अच्छा कहा गया है। कृष्णायन

तुलसीदासजी की रामायण के अनुकरण पर दोहो चौपाइयो मे लिखी गई है। इन्होने गोस्वामीजी की पदावली तक का अनुकरण किया है। स्थान-स्थान पर भाषा अनुप्रासयुक्त और संस्कृत-गर्भित है, इससे ब्रजवासीदास की चौपाइयो की अपेक्षा इनकी चौपाइयाँ गोस्वामीजी की चौपाइयो से कुछ अधिक मेल खाती है। पर यह मेल केवल कही कहीं दिखाई पड़ जाता है। भाषा-मर्मज्ञ को दोनो का भेद बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है। इनकी भाषा ब्रज है, अवधी नहीं। इसमे वह सफाई और व्यवस्था कहाँ? कृष्णायन की अपेक्षा इनकी सुरभी-दानलीला की रचना अधिक सरस हैं। दोनो से कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

कुंडल लोल अमोल कान के छुवत कपोलन आवैं।
डुलैं आप से खुलैं जोरि छबि बरबस मनहिं चुरावैं॥
खौर बिसाल भाल पर सोभित केसर की चित भावैं।
ताके बीच बिंदु रोरी को, ऐसो बेस बनावैं॥
भ्रुकुटी बंक नैन खंजन से कंजन गंजनवारे।
मद भंजन खग-मीन सदा जे मनरंजन अनियारे॥

(सुरभी-दानलीला से)

अचरज अमित भयो लखि सरिता। दुतिय न उपमा कहि सम-चरिता॥
कृष्णदेव कहँ प्रिय जमुना सी। जिमि गोकुल गोलोक-प्रकासी॥
अति विस्तार पार, पय पावन। उभय करार घाट मनभावन॥
बनचर बनज बिपुल बहु पच्छी। अलि-अवली-धुनि सुनि अति अच्छी॥
नाना जिनिस जीव सरि सेवैं। हिंसाहीन असन सुचि जेवैं॥

(कृष्णायन)

(३२) **मधुसूदनदास**—ये माथुर चौबे थे। इन्होंने गोविंददास नामक किसी व्यक्ति के अनुरोध से सवत् १८३९ मे "रामाश्वमेध" नामक एक बड़ा और मनोहर प्रबंधकाव्य बनाया जो सब प्रकार से गोस्वामीजी के रामचरित-मानस का परिशिष्ट ग्रथ होने के योग्य है। इसमे श्रीरामचंद्र द्वारा अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान, घोड़े के साथ गई हुई सेना के साथ सुबाहु, दमन, विद्युन्माली

राक्षस, वीरमणि, शिव, सुरथ आदि का घोर युद्ध ; अंत में राम के पुत्र लव और कुश के साथ भयंकर संग्राम, श्रीरामचंद्र द्वारा युद्ध का निवारण और पुत्रों सहित सीता का अयोध्या में आनयन ; इन सब प्रसंगो का पद्मपुराण के आधार पर बहुत ही विस्तृत और रोचक वर्णन है । ग्रंथ की रचना बिलकुल रामचरितमानस की शैली पर हुई है । प्रधानता दोहो के साथ चौपाइयो की है, पर बीच बीच मे गीतिका आदि और छंद भी हैं । पद-विन्यास और भाषा-सौष्ठव रामचरितमानस का सा ही है । प्रत्यय और रूप भी बहुत कुछ अवधी के रखे गए हैं । गोस्वामीजी की प्रणाली के अनुसरण में मधुसूदनदासजी को पूरी सफलता हुई है । इनकी प्रबंधकुशलता, कवित्व-शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की हैं । इनकी चौपाइयाँ अलबत्तः गोस्वामीजी की चौपाइयो मे बेखटके मिलाई जा सकती हैं । सूक्ष्म दृष्टि वाले भाषा-मर्मज्ञो को केवल थोडे ही ऐसे स्थलों मे भेद लक्षित हो सकता है जहाँ बोलचाल की छाया होने के कारण भाषा का असली रूप अधिक स्फुटित है । ऐसे स्थलो पर गोस्वामीजी के अवधी के रूप और प्रत्यय न देखकर भेद का अनुभव हो सकता है । पर जैसा कहा जा चुका है, पद-विन्यास की प्रौढ़ता और भाषा का सौष्ठव गोस्वामीजी के मेल का है ।

सिय-रघुपति-पदकंज पुनीता । प्रथमहिं वंदन करौं सप्रीता ॥
मृदु मंजुल सुंदर सब भाँती । ससि-कर-सरिस सुभग नख-पाँती ॥
प्रणत कलपतरु तर सब ओरा । दहन अज्ञ तम जन-चितचोरा ॥
त्रिविध कलुष कुंजर घनघोरा । जगप्रसिद्ध केहरि बरजोरा ॥
चिंतामणि पारस सुरधेनू । अधिक कोटि गुन अभिमत देनू ॥
जन-मन-मानस रसिक मराला । सुमिरत भंजन विपति विसाला ॥

निरखि कालजित कोपि अपारा । विदित होय करि गदा प्रहारा ॥
महावेगयुत आवै सोई । अष्टधातुमय जाय न जोई ॥
अयुत भार भरि भार प्रमाना । देखिय जमपति-दंड समाना ॥
देखि ताहि लव हनि इषु चंडा । कीन्ही तुरत गदा त्रय खंडा ॥
जिमि नभ माँह मेघ-समुदाई । बरपहिं वारि महा झरि लाई ॥

तिमि प्रचंड सायक जनु व्याला। हने कीस-तन लव तेहि काला ॥
भए विकल अति पवनकुमारा। लगे करन तब हृदय विचारा ॥

(३३) **मनियारसिंह**—ये काशी के रहनेवाले क्षत्रिय थे। इन्होंने देव-पक्ष में ही कविता की है और अच्छी की है। इनके निम्नलिखित ग्रंथों का पता है—

महिम्न भाषा, सौंदर्य लहरी (पार्वती या देवी की स्तुति), हनुमत छबीसी, सुंदरकांड। भाषा महिम्न इन्होंने संवत् १८४१ में लिखा। इनकी भाषा सानुप्रास शिष्ट और परिमार्जित है और उसमें ओज भी पूरा है। ये अच्छे कवि हो गए हैं। रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

मेरो चित्त कहाँ दीनता में अति दूबरो है,
अधरम-धूमरो न सुधि के सँभारे पै।
कहाँ तेरी ऋद्धि कवि बुद्ध-धारा-ध्वनि तें,
त्रिगुण तें, परे ह्वै दिखात निरधारे पै ॥
मनियार यातें मति थकित जकित ह्वै कै,
भक्तिबस धरि उर धीरज बिचारे पै।
बिरची कृपाल वाक्यमाल या पुहुपदंत,
पूजन करन काज चरन तिहारे पै ॥

तेरे पद-पंकज-पराग राज-राजेश्वरी !
वेद-बंदनीय बिरुदावलि बढ़ी रहै।
जाकी किनुकाई पाय धाता ने धरित्री रची,
जापै लोक लोकन की रचना कढ़ी रहै ॥
मनियार जाहि विष्णु सेवैं सर्व पोषत में,
सेस हू के सदा सीस सहस मढ़ी रहै।
सोई सुरासुर के सिरोमनि सदाशिव के
भसम के रूप ह्वै सरीर पै चढ़ी रहै ॥

अभय कठोर बानी सुनि लछिमन जू की,
मारिबे को चाहि जो सुधारि खल तरवारि।
वीर हनुमंत तेहि गरजि सुहास करि,
उपटि पकरि ग्रीव भूमि लै परे पछारि॥
पुच्छ तें लपेटि फेरि दंतन दरदराइ,
नखन बकोटि चोंथि देत महि डारि डारि।
उदर विदारि मारि लुत्थन कों टारि बीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फारि फारि॥

(३४) कृष्णदास—ये मिरजापुर के रहनेवाले कोई कृष्णभक्त जान पड़ते हैं। इन्होंने संवत् १८५३ में "माधुर्य्य लहरी" नाम की एक बड़ी पुस्तक ४२० पृष्ठो की बनाई जिसमे विविध छंदों मे कृष्णचरित का वर्णन किया गया है। कविता इनकी साधारणतः अच्छी है। एक कवित्त देखिए—

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार बार कहो नरदेव कहाँ पाइए।
दुर्लभ समाज मिल्यो सकल सिद्धांत जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइए॥
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासों दंपति रिझाइए।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैननहू,
धन्य धन्य राधाकृष्ण नित ही गनाइए॥

(३५) गणेश—ये नरहरि बंदीजन के वंश में लाल कवि के पौत्र और गुलाब कवि के पुत्र थे। ये काशीराज महाराज उदितनारायणसिंह के दरबार मे थे और महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह के समय तक जीवित रहे। इन्होने तीन ग्रंथ लिखे—१—वाल्मीकी रामायण श्लोकार्थ प्रकाश। (बालकांड समग्र और किष्किधा के पाँच अध्याय) २—प्रद्युम्नविजय नाटक। ३—हनुमत् पचीसी।

प्रद्युम्नविजय नाटक समग्र पद्यबद्ध है और अनेक प्रकार के छंदों मे सात

अंकों में समाप्त हुआ है। इसमें दैत्यों के वज्रनाभपुर नामक नगर में प्रद्युम्न के जाने और प्रभावती से गांधर्व विवाह होने की कथा है। यद्यपि इसमें पात्र-प्रवेश, विष्कंभक, प्रवेशक आदि नाटक के अंग रखे गए हैं पर इतिवृत्त का भी वर्णन पद्य में होने के कारण नाटकत्व नहीं आया है। एक उदाहरण दिया जाता है—

ताही के उपरांत कृष्ण इंद्र आवत भए।
भेंटि परस्पर कांत बैठ सभासद मध्य तहँ॥
बोले हरि इन्द्र सों बिनै कै कर जोरि दोऊ,
आजु दिग्विजय हमारे हाथ आयो है।
मेरे गुरु लोग सब तोषित भए हैं आजु,
पूरो तप दान, भाग्य सफल सुहायो है॥
कारज समस्त सरे, मंदिर में आए आप,
देवन के देव मोहि धन्य ठहरायो है।
सो सुनि पुरंदर उपेंद्र लखि आदर सों,
बोले सुनौ बंधु! दानवीर नाम पायो है॥

(३६) **सम्मन**—ये मल्लावाँ (जि० हरदोई) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३४ मे उत्पन्न हुए थे। इनके नीति के दोहे गिरिधर की कुंडलियाँ के समान गावों तक मे प्रसिद्ध हैं। इनके कहने के ढंग मे कुछ मार्मिकता है। "दिनो के फेर" आदि के संबंध मे इनके मर्मस्पर्शी दोहे स्त्रियो के मुँह से बहुत सुने जाते हैं। इन्होने संवत् १८७९ मे "पिंगल काव्य-भूषण" नामक एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। पर ये अधिकतर अपने दोहो के लिये ही प्रसिद्ध हैं। इनका रचनाकाल संवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। कुछ दोहे देखिए—

निकट रहे आदर घटै, दूर रहे दुख होय।
सम्मन या संसार में प्रीति करो जनि कोय॥
सम्मन चहौ सुख देह को तौ छाँड़ौ ये चारि।
चोरी, चुगली, जामिनी और पराई नारि॥

सम्मन मीठी बात सों होत सबै सुख पूर।
जेहि नहिं सीखो बोलिबो, तेहि सीखो सब धूर ॥

(३७) ठाकुर—इस नाम के तीन कवि हो गए हैं जिनमे दो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और एक बुंदेलखंड के कायस्थ। तीनो की कविताएँ ऐसी मिल-जुल गई हैं कि भेद करना कठिन है। हाँ, बुंदेलखडी ठाकुर की वे कविताएँ पहचानी जा सकती हैं जिनमे बुदेलखंडी कहावतें या मुहावरे आए है।

असनीवाले प्राचीन ठाकुर

ये रीतिकाल के आरंभ मे संवत् १७०० के लगभग हुए थे। इनका कुछ वृत्त नहीं मिलता ; केवल फुटकल कविताएँ इधर उधर पाई जाती हैं। संभव है इन्होने रीतिबद्ध रचना न करके अपने मन की उमंग के अनुसार ही समय-समय पर कवित्त सवैये बनाए हो जो चलती और स्वच्छ भाषा मे हैं। इनके ये दो सवैये बहुत सुने जाते है—

सजि सूहे दुकूलन बिज्जुछटा सी अटान चढी घटा जोवति हैं।
सुचिती ह्वै सुनै धुनि मोरन की, रसमाती सँयोग सँजोवति हैं ॥
कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसैं, हम आँसुन सो तन धोवति है।
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवति हैं।

बौरे रसालन की चढि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन कुंजन गुंजत, भौरन भीर चुपैबो चहै ना ॥
सीतल मंद सुगंधित, बीर, समीर लगे तन धीर रहै ना।
ब्याकुल कीन्हो बसंत बनाय कै, जाय कै कंत सों कोऊ कहै ना ॥

असनीवाले दूसरे ठाकुर

ये ऋषिनाथ कवि के पुत्र और सेवक कवि के पितामह थे। सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण ने अपने पूर्वजो का जो वर्णन लिखा है उसके अनुसार ऋषिनाथजी के पूर्वज देवकीनंदन मिश्र गोरखपुर जिले के एक कुलीन सरयूपारी ब्राह्मण—पयासी के मिश्र—थे और अच्छी कविता करते थे। एक बार मँझौली के राजा

के यहाँ विवाह के अवसर पर देवकीनंदनजी ने भाटो की तरह कुछ कवित्त पढ़े और पुरस्कार लिया। इस पर उनके भाई-बंधुओ ने उन्हे जातिच्युत कर दिया और वे असनी के भाट नरहर कवि की कन्या के साथ अपना विवाह करके असनी में जा रहे और भाट हो गए। उन्हीं देवकीनदन के वंश मे ठाकुर के पिता ऋषिनाथ कवि हुए।

ठाकुर ने संवत् १८६१ में "सतसई बरनार्थ" नाम की 'बिहारी' सतसई" की एक टीका (देवकीनदन टीका) बनाई। अतः इनका कविता-काल संवत् १८६० के इधर उधर माना जा सकता है। ये काशिराज के संबधी काशी के नामी रईस (जिनकी हवेली अब तक प्रसिद्ध है) बाबू देवकीनंदन के आश्रित थे। इनका विशेष वृत्तांत स्व० पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपने "बिहारी विहार" की भूमिका मे दिया है। ये ठाकुर भी बड़ी सरस कविता करते थे। इनके पद्यो मे भाव या दृश्य का निर्वाह अबाध रूप मे पाया जाता है। दो उदाहरण लीजिए—

कारे लाल करहे पलासन के पुंज तिन्हैं
अपने झकोरन झुलावन लगी है री।
ताही की ससेटी तृन-पत्रन-लपेटि धरा—
धाम तें अकास धूरि धावन लगी है री॥
ठाकुर कहत सुचि सौरभ प्रकासन मों
आछी भाँति रुचि उपजावन लगी है री।
ताती सीरी बैहर वियोग वा संयोगवारी,
आवनि बसंत की जनावन लगी है री॥

प्रान झुकामुकि भेष छपाय कै गागर लै घर तें निकरी ती।
जानि परी न कितीक अबार है, जाय परी जहँ होरी धरी ती॥
ठाकुर दौरि परे मोहिं देखि कै, भागि बची री, बड़ी सुघरी ती।
बीर की सौं जौ किवार न देऊँ तौ मैं होरिहारन हाथ परी ती॥

तीसरे ठाकुर बुँदेलखंडी

ये जाति के कायस्थ थे और इनका पूरा नाम लाला ठाकुरदास था। इनके पूर्वज काकोरी (जिला लखनऊ) के रहनेवाले थे और इनके पितामह खड्गरायजी बड़े भारी मंसबदार थे। उनके पुत्र गुलाबराय का विवाह बड़ी धूमधाम से ओरछे (बुदेलखंड) के रावराजा (जो महाराज ओरछा के मुसाहब थे) की पुत्री के साथ हुआ था। ये ही गुलाबराय ठाकुर कवि के पिता थे। किसी कारण से गुलाबराय अपनी ससुराल ओरछे मे ही आ बसे जहॉ संवत् १८२३ मे ठाकुर का जन्म हुआ। शिक्षा समाप्त होने पर ठाकुर अच्छे कवि निकले और जैतपुर मे सम्मान पाकर रहने लगे। उस समय जैतपुर के राजा केसरीसिंहजी थे। ठाकुर के कुल के कुछ लोग बिजावर मे भी जा बसे थे। इससे ये कभी कभी वहाँ भी रहा करते थे। बिजावर के राजा ने भी एक गॉव देकर ठाकुर का सम्मान किया। जैतपुर-नरेश राजा केसरीसिंह के उपरांत जब उनके पुत्र राजा पारीछत गद्दी पर बैठे तब ठाकुर उनकी सभा के रत्न हुए। ठाकुर की ख्याति उसी समय से फैलने लगी और वे बुंदेलखंड के दूसरे राज-दरबारो मे भी आने जाने लगे। बॉदे के हिम्मतबहादुर गोसाईं के दरबार में कभी कभी पद्माकरजी के साथ ठाकुर की कुछ नोक-झोंक की बातें हो जाया करती थीं। एक बार पद्माकरजी ने कहा "ठाकुर कविता तो अच्छी करते हैं पर पद कुछ हलके पड़ते हैं।" इस पर ठाकुर बोले "तभी तो हमारी कविता उड़ी उड़ी फिरती है।"

इतिहास मे प्रसिद्ध है कि हिम्मतबहादुर कभी अपनी सेना के साथ अँगरेजो का कार्य्यसाधन करते और कभी लखनऊ के नवाब के पक्ष में लड़ते। एक बार हिम्मतबहादुर ने राजा पारीछत के साथ कुछ धोखा करने के लिये उन्हे बॉदे बुलाया। राजा पारीछत वहॉ जा रहे थे कि मार्ग में ठाकुर कवि मिले और दो ऐसे संकेत-भरे सवैये पढ़े कि राजा पारीछत लौट गए। एक सवैया यह है—

कैसे सुचित्त भए निकसौ बिहँसौ बिलसौ हरि दै गलबाहीं।
ये छल छिद्रन की बतियाँ छलती छिन एक घरी पल माहीं॥

ठाकुर वै जुरि एक भईं, रचिहैं परपंच कछू ब्रज माहीं।
हाल चवाइन की दुहचाल की लाल तुम्हैं है दिखात कि नाहीं॥

कहते हैं कि यह हाल सुनकर हिम्मतबहादुर ने ठाकुर को अपने दरबार मे बुला भेजा। बुलाने का कारण समझकर भी ठाकुर बेधड़क चले गए। जब हिम्मतबहादुर इन पर झल्लाने लगे तब इन्होंने यह कवित्त पढ़ा—

वेई नर निर्णय निदान में सराहे जात,
सुखन अघात प्याला प्रेम को पिए रहैं।
हरि-रस चंदन चढ़ाय अंग अंगन में,
नीति को तिलक, बेंदी जस की दिए रहैं॥
ठाकुर कहत मंजु कंजु तें मृदुल मन,
मोहनी सरूप, धारे हिम्मत हिए रहैं।
भेंट भए समये असमये, अचाहे चाहे,
और लौं निबाहैं, आँखैं एकसी किए रहैं॥

इस पर हिम्मतबहादुर ने जब कुछ और कटु वचन कहे तब सुना जाता है कि ठाकुर ने म्यान से तलवार निकाल ली और बोले—

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के बिसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के॥

हिम्मतबहादुर यह सुनते ही चुप हो गए। फिर मुस्कराते हुए बोले—"कविजी बस! मैं तो यही देखा चाहता था कि आप कोरे कवि ही है या पुरखो की हिंमत भी आप मे है।" इस पर ठाकुरजी ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया—"महाराज! हिम्मत तो हमारे ऊपर सदा अनूप रूप से बलिहार रही है,

आज हिम्मत कैसे गिर जायगी ?" (गोसाईं हिम्मत गिरि का असल नाम अनूप गिरि था ; हिम्मतबहादुर शाही खिताब था।)

ठाकुर कवि का परलोकवास संवत् १८८० के लगभग हुआ। अतः इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जाता है। इनकी कविताओ का एक अच्छा संग्रह "ठाकुर-ठसक" के नाम से श्रीयुत लाला भगवानदीनजी ने निकाला है। पर इसमे भी दूसरे दो ठाकुर की कविताएँ मिली हुई है। इस संग्रह मे विशेषता यह है कि कवि का जीवन-वृत्त भी बहुत कुछ दे दिया गया है। ठाकुर के पुत्र दरियावसिंह (चातुर) और पौत्र शकरप्रसाद भी कवि थे।

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडंबर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावो का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावो को उसी ढंग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा मे उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा मे भाव को ज्यो का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। व्रजभाषा की श्रृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री-पात्रो के ही मुख की वाणी होती हैं अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तियों मे और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात बात मे कहावते कहा करती हैं। उनके हृदय के भावो की भरपूर व्यंजना के लिये ये कहावते मानो एक सचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियो का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतो मे से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ खास बुंदेलखंड की हैं। ठाकुर सच्चे उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे इसी से इनकी कविताएँ, विशेपतः सवैये इतने लोकप्रिय हुए। ऐसा स्वच्छंद कवि किसी क्रम से बद्ध होकर कविता करना भला कहाँ पसंद करता ? जब जिस विषय पर जी मे आया कुछ कहा।

ठाकुर प्रधानतः प्रेमनिरूपक होने पर भी लोकव्यापार के अनेकांगदर्शी कवि थे। इसी से प्रेमभाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता के अतिरिक्त कभी तो ये अखती, फाग, बसंत, होली, हिंडोरा आदि उत्सवो के उल्लास मे मग्न

ठाकुर वै जुरि एक भई, रचिहैं परपंच कछू व्रज माहीं।
हाल चवाइन की दुहचाल की लाल तुम्हैं है दिखात कि नाहीं ॥

कहते हैं कि यह हाल सुनकर हिम्मतबहादुर ने ठाकुर को अपने दरबार में बुला भेजा। बुलाने का कारण समझकर भी ठाकुर बेधड़क चले गए। जब हिम्मतबहादुर इन पर झल्लाने लगे तब इन्होंने यह कवित्त पढ़ा—

वेई नर निर्णय निदान में सराहे जात,
सुखन अघात प्याला प्रेम को पिए रहैं।
हरि-रस चंदन चढ़ाय अंग अंगन में,
नीति को तिलक, बेंदी जस की दिए रहैं ॥
ठाकुर कहत मंजु कंजु तें मृदुल मन,
मोहनी सरूप, धारे हिम्मत हिए रहैं।
भेंट भए समये असमये, अचाहे चाहे,
और लौं निबाहैं, आँखैं एकसी किए रहैं ॥

इस पर हिम्मतबहादुर ने जब कुछ और कटु वचन कहे तब सुना जाता है कि ठाकुर ने म्यान से तलवार निकाल ली और बोले—

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के ॥
ठाकुर कहत हम वैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानियाँ ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के ॥

हिम्मतबहादुर यह सुनते ही चुप हो गए। फिर मुस्कराते हुए बोले—"कविजी बस ! मैं तो यही देखा चाहता था कि आप कोरे कवि ही हैं या पुरखों की हिंम्मत भी आप में है।" इस पर ठाकुरजी ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया—"महाराज ! हिम्मत तो हमारे ऊपर सदा अनूप रूप से बलिहार रही है,

आज हिम्मत कैसे गिर जायगी ?" (गोसाईं हिम्मत गिरि का असल नाम अनूप गिरि था ; हिम्मतबहादुर शाही खिताब था।)

ठाकुर कवि का परलोकवास संवत् १८८० के लगभग हुआ। अतः इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जाता है। इनकी कविताओ का एक अच्छा संग्रह "ठाकुर-ठसक" के नाम से श्रीयुत लाला भगवानदीनजी ने निकाला है। पर इसमे भी दूसरे दो ठाकुर की कविताएँ मिली हुई हैं। इस संग्रह मे विशेषता यह है कि कवि का जीवन-वृत्त भी बहुत कुछ दे दिया गया है। ठाकुर के पुत्र दरियावसिंह (चातुर) और पौत्र शंकरप्रसाद भी कवि थे।

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडंबर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते है वैसे भावो को उसी ढंग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा मे उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री-पात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तियों मे और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात बात मे कहावतें कहा करती हैं। उनके हृदय के भावो की भरपूर व्यंजना के लिये ये कहावते मानो एक संचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियो का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतों मे से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ खास बुंदेलखंड की हैं। ठाकुर सच्चे उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे इसी से इनकी कविताएँ, विशेषतः सवैये इतने लोकप्रिय हुए। ऐसा स्वच्छंद कवि किसी क्रम से बद्ध होकर कविता करना भला कहाँ पसंद करता ? जब जिस विषय पर जी में आया कुछ कहा।

ठाकुर प्रधानतः प्रेमनिरूपक होने पर भी लोकव्यापार के अनेकांगदर्शी कवि थे। इसी से प्रेमभाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता के अतिरिक्त कभी तो ये अखती, फाग, बसंत, होली, हिंडोरा आदि उत्सवों के उल्लास मे मग्न

दिखाई पड़ते है; कभी लोगों की क्षुद्रता, कुटिलता, दुःशीलता आदि पर क्षोभ प्रकट करते पाए जाते हैं और कभी काल की गति पर खिन्न और उदास देखे जाते है। कविकर्म को ये कठिन समझते थे। रूढि के अनुसार शब्दों की लड़ी जोड़ चलने को ये कविता नहीं कहते थे। नमूने के लिये यहाँ इनके थोड़े ही से पद्य दिए जा सकते हैं—

सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूलि कहूँ बांधियत बानो है।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

दस बार, बीस बार बरजि दई है जाहि,
एते पै न मानै जौ तौ जरन बरन देव।
कैसो कहा कीजै कछू आपनो करो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निहसंक रस-रंग विहरन देव।
बिधि कै बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव॥

अपने अपने सुठि गेहन में चढे दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भीजत प्रेम भरे, समयो लखि मैं बलि जावँ पै री॥
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सो रँग ह्वै उमडे दोउ ठावँ पै री।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नँदगाँव पै री॥

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत है नित मेरे लिये, इतनो तौ बिसेष कै जानति ह्वैहै॥

यह चारहु ओर उदौ मुखचंद की चाँदनी चारु निहारि लै री।
बलि जौ पै अधीन भयो पिय, प्यारी! तौ एतो बिचार बिचारि लै री॥
कवि ठाकुर चूकि गयो जो गोपाल तो तैं बिगरी कौं सँभारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पायँ पखारि लै री॥

पावस तें परदेस तें आय मिले पिय औ मनभाई भई है।
दादुर मोर पपीहरा बोलत, तापर आनि घटा उनई है॥
ठाकुर वा सुखकारी सुहावनि दामिनि कौंधि कितैं को गई है।
री अब तौ घनघोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हे धूर दई है॥

पिय प्यार करै जेहि पर सजनी तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मान करौं तौ परौं भ्रम में, फिर पाछे परे पछितैयत है॥
कवि ठाकुर कौन की कासौं कहौं? दिन देखि दसा बिसरैयत है।
अपने अटके सुन ए री भटू? निज सौत के मायके जैयत है॥

(३८) **ललकदास**—बेनी कवि के भँड़ौवा से ये लखनऊ के कोई कंठी-धारी महंत जान पड़ते हैं. जो अपनी शिष्य मंडली के साथ इधर उधर फिरा करते थे। अतः संवत् १८६० और १८८० के बीच इनका वर्तमान रहना अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने "सत्योपाख्यान" नामक एक बड़ा वर्णनात्मक ग्रंथ लिखा है जिसमे रामचंद्र के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इस ग्रथ का उद्देश्य कौशल के साथ कथा चलाने का नहीं, बल्कि जन्म की बधाई, बाललीला, होली, जलक्रीड़ा, झूला, विवाहोत्सव आदि का बड़े ब्योरे और विस्तार के साथ वर्णन करने का है। जो उद्देश्य महाराज रघुराजसिंह के रामस्वयंवर का है वही इसका भी समझिए। पर इसमें

सादगी है और यह केवल दोहे चौपाइयो मे लिखा गया है। वर्णन करने में ललकदासजी ने भाषा के कवियो के भाव तो इकट्ठे किए ही हैं; संस्कृत कवियो के भाव भी कही रखे है। रचना अच्छी जान पड़ती है। कुछ चौपाइयाँ देखिए—

धरि इक अंक राम को माता। लह्यो मोद लखि मुख मृदु गाता॥
दंत कुंद मुकुता सम सोहै। बंधु जीव सम जीभ बिमोहै॥
किसलय सधर अधर छबि छाजै। इंद्रनील सम गंड बराजै॥
सुंदर चिबुक नासिका सोहै। कुंकुम तिलक चिलक मन मोहै॥
काम चाप सम भ्रकुटि बिराजै। अलक-कलित मुख अति छबि छाजै॥
यहि बिधि सकल राम के अंगा। लखि चूमति जननी सुख संगा॥

(३९) **खुमान**—ये बंदीजन थे और चरखारी (बुंदेलखण्ड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इनके बनाए इन ग्रंथो का पता है—

अमरप्रकाश (सं० १८३६), अष्टजाम (सं० १८५२), लक्ष्मणशतक (सं० १८५५), हनुमान नखशिख, हनुमान पंचक, हनुमान पचीसी, नीति-विधान, समरसार (युद्ध-यात्रा के मुहूर्त आदि का विचार), नृसिंह-चरित्र (सं० १८७९), नृसिंह-पचीसी।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८३० से १८८० तक माना जा सकता है। "लक्ष्मणशतक" मे लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध बड़े फड़कते हुए शब्दो मे कहा गया है। खुमान कविता मे अपना उपनाम 'मान' रखते थे। नीचे एक कवित्त दिया जाता है—

आयो इंद्रजीत दसकंध को निबंध बंध,
बोल्यो रामबंधु सों प्रबंध किरवान को।
को है अंसुमाल, को है काल विकराल,
मेरे सामुहें भए न रहै मान महेसान को॥
तू तौ सुकुमार यार लखन कुमार! मेरी
मार बेसुमार को सहैया घमासान को?
बीर ना चितैया, रनमंडल रितैया, काल
कहर बितैया हौं जितैया मघवान को॥

(४०) नवलसिंह कायस्थ—ये झाँसी के रहनेवाले थे और समथर-नरेश राजा हिंदूपति की सेवा में रहते थे। इन्होने बहुत से ग्रंथो की रचना की है जो भिन्न भिन्न विषयो पर और भिन्न भिन्न शैली के हैं। ये अच्छे चित्रकार भी थे। इनका झुकाव भक्ति और ज्ञान की ओर विशेष था। इनके लिखे ग्रंथों के नाम ये हैं—

रासपंचाध्यायी, रामचद्रविलास, शकामोचन (सं० १८७३), जौहरिन-तरग (१८७५), रसिकरंजनी (१८७७), विज्ञान भास्कर (१८७८), व्रजदीपिका (१८८३), शुकरंभासंवाद (१८८८), नाम-चिंतामणि (१९०३), मूलभारत (१९१२), भारत-सावित्री (१९१२), भारत कवितावली (१९१३), भाषा सप्तशती (१९१७), कविजीवन (१९१८), आल्हा-रामायण (१९२२), रुक्मिणीमगल (१९२५), मूलढोला (१९२५), रहस लावनी (१९२६), अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण, नारीप्रकरण, सीतास्वयवर, रामविवाहखड, भारत वार्तिक, रामायण सुमिरनी, पूर्वश्रृंगारखंड, मिथिलाखंड, दानलोभ संवाद, जन्म खंड।

उक्त पुस्तको में यद्यपि अधिकाश बहुत छोटी छोटी है फिर भी इनकी रचना की बहुरूपता का आभास देती है। इनकी पुस्तके प्रकाशित नहीं हुई है। अतः इनकी रचना के संबंध में विस्तृत और निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। खोज की रिपोर्टों मे उद्धृत उदाहरणों के देखने से रचना इनकी पुष्ट और अभ्यस्त प्रतीत होती है। व्रजभाषा मे कुछ वार्तिक या गद्य भी इन्होने लिखा है। इनके कुछ पद्य नीचे देखिए—

अभव अनादि अनंत अपारा। अमन, अप्रान, अमर, अविकारा॥
अग अनीह आतम अबिनासी। अगम अगोचर अविरल वासी॥
अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेष अकर्म अकामा॥
रहत अलिप्त ताहि उर ध्याऊँ। अनुपम अमल सुजस मैं गाऊँ॥

सगुन सरूप सदा सुषमा-निधान मंजु,
बुद्धि गुन गुनन अगाध वनपति से॥

भनै नवलेस फैल्यो विशद मही में यश,
बरनि न पावै पार झार फनपति से ॥
जक्त निज भक्तन के कलुष प्रभंजै रंजै,
सुमति बढावै धन धान धनपति से ॥
अवर न दूजो देव सहज प्रसिद्ध यह,
सिद्धि-बरदैन सिद्ध ईस गनपति से ॥

(४१) **रामसहायदास**—ये चौबेपुर (जिला बनारस) के रहनेवाले लाला भवानीदास कायस्थ के पुत्र थे और काशी-नरेश महाराज उदितनारायण-सिंह के आश्रय में रहते थे। "बिहारी सतसई" के अनुकरण पर इन्होने "राम-सतसई" बनाई। बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना मे बिहारी के दोहो के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहो में मिलाए जा सकते हैं, रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकालना नही, बिहारी को भी नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। बिहारी मे क्या क्या मुख्य विशेषताएँ हैं, यह उनके प्रसंग मे दिखाया जा चुका है। जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से संबंध है वही तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावो का वह सुंदर विधान, चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण, भाषा का वह सौष्ठव, संचारियो की वह सुंदर व्यंजना इस सतसई में कहाँ? नकल ऊपरी बातो की हो सकती है, हृदय की नहीं। पर हृदय पहचानने के लिये हृदय चाहिए, चेहरे पर की दो आँखो से ही नहीं काम चल सकता। इस बड़े भारी भेद के होते हुए भी "रामसतसई" शृंगार-रस का एक उत्तम ग्रंथ है। इस सतसई के अतिरिक्त इन्होने तीन पुस्तके और लिखी है—

बाणीभूषण, वृत्ततरंगिणी (सं० १८७३) और ककहरा।

वाणीभूषण अलंकार का ग्रंथ है और वृत्त-तरंगिणी पिंगल का। ककहरा जायसी की 'अखरावट' के ढंग की छोटी सी पुस्तक है और शायद सबसे पिछली रचना है, क्योकि उसमें धर्म और नीति के उपदेश हैं। रामसहाय का कविता-काल संवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। नीचे सतसई के कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

गडे नुकीले लाल के नैन रहैं दिन रैनि।
तव नाजुक ठोड़ी न क्यों गाड़ परै मृदुबैनि?
भटक न, झटपट चटक कै अटक सुनट के संग।
लटक पीतपट की निपट हटकति कटक अनंग॥
लागै नैना नैन में कियो कहा धौं मैन।
नहिं लागै नैना, रहैं लागै नैना नैन॥
गुलुफनि लगि ज्यों त्यों गयो करि करि साहस जोर।
फिर न फिर्‍यो मुरवान चपि, चित अति खात मरोर॥
यौं विभाति दसनावली ललना बदन मँझार।
पेति को नातो मानि कैं मनु आइ उडुमार॥

(४२) **चंद्रशेखर**—ये वाजपेयी थे। इनका जन्म संवत् १८५५ में मुअज्जमाबाद (जिला फतहपुर) में हुआ था। इनके पिता मनीरामजी भी अच्छे कवि थे। ये कुछ दिनों तक दरभंगे की ओर, फिर ६ वर्ष तक जोधपुर-नरेश महाराजा मानसिंह के यहाँ रहे। अंत मे पटियालानरेश महाराज कर्मसिंह के यहाँ गए और जीवन भर पटियाले मे ही रहे। इनका देहांत संवत् १९३२ मे हुआ अतः ये महाराज नरेंद्रसिंह के समय तक वर्तमान थे और उन्हीं के आदेश से इन्होंने अपना प्रसिद्ध वीरकाव्य "हम्मीरहठ" बनाया। इसके अतिरिक्त इनके रचे ग्रथो के नाम ये हैं—

विवेक-विलास, रसिकविनोद, हरिभक्ति-विलास, नखसिख, वृंदावन-शतक, गुह्पंचाशिका, ताजक ज्योतिष, माधवी वसत।

यद्यपि शृंगाररस की कविता करने मे भी ये बहुत ही प्रवीण थे पर इनकी कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिये "हम्मीरहठ" ही पर्याप्त है। उत्साह की, उमंग की व्यजना जैसी चलती, स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होने की है वैसे ढग से करने मे बहुत ही कम कवि समर्थ हुए है। वीररस-वर्णन मे इस कवि ने बहुत ही सुंदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है। सूदन आदि के समान शब्दो की तड़ातड़ और भड़ाभड़ के फेर में न पड़कर उग्रोत्साह-व्यंजक उक्तियों का ही अधिक सहारा इस कवि ने लिया है, जो वीर-

रस की जान है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वर्णनों के अनावश्यक विस्तार को, जिसमे वस्तुओं की बड़ी लंबी-चौड़ी सूची भरी जाती है, स्थान नहीं दिया गया है। भाषा भी पूर्ण व्यवस्थित, च्युतसंस्कृति आदि दोषो से मुक्त और प्रवाहमयी है। सारांश यह कि वीररस-वर्णन की अत्यंत श्रेष्ठ प्रणाली का अनुकरण चंद्रशेखरजी ने किया है।

रही प्रसंग विधान की बात। इस विषय मे कवि ने नई उद्भावनाएँ न करके पूर्ववर्ती कवियों का ही सर्वथा अनुसरण किया है। एक रूपवती और निपुण स्त्री के साथ महिमा मंगोल का अलाउद्दीन के दरबार से भागना, अलाउद्दीन का उसे हम्मीर से वापस माँगना, हम्मीर का उसे अपनी शरण मे लेने के कारण उपेक्षापूर्वक इनकार करना, ये सब बाते जोधराज क्या उसके पूर्ववर्ती अपभ्रंश के कवियों की ही कल्पना है, जो वीरगाथा-काल की रूढ़ि के अनुसार की गई थी। गढ़ के घेरे के समय गढ़पति की निश्चिंतता और निर्भीकता व्यंजित करने के लिये पुराने कवि गढ़ के भीतर नाच रंग होना दिखाया करते थे। जायसी ने अपनी पद्मावती में अलाउद्दीन के द्वारा चित्तौरगढ़ के घेरे जाने पर राजा रतनसेन का गढ़ के भीतर नाच कराना और शत्रु के फेंके हुए तीर से नर्त्तकी का घायल होकर मरना वर्णित किया है। ठीक उसी प्रकार का वर्णन "हम्मीरहठ" मे रखा गया है। यह चंद्रशेखरजी की अपनी उद्भावना नहीं; एक बँधी हुई परिपाटी का अनुसरण है। नर्त्तकी के मारे जाने पर हम्मीरदेव का यह कह उठना कि "हठ करि मंड्यो युद्ध वृथा ही" केवल उनके तात्कालिक शोक के आधिक्य की व्यंजना मात्र करता है। उसे करुण प्रलाप मात्र समझना चाहिए। इसी दृष्टि से इस प्रकार के करुण प्रलाप राम ऐसे सत्यसंध और वीरव्रती नायकों से भी कराए गए हैं। इनके द्वारा उनके चरित्र मे कुछ भी लांछन लगता हुआ नहीं माना जाता।

एक त्रुटि हम्मीरहठ की अवश्य खटकती है। सब अच्छे कवियो ने प्रतिनायक के प्रताप और पराक्रम की प्रशंसा द्वारा उससे भिड़ने वाले या उसे जीतनेवाले नायक के प्रताप और पराक्रम की व्यंजना की है। राम का प्रतिनायक रावण कैसा था? इंद्र, मरुत्, यम, सूर्य्य आदि सब देवताओं से सेवा

लेनेवाला, पर हम्मीरहठ में अलाउद्दीन एक चुहिया के कोने में दौड़ने से डर के मारे उछल भागता है और पुकार मचाता है।

चंद्रशेखरजी का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था। अनुप्रास की योजना प्रचुर होने पर भी भद्दी कहीं नहीं हुई, सर्वत्र रस मे सहायक ही है। युद्ध, मृगया आदि के वर्णन तथा संवाद आदि सब बडी मर्मज्ञता से रखे गए हैं। जिस रस का वर्णन है ठीक उसके अनुकूल पदविन्यास है। जहाँ शृंगार का प्रसंग है वहाँ यही प्रतीत होता है कि किसी सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि की रचना पढ़ रहे है। तात्पर्य यह है कि "हम्मीरहठ" हिंदी-साहित्य का एक रत्न है। "तिरिया तेल, हम्मीर हठ चढ़ै न दूजी बार" वाक्य ऐसे ही ग्रथ मे शोभा देता है। नीचे कविता के कुछ नमूने दिए जाते है—

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ, दिन चंद प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै, काम रति प्रीति बिनासै॥
तजै गौरि अरधंग, अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पवन बरु होय, मेरु मंदर गिरि हल्लै॥
सुरतरु सुखाय, लोमस मरै, मीर! संक सब परिहरौ।
मुख-बचन बीर हम्मीर को बोलि न यह कबहूँ टरौ॥

आलम-नेवाज सिरताज पातसाहन के,
गाज ते दराज कोप-नजर तिहारी है।
जाके डर डिगत अडोल गढ़धारो, डग-
मगत पहार औ डुलति महि सारी है॥
रंक जैसो रहत ससकित सुरेस भयो,
देस देसपति में अतंक अति भारी है।
भारी गढधारी, सदा जंग की तयारी,
धाक मानै ना तिहारी या हमीर हठधारी है॥

भागे मीरजादे पीरजादे और अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै।

भागे गज बाजि रथ पथ न सँभारैं, परैं
गोलन पै गोल, सूर सहमि सकाय कै ॥
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित वितुंड पै बिराजि बिलखाय कै ।
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि
चलै भागि मृग महिप बराह बिललाय कै ॥

चोरी थोरी वैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन बिहँसि मुख मोरतीं ।
बसन विभूषन विराजत विमल वर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं ॥
प्यारे पातसाह के परम अनुराग-रँगीं,
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं ।
काम-अबला सी, कलाधर की कला सी,
चारु चंपक-लता सी चपला सी चित चोरतीं ॥

(४३) **बाबा दीनदयाल गिरि**—ये गोसाईं थे। इनका जन्म शुक्रवार वसंत पंचमी सवत् १८५९ मे काशी के गायघाट मुहल्ले मे एक पाठक के कुल मे हुआ था। जब ये ५ या ६ वर्ष के थे तभी इनके माता-पिता, इन्हे महंत कुशागिरि को सौंप चल बसे। महंत कुशागिरि पंचक्रोशी के मार्ग मे पड़नेवाले देहली-विनायक नामक स्थान के अधिकारी थे। काशी मे महंतजी के और भी कई मठ थे। वे विशेषतः गायघाट वाले मठ मे रहा करते थे। बाबा दीनदयाल गिरि भी उनके चेले हो जाने पर प्रायः उसी मठ मे रहते थे। जब महंत कुशागिरि के मरने पर बहुत सी जायदाद नीलाम हो गई तब ये देहली-विनायक के पास मौठली गाँववाले मठ मे रहने लगे। बाबाजी संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। बाबू गोपालचंद्र (गिरिधरदास) से इनका बड़ा स्नेह था। इनका परलोकवास संवत् १९१५ मे हुआ। ये एक अत्यंत सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिंदी के और किसी कवि की नहीं हुई। यद्यपि इन अन्योक्तियो के भाव अधिकांश संस्कृत से लिए हुए हैं पर भाषा-शैली की सरसता और पदविन्यास की मनोहरता के विचार से वे

स्वतंत्र काव्य के रूप मे हैं। बाबाजी का भाषा पर बहुत ही अच्छा अधिकार था। इनकी सी परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोडे कवियो की है। कहीं कहीं कुछ पूरबीपन या अव्यवस्थित वाक्य मिलते है, पर बहुत कम। इसी से इनकी अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिनी हुई हैं। इनका अन्योक्तिकल्पद्रुम हिंदी-साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। अन्योक्ति के क्षेत्र में कवि की मार्मिकता और सौंदर्य्यभावना के स्फुरण का बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमें अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं। लौकिक विषयो पर तो इन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही ही है; अध्यात्मपक्ष मे भी दो एक रहस्यमयी उक्तियाँ इनकी हैं।

बाबाजी को जैसा कोमल व्यंजक पदविन्यास पर अधिकार था वैसा ही शब्द-चमत्कार आदि के विधान पर भी। यमक और श्लेषमयी रचना भी इन्होंने बहुत सी की है। जिस प्रकार ये अपनी भावुकता हमारे सामने रखते हैं उसी प्रकार चमत्कार-कौशल दिखाने मे भी नहीं चूकते हैं। इससे जल्दी नहीं कहते बनता है कि इनमे कला-पक्ष प्रधान है या हृदय-पक्ष। बड़ी अच्छी बात इनमें यह है कि इन्होंने दोनों को प्रायः अलग अलग रखा है। अपनी मार्मिक रचनाओ के भीतर इन्होंने चमत्कार-प्रवृत्ति का प्रवेश प्रायः नहीं होने दिया है। अन्योक्तिकल्पद्रुम के आदि में कई श्लिष्ट पद्य आए हैं पर बीच मे बहुत कम। इसी प्रकार अनुरागबाग मे भी अधिकांश रचना शब्द-वैचित्र्य आदि से मुक्त है। यद्यपि अनुप्रासयुक्त सरस कोमल पदावली का बराबर व्यवहार हुआ है, पर जहाँ चमत्कार को प्रधान उद्देश्य रखकर ये बैठे हैं वहाँ श्लेष, यमक, अंतर्लापिका, बहिर्लापिका सब कुछ मौजूद है। साराश यह कि ये एक बहुरगी कवि थे। रचना की विविध प्रणालियों पर इनका पूर्ण अधिकार था।

इनकी लिखी इतनी पुस्तकों का पता है—

अन्योक्ति-कल्पद्रुम (सं० १९१२), अनुराग-बाग (सं० १८८८), वैराग्यदिनेश (स १९०६), विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टात-तरगिणी (सं० १८७९)।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८७९ से १९१२ तक माना जा सकता है। 'अनुराग-बाग' मे श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का बड़े ही ललित कवित्तो मे वर्णन हुआ है। मालिनी छंद का भी बड़ा मधुर प्रयोग हुआ है। 'दृष्टांत-तरंगिणी' मे नीतिसंबंधी दोहे हैं। 'विश्वनाथ नवरत्न' शिव की स्तुति है। 'वैराग्यदिनेश' मे एक ओर तो ऋतुओ आदि की शोभा का वर्णन है और दूसरी ओर ज्ञान-वैराग्य आदि का। इनकी कविता के कुछ नमूने दिए जाते है—

केतो सोम कला करौ, करौ सुधा को दान।
नहीं चंद्रमणि जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटीं याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चंद ! तुमही चित चेतौ।
कूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ॥

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं॥
अंकुर जमिहै नाहिं बरष सत जौ जल दैहै।
गरजै तरजै कहा ? वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीन दयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ! ह्याँ तू बरखै॥

चल चकई तेहि सर विषै जहँ नहिं रैन-बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही, सुहृद हंस संदोह॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई॥

कोमल मनोहर मधुर सुरताल सने,
नूपुर-निनादनि सों कौन दिन बोलिहैं।
नीके मम ही के बुंद-वृंदन सुमोतिन को,
गहि कै कृपा की अब चोंचन सो तोलिहैं ॥
नेम धरि छेम सों प्रमुद होय दीनद्याल,
प्रेम-कोकनद बीच कब धौ कलोलिहैं ॥
चरन तिहारे जदुबंस-राजहंस ! कब,
मेरे मन-मानस में मन्द मन्द डोलिहै ?

चरन-कमल राजै, मंजु मंजु मंजीर बाजैं,
गमन लखि लजावैं हंसऊ नाहिं पावैं ॥
सुखद कदम-छाहीं क्रीड़ते कुंज माहीं,
लखि लखि हरि सोभा चित्त काको न लोभा ?

बहु छुद्रन के मिलन तें हानि बली की नाहिं,
जूथ जंबुकन तें नही केहरि कहुँ नसि जाहिं ॥
पराधीनता दुख महा, सुखी जगत स्वाधीन,
सुखी रमत सुक बन-विषै, कनक पींजरे दीन ॥

(४४) **पजनेस**—ये पन्ना के रहनेवाले थे। इनका कुछ विशेष वृत्तांत प्राप्त नहीं। कविता-काल इनका संवत् १९०० के आसपास माना जा सकता है। कोई पुस्तक तो इनकी नहीं मिलती पर इनकी बहुत सी फुटकल कविता संग्रह-ग्रन्थों मे मिलती और लोगो के मुँह से सुनी जाती है। इनका स्थान व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियो में है। ठाकुर शिवसिंहजी ने 'मधुरप्रिया' और 'नखशिख' नाम की इनकी दो पुस्तको का उल्लेख किया है, पर वे मिलती नहीं। भारतजीवन प्रेस ने इनकी फुटकल कविताओ का एक संग्रह 'पजनेस प्रकाश' के नाम से प्रकाशित किया है जिसमे १२७ कवित्त सवैया हैं। इनकी कविताओं को देखने से पता चलता है कि ये फारसी भी जानते थे। एक सवैया में इन्होने फारसी के शब्द और वाक्य भरे है। इनकी रचना

शृंगाररस की ही है, पर उसमें कठोर वर्णों (जैसे ट, ठ, ड) का व्यवहार यत्र-तत्र बराबर मिलता है। ये 'प्रतिकूल-वर्णत्व' की परवा कम करते थे। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोमल अनुप्रासयुक्त ललित भाषा का व्यवहार इनमे नहीं है। पद-विन्यास इनका अच्छा है। इनके फुटकल कवित्त अधिकतर अंग वर्णन के मिलते है जिनसे अनुमान होता है कि इन्होंने कोई नखशिख लिखा होगा। शब्द-चमत्कार पर इनका ध्यान विशेष रहता था, जिससे कहीं कहीं कुछ भद्दापन आ जाता था। कुछ नमूने लीजिए —

छहरै छबीली छटा छूटि छितिमंडल पै,
उमग उजेरो महाओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंज-मंजुल-मुखी के गात,
उपमाधिकाति कल कुंदन तबक सी॥
फैली दीप दीप दीप-दीपति दीपति जाकी,
दीपमालिका की रही दीपति दबक सी।
परत न ताब लखि मुख महताब जब,
निकसी सिताब आफताब की भभक सी॥

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फे फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम अज़दस्त अलाबल जुल्फ बसे॥
मजमूए न काफ़ शिगाफ़ रुए सम क्यामत चश्म से खूँ बरसे।
मिज़गाँ सुरमा तहरीर दुताँ नुकते, बिन बे, किन ते, किन से॥

(४५) **गिरिधरदास**—ये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे और व्रजभाषा के बहुत ही प्रौढ कवि थे। इनका नाम तो बाबू गोपालचंद्र था पर कविता मे अपना उपनाम ये 'गिरिधरदास', 'गिरिधर', गिरिधारन' रखते थे। भारतेंदु ने इनके संबंध मे लिखा है कि 'जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस'। इनका जन्म पौष कृष्ण १५ संवत् १८९० को हुआ। इनके पिता काले हर्षचंद, जो काशी के एक बड़े प्रतिष्ठित रईस थे, इन्हे ग्यारह वर्ष के छोड़-कर ही परलोक सिधारे। इन्होने अपने निज के परिश्रम से संस्कृत और हिंदी में बड़ी स्थिर योग्यता प्राप्त की और पुस्तको का एक बहुत बड़ा अनमोल संग्रह

किया। पुस्तकालय का नाम इन्होने 'सरस्वती भवन' रखा जिसका मूल्य स्वर्गीय डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र एक लाख रुपया तक दिलवाते थे। इनके यहाँ उस समय के विद्वानो और कवियो की मंडली बराबर जमी रहती थी और इनका समय अधिकतर काव्य-चर्चा में ही जाता था। इनका परलोकवास संवत् १६१७ में हुआ।

भारतेंदुजी ने इनके लिखे ४० ग्रंथों का उल्लेख किया है जिनमे से बहुतो का पता नहीं है। भारतेंदुजी के दौहित्र हिंदी के उत्कृष्ट लेखक श्रीयुत बाबू व्रजरत्नदासजी ने अपनी देखी हुई इन अठारह पुस्तको के नाम इस प्रकार दिए हैं—

जरासधवध महाकाव्य, भारतीभूषण (अलंकार), भाषा व्याकरण (पिंगल-सबधी), रसरत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन, मत्स्यकथामृत, वाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, वामनकथामृत, परशुरामकथामृत, रामकथामृत, वलरामकथामृत, (कृष्णचरित ४७०१ पदो मे), बुद्धकथामृत, कल्कि-कथामृत, नहुष नाटक, गर्गसहिता (कृष्णचरित का दोहे चौपाई में बड़ा ग्रथ), एकादशी-माहात्म्य।

इनके अतिरिक्त भारतेदुजी के एक नोट के आधार पर स्वर्गीय बाबू राधा-कृष्णदास ने इन २० और पुस्तको का उल्लेख किया है—

वाल्मीकि रामायण (सातो कांड पद्यानुवाद), छंदोवर्णन, नीति, अद्भुत-रामायण, लक्ष्मीनखशिख, वार्तासस्कृत, ककारादि सहस्रनाम, गयायात्रा, गयाष्टक, द्वादशदलकमल, कीर्तन, संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, भगवत्स्तोत्र, श्रीरामस्तोत्र, श्रीराधास्तोत्र, रामाष्टक, कालियकालाष्टक।

इन्होंने दो ढंग की रचनाएँ की हैं। गर्गसंहिता आदि भक्तिमार्ग की कथाएँ तो सरल और साधारण पद्यों मे कही हैं, पर काव्यकौशल की दृष्टि से जो रचनाएँ की है—जैसे जरासंधवध, भारतीभूषण, रस-रत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन—वे यमक और अनुप्रास आदि से इतनी लदी हुई है कि बहुत स्थलो पर दुरूह हो गई हैं। सबसे अधिक इन्होने यमक और अनुप्रास का चमत्कार दिखाया है। अनुप्रास और यमक का ऐसा विधान जैसा जरासंधवध मे है और कही नही मिलेगा। जरासंधवध अपूर्ण है, केवल ११ सर्गों तक लिखा गया है, पर अपने ढंग का अनूठा है। जो कविताएँ देखी गई हैं उनसे यही धारणा होती है कि इनका

झुकाव चमत्कार की ओर अधिक था। रसात्मकता इनकी रचनाओं मे वैसी नहीं पाई जाती। २७ वर्ष की ही आयु पाकर इतनी अधिक पुस्तके लिख डालना पद्यरचना का अद्भुत अभ्यास सूचित करता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

(जरासंधवध से)

चल्यो दरद जेहि फरद रच्यो बिधि मित्र-दरद-हर।
सरद सरोरुह बदन जाचकन-बरद मरद वर॥
लसत सिंह सम दुरद नरद दिसि-दुरद-अरद-कर।
निरखि होत अरि सरद, हरद सम जरद-कांति-धर॥
कर करद करत बेपरद जब गरद मिलत वपु गाज को!
रन-जुआ-नरद वित नृप लस्यो करद मगध-महराज को॥

सब के सब केसव के सबके हित के गज सोहते सोभा अपार हैं।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरैं सैलन सैलहि सीस प्रहार हैं॥
'गिरिधारन' सों पदकंज लै धारन लै वसु धारन फार हैं।
अरि बारन बारन बारन पै सुर-वारन वारन वारन वार हैं॥

(भारतीभूषण से)

असंगति—सिंधु-जनि गर हर पियो, मरे असुर समुदाय।
नैन-बान नैनन लग्यो, भयो करेजे घाय॥

(रसरत्नाकर से)

जाहि विवाहि दियो पितु मातु नै पावक साखि सबै जग जानी।
साहब से 'गिरिधारन जू' भगवान् समान कहैं मुनि ज्ञानी॥
तू जो कहै वह दच्छिन है, तो हमैं कहा वाम हैं, वाम अजानी।
भागन सों पति ऐसो मिलै सबहीन को दच्छिन जो सुखदानी॥

(ग्रीष्मवर्णन से)

जगह जड़ाऊ जामे जड़े हैं जवाहिरात,
जगमग जोति जाकी जग मे जमति है।
जामे जदुजानि जान प्यारी जातरूप ऐसी,
जगमुख ज्वाल ऐसी जोन्ह सी जगति है॥
'गिरिधरदास' जोर जबर जवानी को है,
जोहि जोहि जलजा'हू जीव में जकति है।
जगत के जीवन के जिय को चुराए जोय,
जोए जोषिता को जेठ-जरनि जरति है॥

(४९) **द्विजदेव (महाराज मानसिंह)**—ये अयोध्या के महाराज थे और बड़ी ही सरस कविता करते थे। ऋतुओं के वर्णन इनके बहुत ही मनोहर है। इनके भतीजे भुवनेशजी (श्री त्रिलोकीनाथजी, जिनसे अयोध्यानरेश ददुआ साहब से राज्य के लिये अदालत हुई थी) ने द्विजदेवजी की दो पुस्तके बताई हैं, शृंगारबत्तीसी और शृंगारलतिका। 'शृंगारलतिका' का एक बहुत ही विशाल और सटीक सस्करण महारानी अयोध्या की ओर से हाल मे प्रकाशित हुआ है। इसके टीकाकार है भूतपूर्व अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण सिह। 'शृंगारबत्तीसी' भी एक बार छपी थी। द्विजदेव के कवित्त काव्य-प्रेमियो मे वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे पद्माकर के। ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों की परंपरा मे इन्हे अन्तिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। जिस प्रकार लक्षण-ग्रंथ लिखने वाले कवियो मे पद्माकर अन्तिम प्रसिद्ध कवि हैं उसी प्रकार समूची शृंगार-परपरा मे ये। इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई।

इनमे बड़ा भारी गुण है भाषा की स्वच्छता। अनुप्रास आदि शब्द-चमत्कारो के लिये इन्होने भाषा भद्दी कहीं नहीं होने दी है। ऋतुवर्णनों में इनके हृदय का उल्लास उमड़ा पड़ता है। बहुत से कवियो के ऋतुवर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते है। पर इनके चकोरो की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती

है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिये मानो आप से आप आगे बढ़ता था। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तान वितान सबै विधि चित्त चुरायो करैं॥
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, बसंत! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकीगन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुति नई नई।
द्विजदेव की सौं लाज-बैरिन कुसंग इन
अंगन हू आपने अनीति इतनी ठई॥
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समैं में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समैं में चल पलन दगा दई॥

आजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समैं तहँ आए गोपाल, तिन्हैं लखि औरौ गयो हियरो ठगि॥
पै द्विजदेव न जानि पर्‌यो धौं कहा तेहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कही, सखि! लोनो सरूप सो मो अँखियान कों लोनी गई लगि॥

बाँके कहीने राते कंज-छबि छीने माते,
झुकि झुकि झूमि झूमि काहू को कछु गनैं न।
द्विजदेव की सौं ऐसी कनक बनाय बहु
भाँतिन बगारे चित चाहन चहूँघा चैन॥
पेखि परे प्रात जौ पै गातन उछाह भरे,
बार बार तातें तुम्हैं बूझती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज! मेरो प्रेमधन लूटिबे को
बीरा खाय आए कितै आपके अनोखे नैन॥

भूले भूले भौंर बन भाँवरैं भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जायहैं।
द्विजदेव की सौं वह कूजन बिसारि कूर
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछितायहैं॥
आवत बसंत के न ऐहैं जौ पै स्याम तौ पै
बावरी! बलाय सों, हमारेऊ उपाय है।
पीहैं पहिलेईं तें हलाहल मँगाय या
कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहै॥

घहरि घहरि घन सघन चहूँघा घेरि,
छहरि छहरि विष-बूँद बरसावै ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दावँ,
एरे पातकी पपीहा! तू पिया की धुनि गावै ना॥

फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ, एरे,
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौ तौ बिन प्रान, प्रान चहत तजोई अब,
कत नभ चंद तू अकास चढि धावै ना॥

आधुनिक काल
(संवत् १९००–१९८०)
गद्य-खंड
गद्य का विकास
आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था
(ब्रजभाषा गद्य)

आधुनिक काल के पूर्व हिंदी गद्य का अस्तित्व किस परिमाण और किस रूप मे था, सक्षेप में इसका विचार कर लेना चाहिए। अब तक साहित्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही है, इसे सूचित करने की आवश्यकता नहीं। अतः गद्य की पुरानी रचना जो थोडी सी मिलती है वह ब्रजभाषा ही में। हिंदी पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से संबध रखनेवाले कई गोरखपथी ग्रंथ मिले है जिनका निर्माण-काल संवत् १४०७ के आसपास है। किसी किसी पुस्तक मे निर्माण-काल दिया हुआ है। एक पुस्तक गद्य मे भी है जिसका लिखनेवाला 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि प्रयोगो के कारण राजपूताने का निवासी जान पड़ता है। इसके गद्य को हम संवत् १४०० के आसपास के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना मान सकते हैं। थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

"श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। है कैसे परमानंद, आनंदस्वरूप है सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौ गोरिष सो मछंदरनाथ को दडवत करत हौ। है कैसे वे मछंदरनाथ? आत्मज्योति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तै छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै।"

इसे हम निश्चयपूर्वक व्रजभाषा गद्य का पुराना रूप मान सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान होता है कि यह किसी संस्कृत लेख का "कथंभूती" अनुवाद न हो। चाहे जो हो, है यह संवत् १४०० के व्रजभाषा-गद्य का नमूना।

इसके उपरांत फिर हमें भक्तिकाल में कृष्णभक्ति-शाखा के भीतर गद्य-ग्रंथ मिलते हैं। श्रीवल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने 'शृंगाररस-मंडन' नामक एक ग्रंथ व्रजभाषा मे लिखा। उनकी भाषा का स्वरूप देखिए—

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत मे डूबि कै इनके मद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई॥"

यह गद्य अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। पर इसके पीछे दो और सांप्रदायिक ग्रंथ लिखे गए जो बड़े भी है और जिनकी भाषा भी व्यवस्थित और चलती है। वल्लभ संप्रदाय मे इनका अच्छा प्रचार है। इनके नाम है—"चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता"। इनमे से प्रथम, आचार्य्य श्री वल्लभाचार्यजी के पौत्र और गोसाईं विट्ठलनाथजी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर गोकुलनाथजी के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है, क्योंकि इसमे गोकुलनाथजी का कई जगह बड़े भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमे वैष्णव भक्तो और आचार्यजी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई है। इसका रचनाकाल विक्रम की १७वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' तो और भी पीछे औरंगजेब के समय के लगभग की लिखी प्रतीत होती है। इन वार्ताओ की कथाएँ बोलचाल की व्रजभाषा मे लिखी गई हैं, जिसमे कहीं कही बहुत प्रचलित अरबी फारसी शब्द भी निस्संकोच रखे गए हैं। साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गई हैं। उदाहरण के लिये यह उद्धृत अंश पर्य्याप्त होगा—

"सो श्री नंदगाम मे रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पाख्यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक

वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खडन करन लागो। वैष्णवन ने कही 'जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मडली मे तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्त्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो'।"

नाभादासजी ने भी संवत् १६६० के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक व्रजभाषा-गद्य मे लिखी जिसमे भगवान् राम की दिनचर्य्या का वर्णन है। भाषा इस ढंग की है—

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।"

संवत् १६८० के लगभग वैकुंठमणि शुक्ल ने, जो ओरछा के महाराज जसवंतसिंह के यहाँ थे, व्रजभाषा गद्य में 'अगहन-माहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' नाम की दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं। द्वितीय के संबंध मे वे लिखते हैं—

"सब देवतन की कृपा ते बैकुंठमनि सुकुल श्री रानी चद्रावती के धरम पढिबे के अरथ यह जसरूप ग्रथ बैसाख-महातम भाषा करत भए।—एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गए।"

व्रजभाषा गद्य मे लिखा एक 'नासिकेतोपाख्यान' मिला है जिसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नही। समय सवत् १७६० के उपरात है। भाषा व्यवस्थित है—

"हे ऋषिश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। काले वर्ण महादुख के रूप जम-किंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े बड़े ग्रध्र देखे। पंथ मे पापकर्मी कौं जमदूत चलाइ कै मुदगर अरु लोह के दड कर मार देत हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम रोम खरो होत है।"

सूरति मिश्र ने (संवत् १७६७) संस्कृत से कथा लेकर वैतालपचीसी लिखी, जिसको आगे चलकर लल्लूलाल ने खडी बोली हिंदुस्तानी मे किया। जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने सवत् १८५२ मे "आईन अकबरी की भाषा वचनिका" नाम की एक बड़ी पुस्तक लिखी।

भाषा इसकी बोलचाल की है जिसमें अरबी-फारसी के कुछ बहुत चलते शब्द भी हैं। नमूना यह है—

"अब शेख अबलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादस्याह की तारीफ़ लिखने को कसत करै है अरु कहै है—याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें याके पराक्रम अरु भाँति भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया मे प्रगट भए, ता को संखेप लिखत हौं।"

इसी प्रकार की व्रजभाषा-गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर पाई जाती हैं जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता। साहित्य की रचना पद्य मे ही होती रही। गद्य का भी विकास यदि होता आता तो विक्रम की इस शताब्दी के आरंभ मे भाषा-संबंधिनी बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती। जिस धड़ाके के साथ गद्य के लिये खड़ी बोली ले ली गई उस धडाके के साथ न ली जा सकती। कुछ समय सोच-विचार और वाद-विवाद मे जाता और कुछ समय तक दो प्रकार के गद्य की धाराएँ साथ साथ दौड़ लगातीं। अतः भगवान् का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिए कि यह भाषा-विप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी व्रजभाषा की गोद मे दिखाई पड़ जाती थी, धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान मे दौड़ पड़ी।

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण व्रजभाषा-गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। उपर्युक्त "वैष्णव वार्ताओं" में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चलकर नहीं। काव्यो की टीकाओ आदि मे जो थोड़ा बहुत गद्य देखने मे आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमे अर्थों और भावों को संबद्ध रूप मे प्रकाशित करने तक की शक्ति न थी। ये टीकाएँ संस्कृत की "इत्यमरः" और "कथं भूतम्" वाली टीकाओ की पद्धति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल चाहे समझ मे आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना

कठिन समझिए। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी की लिखी "शृंगारशतक" की एक टीका की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"उन्मत्तप्रेमसंरंभादालभंतेयदंगनाः।
तत्र प्रत्युहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥"

"अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश कर। जु कार्य करना चाहति है ता कार्य विषै। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं आधातुं। अंतराउ कीवे कहँ। कातर। काइरु है। काइरु कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री कर्‌यो चाहै सु अवस्य करहि। ताको अंतराउ ब्रह्मा पहँ न कर्‌यो जाइ और की कितीक बात"।

आगे बढ़कर संवत् १८७२ की लिखी जानकीप्रसाद वाली रामचंद्रिका की प्रसिद्ध टीका लीजिए तो उसकी भाषा की भी यही दशा है—

"राघव-शर लाघव गति छत्र मुकुट यो हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो॥"

"सबल कहे अनेक अनेक रंग मिश्रित है, अंसु कहे किरण जाके ऐसे जे सूर्य्य है तिन सहित मानो कलिंदगिरि शृंग ते हंस कहे हस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है। हसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रंग नगजटित मुकुट हैं"।

इसी ढग की सारी टीकाओ की भाषा समझिए। सरदार कवि अभी हाल मे हुए है। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सतसई आदि की उनकी टीकाओ की भाषा और भी अनगढ़ और असबद्ध है। साराश यह है कि जिस समय गद्य के लिये खड़ी बोली उठ खड़ी हुई उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था; उसका कोई साहित्य खड़ा नहीं हुआ था। इसी से खड़ी बोली के ग्रहण मे कोई संकोच नहीं हुआ।

खड़ी बोली का गद्य

देश के भिन्न भिन्न भागों मे मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट-समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी मे ही

ब्रजभाषा के साथ साथ खालिस खड़ी बोली मे कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। औरंगजेब के समय से फारसी-मिश्रित खड़ी बोली या रेखता मे शायरी भी शुरू हो गई और उसका प्रचार फारसी पढ़े लिखे लोगों मे बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू-साहित्य खड़ा हुआ, जिसमे आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।

मोगल-साम्राज्य के ध्वस से भी खड़ी बोली के फैलने मे सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरे आदि पछाही शहरो की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ चमक उठी थीं। जिस प्रकार उजडती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इंशा आदि अनेक उर्दू-शायर पूरब की ओर आने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरो मे फैलने लगीं। उनके साथ साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी। यह सिद्ध बात है कि उपजाऊ और सुखी प्रदेशों के लोग व्यापार मे उद्योगशील नहीं होते। अतः धीरे धीरे पूरब के शहरो मे भी इन पश्चिमी व्यापारियो की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरो के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई। यह खडी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी; मौलवियो और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नही। यह अपने ठेठ रूप मे बराबर पछाँह से आई हुई जातियों के घरों मे बोली जाती है। अतः कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खडी बोली अस्तित्व मे आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदी गद्य की भाषा अरबी फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश के परंपरागत साहित्य की—जो संवत् १६०० के पूर्व तक पद्यमय ही रहा—भाषा ब्रजभाषा ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रांतो की बोलियाँ। साहित्य या काव्य मे उसका व्यवहार नहीं हुआ।

पर किसी भाषा का साहित्य मे व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं

है कि उस भाषा का अस्तित्व नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप मे वर्त्तमान थी और अब भी बनी हुई है। साहित्य मे भी कभी कभी कोई इसका व्यवहार कर देता था, यह दिखाया जा चुका है।

भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश काव्यों की जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यो मे मिलती है। जैसे—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि ! महारा कंतु।

अड्डविहि पत्ती, नइहिं जलु, तो बिन बूहा हत्थ।

सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ। देवक लेखिअ कोण मिटाआ ?

उसके उपरात भक्तिकाल के आरभ में निर्गुणधारा के सत कवि किस प्रकार खड़ी बोली का व्यवहार अपनी 'सधुक्कड़ी' भाषा मे किया करते थे, इसका उल्लेख भक्तिकाल के भीतर हो चुका है[1]। कबीरदास के ये वचन लीजिए—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।

कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होयगा, नहि तर भला न होइ॥

आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद रम रम रहूँगा।

[illegible] के समय में गंग कवि ने "चंद-छंद बरनन की महिमा" नामक [illegible] गद्य-पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

---

[1] देखो पृष्ठ ८०।

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबरसाहिजी आमखास मे तखत ऊपर बिराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से मे रेसम की लूमे पकड़ पकड़ के खड़े ताजीम मे रहे।

+ + + +

इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकबरसाहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस अवतरण से स्पष्ट पता लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय मे ही खड़ी बोली भिन्न भिन्न प्रदेशो मे शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती; यह हिंदी खड़ी बोली है। यद्यपि पहले से साहित्य-भाषा के रूप मे स्वीकृत न होने के कारण इसमे अधिक रचना नहीं पाई जाती, पर यह बात नहीं है कि इसमे ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे। दिल्ली राजधानी होने के कारण जब से शिष्ट-समाज के बीच इसका व्यवहार बढ़ा तभी से इधर-उधर कुछ पुस्तकें इस भाषा के गद्य मे लिखी जाने लगीं।

विक्रम सवत् १७९८ मे **रामप्रसाद 'निरंजनी'** ने 'भाषा योगवासिष्ठ' नाम का गद्य ग्रंथ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली मे लिखा। ये पटियाला दरबार मे थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इनके ग्रंथ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खड़ी बोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप मे पुस्तके आदि लिखने मे व्यवहृत होता था। अब तक पाई गई पुस्तको मे यह 'योगवासिष्ठ' ही सबसे पुराना है जिसमे गद्य अपने परिष्कृत रूप मे दिखाई पड़ता है अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक मान सकते है। 'योगवासिष्ठ' से दो उद्धरण नीचे दिए जाते है—

(क) "प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, × × × जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनदमय है, जिस आनद से सब जीव जीते हैं। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक सदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक सदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों है, समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नही होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनो से प्राप्त होता है। कर्म से अंतःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अंतःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नही होती।"

(ख) "हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × × मलीन वासना जन्मो का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष शोक आदि विकारो से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित, रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगत-ज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बंधन मे न आवोगे।"

कैसी शृंखलाबद्ध साधु और व्यवस्थित भाषा है!

इसके पीछे संवत् १८१८ मे बसवा (मध्यप्रदेश) निवासी **पं० दौलत-राम ने** रविषेणाचार्य्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया जो ७०० पृष्ठ से ऊपर का एक बड़ा ग्रथ है। भाषा इसकी उपर्युक्त 'योग-वासिष्ठ' के समान परिमार्जित नहीं है, पर इस बात का पूरा पता देती है कि फारसी-उर्दू से कोई संपर्क न रखनेवाली अधिकाश शिष्ट जनता के बीच खड़ी बोली किस स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी। मध्यप्रदेश पर फारसी या उर्दू की तालीम कभी नहीं लादी गई थी और जैन-समाज, जिसके लिये यह ग्रंथ लिखा गया,

बराबर व्यापार से सबंध रखनेवाला समाज रहा है। खड़ी बोली को मुसलमानो द्वारा जो रूप दिया गया उससे सर्वथा स्वतत्र वह अपने प्रकृत रूप मे भी दो ढाई सौ वर्ष से लिखने-पढ़ने के काम मे आ रही है, यह बात 'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' अच्छी तरह प्रमाणित कर रहे है। अतः यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नहीं रही कि खड़ी बोली गद्य की परंपरा अँगरेजो की प्रेरणा से चली। 'पद्मपुराण' की भाषा का स्वरूप यह है—

"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुंदर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे है, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान है। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत सामान ढेर हो रहे हैं।"

आगे चलकर संवत् १८३० और १८४० के बीच राजस्थान के किसी लेखक ने "मंडोवर का वर्णन" लिखा था जिसकी भाषा साहित्य की नहीं, साधारण बोलचाल की है, जैसे—

"अवल मे यहाँ माडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुवा। इस लफ्ज का बिगड कर मंडोवर हुवा है।"

ऊपर जो कहा गया कि खड़ी बोली का ग्रहण देश के परंपरागत साहित्य मे नहीं हुआ था, उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। उक्त कथन मे साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का है, कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति-परंपरा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी। खुसरो की सी पहेलियाँ दिल्ली के आसपास प्रचलित थीं जिनके नमूने पर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ कही। हाँ, फारसी पद्य मे खडी बोली को ढालने का खुसरो का प्रयत्न प्रथम कहा जा सकता है।

खड़ी बोली का रूप-रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमे विदेशी भावो का भंडार भरने लगे, तब हिंदी के कवियों की दृष्टि मे वह मुसलमानो की खास भाषा सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि-

कवियो ने मुसलमानी दरबारो के प्रसंग में या मुसलमान पात्रो के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है। पर जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, मुसलमानो के दिए कृत्रिम रूप से स्वतत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न भिन्न भागो मे पछाँह के व्यापारियो आदि के साथ-साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू-साहित्य के प्रचार से कोई सबंध नहीं। धीरे-धीरे यही खडी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय ॲंगरेजी राज्य भारत मे प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत मे खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलानेवाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुशी आदि फारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिदू साधु, पडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण मे करते थे। जो सस्कृत पढ़े लिखे या विद्वान् होते थे उनकी बोली मे संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।

रीतिकाल के समाप्त होते होते ॲंगरेजी राज्य देश मे पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। अतः ॲंगरेजो के लिये यहाँ की भाषा सीखने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच उन्हे दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खडी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।

ॲंगरेज यद्यपि विदेशी थे पर उन्हे यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमे जनता के भाव और विचार रक्षित हो। इसीलिये जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और वे गद्य की खोज मे पड़े तब दोनो प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई—उर्दू की भी और हिंदी (शुद्ध खड़ी बोली) की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव मे न उर्दू मे थीं और न हिंदी मे। जिस समय फोर्ट विलियम कालेज की ओर से उर्दू और हिंदी गद्य की पुस्तके लिखाने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिदी खड़ी बोली मे गद्य की कई पुस्तके लिखी जा चुकी थी।

'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' का उल्लेख हो चुका है। उसके उपरांत जब

अँगरेजो की ओर से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके दो एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुख की ज्ञानोपदेशवाली पुस्तक और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी। अतः यह कहना कि अँगरेजो की प्रेरणा से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। जिस समय दिल्ली के उजडने के कारण उधर के हिंदू व्यापारी तथा अन्य वर्ग के लोग जीविका के लिये देश के भिन्न भिन्न भागो मे फैल गए और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप मे शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गई उस समय से लोगों का ध्यान उसमे गद्य लिखने की ओर गया। तब तक हिंदी और उर्दू दोनो का साहित्य पद्यमय ही था। हिंदी-कविता मे परंपरागत काव्यभाषा ब्रजभाषा का व्यवहार चला आता था और उर्दू-कविता मे खड़ी बोली के अरबी-फारसी-मिश्रित रूप का। जब खड़ी बोली अपने असली रूप में भी चारो ओर फैल गई तब उसकी व्यापकता और भी बढ़ गई और हिंदी-गद्य के लिये उसके ग्रहण मे सफलता की संभावना दिखाई पड़ी।

इसी लिये जब संवत् १८६० मे फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) के हिंदी उर्दू अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तके तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होने उर्दू और हिंदी दोनों के लिये अलग अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होने उर्दू से स्वतंत्र हिंदी बोली का अस्तित्व सामान्य शिष्ट भाषा के रूप मे पाया। फोर्ट विलियम कालेज के आश्रय मे लल्लूलालजी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य मे 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। अतः खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ानेवाले चार महानुभाव हुए है—मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों लेखक संवत् १८६० के आसपास हुए।

(१) मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' दिल्ली के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १८०३ और मृत्यु १८८१ मे हुई। संवत् १८५० के लगभग ये कंपनी की अधीनता मे चुनार (जिला मिर्जापुर) में एक अच्छे पद पर थे। इन्होंने उर्दू और फारसी में बहुत सी किताबे लिखी है और काफी शायरी की है।

अपनी "मुतखबुत्तवारीख" में अपने संबंध मे इन्होंने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि ६५ वर्ष की अवस्था मे ये नौकरी छोड़कर प्रयाग चले गए और अपनी शेष आयु वहीं हरिभजन मे बिताई। उक्त पुस्तक सवत् १८७५ मे समाप्त हुई जिसके ६ वर्ष उपरात इनका परलोकवास हुआ। मुंशीजी ने विष्णुपुराण से कई उपदेशात्मक प्रसग लेकर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी नहीं मिली है। कुछ दूर तक सफाई के साथ चलनेवाला गद्य जैसा 'योगवासिष्ठ' का था वैसा ही मुंशीजी की इस पुस्तक में दिखाई पड़ा। उसका थोड़ा सा अश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमे लोग नास्तिक कहेंगे, हमे इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढते है कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप मे लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते है कि चतुराई की बाते कह के लोगो को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

मुंशीजी ने यह गद्य न तो किसी अंगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा। वे एक भगवद्भक्त आदमी थे। अपने समय मे उन्होने हिंदुओ की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारो ओर—पूरबी प्रांतों मे भी—प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दो का प्रयोग करके उन्होने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अहले जबान थे पर उन्होने अपने हिंदी गद्य मे कथावाचकों, पडितो और साधु-संतों के बीच दूर दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा जिसमे संस्कृत शब्दो का पुट भी बराबर रहता था।

इसी संस्कृतमिश्रित हिंदी को उर्दूवाले 'भाखा' कहते थे, जिसका चलन उर्दू के कारण कम होते देख मुशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था—

"रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।"

सारांश यह है कि मुशीजी ने हिंदुओ की शिष्ट बोल-चाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नही ली। इन प्रयोगो से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए"। "बहुत चूक जाघा हुई"। "उन्हीं लोगो से बन आवै है"। "जो बात सत्य होय"॥

काशी पूरब मे है पर यहाँ के पंडित सैकड़ो वर्ष से 'होयगा', 'आवता है', 'इस करके', आदि बोलते चले आते है। ये सब बाते उर्दू से स्वतंत्र खड़ी बोली के प्रचार की सूचना देती हैं।

(२) इशाअल्लाखाँ उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे जो दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आए थे। इनके पिता मीर माशाअल्लाखाँ काश्मीर से दिल्ली आए थे जहाँ वे शाही हकीम हो गए थे। मोगल-सम्राट् की अवस्था बहुत गिर जाने पर हकीम साहब मुर्शिदाबाद के नवाब के यहाँ चले गए थे। मुर्शिदाबाद ही मे इशा का जन्म हुआ। जब बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला मारे गए और बगाल मे अधेर मचा तब इंशा, जो पढ़-लिखकर अच्छे विद्वान् और प्रभावशाली कवि हो चुके थे, दिल्ली चले आए और शाहआलम दूसरे के दरबार मे रहने लगे। वहाँ जब तक रहे अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से अपने विरोधी बड़े बडे नामी शायरो को ये बराबर नीचा दिखाते रहे। जब गुलामकादिर बादशाह को अंधा करके शाही खजाना लूटकर चल दिया तब इंशा का निर्वाह दिल्ली मे कठिन हो गया और वे लखनऊ चले आए। जब संवत् १८५५ मे नवाब सआदत अलीखाँ गद्दी पर बैठे तब ये उनके दरबार मे आने जाने लगे। बहुत दिनो तक इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही पर अंत मे एक दिल्लगी की बात पर इनका वेतन आदि सब बंद हो गया और इसके जीवन का अंतिम भाग बडे कष्ट मे बीता। संवत् १८७५ मे इनकी मृत्यु हुई।

इशा ने "उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी" संवत् १८५५ और

१८६० के बीच लिखी होगी। कहानी लिखने का कारण इंशा साहब यों लिखते हैं—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। × × × अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने धुराने, डॉग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए.....और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिंदी लिखने का था, जिसमें हिंदी को छोड़ और किसी बोली का पुट न रहे। उद्धृत अंश में 'भाखापन' शब्द ध्यान देने योग्य है। मुसलमान लोग 'भाखा' शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिंदी भाषा के लिए करते थे, जिसमे आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे—चाहे वह ब्रजभाषा हो, चाहे खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृत-मिश्रित हिंदी को ही उर्दू फारसीवाले 'भाखा' कहा करते थे। 'भाखा' से खास ब्रज-भाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसा कुछ लोग भ्रमवश समझते है। जिस प्रकार वे अपनी अरबी-फारसी मिली हिंदी को 'उर्दू' कहते थे, उसी प्रकार संस्कृत मिली हिंदी को 'भाखा'। भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से विचार न करनेवाले या उर्दू की ही तालीम खास तौर पर पानेवाले कई नए पुराने हिंदी लेखक इस 'भाखा' शब्द के चक्कर में पड़कर ब्रजभाषा को हिंदी कहने मे सकोच करते है। "खड़ीबोली-पद्य" का झंडा लेकर स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूमकर कहा करते थे कि अभी हिंदी में कविता हुई कहाँ, "सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमे कविता की है वह तो 'भाखा' है, हिंदी नहीं"। संभव है इस सड़े गले खयाल को लिए अब भी कुछ लोग पड़े हों।

इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दो से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है -

बाहर की बोली = अरबी, फारसी, तुरकी। गँवारी = ब्रजभाषा, अवधी आदि। भाखा = संस्कृत के शब्दो का मेल।

इस बिलगाव से, आशा है, ऊपर लिखी बात स्पष्ट हो गई होगी। इंशा ने "भाखापन" और "मुअल्लापन" दोनों को दूर रखने का प्रयत्न किया, पर दूसरी बला किसी न किसी सूरत मे कुछ लगी रह गई। फारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास कही कही, विशेषतः बड़े वाक्यों मे, आ ही गया है; पर बहुत कम। जैसे—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया"।

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को"।

"यह चिट्ठी जो पीकभरी कुँवर तक जा पहुँची"।

आरंभ काल के चारो लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मुहावरेदार और चलती है। पहली बात यह है कि खड़ी बोली उर्दू-कविता मे पहले से बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दूवालो के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे। दूसरी बात यह है कि इंशा रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन-कौशल दिखाया चाहते थे[1]। मुंशी सदासुखलाल भी खास दिल्ली के थे और उर्दू-साहित्य का अभ्यास भी पूरा रखते थे, पर वे धर्मभाव से जान बूझकर अपनी भाषा गंभीर और संयत रखना चाहते थे। सानुप्रास विराम भी इंशा के गद्य मे बहुत स्थलो पर मिलते है—जैसे,

"जब दोनो महाराजो मे लड़ाई **होने लगी**, रानी केतकी सावन भादों के रूप **रोने लगी**, और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमे लहू **बरसने लगा** और अच्छी बातों को जी **तरसने लगा**।"

इंशा के समय तक वर्त्तमान कृदंत या विशेषण और विशेष्य के बीच का

१—अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने इस ढंग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।

समानाधिकरण कुछ बना हुआ था, जो उनके गद्य मे जगह जगह पाया जाता है; जैसे—

आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं॥

× × × ×

घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं।

इन विचित्रताओ के होते हुए भी इशा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है और वर्णन भी सर्वथा भारतीय रखे है। इनकी चलती चटपटी भाषा का नमूना देखिए—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसो बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी"।

(३) लल्लूलालजी आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म सवत् १८२० मे और मृत्यु संवत् १८८२ मे हुई। संस्कृत के विशेष जानकार तो ये नहीं जान पड़ते पर भाषा-कविता का अभ्यास इन्हें था। उर्दू भी कुछ जानते थे। संवत् १८६० मे कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट के आदेश से इन्होने खड़ी बोली गद्य में "प्रेमसागर" लिखा, जिसमे भागवत दशम स्कध की कथा वर्णन की गई है। इंशा के समान इन्होंने केवल ठेठ हिंदी लिखने का सकल्प तो नहीं किया था, पर विदेशी शब्दो के न आने देने की प्रतिज्ञा अवश्य लक्षित होती है। यदि ये उर्दू न जानते होते तो अरबी-फारसी के शब्द बचाने में उतने कृतकार्य कभी न होते, जितने हुए। बहुतेरे अरबी-फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इतने मिल गए थे कि उन्हे केवल संस्कृत जाननेवाले के लिए पहचानना भी कठिन था। मुझे एक पंडितजी का स्मरण है जो 'लाल' शब्द तो बराबर बोलते थे पर 'कलेजा' और 'बैंगन' शब्दो को म्लेच्छ भाषा के समझ बचाते थे। लल्लूलालजी अनजान

में कहीं कहीं ऐसे शब्द लिख गए हैं जो फारसी या तुरकी के हैं। जैसे 'बैरख' शब्द तुरकी का 'बैरक' है, जिसका अर्थ झंडा है। प्रेमसागर में यह शब्द आया है। देखिए—

"शिवजी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा—इस बैरख को ले जाय।" पर ऐसे शब्द दो ही चार जगह आये हैं।

यद्यपि मुंशी सदासुखलाल ने भी अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग न कर संस्कृत-मिश्रित साधु भाषा लिखने का प्रयत्न किया है पर लल्लूलाल की भाषा से उसमे बहुत कुछ भेद दिखाई पड़ता है। मुंशीजी की भाषा साफ सुथरी खड़ी बोली है पर लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासो की-सी ब्रज-रंजित खड़ी बोली है। 'सम्मुख जाय', 'सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', 'लीजो' ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। अकबर के समय मे गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी वैसी ही खड़ी बोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओ मे अन्तर इतना ही है कि गंग ने इधर-उधर फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे हैं पर लल्लूलालजी ने ऐसे शब्द बचाए है। भाषा की सजावट भी प्रेमसागर मे पूरी है। विरामो पर तुकबंदी के अतिरिक्त वर्णनो में वाक्य भी बडे बड़े आए हैं और अनुप्रास भी यत्र-तत्र हैं। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह कि लल्लूलालजी का काव्याभास गद्य भक्तो की कथा-वार्त्ता के काम का ही अधिकतर है; न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचार-धारा के योग्य। प्रेमसागर से दो नमूने नीचे दिए जाते हैं—

"श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पत्ती, जीव-जतुओ की दशा विचार, चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की-सी चमक थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा-सी फहराय रही थी, दादुर-मोर, कड़खैतों की-सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणो की-सी झड़ी लगी थी।

"इतना कह महादेवजी गिरजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर मे

न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वतीजी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनंद मे मग्न हो डमरू बजाय बजाय, तांडव नाच नाच, संगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।

× × × ×

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चद्रमा छबि-छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खजन खिसाय रहे।"

लल्लूलाल ने उर्दू, खडी बोली हिंदी और व्रजभाषा तीनो में गद्य की पुस्तके लिखीं। ये संस्कृत नहीं जानते थे। वृजभाषा मे लिखी हुई कथाओं और कहानियों को उर्दू और हिंदी गद्य मे लिखने के लिये इनसे कहा गया था जिसके अनुसार इन्होने सिंहासनबत्तीसी, बैताल पचीसी, शकुंतलानाटक, माधो-नल और प्रेमसागर लिखे। प्रेमसागर के पहले की चारो पुस्तके बिलकुल उर्दू मे हैं। इनके अतिरिक्त सं० १८६६ में इन्होंने "राजनीति" के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ (जो पद्य मे लिखी जा चुकी थीं) वृजभाषा-गद्य में लिखीं। माधवविलास और सभाविलास नामक व्रजभाषा पद्य के संग्रह ग्रंथ भी इन्होने प्रकाशित किए थे। इनकी 'लालचंद्रिका' नाम की बिहारी सतसई की टीका भी प्रसिद्ध है। इन्होने अपना एक निज का प्रेस कलकत्ते में (पटल-डाँगे मे) खोला था जिसे ये सं० १८८१ में फोर्ट विलियम कालेज की नौकरी से पेंशन लेने पर, आगरे लेते गए। आगरे में प्रेस जमाकर ये एक बार फिर कलकत्ते गए, जहाँ इनकी मृत्यु हुई। अपने प्रेस का नाम इन्होने "संस्कृत प्रेस" रखा था, जिसमे अपनी पुस्तको के अतिरिक्त ये रामायण आदि पुरानी पोथियाँ भी छापा करते थे। इनके प्रेस की छपी पुस्तको की लोग बहुत कदर करते थे।

(४) सदल मिश्र—ये बिहार के रहनेवाले थे। फोर्ट विलियम कालेज मे ये भी काम करते थे। जिस प्रकार उक्त कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूलाल ने खड़ी बोली गद्य की पुस्तक तैयार की, उसी प्रकार इन्होने भी।

इनका "नासिकेतोपाख्यान" भी उसी समय लिखा गया जिस समय 'प्रेमसागर'। पर दोनो की भाषा मे बहुत अंतर है। लल्लूलाल के समान इनकी भाषा मे न तो व्रजभाषा के रूपो की वैसी भरमार है और न परंपरागत काव्यभाषा की पदावली का स्थान-स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है। पर इनकी भाषा भी साफ सुथरी नहीं है। व्रजभाषा के भी कुछ रूप हैं और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान-स्थान पर मिलते हैं। "फूलन्ह के बिछौने" "चहुँदिस", "सुनि", "सोनन्ह के थंम" आदि प्रयोग व्रजभाषा के है। "इहाँ", "मतारी", "बरते थे", "जुड़ाई", "बाजने लगा", "जौन" आदि पूरबी शब्द हैं। भाषा के नमूने के लिये "नासिकेतोपाख्यान" से थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जाता है—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, मातापिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो बध करते है वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म मे दिन-रात लगे रहते हैं, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते, औरो की पीडा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही मे गड़े रहते है वो मातापिता की हित बात को नही सुनते, सबसे बैर करते है, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों मे पड़ते हैं।"

गद्य की एक साथ परंपरा चलानेवाले उपर्युक्त चार लेखकों मे से आधुनिक हिंदी का पूरा-पूरा आभास मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा मे ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्ही की भाषा ठहरती है। इन दो मे भी मुंशी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है। मुशी सदासुख ने लेखनी भी चारो में पहले उठाई, अतः गद्य का प्रवर्त्तन करनेवालो में उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य का प्रवर्त्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। इधर-उधर दो-चार पुस्तकें अनगढ़

भाषा मे लिखी गई हों तो लिखी गई हो पर साहित्य के योग्य स्वच्छ सुव्यवस्थित भाषा मे लिखी कोई पुस्तक संवत् १६१५ के पूर्व की नहीं मिलती। संवत् १८८१ मे किसी ने "गोरा बादल री बात" का, जिसे राजस्थानी पद्यो में जटमल ने संवत् १६८० में लिखा था, खड़ी बोली के गद्य मे अनुवाद किया। अनुवाद का थोड़ा सा अंश देखिए—

"गोरा बादल की कथा गुरु के बस, सरस्वती के मेहरबानगी से, पूरन भई। तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोलः से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस हे—बीररस व सिंगाररस हे, सो कथा मोरछड़ो नॉव गॉव का रहनेवाला कबेसर। उस गॉव के लोग भोहोत सुखी हे। घर घर मे आनंद होता है, कोई घर मे फकीर दीखता नहीं।"

सवत् १८६० और १६१५ के बीच का काल गद्य-रचना की दृष्टि से प्रायः शून्य ही मिलता है। सवत् १६१४ के बलवे के पीछे ही हिंदी-गद्य साहित्य की परंपरा अच्छी तरह चली।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी-गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्म-प्रचारको ने, जिन्हे अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था। सिरामपुर उस समय पादरियो का प्रधान अड्डा था। विलियम केरे (William Carey) तथा और कई अँगरेज पादरियो के उद्योग से इजील का अनुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में हुआ। कहा जाता है कि बाइबिल का हिंदी अनुवाद स्वय केरे साहब ने किया। संवत् १८६६ मे उन्होंने "नए धर्म नियम" का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया और सवत् १८७५ मे समग्र ईसाई-धर्म पुस्तक का अनुवाद पूरा हुआ। इस सबंध मे ध्यान देने की बात यह है कि इन ईसाई अनुवादको ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिलकुल दूर रखा। इससे यही सूचित होता है कि फारसी अरबी मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था। जिस भाषा मे साधारण हिंदू जनता अपने कथा-पुराण कहती सुनती आती थी उसी भाषा

का अवलंबन ईसाई उपदेशको को आवश्यक दिखाई पड़ा। जिस संस्कृत-मिश्रित भाषा का विरोध करना कुछ लोग एक फैशन समझते है उससे साधारण जन-समुदाय उर्दू की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित रहा है और है। जिन अँगरेजों को उत्तर भारत मे रहकर केवल मुंशियों और खानसामो की ही बोली सुनने का अवसर मिलता है वे अब भी उर्दू या हिंदुस्तानी को यदि जनसाधारण की भाषा समझा करे, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर उन पुराने पादरियो ने जिस शिष्ट भाषा मे जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते सुनाते पाया, उसी को ग्रहण किया।

ईसाइयो ने अपनी धर्मपुस्तक के अनुवाद की भाषा मे फारसी और अरबी के शब्द जहाँ तक हो सका है नहीं लिए है और ठेठ ग्रामीण शब्द तक बेधड़क रखे गए है। उनकी भाषा सदासुख और लल्लूलाल के ही नमूने पर चली है। उसमे जो कुछ विलक्षणता सी दिखाई पड़ती है वह मूल विदेशी भाषा की वाक्यरचना और शैली के कारण। प्रेमसागर के समान ईसाई धर्मपुस्तक मे भी 'करनेवाले' के स्थान पर 'करनहारे', 'तक' के स्थान पर 'लौं', 'कमरबंद' के स्थान पर 'पटुका' प्रयुक्त हुए है। पर लल्लूलाल के इतना ब्रजभाषापन नही आने पाया है। 'आय' 'जाय' का व्यवहार न होकर 'आके' 'जाके' व्यवहृत हुए है। सारांश यह कि ईसाई मत-प्रचारको ने विशुद्ध हिंदी का व्यवहार किया है। एक नमूना नीचे दिया जाता है—

"तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परंतु योहन यह कह के उसे बर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं! यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिये स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ।"

इसके आगे ईसाइयो की पुस्तकें और पैंफलेट बराबर निकलते रहे। उक्त

"सिरामपुर प्रेस" से संवत् १८१३ में "दाऊद के गीते" नाम की पुस्तक छपी जिसकी भाषा में कुछ फारसी अरबी के बहुत चलते शब्द भी रखे मिलते हैं। पर इसके पीछे अनेक नगरों मे बालको की शिक्षा के लिये ईसाइयों के छोटे-मोटे स्कूल खुलने लगे और शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें भी निकलने लगीं। इन पुस्तको की हिंदी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी 'बाइबिल' के अनुवाद की थी। आगरा, मिर्जापुर, मुंगेर आदि उस समय ईसाइयो के प्रचार के मुख्य केंद्र थे।

अँगरेजी की शिक्षा के लिये कई स्थानो पर स्कूल और कालेज खुल चुके थे जिनमें अँगरेजी के साथ हिंदी, उर्दू की पढ़ाई भी कुछ चलती थी। अतः शिक्षा-सबंधिनी पुस्तको की माँग स० १९०० के पहले ही पैदा हो गई थी। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकों के प्रकाशन के लिये सवत् १८९० के लगभग आगरे मे पादरियो की एक "स्कूल-बुक सोसाइटी" स्थापित हुई थी जिसने १८९४ मे इँगलैंड के इतिहास का और संवत् १८९६ मे मार्शमैन साहब के "प्राचीन इतिहास" का अनुवाद "कथासार" के नाम से प्रकाशित किया। "कथासार" के लेखक या अनुवादक पं० रतनलाल थे। इसके सपादक पादरी मूर साहब (J.J.Moore) ने अपने छोटे से अँगरेजी वक्तव्य मे लिखा था कि यदि सर्वसाधारण से इस पुस्तक को प्रोत्साहन मिला तो इसका दूसरा भाग "वर्तमान इतिहास" भी प्रकाशित किया जायगा। भाषा इस पुस्तक को विशुद्ध और पंडिताऊ है। 'की' के स्थान पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि प्रयोग बराबर मिलते है। भाषा का नमूना यह है—

"परतु सोलन-की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओ से विरोध भजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनो मे उपद्रव मचा और इसलिये प्रजा की सहायता से पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबो पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियो को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल मे दूरदर्शी और बुद्धिमानो मे अग्रगण्य था।"

आगरे की उक्त सोसाइटी के लिये संवत् १८९७ मे पंडित ओंकार भट्ट ने

'भूगोलसार' और संवत् १९०४ मे पंडित बद्रीलाल शर्मा ने "रसायनप्रकाश' लिखा। कलकत्ते मे भी ऐसी ही एक स्कूल-बुक सोसाइटी थी जिसने "पदार्थविद्यासार" (सं० १९०३) आदि कई वैज्ञानिक पुस्तके निकाली थीं। इसी प्रकार कुछ रीडरे भी मिशनरियो के छापेखानो से निकली थी—जैसे "आजमगढ़ रीडर" जो इलाहाबाद मिशन प्रेस से संवत् १८९७ मे प्रकाशित हुई थी।

बलवे के कुछ पहले ही मिर्जापुर मे ईसाइयो का एक "आरफेन प्रेस" खुला था जिससे शिक्षा संबंधिनी कई पुस्तके शेरिग साहब के संपादन में निकली थीं, जैसे—भूचरित्रदर्पण, भूगोल विद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतुप्रबंध, विद्यासागर, विद्वान् संग्रह। ये पुस्तके संवत् १९१२ और १९१९ के बीच की हैं। तब से मिशन सोसाइटियो के द्वारा बराबर विशुद्ध हिंदी मे पुस्तके और पैंफलेट आदि छपते आ रहे है जिनमे कुछ खंडन मंडन, उपदेश और भजन आदि रहा करते है। भजन रचनेवाले कई अच्छे ईसाई कवि हो गए हैं जिनमे दो एक अँगरेज भी थे। "आसी" और "जान" के भजन देशी ईसाइयों मे बहुत प्रचलित हुए और अब तक गाए जाते हैं। सारांश यह कि हिंदी-गद्य के प्रसार मे ईसाइयो का बहुत कुछ योग रहा। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तके तो पहले पहल उन्हीं ने तैयार की। इन बातो के लिये हिंदी-प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहेगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाइयो के प्रचार कार्य्य का प्रभाव हिंदुओ की जन-संख्या पर ही पड़ रहा था। अतः हिंदुओ के शिक्षित वर्ग के बीच स्वधर्म-रक्षा की आकुलता दिखाई पड़ने लगी। ईसाई उपदेशक हिंदू-धर्म की स्थूल और बाहरी बातो को लेकर ही अपना खंडन-मंडन चलाते आ रहे थे। यह देखकर बंगाल मे राजा राममोहन राय उपनिषद् और वेदांत का ब्रह्मज्ञान लेकर उसका प्रचार करने खड़े हुए। नूतन शिक्षा के प्रभाव से पढ़े-लिखे लोगों में से बहुतो के मन में मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जाति-पाँति, छूआ छूत आदि के प्रति अश्रद्धा हो रही थी। अतः राममोहन राय ने इन बातो को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रवर्त्तन करने के लिये 'ब्रह्म समाज' की नींव डाली। संवत् १८७२ में उन्होने वेदात-सूत्रों के भाष्य का हिंदी-अनुवाद

करके प्रकाशित कराया था। संवत् १८८६ मे उन्होंने "बंगदूत" नाम का एक संवादपत्र भी हिंदी मे निकाला। राजा साहब की भाषा में एक-आध जगह कुछ बँगलापन जरूर मिलता है, पर उसका रूप अधिकांश में वही है जो शास्त्रज्ञ विद्वानों के व्यवहार मे आता था। नमूना देखिए—

"जो सब ब्राह्मण साग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण-धर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्रीजी ने जो पत्र साग वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं"।

कई नगरो मे, जिनमे कलकत्ता मुख्य था, अब छापेखाने हो गए थे। बंगाल से कुछ अंगरेजी और कुछ बँगला के पत्र भी निकलने लगे थे जिनके पढनेवाले भी हो गए थे। इस परिस्थिति मे पं० जुगुलकिशोर ने, जो कानपुर के रहनेवाले थे, संवत् १८८३ मे "उदतमार्त्तंड" नाम का एक संवादपत्र निकाला, जिसे हिंदी का पहला समाचारपत्र समझना चाहिए जैसा कि उसके इस लेख से प्रकट होता है—

"*यह उदत-मार्त्तंड अब पहिले पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेत* जो आज तक किसी ने नहीं चलाया, पर अँगरेजी ओ पारसी ओ बँगले मे जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियो के जान्ने ओ पढ़नेवालो को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेयँ ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाखे की उपज न छोड़ें इसलिए..... श्रीमान् गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस मे चित्त में लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा। जो कोई प्रशस्त लोग इस खबर के कागज के लेने की इच्छा करें तो अमड़ा तला की गली ३७ अंक मार्त्तंड-छापाघर मे अपना नाम ओ ठिकाना भेजने ही से सतवारे के सतवारे यहाँ के रहनेवाले घर बैठे ओ बाहिर के रहनेवाले डाक पर कागज पाया करेंगे।"

यह पत्र एक ही वर्ष चलकर सहायता के अभाव से बंद हो गया। इसमे

'खड़ी बोली' का 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से उल्लेख किया गया है। भाषा का स्वरूप दिखाने के लिये कुछ और उद्धरण दिए जाते है—

(१) एक यशी वकील वकालत का काम करते करते बुड्ढा होकर अपने दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया औ प्रसन्न होकर बोला—हे महाराज ! आपने जो फलाने का पुराना औ संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुनकर वकील पछता करके बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठा के दे गए औ हमने भी उसको बना रखा औ अब तक भली भाँति अपना दिन काटा औ वही मोकद्दमा तुमको सौंपकर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे, पर तुम थोड़े से दिनों में उसे खो बैठे।

(२) १९ नवंबर को अवधबिहारी बादशाह के आवने की तोपें छूटीं। उस दिन तीसरे पहर को ष्टलिंग साहिब औ हेल साहिब औ मेजर फिंडल लार्ड साहिब की ओर से अवधबिहारी की छावनी में जा करके बड़े साहिब का सलाम कहा और भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर अवधबिहारी बादशाह के जाने के लिये कानपुर के तले गंगा में नावों की पुलबंदी हुई और बादशाह बड़े ठाट से गंगा पार हो गवरनर जेनरेल बहादुर के सन्निध गए।

रीति-काल के समाप्त होते होते अँगरेजी राज्य देश में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। इस राजनीतिक घटना के साथ ही साथ देशवासियों की शिक्षाविधि में भी परिवर्तन हो चला। अँगरेज सरकार ने अँगरेजी की शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की। संवत् १८५४ में ही ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास अँगरेजी की शिक्षा द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाने का परामर्श भेजा गया था। पर उस समय उस पर कुछ न हुआ। पीछे राजा राममोहन राय प्रभृति कुछ शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनों के उद्योग से अँगरेजी की पढ़ाई के लिये कलकत्ते मे हिंदू कालेज की स्थापना हुई, जिसमें से लोग अँगरेजी पढ़-पढ़कर निकलने और सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों को न था। अँगरेजी के सिवाय यदि किसी भाषा पर ध्यान जाता था तो संस्कृत या अरबी

पर। संस्कृत की पाठशालाओं और अरबी के मदरसो को कंपनी की सरकार से थोड़ी बहुत सहायता मिलती आ रही थी। पर अँगरेजी के शौक के सामने इन पुरानी संस्थाओ की ओर से लोग उदासीन होने लगे। इनको जो सहायता मिलती थी धीरे धीरे वह भी बद हो गई। कुछ लोगो ने इन प्राचीन भाषाओ की शिक्षा का पक्ष ग्रहण किया था पर मेकाले ने अँगरेजी भाषा की शिक्षा का इतने जोरों के साथ समर्थन किया और पूरबी साहित्य के प्रति ऐसी उपेक्षा प्रकट की कि अंत मे सवत् १८९२ (मार्च ७, सन् १८३५) मे कंपनी की सरकार ने अँगरेजी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया और धीरे धीरे अँगरेजी के स्कूल खुलने लगे।

अँगरेजी-शिक्षा की व्यवस्था हो जाने पर अँगरेज सरकार का ध्यान अदालती भाषा की ओर गया। मोगलों के समय मे अदालती कार्रवाइयाँ और दफ्तर के सारे काम फारसी भाषा मे होते थे। जब अँगरेजों का आधिपत्य हुआ तब उन्होने भी दफ्तरों मे वही परपरा जारी रखी।

दफ्तरों की भाषा फारसी रहने तो दी गई, पर उस भाषा और लिपि से जनता के अपरिचित रहने के कारण लोगो को जो कठिनता होती थी उसे कुछ दूर करने के लिये संवत् १८६० मे, एक नया कानून जारी होने पर, कपनी सरकार की ओर से यह आज्ञा निकाली गई—

"किसी को इस बात का उजुर नहीं होए कि ऊपर के दफे का लीखा हुकुम सभसे वाकीफ नहीं है, हरी एक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है कि इस आईन के पावने पर एक एक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फारसी व नागरी भाखा वो अच्छर मे लीखाय कै...कचहरी मे लटकावही।... अदालत के जज साहेब लोग के कचहरी मे भी तमामी आदमी के बुझने के वास्ते लटकावही (अँगरेजी सन् १८०३ साल, ३१ आईन २० दफा)"।

फारसी के अदालती भाषा होने-के कारण जनता को जो कठिनाइयाँ होती थीं उनका अनुभव अधिकाधिक होने लगा। अतः सरकार ने संवत् १८९३ (सन् १८३६ ई०) में 'इश्तहारनामे' निकाले कि अदालती सब काम देश की प्रचलित भाषाओ मे हुआ करें। हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड की

तरफ से जो 'इश्तहार-नामः' हिंदी में निकला था उसकी नकल नीचे दी जाती है—

इश्तहारनामः बोर्ड सदर

पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और पारसी कै नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २९ जुलाई सन् १८३६ ई०।

इस इस्तहारनामे में स्पष्ट कहा गया है कि बोली 'हिंदी' ही हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। खेद की बात है कि यह उचित व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमानो की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरो में हिंदी रहने न पाए, उर्दू चलाई जाय। उनका चक्र बराबर चलता रहा, यहाँ तक कि एक वर्ष बाद ही अर्थात् १८९४ (सन् १८३७ ई०) मे उर्दू हमारे प्रांत के सब दफ्तरों की भाषा कर दी गई।

सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फारसीमय रूप लिखने-पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया। जीविका और मान-मर्यादा की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया। देश-भाषा के नाम पर लड़को को उर्दू ही सिखाई जाने लगी। उर्दू पढ़े लिखे लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। हिंदी की काव्य-परंपरा यद्यपि राजदरबारों के आश्रय मे चली चलती थी पर उसके पढ़नेवालो की भी संख्या घटती जा रही थी। नवशिक्षित लोगो का लगाव उसके साथ कम होता जा रहा था। ऐसे प्रतिकूल समय मे साधारण जनता के साथ साथ उर्दू पढ़े-लिखे लोगों की भी जो थोड़ी बहुत दृष्टि अपने पुराने साहित्य की ओर बनी हुई थी वह धर्मभाव से। तुलसीकृत रामायण की चौपाइयाँ और सूरदासजी के भजन आदि ही उर्दूग्रस्त लोगों का कुछ लगाव

"भाखा" से भी बनाए हुए थे। अन्यथा अपने परंपरागत साहित्य से नव-शिक्षित लोगो का अधिकांश कालचक्र के प्रभाव से विमुख हो रहा था। शृंगाररस की भाषा-कविता का अनुशीलन भी गाने बजाने आदि के शौक की तरह इधर उधर बना हुआ था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई।...हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरो मे लिखी जाती थी।"

सवत् १९०२ मे यद्यपि राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग मे नहीं आए थे पर विद्याव्यसनी होने के कारण अपनी भाषा हिंदी की ओर उनका ध्यान था। अतः इधर उधर दूसरी भाषाओं मे समाचारपत्र निकलते देख उन्होने उक्त सवत् में उद्योग करके काशी से "बनारस अखबार" निकलवाया। पर अखबार पढ़नेवाले पहले पहल नवशिक्षितों मे ही मिल सकते थे जिनकी लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। अतः इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रखी गई, यद्यपि अक्षर देवनागरी के थे। यह पत्र बहुत ही घटिया कागज पर लीथो मे छपता था। भाषा इसकी यद्यपि गहरी उर्दू होती थी पर हिंदी की कुछ सूरत पैदा करने के लिये बीच बीच मे 'धर्मात्मा', 'परमेश्वर', 'दया' ऐसे कुछ शब्द भी रख दिए जाते थे। इसमें राजा साहब भी कभी कभी कुछ लिख दिया करते थे। इस पत्र की भाषा का अंदाजा नीचे उद्धृत अंश से लग सकता है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा जाहिर हो चुका है।.....देखकर लोग उस पाठशाले के किते के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजबीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ़ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

इस भाषा को लोग हिंदी कैसे समझ सकते थे? अतः काशी से ही एक दूसरा पत्र "सुधाकर" बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनो के उद्योग से

संवत् १९०७ मे निकला। कहते हैं कि काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषी सुधाकरजी का नामकरण इसी पत्र के नाम पर हुआ था। जिस समय उनके चाचा के हाथ में डाकिए ने यह पत्र दिया था ठीक उसी समय भीतर से उनके पास सुधाकरजी के उत्पन्न होने की खबर पहुँची थी। इस पत्र की भाषा बहुत कुछ सुधरी हुई तथा ठीक हिंदी थी, पर यह पत्र कुछ दिन चला नहीं। इसी समय के लगभग अर्थात् संवत् १९०९ मे आगरे से किसी मुंशी सदासुखलाल के प्रबंध और संपादन मे "बुद्धिप्रकाश" निकला जो कई वर्ष तक चलता रहा। "बुद्धिप्रकाश" की भाषा उस समय को देखते हुए बहुत अच्छी होती थी। नमूना देखिए—

"कलकत्ते के समाचार

इस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रगट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गंगा-तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिये उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते है और 'हरी बोल, हरी बोल' कहकर उसका जीव लेते हैं।

स्त्रियो की शिक्षा के विषय

स्त्रियों मे संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियां अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना-पढाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लडकों को भूलचूक से बचावें और सरल-सरल विद्या उन्हें सिखावें।"

इस प्रकार हम देखते है कि अदालती भाषा उर्दू बनाई जाने पर भी विक्रम के २०वी शताब्दी के आरंभ के पहले से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य की परंपरा हिंदी-साहित्य मे अच्छी तरह चल पड़ी, उसमे पुस्तके छपने लगीं, अखबार निकलने लगे। पद्य की भाषा व्रजभाषा ही बनी रही। अब अँगरेज सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की शिक्षा की ओर गया और उसकी व्यवस्था की बात सोची जाने लगी। हिंदी को अदालतो से निकालने में मुसलमानो को सफलता

हो चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न मे लगे कि हिंदी को शिक्षा क्रम मे भी स्थान न मिले, उसकी पढ़ाई का भी प्रबंध न होने पाए। अतः सर्वसाधारण की शिक्षा के लिये सरकार की ओर से जब जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिंदी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक रखा जाय तब प्रभावशाली मुसलमानो की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया। यहाँ तक कि तंग आकर सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और उसने सवत् १९०५ (सन् १८४८) मे यह सूचना निकाली—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियो के लिये आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय मे ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी सख्या देहली कालेज मे बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नही देखेंगे।"

हिंदी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढती गई। सवत् १९११ के पीछे जब शिक्षा का पक्का प्रबंध होने लगा तब यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्युलर स्कूलो मे हिंदी की शिक्षा जारी ही न होने पाए। विरोधके नेता थे सर सैयद अहमद साहब, जिनका अँगरेजो के बीच बडा मान था। वे हिंदी को एक "गँवारी बोली" बताकर अँगरेजो को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे। इस प्रात के हिंदुओ में राजा शिवप्रसाद अँगरेजो के उसी ढंग के कृपापात्र थे जिस ढंग के सर सैयद अहमद। अतः हिंदी की रक्षा के लिये उन्हे खड़ा होना पड़ा और वे बराबर इस सबंध में यत्नशील रहे। इससे हिंदी-उर्दू का झगड़ा बीसो वर्ष तक—भारतेंदु के समय तक—चलता रहा।

गार्सां द तासी एक फरासीसी विद्वान् थे जो पैरिस मे हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उन्होने संवत् १८९६ मे 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा था जिसमें उर्दू के कवियों के साथ हिंदी के भी कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियो का उल्लेख था। संवत् १९०९ (५ दिसंबर सन् १८५२) के अपने व्याख्यान मे उन्होने उर्दू और हिंदी दोनो भाषाओ की युगपद् सत्ता इन शब्दो मे स्वीकार की थी—

"उत्तर के मुसलमानों की भाषा यानी हिंदुस्तानी उर्दू पश्चिमोत्तर प्रदेश

(अब संयुक्त प्रांत) की सरकारी भाषा नियत की गई है। यद्यपि हिंदी भी उर्दू के साथ साथ उसी तरह बनी है जिस तरह वह फारसी के साथ थी। बात यह है कि मुसलमान बादशाह सदा से एक हिंदी सेक्रेटरी, जो हिंदी-नवीस कहलाता था और एक फारसी सेक्रेटरी जिसको फारसी-नवीस कहते थे, रखा करते थे, जिसमे उनकी आज्ञाएँ दोनो भाषाओं में लिखी जायँ। इस प्रकार अँगरेज सरकार पश्चिमोत्तर-प्रदेश मे हिंदू जनता के लाभ के लिये प्रायः सरकारी कानूनो का नागरी अक्षरों मे हिंदी-अनुवाद भी उर्दू कानूनी पुस्तकों के साथ-साथ देती है"।

तासी के व्याख्यानो से पता लगता है कि उर्दू के अदालती भाषा नियत हो जाने पर कुछ दिन सीधी भाषा और नागरी अक्षरों में भी कानूनों और सरकारी आज्ञाओं के हिंदी-अनुवाद छपते रहे। जान पड़ता है कि उर्दू के पक्षपातियों का जोर जब बढ़ा तब उनका छपना एकदम बंद हो गया। जैसा कि अभी कह आए हैं राजा शिवप्रसाद और भारतेंदु के समय तक हिंदी उर्दू का झगड़ा चलता रहा। गार्सां द तासी ने भी फ्रांस में बैठे बैठे इस झगड़े मे योग दिया। वे अरबी फारसी के अभ्यासी और हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उस समय के अधिकांश और यूरोपियनों के समान उनका भी मजहबी संस्कार प्रबल था। यहाँ जब हिंदी-उर्दू का सवाल उठा तब सर सैयद अहमद, जो अँगरेजों से मेल जोल रखने की विद्या मे एक ही थे, हिंदी-विरोध मे और बल लाने के लिये मजहबी नुसखा भी काम में लाए। अँगरेजों को सुझाया गया कि हिंदी हिंदुओं की जबान है जो 'बुतपरस्त' हैं और उर्दू मुसलमानों की जिनके साथ अँगरेजों का मजहबी रिश्ता है—दोनो 'सामी' या पैगंबरी मत को माननेवाले हैं।

जिस गार्सां द तासी ने संवत् १९०९ के आसपास हिंदी और उर्दू दोनों का रहना आवश्यक समझा था और कभी कहा था कि—

"यद्यपि मै खुद उर्दू का बड़ा भारी पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे विचार में हिंदी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं"।

वही गार्सां द तासी आगे चलकर मजहबी कट्टरपन की प्रेरणा से, सर सैयद अहमद की भरपेट तारीफ करके हिंदी के संबंध में फरमाते हैं—

"इस वक्त हिंदी की हैसियत भी एक बोली (dialect) की सी रह गई है, जो हर गॉव मे अलग-अलग ढंग से बोली जाती है" ।

हिंदी-उर्दू का झगडा उठने पर आपने मजहबी रिश्ते के खयाल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया और कहा—

"हिंदी मे हिंदू-धर्म का आभास है—वह हिंदू-धर्म जिसके मूल में बुत-परस्ती और उसके आनुषगिक विधान है। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी सस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धात है, इसलिये इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती है" ।

सवत् १९२७ के अपने व्याख्यान मे गार्सा द तासी ने साफ खोलकर कहा—

"मैं सैयद अहमद खाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान् की तारीफ में और ज्यादा नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नही है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते, पर हिंदू लोग मूर्त्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नही मानते।"

परंपरा से चली आती हुई देश की भाषा का विरोध और उर्दू का समर्थन कैसे कैसे भावों की प्रेरणा से किया जाता रहा है, यह दिखाने के लिये इतना बहुत है। विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश भर में प्रचलित अक्षरो और वर्णमाला को छोड़ना असंभव था वैसे ही परंपरा से चले आते हुए हिंदी-साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा-विधान मे देश की असली भाषा हिंदी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्य-साहित्य तो प्रचुर परिमाण मे भरा पड़ा था। अतः जिस रूप में वह था उसी रूप मे उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींच-तान आरंभ हुई। इसी खींच-तान के समय मे राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान मे आए।

प्रकरण २

गद्य-साहित्य का आविर्भाव

किस प्रकार हिंदी के नाम से नागरी अक्षरो मे उर्दू ही लिखी जाने लगी थी, इसकी चर्चा 'बनारस अखबार' के संबंध में कर आए हैं[1]। संवत् १९१३ मे अर्थात् बलवे के एक वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग मे इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उस समय और दूसरे विभागो के समान शिक्षा-विभाग में भी मुसलमानो का जोर था जिनके मन मे 'भाखापन' का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिये 'भाखा', संस्कृत से लगाव रखनेवाली हिंदी, न सीखनी पड़े। अतः उन्होने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिंदी की भी पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालती कामों मे उर्दू ही काम में लाई जाती है तब एक और जबान का बोझ डालने से क्या लाभ? 'भाखा' में हिंदुओ की कथा वार्त्ता आदि कहते सुन वे हिंदी को हिंदुओ की मजहबी जबान कहने लगे थे। उनमे से कुछ लोग हिंदी को "गँवारी बोली" भी कहा करते थे। इस परिस्थिति मे राजा शिवप्रसाद को हिंदी की रक्षा के लिये बड़ी मुश्किलो का सामना करना पड़ा। हिंदी का सवाल जब आता तब मुसलमान उसे 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करते। अतः राजा साहब के लिये यही संभव दिखाई पड़ा कि जहाँ तक हो सके ठेठ हिंदी का आश्रय लिया जाय जिसमे कुछ फारसी अरबी के चलते शब्द भी आएँ। उस समय साहित्य के कोर्स के लिये पुस्तके नही थीं। राजा साहब स्वयं तो पुस्तके तैयार करने मे लग ही गए, पंडित श्रीलाल और पडित वंशीधर आदि अपने कई मित्रो को भी उन्होने पुस्तकें लिखने मे लगाया। राजा साहब ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कई कहानियाँ आदि लिखीं—जैसे, राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियो को कोड़ा, इत्यादि। संवत् १९०६ और १९१६

---

[1]—देखो पृ० ४३१।

के बीच शिक्षा-सबंधी अनेक पुस्तके हिंदी मे निकलीं जिनमे से कुछ का उल्लेख किया जाता है—

पं० वंशीधर ने, जो आगरा नार्मल स्कूल के मुदर्रिस थे, हिंदी-उर्दू का एक पत्र निकाला था जिसके हिंदी कालम का नाम "भारत-खंडामृत" और उर्दू कालम का नाम "आबेहयात" था। उनकी लिखी पुस्तको के नाम ये है—

(१) पुष्पवाटिका (गुलिस्ताँ के एक अंश का अनुवाद, सं० १९०९)

(२) भारतवर्षीय इतिहास (सं० १९१३)

(३) जीविका-परिपाटी (अर्थशास्त्र की पुस्तक, सं० १९१३)

(४) जगत् वृत्तांत (स० १९१५)

पं० श्रीलाल ने संवत् १९०९ मे 'पत्रमालिका' बनाई। गार्सा द तासी ने इन्हे कई एक पुस्तको का लेखक कहा है।

बिहारीलाल ने गुलिस्ताँ के आठवे अध्याय का हिंदी-अनुवाद सं० १९१९ मे किया।

पं० बद्रीलाल ने डाक्टर बैलंटाइन के परामर्श के अनुसार सं० १९१९ मे 'हितोपदेश' का अनुवाद किया जिसमें बहुत सी कथाएँ छाँट दी गई थीं। उसी वर्ष 'सिद्धात-सग्रह' (न्याय शास्त्र) और 'उपदेश पुष्पवती' नाम की दो और पुस्तके निकली थीं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रारंभ मे राजा साहब ने जो पुस्तके लिखीं वे बहुत ही चलती सरल हिंदी मे थीं; उनमें वह उर्दूपन नहीं भरा था जो उनकी पिछली किताबो (इतिहास तिमिरनाशक आदि) में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये "राजा भोज का सपना" से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

"वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् मे व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बडे भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र के तरंगों का नमूना और खजाना उसका

सोने-चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगो के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।"

अपने "मानवधर्मसार" की भाषा उन्होंने अधिक संस्कृत-गर्भित रखी है। इसका पता इस उद्धृत अश से लगेगा—

"मनुस्मृति हिंदुओ का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिंदू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद मे लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिये औषधि समझना; और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्राचार्यो मे मनुजी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं क्योकि उन्होने अपने धर्मशास्त्र मे संपूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है। ... ...खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिंदू कहला के अपने मानव-धर्मशास्त्र को न जाने और सारे कार्य उसके विरुद्ध करें।

"मानवधर्मसार की भाषा राजा शिवप्रसाद की स्वीकृत भाषा नहीं। प्रारंभ-काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिंदी के पक्षपाती थे जिसमे सर्वसाधारण के बीच प्रचलित अरबी-फारसी शब्दो का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' मे, जो साहित्य की पाठ्य-पुस्तक थी, उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत् १९१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अँगरेज अधिकारियो का रुख देखकर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेगे। जो हो संवत् १९१७ के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तके राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए है। "इतिहास-तिमिर-नाशक" भाग २ की अँगरेजी भूमिका मे, जो सन् १८६४ की लिखी है, राजा साहब ने साफ लिखा है कि "मैंने 'बैताल-पचीसी' की भाषा का अनुकरण किया है"—

'I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of

Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books and use in their stead Sanskrit words quite out of place and fashion or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population × × × × × × I have adopted, to a certain extent, the language of the Baital Pachisi.'

लल्लूलालजी के प्रसंग मे यह कहा जा चुका है कि "बैताल-पचीसी" की भाषा बिल्कुल उर्दू है। राजा साहब ने अपने इस उर्दूवाले पिछले सिद्धांत का "भाषा का इतिहास" नामक जिस लेख मे निरूपण किया है, वही उनकी उस समय की भाषा का एक खास उदाहरण है, अतः उसका कुछ अश यहाँ दिया जाता है—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम-फ़हम और खास-पसंद हों अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते है और जो यहाँ के पढ़े लिखे आलिम फ़ाज़िल, पंडित, विद्वान् की बोल चाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिएँ और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ; जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है अच्छा नही है, या कविताई की ज़रूरत या इल्मी ज़रूरत या कोई और ख़ास ज़रूरत साबित हो जाय।"

भाषा-संबंधी जिस सिद्धात का प्रतिपादन राजा साहब ने किया है उसके अनुकूल उनकी यह भाषा कहाँ तक है, पाठक आप समझ सकते हैं। 'आम-फहम' 'खास पसंद' 'इल्मी जरूरत' जनता के बीच प्रचलित शब्द कदापि नहीं हैं। फारसी के 'आलिम फाजिल' चाहे ऐसे शब्द बोलते हो पर संस्कृत हिंदी के 'पंडित विद्वान्' तो ऐसे शब्दों से कोसो दूर हैं। किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की सस्कृति परंपरा से होता है। अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा मे जो रोचकता या शब्दो मे जो सौंदर्य्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रकृति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप रंग, आचार व्यवहार

आदि का योग रहता है उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दो के थोड़े बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हजारों वर्ष से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूप-रंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था। यह प्रकृति-विरुद्ध भाषा खटकी तो बहुत लोगो को होगी, पर असली हिंदी का नमूना लेकर उस समय राजा लक्ष्मणसिंह ही आगे बढ़े। उन्होंने संवत् १९१८ मे "प्रजाहितैषी" नाम का एक पत्र आगरे से निकाला और १९१९ में "अभिज्ञान-शाकुंतल" का अनुवाद बहुत ही सरस और विशुद्ध हिंदी मे प्रकाशित किया। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध मे मानो फिर से आँख खुली। राजा साहब ने उस समय इस प्रकार की भाषा जनता के सामने रखी—

"अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है?"

यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य मे चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रससिद्ध शब्द लिए हुए है। रघुवंश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन मे राजा लक्ष्मणसिंहजी ने भाषा के संबंध मे अपना मत स्पष्ट शब्दो मे प्रकट किया है—

"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी है। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढे हुए हिंदुओ की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी पारसी के। परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी, पारसी के शब्द भरे हों।"

अब भारत की देश भाषाओं के अध्ययन की ओर इंगलैंड के लोगों का भी ध्यान अच्छी तरह जा चुका था। उनमें जो अध्ययनशील और विवेकी थे, जो अखंड भारतीय साहित्य परंपरा और भाषा-परंपरा से अभिज्ञ हो गए थे,

उन पर अच्छी तरह प्रकट हो गया था कि उत्तरीय भारत की असली स्वाभाविक भाषा का स्वरूप क्या है। ऐसे अँगरेज विद्वानो मे **फ्रेडरिक पिन्काट** का स्मरण हिंदी-प्रेमियों को सदा बनाए रखना चाहिए। इनका जन्म संवत् १८९३ में इगलैड मे हुआ। उन्होंने प्रेस के कामों का बहुत अच्छा अनुभव प्राप्त किया और अंत मे लंडन की प्रसिद्ध एलन ऐंड कपनी (W.H. Allen & Co., 13 Waterloo Place, Pall Mall S.W.) के विशाल छापेखाने के मैनेजर हुए। वही वे अपने जीवन के अंतिम दिनो के कुछ पहले तक शातिपूर्वक रहकर भारतीय साहित्य और भारतीय जनहित के लिये सदा उद्योग करते रहे।

संस्कृत की चर्चा पिन्काट साहब लड़कपन से ही सुनते आते थे, इससे उन्होंने बहुत परिश्रम के साथ उसका अध्ययन किया। इसके उपरांत उन्होने हिंदी और उर्दू का अभ्यास किया। इंगलैड मे बैठे ही बैठे उन्होंने इन दोनो भाषाओं पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया कि इनमे लेख और पुस्तके लिखने और अपने प्रेस मे छपाने लगे। यद्यपि उन्होंने उर्दू का भी अच्छा अभ्यास किया था, पर उन्हे इस बात का अच्छी तरह निश्चय हो गया था कि यहाँ की परपरागत प्रकृत भाषा हिंदी है, अतः जीवन भर ये उसी की सेवा और हित-साधना मे तत्पर रहे। उनके हिंदी लेखो, कविताओं और पुस्तकों की चर्चा आगे चलकर भारतेंदु-काल के भीतर की जायगी।

संवत् १९४७ में इन्होने उपर्युक्त ऐलन कंपनी से संबंध तोड़ा और गिलबर्ट ऐंड रिविगटन (Gilbert and Rivington, Clerkenwell, London) नामक विख्यात व्यवसाय-कार्यालय मे पूर्वीय मंत्री (Oriental Adviser and Expert) नियुक्त हुए। उक्त कपनी की ओर से एक व्यापारी पत्र "आईनः सौदागरी" उर्दू मे निकलता था जिसका सपादन पिन्काट साहब करते थे। उन्होने उसमें कुछ पृष्ठ हिंदी के लिये भी रखे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी के लेख वे ही लिखते थे। लेखों के अतिरिक्त हिंदुस्तान मे प्रकाशित होनेवाले हिंदी-समाचारपत्रों (जैसे, हिंदोस्तान, आर्य्यदर्पण, भारतमित्र) से उद्धरण भी उस पत्र के हिंदी विभाग में रहते थे।

भारत का हित वे सच्चे हृदय से चाहते थे। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, कार्त्तिकप्रसाद खत्री, इत्यादि हिंदी-लेखकों से उनका बराबर हिंदी में पत्र-व्यवहार रहता। उस समय के प्रत्येक हिंदी-लेखक के घर मे पिन्काट साहब के दो चार पत्र मिलेंगे। हिंदी के लेखकों और ग्रंथकारो का परिचय इंगलैंडवालों को वहाँ के पत्रों मे लेख लिखकर वे बराबर दिया करते थे। संवत् १९५७ (नवंबर सन् १८९५) मे वे रीआ घास (जिसके रेशो से अच्छे कपड़े बनते थे) की खेती का प्रचार करने हिंदुस्तान में आए, पर साल भर से कुछ ऊपर ही यहाँ रह पाए थे कि लखनऊ मे उनका देहांत (७ फरवरी १८९६ को) हो गया। उनका शरीर भारत की मिट्टी मे ही मिला।

संवत् १९१९ मे जब राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुंतला-नाटक' लिखा तब उसकी भाषा देख वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उसका एक बहुत सुंदर परिचय उन्होने लिखा। बात यह थी कि यहाँ के निवासियों पर विदेशी प्रकृति और रूप-रंग की भाषा का लादा जाना वे बहुत अनुचित समझते थे। अपना यह विचार उन्होंने अपने उस अँगरेजी लेख में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है जो उन्होंने बा० अयोध्याप्रसाद खत्री के "खड़ी बोली का पद्य" की भूमिका के रूप मे लिखा था। देखिए, उसमे वे क्या कहते हैं—

"फारसी-मिश्रित हिंदी (अर्थात् उर्दू या हिंदुस्तानी) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुई। इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खड़ी हो गई। पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी, जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिये विवश किए जाते हैं।"

पहले कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकाव हो जाने पर भी साहित्य की पाठ्यपुस्तक "गुटका" मे भाषा का आदर्श हिंदी ही रखा। उक्त गुटका में उन्होंने 'राजा भोज का सपना', 'रानी केतकी की कहानी' के साथ ही साथ राजा लक्ष्मणसिंह के "शकुंतला नाटक" का भी बहुत सा अंश रखा। पहला गुटका शायद संवत् १९२४ में प्रकाशित हुआ था।

संवत् १९१९ और १९२४ के बीच कई संवादपत्र हिंदी में निकले। "प्रजा-हितैषी" का उल्लेख हो चुका है। संवत् १९२० में 'लोकमित्र' नाम का एक

पत्र ईसाई धर्म-प्रचार के लिये आगरे (सिकंदरे) से निकलता था जिसकी भाषा शुद्ध हिंदी होती थी। लखनऊ से जो "अवध अखबार" (उर्दू) निकलने लगा था उसके कुछ भाग मे हिंदी के लेख भी रहते थे।

जिस प्रकार इधर संयुक्त प्रांत में राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग मे रहकर हिंदी की किसी न किसी रूप में रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पंजाब में बाबू नवीनचद्र राय महाशय कर रहे थे। संवत् १९२० और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न भिन्न विषयो की बहुत सी हिंदी पुस्तके तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराईं। ये पुस्तके बहुत दिनो तक वहाँ कोर्स में रहीं। पंजाब मे स्त्री-शिक्षा का प्रचार करनेवालों में ये मुख्य थे। शिक्षा-प्रचार के साथ साथ समाज-सुधार आदि के उद्योग मे भी ये बराबर रहा करते थे। ईसाइयो के प्रभाव को रोकने के लिये किस प्रकार बंगाल मे ब्रह्म-समाज की स्थापना हुई थी और राजा राममोहन राय ने हिंदी के द्वारा भी उसके प्रचार की व्यवस्था की थी, इसका उल्लेख पहले हो चुका है[1]। नवीनचद्र ने ब्रह्म-समाज के सिद्धांतो के प्रचार के उद्देश्य से समय समय पर कई पत्रिकाएँ भी निकालीं। संवत् १९२४ (मार्च सन् १८६७) में उनकी 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' निकली जिसमें शिक्षा-संबंधी तथा साधारण ज्ञान-विज्ञानपूर्ण लेख भी रहा करते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि शिक्षा विभाग द्वारा जिस हिंदी गद्य के प्रचार में ये सहायक हुए वह शुद्ध हिंदी गद्य था। हिंदी को उर्दू के झमेले में पड़ने से ये सदा बचाते रहे।

हिंदी की रक्षा के लिये उर्दू के पक्षपातियो से इन्हे उसी प्रकार लड़ना पड़ता था जिस प्रकार यहाँ राजा शिवप्रसाद को। विद्या की उन्नति के लिये लाहौर में 'अंजुमन लाहौर' नाम की एक सभा स्थापित थी। संवत् १९२३ के उसके एक अधिवेशन में किसी सैयद हादी हुसैन खाँ ने एक व्याख्यान देकर उर्दू को ही देश में प्रचलित होने के योग्य कहा। उस सभा की दूसरी बैठक मे नवीन बाबू ने खाँ साहब के व्याख्यान का पूरा खडन करते हुए कहा—

"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ न होगा क्योकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी-

---

[1]—देखो पृ० ४२६–२७।

फारसी के शब्द भर दिए हैं। पद्य या छन्दोबद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं। हिंदुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी परंपरागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं है।"

नवीन बाबू के इस व्याख्यान की खबर पाकर इसलामी तहजीब के पुराने हामी, हिंदी के पक्के दुश्मन गार्सां द तासी फ्रांस में बैठे बैठे बहुत झल्लाए और अपने एक प्रवचन मे उन्होंने बड़े जोश के साथ हिंदी का विरोध और उर्दू का पक्ष-मंडन किया तथा नवीन बाबू को कट्टर हिंदू कहा। अब यह फरासीसी हिंदी से इतना चिढ़ने लगा था कि उसके मूल पर ही उसने कुठार चलाना चाहा और बीम्स साहब (M. Beames) का हवाला देते हुए कहा कि हिंदी तो एक तूरानी भाषा थी जो संस्कृत से बहुत पहले प्रचलित थी; आर्यों ने आकर उसका नाश किया, और जो बचे-खुचे शब्द रह गए उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला। इसी प्रकार जब जहाँ कहीं हिंदी का नाम लिया जाता तब तासी बड़े बुरे ढंग से विरोध में कुछ न कुछ इसी तरह की बातें कहता।

सर सैयद अहमद का अँगरेज अधिकारियों पर कितना प्रभाव था, यह पहले कहा जा चुका है। संवत् १९२५ में इस प्रांत के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष हैवेल (M. S. Havell) साहब ने अपनी यह राय जाहिर की—

"यह अधिक अच्छा होता यदि हिंदू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

इस राय को गार्सां द तासी ने बड़ी खुशी के साथ अपने प्रवचन मे शामिल किया। इसी प्रकार इलाहाबाद इंस्टिट्यूट (Allahabad Institute) के एक अधिवेशन मे (संवत् १९२५) जब यह विवाद हुआ था कि 'देसी जबान' हिंदी को माने या उर्दू को, तब हिंदी के पक्ष मे कई वक्ता उठकर बोले थे। उन्होंने कहा था कि अदालतों मे उर्दू जारी होने का यह फल हुआ है कि अधिकांश जनता—विशेषतः गाँवो की—जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित है, बहुत कष्ट उठाती है, इससे हिंदी का जारी होना बहुत आवश्यक है। बोलनेवालों मे

से किसी किसी ने कहा कि केवल अक्षर नागरी के रहे और कुछ लोगो ने कहा कि भाषा भी बदलकर सीधी सादी की जाय। इस पर भी गार्सां द तासी ने हिंदी के पक्ष मे बोलनेवालों का उपहास किया था।

उसी काल मे इंडियन डेली न्यूज (Indian Daily News) के एक लेख मे हिंदी प्रचलित किये जाने का आवश्यकता दिखाई गई थी। उसका भी जवाब देने तासी साहब खड़े हुए थे। 'अवध अखबार' मे जब एक बार हिंदी के पक्ष में लेख छपा था तब भी उन्होने उसके सपादक की राय का जिक्र करते हुए हिंदी को एक 'भद्दी बोली' कहा था जिसके अक्षर भी देखने में सुडौल नहीं लगते।

शिक्षा के आदोलन के साथ ही साथ ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिये मत-मतातर सबंधी आदोलन देश के पच्छिमी भागो में भी चल पडे। पैगंबरी एकेश्वरवाद की ओर नवशिक्षित लोगों को खिचते देख स्वामी दयानद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए और संवत् १९२० से उन्होने अनेक नगरो मे घूम घूमकर व्याख्यान देना आरंभ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यान देश मे बहुत दूर तक प्रचलित साधु हिंदी भाषा मे ही होते थे। स्वामीजी ने अपना "सत्यार्थ प्रकाश" तो हिंदी या आर्य्य-भाषा में प्रकाशित ही किया, वेदो के भाष्य भी संस्कृत और हिंदी दोनों मे किए। स्वामीजी के अनुयायी हिंदी को "आर्य्यभाषा" कहते थे। स्वामीजी ने संवत् १९३२ मे आर्य्यसमाज की स्थापना की और सब आर्य्यसमाजियों के लिये हिंदी या आर्य्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। युक्त प्रात के पश्चिमी जिलों और पजाब मे आर्य्य समाज के प्रभाव से हिंदी-गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। पंजाबी बोली मे लिखित साहित्य न होने से और मुसलमानो के बहुत अधिक संपर्क से पजाबवालो की लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। आज जो पंजाब मे हिंदी की पूरी चर्चा सुनाई देती है, इन्हीं की बदौलत है।

संवत् १९१० के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् पडिंत श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरंभ हुई।

जलंधर के पादरी गोकुलनाथ के व्याख्यानो के प्रभाव से कपूरथला-नरेश महाराज रणधीर सिंह ईसाई मत की ओर झुक रहे थे। पंडित श्रद्धारामजी तुरंत संवत् १९२० मे कपूरथले पहुँचे और उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रमधर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गए। पजाब के सब छोटे-बड़े स्थानों मे घूमकर पंडित श्रद्धारामजी उपदेश और वक्तृताएँ देते तथा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ सुनाते। उनकी कथाएँ सुनने के लिये बहुत दूर दूर से लोग आते और सहस्रो आदमियो की भीड़ लगती थी। उनकी वाणी मे अद्भुत आकर्षण था और उनकी भाषा बहुत जोरदार होती थी। स्थान स्थान पर उन्होंने धर्मसभाएँ स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किए। उन्होंने पंजाबी और उर्दू मे भी कुछ पुस्तके लिखी है, पर अपनी मुख्य पुस्तके हिंदी में ही लिखी है। अपना सिद्धांत-ग्रंथ "सत्यामृत-प्रवाह" उन्होंने बड़ी प्रौढ़-भाषा मे लिखा है। वे बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेद-शास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसी से स्वामी दयानंद की बहुत सी बातो का विरोध वे बराबर करते रहे। यद्यपि वे बहुत सी ऐसी बाते कह और लिख जाते थे जो कट्टर अंधविश्वासियों को खटक जाती थी और कुछ लोग उन्हे नास्तिक तक कह देते थे पर जब तक वे जीवित रहे, सारे पंजाब के हिंदू उन्हे धर्म का स्तभ समझते रहे।

पंडित श्रद्धारामजी कुछ पद्यरचना भी करते थे। हिंदी गद्य मे तो उन्होंने बहुत कुछ लिखा और वे हिंदी भाषा के प्रचार मे बराबर लगे रहे। सवत् १९२४ मे उन्होंने "आत्म-चिकित्सा" नाम की एक अध्यात्म संबंधी पुस्तक लिखी जिसे संवत् १९२८ में हिंदी में अनुवाद करके छपाया। इसके पीछे 'तत्त्वदीपक', 'धर्मरक्षा', 'उपदेश-संग्रह' (व्याख्यानो का संग्रह), 'शतोपदेश' (दोहे) इत्यादि धर्म संबंधी पुस्तको के अतिरिक्त उन्होने अपना एक बड़ा जीवनचरित (१४०० पृष्ठ के लगभग) लिखा था जो कहीं खो गया। "भाग्यवती" नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् १९३४ में उन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

अपने समय के वे एक सच्चे हिंदी-हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। संवत्

१९३८ में उनकी मृत्यु हुई। जिस दिन उनका देहांत हुआ उस दिन उनके मुँह से सहसा निकला कि "भारत मे भाषा के लेखक दो है—एक काशी मे, दूसरा पंजाब में। परंतु आज एक ही रह जायगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चंद्र से था।

राजा शिवप्रसाद "आम फहम" और "खास पसंद" भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिंदी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात मे धार्मिक और सामाजिक आदोलनो ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। हिंदी गद्य की भाषा किस दिशा की ओर स्वभावतः जाना चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था। सारी भारतीय भाषाओ का चरित्र चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अतः गद्य के नवीन विकास मे उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था? जब कि बँगला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा था तब हिंदी गद्य उर्दू के झमेले मे पड़कर कब तक रुका रहता? सामान्य संबंध-सूत्र को त्यागकर दूसरी देश-भाषाओ से अपना नाता हिंदी कैसे तोड़ सकती थी? उनकी सगी बहन होकर एक अजनबी के रूप मे उनके साथ वह कैसे चल सकती थी? जब कि यूनानी और लैटिन के शब्द योरप की भिन्न भिन्न मूलो से निकली हुई देश-भाषाओ के बीच एक प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब एक ही मूल से निकली हुई आर्य-भाषाओ के बीच उस मूल-भाषा के साहित्यिक शब्दो की परपरा यदि संबंध-सूत्र के रूप मे चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

कुछ अँगरेज विद्वान् संस्कृतगर्भित हिंदी की हँसी उड़ाने के लिये किसी अँगरेजी वाक्य मे उसी मात्रा में लैटिन के शब्द भरकर पेश करते हैं। उन्हे समझना चाहिए कि अँगरेजी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है; पर हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं—उसी के प्राकृतिक रूपों से निकली हैं। इन आर्य भाषाओ का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ट संबंध है। इन भाषाओं के साहित्य की परंपरा को भी संस्कृत-साहित्य की परंपरा

का विस्तार कह सकते हैं। देशभाषा के साहित्य को उत्तराधिकार मे जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली है। विचार और वाणी की धारा से हिंदी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी ?

राजा लक्ष्मणसिंह के समय मे ही हिंदी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमे ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति मे भारतेंदु का उदय हुआ।

आधुनिक गद्य-साहित्य-परंपरा का प्रवर्तन

प्रथम उत्थान

(संवत् १९२५–१९५०)

सामान्य परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बडा गहरा पड़ा। उन्होने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगो ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी गद्य के प्रवर्त्तक माने गए। मुशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पडिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल मे ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्यविन्यास तक मे घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोल-चाल का पुट उसमे कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट-सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पद्य की ब्रज-भाषा का भी बहुत कुछ संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटाकर काव्य भाषा में भी वे बहुत कुछ चलतापन और सफाई लाए।

इससे भी बडा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य्य मे लाए। नई शिक्षा के प्रभाव से

लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देश-हित, समाज-हित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, शृंगार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच-बीच में कुछ शिक्षासंबंधी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं पर देशकाल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंग देश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिंदी-साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले हरिश्चंद्र ही हुए।

उर्दू के कारण अब तक हिंदी-गद्य की भाषा का स्वरूप ही झंझट में पड़ा था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था। जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिये खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव-काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर साहित्य की रचना कुछ परिमाण में हो लेती है तभी शैलियों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती हैं। भारतेंदु के प्रभाव से उनके अल्प जीवन-काल के बीच ही लेखकों का एक खासा मंडल तैयार हो गया जिसके भीतर पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं। इन लेखकों की शैलियों में व्यक्तिगत विभिन्नता स्पष्ट लक्षित हुई। भारतेंदु में ही हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की

दूसरी। भावावेश के कथनों में वाक्य प्रायः बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। जहाँ किसी ऐसे प्रकृतिस्थ भाव की व्यंजना होती है जो चिंतन का अवकाश भी बीच बीच में छोड़ता है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर होती है; वाक्य भी कुछ लंबे होते है, पर उनका अन्वय जटिल नहीं होता। तथ्य-निरूपण या सिद्धांत-कथन के भीतर संस्कृत शब्दो का कुछ अधिक मेल दिखाई पड़ता है। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वस्तु-वर्णन मे विषयानुकूल मधुर या कठोर वर्णवाले संस्कृत शब्दो की योजना की, जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती है, चाल सी चली आई है। भारतेंदु मे यह प्रवृत्ति हम सामान्यतः नही पाते।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की प्रकृति विनोदशील थी अतः उनकी भाषा बहुत ही स्वच्छंद गति से, बोलचाल की चपलता और भावभंगी लिए चलती है। हास्य-विनोद की उमंग मे वह कभी कभी मर्यादा का अतिक्रमण करती, पूरबी कहावतो और मुहावरो की बौछार छोड़ती भी चलती है। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के लेखों से गद्य-काव्य के पुराने ढंग की झलक, रंगीन इबारत की चमक-दमक बहुत कुछ मिलती है। बहुत-से वाक्य-खंडो की लड़ियों से गुथे हुए उनके वाक्य अत्यंत लंबे होते थे—इतने लंबे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पद-विन्यास मे, तथा कहीं कहीं वाक्यो के बीच-विराम-स्थलों पर भी, अनुप्रास देख इंशा और लल्लूलाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखे तो 'प्रेमघन' में पुरानी परपरा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।

पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी होती थी जैसी खरी खरी सुनाने मे काम में लाई जाती है। जिन लेखो मे उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक है। नूतन और पुरातन का वह संघर्ष-काल था इससे भट्ट जी को चिढ़ने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारों को जमाने

में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी। भाषा उनकी चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी।

ठाकुर जगमोहनसिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती जुलती है पर उसमे लंबे लंबे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रंग-स्थलियों को मार्मिक ढंग से हृदय मे जमानेवाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग विशेषता रखता है।

हरिश्चद्र-काल के सब लेखको मे अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपो का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते है। जिन शब्दो या उनके जिन रूपो से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते है और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट मे पड़कर ही करते थे। उनकी लिखावट में न 'उड्डीयमान' और 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते हैं, न 'औदार्य्य', 'सौकर्य्य' और 'मौर्ख्य' ऐसे रूप।

भारतेंदु के समय में ही देश के कोने कोने मे हिंदी-लेखक तैयार हुए जो उनके निधन के उपरांत भी बराबर साहित्य-सेवा में लगे रहे। अपने अपने विषय-क्षेत्र के अनुकूल रूप हिंदी को देने में सबका हाथ रहा। धर्म-संबंधी विषयों पर लिखनेवालों (जैसे, पं० अंबिकादत्त व्यास) ने शास्त्रीय विषयों को व्यक्त करने में, संवादपत्रों ने राजनीतिक बातों को सफाई के साथ सामने रखने में हिंदी को लगाया। साराश यह कि उस काल में हिंदी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा।

यहाँ तक तो भाषा और शैली की बात हुई। अब लेखकों का दृष्टि-क्षेत्र और उनका मानसिक अवस्थान लीजिए। हरिश्चंद्र तथा उनके समसामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिंदः-दिली। सब में हास्य या विनोद की मात्रा थोड़ी बहुत पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह भाषा पर अधिकार रखनेवाले पर संस्कारों से दबे हुए स्थिर प्रकृति के लेखक थे। उनमें वह चपलता, स्वच्छंदता और उमंग

नही पाई जाती जो हरिश्चंद्रमंडल के लेखकों मे दिखाई पड़ती है। शिक्षित समाज में संचरित भावो को भारतेंदु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप मे ग्रहण किया।

सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखको के हृदय का मार्मिक सबंध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा पूरा बना था। भिन्न भिन्न ऋतुओं मे पड़नेवाले त्योहार उनके मन में उमंग उठाते थे, परंपरा से चले आते हुए आमोद प्रमोद के मेले उनमे कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों मे इतनी धूल नही झोंकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हे सुझाई ही न पडता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्य्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के संधि स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।

विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-परंपरा का प्रवर्त्तन नाटको से हुआ। भारतेंदु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो चार ग्रंथ व्रजभाषा मे लिखे गए थे उनमे महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनदरघुनंदन नाटक' को छोड़ और किसी मे नाटकत्व न था। हरिश्चंद्र ने सबसे पहले 'विद्यासुदर नाटक' का बँगला से सुंदर हिंदी मे अनुवाद करके संवत् १९२५ मे प्रकाशित किया। उसके पहले वे 'प्रवास नाटक' लिख रहे थे, पर वह पूरा न हुआ। उन्होने आगे चल कर भी अधिकतर नाटक ही लिखे। पं० प्रतापनारायण और बदरीनारायण चौधरी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेंदु के समय में धूम से चली हुई नाटको की यह परपरा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गई। बा० रामकृष्ण वर्मा वंगभाषा के नाटको का—जैसे वीर नारी, पद्मावती, कृष्णकुमारी—अनुवाद करके नाटकों का सिलसिला कुछ चलाते रहे। इस उदासीनता का कारण उपन्यासो की ओर दिन दिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनयशालाओं

का अभाव भी कहा जा सकता है। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर रुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रचार होता है। नाटक दृश्य काव्य हैं। उनका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलम्बित रहता है। उस समय नाटक खेलनेवाली व्यवसायी पारसी कंपनियाँ थीं वे उर्दू छोड़ हिंदी नाटक खेलने को तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिंदी-प्रेमियो का उत्साह कैसे रह सकता था?

भारतेंदुजी, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी उद्योग करके अभिनय का प्रबंध किया करते थे और कभी कभी स्वयं भी पार्ट लेते थे। पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल नाटक' का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेंदुजी ने पार्ट लिया था। यह अभिनय देखने काशीनरेश महाराज ईश्वरी प्रसाद नारायणसिंह भी पधारे थे और इसका विवरण ८ मई १८६८ के इंडियन मेल (Indian Mail) मे प्रकाशित हुआ था। प्रताप-नारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिये मूँछ मुँड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है।

'काश्मीरकुसुम' (राजतरंगिणी का कुछ अंश) और 'बादशाहदर्पण' लिखकर इतिहास की पुस्तको की ओर और जयदेव का जीवनवृत्त लिखकर जीवनचरित की पुस्तकों की ओर भी हरिश्चंद्र ध्यान ले गए पर उस समय इन विषयों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति न दिखाई पड़ी।

पुस्तक-रचना के अतिरिक्त पत्रिकाओ मे प्रकाशित अनेक प्रकार के फुटकल लेख और निबंध अनेक विषयों पर मिलते हैं, जैसे, राजनीति, समाजदशा, देश-दशा, ऋतुछटा, पर्व त्योहार, जीवनचरित, ऐतिहासिक प्रसंग, जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषय (जैसे, आत्म-निर्भरता, मनोयोग, कल्पना)। लेखों और निबंधों की अनेकरूपता को देखते उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। समाजदशा और देशदशा-संबंधी लेख कुछ विचारात्मक पर अधिकांश मे भावात्मक मिलेगे। जीवनचरितों और ऐतिहासिक प्रसंगों मे इतिवृत्त के साथ भाव-व्यंजना भी गुंफित पाई जायगी। ऋतु-छटा और पर्व-त्योहारों पर अलंकृत भाषा में वर्णनात्मक प्रबध सामने आते हैं। जगत् और जीवन से संबंध रखने-वाले सामान्य विषयों के निरूपण मे विरल विचार-खंड कुछ उक्ति-वैचित्र्य के साथ

बिखरे मिलेंगे। पर शैली की व्यक्तिगत विशेषताएँ थोड़ी बहुत सब लेखकों में पाई जायँगी।

जैसा कि कहा जा चुका है हास्य विनोद की प्रवृत्ति इस काल के प्रायः सब लेखकों में थी। प्राचीन और नवीन के संघर्ष के कारण उन्हें हास्य के आलंबन दोनों पक्षों मे मिलते थे। जिस प्रकार बात बात में बाप दादो की दुहाई देनेवाले, धर्म के आडंबर की आड़ मे दुराचार छिपानेवाले पुराने खूसट उनके विनोद के लक्ष्य थे, उसी प्रकार पच्छिमी चाल-ढाल की ओर मुँह के बल गिरनेवाले फैशन के गुलाम भी।

नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नए ढंग के उपन्यासो की ओर भी ध्यान जा चुका था। अँगरेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' ही निकला था। उसके पीछे बा० राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू' और पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे छोटे उपन्यास लिखे। उस समय तक बंगभाषा मे बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिये उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए। हरिश्चंद्र ने ही अपने पिछले जीवन मे बंगभाषा के उपन्यास के अनुवाद मे हाथ लगाया था, पर पूरा न कर सके थे। पर उनके समय मे ही प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के अनुवाद किए। तदनंतर बा० गदाधरसिंह ने बंग-विजेता और दुर्गेशनंदिनी का अनुवाद किया। संस्कृत की कादंबरी की कथा भी उन्होंने बँगला के आधार पर लिखी। पीछे तो बा० राधाकृष्णदास, बा० कार्तिकप्रसाद खत्री, बा० रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला के उपन्यासो के अनुवाद की जो परंपरा चलाई वह बहुत दिनों तक चलती रही। इन उपन्यासो मे देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।

प्रथम उत्थान के अंत होते होते तो अनूदित उपन्यासों का ताँता बँध गया। पर पिछले अनुवादको का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था। अधिकाश अनुवादक प्रायः भाषा को ठीक हिंदी रूप देने में असमर्थ रहे। कहीं कहीं तो

बँगला के शब्द और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिए जाते थे—जैसे, "कॉदना", "सिहरना", "धू धू करके आग जलना", "छल छल आँसू गिरना" इत्यादि। इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।

हिंदी-गद्य की सर्वतोमुखी गति का अनुमान इसी से हो सकता है कि पचीस पत्र-पत्रिकाएँ हरिश्चंद्र के ही जीवन-काल में निकलीं जिनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१ अलमोड़ा अखबार (संवत् १९२८; संपादक पं० सदानंद सलवाल)
२ हिंदी-दीप्ति प्रकाश (कलकत्ता १९२९; सं० कार्तिकप्रसाद खत्री)
३ बिहार-बंधु (१९२९, केशवराम भट्ट)
४ सदादर्श (दिल्ली १९३१; ला० श्रीनिवास दास)
५ काशी-पत्रिका (१९३३; बा०. बालेश्वरप्रसाद, बी० ए०, शिक्षा-संबंधी मासिक)
६ भारत-बंधु (१९३३; तोताराम; अलीगढ़)
७ भारत-मित्र (कलकत्ता सं० १९३४; रुद्रदत्त)
८ मित्र-विलास (लाहौर १९३४; कन्हैयालाल)
९ हिंदी-प्रदीप (प्रयाग १९३४; पं० बालकृष्ण भट्ट; मासिक)
१० आर्य-दर्पण (शाहजहाँपुर १९३४; मुं० बख्तावर सिंह)
११ सार-सुधानिधि (कलकत्ता १९३५; सदानंद मिश्र)
१२ उचितवक्ता (कलकत्ता १९३५; दुर्गाप्रसाद मिश्र)
१३ सज्जन-कीर्ति-सुधाकर (उदयपुर १९३६; वंशीधर)
१४ भारत-सुदशाप्रवर्त्तक (फर्रुखाबाद १९३६; गणेशप्रसाद)
१५ आनंद-कादंबिनी (मिरजापुर १९३८; उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी; मासिक)
१६ देश-हितैषी (अजमेर १९३९)
१७ दिनकर-प्रकाश (लखनऊ १९४०; रामदास वर्मा)
१८ धर्म-दिवाकर (कलकत्ता १९४०; देवीसहाय)

१९ प्रयाग समाचार (१९४०; देवकीनंदन त्रिपाठी)
२० ब्राह्मण (कानपुर १९४०; प्रतापनारायण मिश्र)
२१ शुभचिंतक (जबलपुर १९४०; सीताराम)
२२ सदाचार-मार्त्तंड (जयपुर १९४०; लालचद शास्त्री)
२३ हिंदोस्थान (इँगलैंड १९४०; राजा रामपालसिंह, दैनिक)
२४ पीयूष-प्रवाह (काशी १९४१; अंबिकादत्त व्यास)
२५ भारत जीवन (काशी १९४१; रामकृष्ण वर्मा)
२६ भारतेंदु (वृंदावन १९४१, राधाचरण गोस्वामी)
२७ कविकुलकज-दिवाकर (बस्ती १९४१; रामनाथ शुक्ल)

इनमे से अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ तो थोडे ही दिन चलकर बंद हो गई, पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहित-साधन और हिंदी की सेवा की है, जैसे—विहारबंधु, भारत-मित्र, भारत-जीवन, उचितवक्ता, दैनिक हिंदोस्थान, आर्यदर्पण, ब्राह्मण, हिंदी प्रदीप। 'मित्र-विलास' सनातनधर्म का समर्थक पत्र था जिसने पंजाब मे हिंदी-प्रचार का बहुत कुछ कार्य किया था। 'ब्राह्मण', 'हिंदी-प्रदीप' और 'आनंद-कादंबिनी' साहित्यिक पत्र थे जिनमे बहुत सुदर मौलिक गद्य प्रबंध और कविताएँ निकला करती थीं। इन पत्र-पत्रिकाओ को बराबर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। 'हिंदी प्रदीप' को कई बार बंद होना पडा था। 'ब्राह्मण' संपादक पं० प्रतापनारायण मिश्र को ग्राहकों से चंदा माँगते माँगते थककर कभी कभी पत्र मे इस प्रकार याचना करनी पड़ती थी—

आठ मास बीते, जजमान ! अब तौ करौ दच्छिना दान ॥

बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने हिदी संवादपत्रो के प्रचार के लिये बहुत उद्योग किया था। उन्होंने सवत् १९३८ मे "हिंदी-दीप्ति-प्रकाश" नाम का एक संवाद-पत्र और "प्रेम-विलासिनी" नाम की एक पत्रिका निकाली थी। उस समय हिंदी सवाद-पत्र पढ़नेवाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिये बाबू कार्त्तिक-प्रसाद ने बहुत दौड़धूप की थी। लोगों के घर जा जाकर वे पत्र सुना तक आते थे। इतना सब करने पर भी उनका पत्र थोड़े दिन चलकर बंद हो गया।

संवत् १९३४ तक कोई अच्छा और स्थायी साप्ताहिक पत्र नहीं निकला था। अतः संवत् १९३४ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित छोटूलाल मिश्र, पंडित सदानंद मिश्र, बाबू जगन्नाथप्रसाद खन्ना के उद्योग से कलकत्ते में "भारतमित्र कमेटी" बनी और "भारतमित्र" पत्र बड़ी धूमधाम से निकला और बहुत दिनो तक हिंदी संवादपत्रों में एक ऊँचा स्थान ग्रहण किए रहा। प्रारंभ काल मे जब पंडित छोटूलाल मिश्र इसके संपादक थे तब भारतेंदुजी भी कभी कभी इसमें लेख दिया करते थे।

उसी संवत् मे लाहौर से "मित्र विलास" नामक पत्र पंडित गोपीनाथ के उत्साह से निकला। इसके पहले पंजाब मे कोई हिंदी का पत्र न था। केवल "ज्ञानप्रदायिनी" नाम की एक पत्रिका उर्दू-हिंदी में बाबू नवीनचंद्र द्वारा निकलती थी जिसमे शिक्षा और सुधार-संबंधी लेखों के अतिरिक्त ब्राह्मोमत की बातें रहा करतीं थीं। उसके पीछे जो "हिंदू-बाधव" निकला उसमें भी उर्दू और हिंदी दोनों रहती थीं। केवल हिंदी का एक भी पत्र न था। 'कवि-वचन-सुधा' की मनोहर लेखशैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही पंडित गोपीनाथ ने 'मित्र-विलास' निकाला था, जिसकी भाषा बहुत सुष्ठु और ओजस्विनी होती थी। भारतेंदु के गोलोकवास पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में इस पत्र ने शोक-प्रकाश किया था और उनके नाम का संवत् चलाने का आंदोलन उठाया था।

इसके उपरांत संवत् १९३५ मे पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र के संपादन में "उचितवक्ता" और पंडित सदानंद मिश्र के संपादन में "सारसुधानिधि" ये दो पत्र कलकत्ते से निकले। इन दोनो महाशयो ने बड़े समय पर हिंदी के एक बड़े अभाव की पूर्ति मे योग दिया था। पीछे कालाकाँकर के मनस्वी और देश-भक्त राजा रामपालसिंहजी अपनी मातृभाषा की सेवा के लिये खड़े हुए और संवत् १९४० में उन्होने 'हिंदोस्थान' नामक पत्र इँगलैंड से निकाला जिसमें हिंदी और अँगरेजी दोनो रहती थीं। भारतेंदु के गोलोकवास के पीछे संवत् १९४२ मे यह हिंदी दैनिक के रूप में निकला और बहुत दिनों तक चलता रहा। इसके संपादकों में देशपूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त ऐसे लोग रह चुके हैं। बाबू हरिश्चंद्र के जीवनकाल

मे ही अर्थात् मार्च सन् १८८४ ई० मे बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ने काशी से "भारत-जीवन" पत्र निकाला। इस पत्र का नामकरण भारतेंदुजी ने ही किया था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म काशी के एक संपन्न वैश्य-कुल मे भाद्र शुक्ल ५ संवत् १९०७ को और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ को हुई।

संवत् १९२२ मे वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गए। उसी यात्रा मे उनका परिचय बंग देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होने बँगला मे नए ढंग के सामाजिक, देश-देशातर-संबधी, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी मे ऐसी पुस्तको के अभाव का अनुभव किया। संवत् १९२५ में उन्होंने 'विद्यासुदर नाटक' बँगला से अनुवाद करके प्रकाशित किया। इस अनुवाद मे ही उन्होंने हिंदी-गद्य के बहुत ही सुडौल रूप का आभास दिया। इसी वर्ष उन्होंने 'कविवचनसुधा' नाम की एक पत्रिका निकाली जिसमे पहले पुराने कवियों की कविताएँ छपा करती थीं पर पीछे गद्य-लेख भी रहने लगे। संवत् १९३० मे उन्होने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओ के उपरात 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' हो गया। हिंदीगद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी 'चंद्रिका' मे प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने 'कालचक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि "हिंदी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०"।

इस 'हरिश्चंद्री हिंदी" के आविर्भाव के साथ ही नए नए लेखक भी तैयार होने लगे। 'चंद्रिका' में भारतेंदुजी आप तो लिखते ही थे, बहुत से और लेखक भी उन्होंने उत्साह दे देकर तैयार कर लिए थे। स्वर्गीय पडित बदरीनारायण चौधरी बाबू हरिश्चंद्र के संपादन-कौशल की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। बडी तेजी के साथ वे चंद्रिका के लिये लेख और नोट लिखते

और मैटर को बड़े ढंग से सजाते थे। हिंदी गद्य-साहित्य के इस आरंभ काल मे ध्यान देने की बात यह है कि इस समय जो थोड़े से गिनती के लेखक थे उनमे विदग्धता और मौलिकता थी और उनकी हिंदी हिंदी होती थी। वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचाननेवाले थे। बँगला, मराठी, उर्दू, अँगरेजी के अनुवाद का वह तूफान जो पचीस तीस वर्ष पीछे चला और जिसके कारण हिंदी का स्वरूप ही संकट मे पड़ गया था, उस समय नहीं था। उस समय ऐसे लेखक न थे जो बँगला की पदावली और वाक्य ज्यो के त्यो रखते हो या अँगरेजी वाक्यो और मुहावरों का शब्द प्रतिशब्द अनुवाद करके हिंदी लिखने का दावा करते हो। उस समय की हिंदी में न 'दिक् दिक् अशांति' थी, न 'काँदना सिहरना और छल छल अश्रुपात'; न 'जीवन होड़' और 'कवि का संदेश' था, न "भाग लेना" और "स्वार्थ लेना"।

मैगजीन मे प्रकाशित हरिश्चंद्र का "पाँचवे पैगंबर", मुशी ज्वालाप्रसाद का "कलिराज की सभा", बाबू तोताराम का "अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न", बाबू कार्त्तिकप्रसाद का "रेल का विकट खेल" आदि लेख बहुत दिनों तक लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। संवत् १९३१ मे भारतेंदुजी ने स्त्रीशिक्षा के लिये "बाला-बोधिनी" निकाली थी। इस प्रकार उन्होंने तीन पत्रिकाएँ निकालीं। इसके पहले ही संवत् १९३० मे उन्होने अपना पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का प्रहसन लिखा, जिसमे धर्म और उपासना के नाम से समाज मे प्रचलित अनेक अनाचारो का जघन्य रूप दिखाते हुए उन्होंने राजा शिवप्रसाद को लक्ष्य करके खुशामदियों और केवल अपनी मानवृद्धि की फिक्र मे रहनेवालों पर भी छींटे छोड़े। भारत के प्रेम मे मतवाले, देशहित की चिता मे व्यग्र, हरिश्चंद्र जी पर सरकार की जो कुदृष्टि हो गई थी उसके कारण बहुत कुछ राजा साहब ही समझे जाते थे।

गद्य-रचना के अंतर्गत भारतेंदु का ध्यान पहले नाटको की ओर ही गया। अपनी 'नाटक' नाम की पुस्तक मे उन्होंने लिखा है कि हिंदी मे नाटक उनके पहले दो ही लिखे गये थे—महाराज विश्वनाथसिंह का "आनंद-रघुनंदन नाटक" और बाबू गोपालचंद का "नहुष नाटक"। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों व्रजभाषा में थे। भारतेंदु-प्रणीत नाटक ये हैं—

(मौलिक)

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेम-जोगिनी, सती-प्रताप (अधूरा)।

(अनुवाद)

विद्यासुदर, पाखड विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूरमजरी, मुद्राराक्षस, सत्य-हरिश्चद्र, भारतजननी।

'सत्यहरिश्चंद्र' मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला-नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है। कहते हैं कि 'भारत-जननी' उनके एक मित्र का किया हुआ वगभाषा मे लिखित 'भारतमाता' का अनुवाद था जिसे उन्होंने सुधारते सुधारते सारा फिर से लिख डाला।

भारतेंदु के नाटको में सब से पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रो से ली है। 'चंद्रावली' में प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' पंजाब के एक हिंदू राजा पर मुसलमानो की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है। 'भारत दुर्दशा' में देश-दशा बहुत ही मनोरंजक ढंग से सामने लाई गई है। 'विषस्य विषमौषधम्' देशी रजवाडो की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिये रचा गया है। 'प्रेमजोगिनी' मे भारतेंदु ने वर्त्तमान पाषडमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उसकी विशेषता है।

नाटकों की रचना-शैली मे उन्होने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। न तो बँगला के नाटको की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ वे अँगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया। उनके नाटको मे प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका स्थानक आदि का प्रयोग भी वे कहीं कहीं कर देते थे।

यद्यपि सब से अधिक रचना उन्होंने नाटको की ही की, पर हिंदी साहित्य के सर्वतोमुख विकास की ओर भी वे बराबर दत्तचित्त रहे। 'काश्मीरकुसुम', 'बादशाहदर्पण' आदि लिखकर उन्होंने इतिहास रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों में वे उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे, पर चल बसे।

वे सिद्ध वाणी के अत्यंत सरसहृदय कवि थे। इससे एक ओर तो इनकी लेखनी से शृंगार-रस के ऐसे सम्पूर्ण और मार्मिक कवित्त-सवैये निकले कि उनके जीवन-काल में ही चारों ओर लोगो के मुँह से सुनाई पड़ने लगे और दूसरी ओर स्वदेशप्रेम भरी हुई उनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र सा फूँकने लगीं।

अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा मे दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी मे। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति मे झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मदिरों के अधिकारियो और टीकाधारी भक्तो के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्रीशिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्त्तक के रूप मे खड़े होकर उन्होने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ, इसमे संदेह नहीं।

हरिश्चंद्र के जीवन-काल मे ही लेखको और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया था। उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित केशवराम भट्ट, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पंडित राधाचरण गोस्वामी इत्यादि कई प्रौढ़ और प्रतिभाशाली लेखकों ने हिंदी-साहित्य के इस नूतन विकास में योग दिया था। भारतेंदु का अस्त तो संवत् १९४१ मे ही हो गया पर उनका यह मंडल बहुत दिनों तक साहित्य-निर्माण करता रहा। अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों की लेखनी से निकलते रहे। जो मौलिकता इन लेखकों में थी वह द्वितीय उत्थान के लेखकों में न दिखाई पड़ी। भारतेंदुजी मे हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की

शैली दूसरी। भावावेश की भाषा मे प्रायः वाक्य बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोल-चाल की होती है जिसमे बहुत प्रचलित साधारण फारसी-अरबी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। 'चंद्रावली नाटिका' से उद्धृत यह अंश देखिए—

"झूठे झूठे झूठे! झूठे ही नहीं विश्वासघातक। क्यों इतना छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते।......भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनंद था। फिर क्यों यह विषमय संसार किया? बखेड़िए! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें पर वाह रे शुद्ध बेहयाई—पूरी निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के, पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते है लाज की हवा भी नहीं जाती। हाय एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यों लड़ लड़कर सिर फोड़ते? काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे? हुक्मी बेहया हो।"

जहाँ चित्त के किसी स्थायी क्षोभ की व्यंजना है और चिंतन के लिये कुछ अवकाश है वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बड़े है, पर अन्वय जटिल नहीं है, जैसे 'प्रेमयोगिनी' में सूत्रधार के इस भाषण में—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सौजन्य का एकमात्र पात्र, भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा नाटकों का एकमात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र ही दुखी हो? (नेत्र में जल भरकर) हा सज्जनशिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना। × × × मित्र! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे।"

तथ्य-निरूपण या वस्तु-वर्णन के समय कभी कभी उनकी भाषा में संस्कृत

पदावली का कुछ अधिक समावश होता है। इसका सब से बढ़ा चढ़ा उदाहरण 'नीलदेवी' के वक्तव्य मे मिलता है। देखिए

"आज बडा दिन है, क्रिस्तान लोगों को इससे बढकर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि राग द्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध-वर्ण वसन से भूपित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है"।

पर यह भारतेंदु की असली भाषा नहीं। उनकी असली भाषा का रूप पहले दो अवतरणों में ही समझना चाहिये। भाषा चाहे जिस ढंग की हो उनके वाक्यों का अन्वय सरल होता है, उसमें जटिलता नहीं होती। उनके लेखो में भावो की मार्मिकता पाई जाती है, वाग्वैचित्र्य या चमत्कार की प्रवृत्ति नहीं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने समय के सब लेखकों मे भारतेंदु की भाषा साफ सुथरी और व्यवस्थित होती थी। उसमें शब्दो के रूप भी एक प्रणाली पर मिलते हैं और वाक्य भी सुसंबद्ध पाए जाते हैं। 'प्रेमघन' आदि और लेखकों की भाषा मे हम क्रमशः उन्नति और सुधार पाते हैं। सं० १९३८ की 'आनंदकादंबिनी' का कोई लेख लेकर १० वर्ष पश्चात् के किसी लेख से मिलान किया जाय तो बहुत अतर दिखाई पड़ेगा। भारतेंदु के लेखों मे इतना अंतर नहीं पाया जाता। 'इच्छा किया', 'आज्ञा किया' ऐसे व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग अवश्य कहीं कहीं मिलते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र के पिता उन्नाव से आकर कानपुर में बस गए थे जहाँ प्रतापनारायणजी का जन्म सं० १९१३ मे और मृत्यु सं० १९५१ में हुई। ये इतने मनमौजी थे कि आधुनिक सभ्यता और शिष्टता की कम परवा करते थे। कभी लावनीबाजो मे जाकर शामिल हो जाते थे, कभी मेलो और तमाशों में बंद इक्के पर बैठे जाते दिखाई देते थे।

प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि लेखन-कला मे भारतेंदु को ही आदर्श मानते

थे पर उनकी शैली में भारतेंदु की शैली से बहुत कुछ विभिन्नता भी लक्षित होती है। प्रतापनारायणजी मे विनोद-प्रियता विशेष थी इससे उनकी वाणी मे व्यंग्य-पूर्ण वक्रता की मात्रा प्रायः रहती है। इसके लिये वे पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी कभी बेधड़क रख दिया करते थे! कैसा ही विषय हो, वे उसमे विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ लेते थे। अपना 'ब्राह्मण' पत्र उन्होने विविध विषयों पर गद्यप्रबंध लिखने के लिये ही निकाला था। लेख हर तरह के निकलते थे। देशदशा, समाज-सुधार, नागरी-हिंदी-प्रचार, साधारण मनोरंजन आदि सब विषयों पर मिश्रजी की लेखनी चलती थी। शीर्षको के नामो से ही विषयो की अनेकरूपता का पता चलेगा। जैसे 'घूरे क लत्ता बिनै, कनातन क डौल बाँधै", "समझदार की मौत है", "बात", "मनोयोग", "वृद्ध", "भौं"। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर ही अधिक रहती थी, पर जब कभी कुछ गंभीर विषयो पर वे लिखते थे तब संयत और साधु भाषा का व्यवहार करते थे। दोनो प्रकार की लिखावटो के नमूने नीचे दिए जाते है—

समझदार की मौत है

सच है "सब ते भले हैं मूढ़ जिन्हे न व्यापै जगतगति"। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियो से गप मारा करना, जो कोई तिथ त्योहार आ पड़ा तो गंगा मे बदन धो आना, गगापुत्र को चार पैसे देकर सेत-मेत मे धरम-मूरत, धरमऔतार का खिताब पाना; ससार परमार्थ दोनो तो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खै खै? आफत तो बिचारे जिंदादिलो की है जिन्हें न यो कल न वों कल; जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान् कहते थे "गीर्वाणवाणीषु विशालबुद्धिरतथान्यभाषा रसलोलुपोहम्"। अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओ का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है; अब यह चिंता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे।

मनोयोग

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं उन सब में मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमे मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता के साथ होते हैं और जो

उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य्य भी हों किंतु भले प्रकार पूर्ण रीति से संपादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनंद लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर-रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छंद रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है।

प्रतापनारायणजी ने फुटकल गद्यप्रबंधों के अतिरिक्त कई नाटक भी लिखे। 'कलिकौतुक रूपक' में पाखंडियों और दुराचारियों का चित्र खींचकर उनसे सावधान रहने का संकेत किया गया है। 'संगीत शाकुंतल' लावनी के ढंग पर गाने योग्य खड़ी बोली मे पद्यबद्ध शकुंतला नाटक है। भारतेंदु के अनुकरण पर मिश्रजी ने 'भारतदुर्दशा' नाम का नाटक भी लिखा था। 'हठी हम्मीर' रणथंभौर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृत्त लेकर लिखा गया है। 'गोसंकट नाटक' और 'कलि-प्रभाव नाटक' के अतिरिक्त 'जुआरी खुआरी' नामक उनका एक प्रहसन भी है।

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में सं० १९०१ मे और परलोकवास सं० १९७१ मे हुआ। वे प्रयाग के 'कायस्थ-पाठशाला कालेज' में संस्कृत के अध्यापक थे।

उन्होंने संवत् १९३३ मे अपना "हिंदी-प्रदीप" गद्य-साहित्य का ढर्रा निकालने के लिये ही निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के छोटे छोटे गद्यप्रबंध वे अपने पत्र में तीस बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे। उनके लिखने का ढंग पंडित प्रतापनारायण के ढंग से मिलता जुलता है। मिश्रजी के समान भट्टजी भी स्थान स्थान पर कहावतो का प्रयोग करते थे, पर उनका झुकाव मुहावरों की ओर कुछ अधिक रहा है। व्यंग्य और वक्रता उनके लेखों में भी भरी रहती है और वाक्य भी कुछ बड़े बड़े होते है। ठीक खड़ी बोली के आदर्श का निर्वाह भट्टजी ने भी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं। "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझाय" वे प्रायः लिख जाते थे। उनके लिखने के ढंग से यह जान पड़ता है कि वे

ॲगरेजी पढ़े-लिखे नवशिक्षित लोगों को हिंदी की ओर आकर्षित करने के लिये लिख रहे हैं। स्थान स्थान पर ब्रैकेट मे घिरे "Education," "Society," "National vigour and strength," "Standard," "Character" इत्यादि ॲगरेजी शब्द पाए जाते हैं। इसी प्रकार फ़ारसी-अरबी के लफ्ज ही नहीं बड़े बड़े फिकरे तक भट्टजी अपनी मौज मे आकर रखा करते थे। इस प्रकार उनकी शैली मे एक निरालापन झलकता है। प्रतापनारायण के हास्यविनोद से भट्टजी के हास्यविनोद में यह विशेषता है कि वह कुछ चिड़चिड़ाहट लिए रहता था। पदविन्यास भी कभी कभी उनका बहुत ही चोखा और अनूठा होता था।

अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध भट्टजी ने लिखे हैं, पर सब छोटे छोटे। वे बराबर कहा करते थे कि न जाने कैसे लोग बड़े बड़े लेख लिख डालते हैं। मुहावरों की सूझ उनकी बहुत अच्छी थी। "ऑख", "कान", "नाक" आदि शीर्षक देकर उन्होंने कई लेखों मे बडे ढंग के साथ मुहावरो की झड़ी बॉध दी है। एक बार वे मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई ऑखों पर हाथ रखे उन्हे दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा "भैया! ऑख मे क्या हुआ है?" उत्तर मिला "ऑख आई है।" वे चट बोल उठे "भैया! यह ऑख बड़ी बला है, इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।" अनेक विषयो पर गद्य-प्रबंध लिखने के अतिरिक्त "हिंदी-प्रदीप" द्वारा भट्टजी सस्कृत-साहित्य और संस्कृत के कवियों का परिचय भी अपने पाठकों को समय समय पर कराते रहे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पडित बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्यसाहित्य में वही काम किया है जो ॲगरेजी गद्य-साहित्य मे एडीसन और स्टील ने किया था। भट्टजी की लिखावट के दो नमूने देखिए—

कल्पना

× × × यावत् मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है? अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गए। कणाद तिनका खा खाकर किनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्वो

की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् 'पीले पड़ गये। व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है।

आत्म-निर्भरता

इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेजी राज्य के अमनचैन का फायदा पाय हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके, वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहिले से ड्योढ़ी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जन-संख्या अवश्य घटनी चाहिए। × × × आत्म-निर्भरता में दृढ़, अपने कूवते-बाज़ू पर भरोसा रखनेवाला पुष्टवीर्य्य, पुष्ट-बल, भाग्यवान् एक संतान अच्छा। 'कूकर सूकर से' निकम्मे, रंग रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी दस किस काम के?

निबंधों के अतिरिक्त भट्टजी ने कई छोटे-मोटे नाटक भी लिखे हैं जो क्रमशः उनके 'हिंदी-प्रदीप' मे छपे हैं, जैसे—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बालविवाह नाटक, चंद्रसेन नाटक। उन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' नामक वंगभाषा के दो नाटकों के अनुवाद भी निकाले थे।

सं० १९४२ में भट्टजी ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगतास्वयंवर' नाटक की 'सच्ची समालोचना' भी, और पत्रों मे उसकी प्रशंसा ही प्रशंसा देखकर, की थी। उसी वर्ष उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी ने बहुत ही विस्तृत समालोचना अपनी पत्रिका में निकाली थी। इस दृष्टि से सम्यक् आलोचना का हिंदी में सूत्रपात करनेवाले इन्हीं दो लेखकों को समझना चाहिए।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी का जन्म मिरजापुर के एक अभिजात ब्राह्मण-वंश में भाद्र कृष्ण ६ सं० १९१२ को और मृत्यु फाल्गुन शुक्ल १४ सं० १९७९ को हुई। उनकी हर एक बात से रईसी टपकती थी। बातचीत का ढंग उनका बहुत ही निराला और अनूठा था। कभी कभी बहुत ही सुंदर वक्रता-पूर्ण वाक्य उनके मुँह से निकलते थे। लेखन-कला के उनके

सिद्धांत के कारण उनके लेखो मे यह विशेषता नहीं पाई जाती। वे भारतेंदु के घनिष्ठ मित्रों में थे और वेश भी उन्हीं का-सा रखते थे।

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप मे ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले—लेखक थे और कभी कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक एक डेढ़ डेढ़ कालम के लंबे वाक्य में उलझा रह जाता था। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। वे कोई लेख लिखकर जब तक कई बार उसका परिष्कार और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने नहीं देते थे। भारतेंदु के वे घनिष्ठ मित्र थे पर लिखने में उनके "उतावलेपन" की शिकायत अकसर किया करते थे। वे कहते थे कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी उमंग मे जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुंदर हो जाता। एक बार उन्होंने मुझसे कांग्रेस के दो दल हो जाने पर एक नोट लिखने को कहा। मैंने जब लिखकर दिया तब उसके किसी वाक्य को पढ़कर वे कहने लगे कि इसे यो कर दीजिए—"दोनों दलो की दलादली मे दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।" भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ आडंबर के रूप में नहीं होता था, उनके लेख अर्थ-गर्भित और सूक्ष्म विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिंदी का था।

चौधरी साहब ने कई नाटक लिखे हैं। 'भारत-सौभाग्य' कांग्रेस के अवसर पर खेले जाने के लिये सन् १८८८ मे लिखा गया था। यह नाटक विलक्षण है। पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के हैं कि अभिनय दुस्साध्य ही समझिए। भाषा भी रंग-बिरंगी है—पात्रों के अनुरूप उर्दू, मारवाड़ी, बैसवाडी, भोजपुरी, पंजाबी, मराठी, बंगाली सब कुछ मिलेगी। नाटक की कथावस्तु है बद-एकबाल-हिंद की प्रेरणा से सन् १८५७ का गदर, अँगरेजों के अधिकार की पुनः प्रतिष्ठा और नेशनल कांग्रेस की स्थापना। नाटक के आरंभ के दृश्यों मे लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा का भारत से प्रस्थान भारतेंदु के "पै धन बिदेश

चलि जात यहै अति ख्वारी" से अधिक काव्योचित और मार्मिक है।

'प्रयाग-रामागमन' नाटक मे राम का भरद्वाज आश्रम में पहुँचकर आतिथ्य ग्रहण है। इसमें सीता की भाषा व्रज रखी गई है 'वारांगना रहस्य महानाटक (अथवा वेश्याविनोद महानाटक)'। दुर्व्यसन-ग्रस्त समाज का चित्र खींचने के लिये उन्होंने सं० १९४३ से ही उठाया और थोड़ा थोड़ा करके समय समय पर अपनी 'आनंद-कादबिनी' में निकालते रहे, पर पूरा न कर सके। इसमे जगह जगह शृंगाररस के श्लोक, कवित्त-सवैये, गजल, शेर इत्यादि रखे गए हैं।

विनोदपूर्ण प्रहसन तो अनेक प्रकार के ये अपनी पत्रिका में बराबर निकालते रहे।

सच पूछिए तो "आनंद-कादंबिनी" प्रेमघनजी ने अपने ही उमड़ते हुए विचारों और भावों को अंकित करने के लिये निकाली थी। और लोगो के लेख इसमें नहीं के बराबर रहा करते थे। इस पर भारतेंदुजी ने उनसे एक बार कहा था कि "जनाब! यह किताब नहीं कि जो आप अकेले ही हरकाम फरमाया करते हैं, बल्कि अखबार है कि जिसमे अनेक जन लिखित लेख होना आवश्यक है; और यह भी जरूरत नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।" अपनी पत्रिका में किस शैली की भाषा लेकर चौधरी साहब मैदान में आए इसे दिखाने के लिये हम उसके प्रारंभ काल (संवत् १९३८) की एक संख्या से कुछ अंश नीचे देते हैं—

"परिपूर्ण पावस

जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा; भूमि हरी-भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, मानों मारे मोद के रोमांच की अवस्था को प्राप्त भई। सुंदर हरित पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लताएँ लिपट लिपट मानों मुग्ध मयंकमुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं। इनसे युक्त पर्वतों के शृंगों के नीचे सुंदरी-दरी-समूह से स्वच्छ श्वेत जल-प्रवाह ने मानों पारा की धारा और बिल्लौर की ढार को तुच्छ कर युगल पार्श्व की हरी-भरी भूमि के, कि जो मारे हरेपन के

श्यामता की झलक दे अलक की शोभा लाई है, बीचोबीच माँग सी काढ़ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुंबुल अर्थात् हंसराज की जटाओं का फैलना बिथरी हुई लटों के लावण्य का लाना है।"

कादम्बिनी मे समाचार तक कभी कभी बड़ी रंगीन भाषा मे लिखे जाते थे। संवत् १९४२ की संख्या का एक 'स्थानिक संवाद' देखिए—

"दिव्यदेवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्य्यन्त बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' पहाड़ ढकेल, फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।"

पीछे जो उनका साप्ताहिक पत्र "नागरी नीरद" निकला उसके शीर्षक भी वर्षा के खासे रूपक हुए; जैसे, "संपादकीय-संमति-समीर", "प्रेरित-कलापि-कलरव", "हास्य-हरितांकुर", "वृत्तांत बलाकावलि", "काव्यामृत वर्षा", "विज्ञापन-बीर-बहूटियाँ", "नियम निर्घोष"।

समालोचना का सूत्रपात हिंदी मे एक प्रकार से भट्टजी और चौधरी साहब ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषयो का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं ने चलाई। बाबू गदाधर-सिंह ने "बंगविजेता" का जो अनुवाद किया था उसकी आलोचना कादंबिनी में पाँच पृष्ठों मे हुई थी। लाला श्रीनिवासदास के "संयोगता स्वयंवर" की बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना चौधरीजी ने कादंबिनी के २१ पृष्ठो मे निकाली थी। उसका कुछ अंश नमूने के लिये नीचे दिया जाता है—

"यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओ की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है, क्योकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नही दिखाते।

× × × ×

नाट्य-रचना के बहुतेरे दोष 'हिंदी-प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समालोचना' में दिखलाए हैं। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते; हम केवल यहाँ अलग

अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते हैं जो प्रधान और विशेष हैं। तो जानना चाहिए कि यदि यह संयोगता स्वयंवर पर नाटक लिखा गया तो इसमें कोई दृश्य स्वयंवर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है, क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है।

× × × ×

नाटक के प्रबंध का कुछ कहना ही नहीं, एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान-परिवर्त्तन के कारण गर्भांक की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी पर्दे के बदलने को दूसरा गर्भांक मानते हैं, सो आपने एक ही गर्भांक में तीन स्थान बदल डाले।

× × × ×

गर्जें कि इस सफ़हे की कुल स्पीचें 'मरचेंट आफ़ वेनिस' से ली गईं। पहिले तो मैं यह पूछता हूँ कि विवाह में मुद्रिका परिवर्त्तन की रीति इस देश की नहीं, बल्कि यूरोप की (है)। मैंने माना कि आप शकुंतला को दुष्यंत के मुद्रिका देने का प्रमाण देंगे, पर वो तो परिवर्त्तन न था किंतु महाराज ने अपना स्मारक चिह्न दिया था।"

लाला श्रीनिवासदास के पिता लाला मंगलीलाल मथुरा के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद के मुनीम क्या मैनेजर थे जो दिल्ली मे रहा करते थे। वहीं श्रीनिवासदास का जन्म सवत् १६०८ मे और मृत्यु सं० १९४४ मे हुई।

भारतेंदु के सम-सामयिक लेखकों में उनका भी एक विशेष स्थान था। उन्होंने कई नाटक लिखे हैं। "प्रह्लाद-चरित्र" ११ दृश्यों का एक बड़ा नाटक है, पर उसके संवाद आदि रोचक नहीं, भाषा भी अच्छी नहीं। "तप्ता-संवरण नाटक" सन् १८७४ के 'हरिश्चंद्र मैगजीन' मे छपा था, पीछे सन् १८८३ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमे तप्ता और संवरण की पौराणिक प्रेम कथा है। सवरण ने तप्ता के ध्यान मे लीन रहने के कारण गौतम मुनि को प्रणाम नहीं किया। इसपर उन्होंने शाप दिया कि जिसके ध्यान में तुम मग्न हो वह तुम्हें भूल जाय। फिर सदय होकर शाप का यह परिहार उन्होंने बताया कि अंग-स्पर्श होते ही उसे तुम्हारा स्मरण हो जायगा।

लालाजी के "रणधीर और प्रेममोहिनी" नाटक की उस समय अधिक

चर्चा हुई थी। पहले पहल यह नाटक सं० १९३४ में प्रकाशित हुआ था और इसके साथ एक भूमिका थी जिसमें नाटको के संबंध मे कई बातें अंगरेजी नाटको पर दृष्टि रखकर लिखी गई थीं। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यह नाटक उन्होने अँगरेजी नाटकों के ढंग पर लिखा था। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाम ही "रोमियो ऐंड जुलियट" की ओर ध्यान ले जाता है। कथा-वस्तु भी इसकी सामान्य प्रथानुसार पौराणिक या ऐतिहासिक न होकर कल्पित है। पर यह वस्तु-कल्पना मध्ययुग के राजकुमार-राजकुमारियो के क्षेत्र के भीतर ही हुई है—पाटन का राजकुमार है और सूरत की राजकुमारी। पर दृश्यों मे देश-कालानुसार सामाजिक परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया है। कुछ दृश्य तो आजकल का समाज सामने लाता है, कुछ मध्ययुग का और कुछ उस प्राचीन काल का जब स्वयवर की प्रथा प्रचलित थी। पात्रो के अनुरूप भाषा रखने के प्रयत्न मे मुंशीजी की भाषा इतनी घोर उर्दू कर दी गई है कि केवल हिंदी-पढ़ा व्यक्ति एक पंक्ति भी नहीं समझ सकता। कहाँ स्वयवर, कहाँ ये मुंशी जी!

जैसा ऊपर कहा गया है, यह नाटक अँगरेजी नाटकों के ढंग पर लिखा गया है। इसमें प्रस्तावना नहीं रखी गई है। दूसरी बात यह कि यह दुःखांत है। भारतीय रूपक-क्षेत्र मे दुःखांत नाटको का चलन न था। इसकी अधिक चर्चा का एक कारण यह भी था।

लालाजी का "संयोगता-स्वयंवर" नाटक सबसे पीछे का है। यह पृथ्वीराज द्वारा संयोगता-हरण का प्रचलित प्रवाद लेकर लिखा गया है।

श्रीनिवासदास ने "परीक्षागुरु" नाम का एक शिक्षाप्रद उपन्यास भी लिखा। वे खड़ी बोली की बोलचालके शब्द और मुहावरे अच्छे लाते थे। उपर्युक्त चारों लेखको मे प्रतिभाशालियो का मनमौजीपन था, पर लाला श्रीनिवासदास व्यवहार मे दक्ष और संसार का ऊँचा नीचा समझनेवाले पुरुष थे। अतः उनकी भाषा संयत और साफ-सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी। 'परीक्षा-गुरु' से कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

'मुझे आपकी यह बात बिलकुल अनोखी मालूम होती है। भला, परोपकारादि शुभ कामों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?" पंडित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

"जैसे अन्न प्राणाधार है परंतु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है" लाला

ब्रजकिशोर कहने लगे "देखिए परोपकार की इच्छा अत्यंत उपकारी है परंतु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूलखर्ची समझी जायगी और अपने कुटुंब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की, तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी। इसी तरह कुपात्र में भक्ति होने से लोक परलोक दोनों नष्ट हो जायँगे। न्यायपरता यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखनेवाली है, परंतु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धिवृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार में मन अत्यंत लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी। आनुषंगिक प्रवृत्ति के प्रबल होने से जैसा संग होगा वैसा रंग तुरंत लग जाया करेगा।"

ऊपर उद्धरण मे अँगरेजी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच मे या अंत मे "अमुक ने कहा" "अमुक कहने लगे" ध्यान देने योग्य है। खैरियत हुई कि इस प्रथा का अनुसरण हिंदी के उपन्यासो में नहीं हुआ।

भारतेंदुजी के मित्रों मे कई बातो मे उन्ही की-सी तबीयत रखनेवाले विजयराघवगढ़ (मध्य प्रदेश) के राजकुमार **ठाकुर जगमोहनसिंहजी** थे। उनका जन्म श्रावण शुक्ल १४ सं० १९१४ को और मृत्यु सं० १९५६ (मार्च सन् १८९९) में हुई। वे शिक्षा के लिये कुछ दिन काशी मे रखे गए थे जहाँ उनका भारतेंदु के साथ मेल जोल हुआ। वे संस्कृत साहित्य और अँगरेजी के अच्छे जानकार तथा हिंदी के एक प्रेम-पथिक कवि और माधुर्य्यपूर्ण गद्य-लेखक थे। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश मे निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूप-माधुर्य्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति, उनमें थी वैसी उस काल के किसी हिंदी-कवि या लेखक में नहीं पाई जाती। अब तक जिन लेखकों की चर्चा हुई उनके हृदय में इस भूखड की रूपमाधुरी के प्रति कोई सच्चा प्रेम-सस्कार न था। परपरा पालन के लिये चाहे प्रकृति का वर्णन उन्होंने किया हो पर वहाँ उनका हृदय नहीं मिलता। अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य-जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने "श्यामा स्वप्न" में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण आदि कवियों

और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव-क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहनसिंहजी ने नरक्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रो के सौंदर्य के मेल मे देखा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि-संस्कार के साथ भारतभूमि की प्यारी रूप रेखा को मन में बसानेवाले वे पहले हिंदी लेखक थे, यहाँ पर बस इतना ही कहकर हम उनके "श्यामा-स्वप्न" का एक दृश्य-खंड नीचे देते हैं—

"नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल नाम से प्रसिद्ध है—

याही मग ह्वै कै गए दंडकबन श्री राम।
तासों पावन देस वह विंध्याटवी ललाम॥

मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ ?......जहाँ की निर्झरिणी—जिनके तीर वानीर से भिरे, मदकल-कूजित विहंगमों से शोभित है, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती है। × × × जहाँ के शल्लकी-वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं।

ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरो को अपने पुण्य-जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।

इस नदी के तीर अनेक जंगली गाँव बसे हैं। मेरा ग्राम इन सभो से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है। इसके नाम ही को सुनकर तुम जानोगे कि यह कैसा सुंदर ग्राम है। × × × × इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आम के आराम पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × × पुराने टूटे-फूटे देवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़, जहाँ झुंड के झुंड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा बताते है। पौ फटते और गोधूली के

समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानों कुहिरा गिरता हो। × × × × ऐसा सुंदर ग्राम, जिसमें श्यामसुंदर स्वयं विराजमान हैं, मेरा जन्म-स्थान था।"

कवियों के पुराने प्यार की बोली में देश की दृश्यावली को सामने रखने का मूक समर्थन तो इन्होंने किया ही है, साथ ही भाव प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप को अंकित करनेवाली एक प्रकार की प्रलापशैली भी इन्होने निकाली जिसमे रूपविधान का वैलक्षण्य प्रधान था, न कि शब्दविधान का। क्या अच्छा होता यदि इस शैली का हिंदी में स्वतंत्र रूप से विकास होता। तब तो बंग-साहित्य मे प्रचलित इस शैली का शब्दप्रधान रूप, जो हिंदी पर कुछ काल से चढ़ाई कर रहा है और अब काव्यक्षेत्र का अतिक्रमण कर कभी कभी विषय-निरूपक निबंधो तक का अर्थग्रास करने दौड़ता है, शायद जगह न पाता।

बाबू तोताराम—ये जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म स० १९०४ में और मृत्यु दिसंबर १९०२ में हुई। बी० ए० पास करके ये हेडमास्टर हुए पर अंत मे नौकरी छोड़कर अलीगढ़ मे प्रेस खोलकर "भारतबंधु' पत्र निकालने लगे। हिंदी का हर एक प्रकार से हितसाधन करने के लिये जब भारतेंदुजी खड़े हुए थे उस समय उनका साथ देनेवालो मे ये भी थे। इन्होने "भाषासंवर्द्धिनी" नाम की एक सभा स्थापित की थी। ये हरिश्चद्र-चंद्रिका के लेखकों मे से थे। उसमें 'कीर्त्तिकेतु' नाम का इनका एक नाटक भी निकला था। ये जब तक रहे, हिंदी के प्रचार और उन्नति मे लगे रहे। इन्होने कई पुस्तके लिखकर अपनी सभा के सहायतार्थ अर्पित की थीं—जैसे 'केटोकृतांत नाटक' (अँगरेजी का अनुवाद), स्त्रीसुबोधिनी। भाषा इनकी साधारण अर्थात् विशेषतारहित है। इनके 'कीर्तिकेतु' नाटक का एक भाषण देखिए—

"यह कौन नहीं जानता? परंतु इस नीच संसार के आगे कीर्तिकेतु बिचारे की क्या चलती है? जो पराधीन होने ही से प्रसन्न रहता है और सिसुमार की सरन जा गिरने का जिसे चाव है, हमारा पिता अत्रिपुर में बैठा हुआ वृथा रमावती नगरी की नाम मात्र प्रतिष्ठा बनाए है। नवपुर की निर्बल सेना और एक रीती थोथी, सभा जो निष्फल युद्धों से शेष रह गई है, वह उसके संग है। हे ईश्वर!"

भारतेंदु के साथ हिंदी की उन्नति में योग देनेवालों में नीचे लिखे महानुभाव भी विशेष उल्लेख योग्य हैं—

पं० केशवराम भट्ट महाराष्ट्र ब्राह्मण थे जिनके पूर्वज बिहार मे बस गए थे। उनका जन्म स० १९११ और मृत्यु सं० १९६१ मे हुई। उनका सबंध शिक्षा विभाग से था। कुछ स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होने 'सज्जाद-सुबुल' और 'शमशाद-सौसन' नामक दो नाटक भी लिखे जिनकी भाषा उर्दू ही समझिए। इन दोनो नाटकों की विशेषता यह है कि ये वर्त्तमान जीवन को लेकर लिखे गए है। इनमे हिंदू, मुसलमान, अँगरेज, लुटेरे, लफगे, मुकदमेबाज, मारपीट करनेवाले, रुपया हजम करनेवाले इत्यादि अनेक ढग के पात्र आए हैं। स० १९२९ में उन्होने 'विहारबंधु' निकाला था और १९३१ मे 'विहार-बंधु प्रेस' खोला था।

पं० राधाचरण गोस्वामी का जन्म वृंदावन मे स० १९१५ में हुआ और मृत्यु स० १९८२ (दिसंबर सन् १९२५) मे हुई। ये संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' को देखते देखते इनमें देशभक्ति और समाज-सुधार के भाव जगे थे। साहित्य-सेवा के विचार से इन्होने 'भारतेदु' नाम का एक पत्र कुछ दिनो तक वृंदावन से निकाला था। अनेक सभा समाजों मे सम्मिलित होने और समाज सुधार का उत्साह रखने के कारण ये कुछ ब्रह्म-समाज की ओर आकर्षित हुए थे और उसके पक्ष मे 'हिंदू बाधव' मे कई लेख भी लिखे थे। भाषा इनकी गठी हुई होती थी।

इन्होने कई बहुत ही अच्छे मौलिक नाटक लिखे हैं। जैसे, सुदामा नाटक, सती चद्रावली, अमरसिंह राठौर, तन-मन-धन श्री गोसाईजी के अर्पण। इनमें से 'सती चंद्रावली' और 'अमरसिंह राठौर' बड़े नाटक हैं। 'सती चद्रावली' की कथावस्तु औरंगजेब के समय हिंदुओ पर होनेवाले अत्याचारों का चित्र खींचने के लिये बड़ी निपुणता के साथ कल्पित की गई है। अमरसिंह राठौर ऐतिहासिक है। नाटको के अतिरिक्त इन्होंने 'विरजा', 'जावित्री' और 'मृण्मयी' नामक उपन्यासो के अनुवाद भी वंगभाषा से किए है।

पंडित अंबिकादत्त व्यास का जन्म सं० १९१५ और मृत्यु सं० १९५७

मे हुई। ये संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान्, हिंदी के अच्छे कवि और सनातन
धर्म के बड़े उत्साही उपदेशक थे। इनके धर्म संबंधी व्याख्यानो की धूम रहा
करती थी। "अवतार-मीमांसा" आदि धर्म-संबंधी पुस्तको के अतिरिक्त इन्होने
बिहारी के दोहों के भाव को विस्तृत करने के लिये "बिहारी-विहार" नाम का
एक बड़ा काव्य ग्रंथ लिखा। पद्य-रचना का भी विवेचन इन्होंने अच्छा किया
है। पुरानी चाल की कविता (जैसे, पावस-पचासा) के अतिरिक्त इन्होने
'गद्य-काव्य मीमांसा' आदि अनेक गद्य की पुस्तकें भी लिखीं। 'इन्होने', 'उन्होंने'
के स्थान पर ये 'इनने' 'उनने' लिखते थे।

ब्रजभाषा की अच्छी कविता ये वाल्यावस्था से ही करते थे जिससे बहुत
शीघ्र रचना करने का इन्हें अभ्यास हुआ। कृष्णलीला को लेकर इन्होने ब्रज-
भाषा में 'ललिता नाटिका' लिखी थी। भारतेंदु के कहने से इन्होने 'गो-संकट
नाटक' लिखा जिसमें हिंदुओं के बीच असंतोष फैलने पर अकबर द्वारा गोवध
बंद किए जाने की कथावस्तु रखी गई है।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या—इन्होंने गिरती दशा मे
"हरिश्चंद्र-चंद्रिका" को सँभाला था और उसमे अपना नाम भी जोड़ा था।
इनके रंग ढंग से लोग इन्हें इतिहास का अच्छा जानकार और विद्वान्
समझते थे। कविराजा श्यामलदानजी ने जब अपने "पृथ्वीराज-चरित्र"
ग्रंथ मे "पृथ्वीराजरासो" को जाली ठहराया था तब इन्होंने "रासो-संरक्षा"
लिखकर उसको असल सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

पंडित भीमसेन शर्मा—ये पहले स्वामी दयानंदजी के दहने हाथ थे।
संवत् १९४० और १९४२ के बीच इन्होंने धर्म-संबंधी कई पुस्तकें हिंदी मे
लिखीं और कई संस्कृत ग्रंथो के हिंदी भाष्य भी निकाले। इन्होने "आर्य-सिद्धांत"
नामक एक मासिक पत्र भी निकाला था। भाषा के संबंध में इनका विलक्षण
मत था। "संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति" नाम का एक लेख लिखकर
इन्होंने अरबी फारसी शब्दो को भी संस्कृत बना डालने की राय बड़े जोर शोर
से दी थी—जैसे दुश्मन को "दुःश्मन", सिफारिश को "क्षिप्राशिष", चश्मा को
"चक्ष्मा", शिकायत को "शिक्षायत्न" इत्यादि।

काशीनाथ खत्री—इनका जन्म संवत् १९०६ मे आगरे के माईथान मुहल्ले मे और परलोकवास सिरसा (जिला इलाहाबाद) मे जहाँ ये पहले अध्यापक रह चुके थे और अंतिम दिनो में आकर बस गए थे, सं० १९४८ (९ जनवरी १८९१) मे हुआ। कुछ दिन गवर्नमेट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर का काम करके पीछे ये लाट साहब के दफ्तर के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हो गए थे। ये मातृभाषा के सच्चे सेवक थे। नीति, कर्तव्यपालन, स्वदेशहित ऐसे विषयो पर ही लेख और पुस्तके लिखने की ओर इनकी रुचि थी। शुद्ध-साहित्य कोटि मे आनेवाली रचनाएँ इनकी बहुत कम हैं। ये तीन पुस्तके उल्लेख-योग्य हैं—(१) ग्राम-पाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक, (२) तीन ऐतिहासिक (?) रूपक और (३) बाल-विधवा संताप नाटक।

तीन ऐतिहासिक रूपकों मे पहला तो है "सिंधुदेश की राजकुमारियाँ" जो सिंध मे अरबो की चढ़ाईवाली घटना लेकर लिखा गया, दूसरा है 'गुन्नौर की रानी" जिसमे भूपाल के मुसलमानी राज्य के संस्थापक द्वारा पराजित गुन्नौर के हिंदू राजा की विधवा रानी का वृत्त है, तीसरा है 'लव जी का स्वप्न' जो रघुवंश की एक कथा के आधार पर है।

काशीनाथ खत्री वास्तव में एक अत्यंत अभ्यस्त अनुवादक थे। इन्होने कई अँगरेजी पुस्तकों, लेखों और व्याख्यानो के अनुवाद प्रस्तुत किए, जैसे—शेक्सपियर के मनोहर नाटको के आख्यानो (लैब कृत) का अनुवाद; नित्युपदेश (ब्लैकी के Self Culture का अनुवाद); इंडियन नेशनल कांग्रेस (ह्यूम के व्याख्यान का अनुवाद); देश की दरिद्रता और अँगरेजी राजनीति (दादाभाई नौरोजी के व्याख्यान का अनुवाद); भारत त्रिकालिक दशा (कर्नल अलकाट के व्याख्यान का अनुवाद) इत्यादि। अनुवादों के अतिरिक्त इन्होंने 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के चरित्र', 'यूरोपियन धर्मशीला स्त्रियों के चरित्र', 'मातृभाषा की उन्नति किस विधि करना योग्य है' इत्यादि अनेक छोटी छोटी पुस्तके और लेख लिखे।

राधाकृष्णदास भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। इनका जन्म सं० १९२२ और मृत्यु सं० १९६४ मे हुई। इन्होंने भारतेंदु का अधूरा छोड़ा हुआ नाटक 'सती प्रताप' पूरा किया था। इन्होंने पहले पहल 'दुःखिनी बाला'

नामक एक छोटा सा रूपक लिखा था जो 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका और 'मोहन चंद्रिका' में प्रकाशित हुआ था। इसमे जन्मपत्री-मिलान, बालविवाह, अपव्यय आदि कुरीतियो का दुष्परिणाम दिखाया गया है। इनका दूसरा नाटक है 'महारानी पद्मावती अथवा मेवाड़-कमलिनी' जिसकी रचना चित्तौड़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई के समय की पद्मिनी-वाली घटना को लेकर हुई है। इनका सबसे उत्कृष्ट और बड़ा नाटक 'महाराणा प्रताप' (या राजस्थान केसरी) है जो सं० १९५४ मे समाप्त हुआ था। यह नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ और इसका अभिनय कई बार कई जगह हुआ।

भारतीय प्रथा के अनुसार इसके सब पात्र भी आदर्श के साँचों मे ढले हुए हैं। कथोपकथन यद्यपि चमत्कारपूर्ण नहीं, पर पात्र और अवसर के सर्वथा उपयुक्त हैं; उनमे कहीं कही ओज भी पूरा है। वस्तु-योजना बहुत ही व्यवस्थित है। इस नाटक मे अकबर का हिंदुओं के प्रति सद्भाव उसकी कूटनीति के रूप मे प्रदर्शित है। यह बात चाहे कुछ लोगो को पसंद न हो।

नाटकों के अतिरिक्त इन्होने 'निस्सहाय हिंदू' नामक एक छोटा सा उपन्यास भी लिखा था। बँगला के कई उपन्यासों के अनुवाद इन्होने किए हैं—जैसे, स्वर्णलता, मरता क्या न करता।

कार्त्तिकप्रसाद खत्री—(जन्म सं० १९०८, मृत्यु १९६१)। ये आसाम, बंगाल आदि कई स्थानो मे रहे। हिंदी का प्रेम इनमें इतना अधिक था कि २० वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने कलकत्ते से हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ निकालने का उद्योग किया था। "रेल का विकट खेल" नाम का एक नाटक १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या से 'हरिश्चंद्र मैगजीन' मे छपने लगा था, पर पूरा न हुआ। 'इला', 'प्रमीला', 'जया', 'मधुमालती' इत्यादि अनेक बंगला उपन्यासों के इनके किए हुए अनुवाद काशी के 'भारत जीवन' प्रेस से निकले।

फ्रेडरिक पिन्काट का उल्लेख पहले हो चुका है और यह कहा जा चुका है कि वे इँगलैंड मे बैठे बैठे हिंदी में लेख और पुस्तकें लिखते और हिंदी लेखको के साथ पत्रव्यवहार भी हिंदी मे ही करते थे। उन्होंने दो पुस्तकें हिंदी में लिखी हैं—

१ बालदीपक ४ भाग (नागरी और कैथी अक्षरों में) २ विक्टोरिया-चरित्र ।

ये दोनों पुस्तकें खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर मे छपी थी। 'बालदीपक' बिहार के स्कूलों मे पढ़ाई जाती थी। उसके एक पाठ का कुछ अंश भाषा के नमूने के लिये दिया जाता है—

"हे लड़को ! तुमको चाहिए कि अपनी पोथी को बहुत सँभाल कर रक्खो। मैली न होने पावे, बिगड़े नहीं और जब उसे खोलो चौकसाई से खोलो कि उसका पन्ना अँगुली के तले दबकर फट न जावे।"

'विक्टोरिया-चरित्र' १३६ पृष्ठों की पुस्तक है। इसकी भाषा उनके पत्रो की भाषा की अपेक्षा अधिक मुहावरेदार है।

उनके विचार उनके लंबे लबे पत्रो मे मिलते है। बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री को सं० १९४३ के लगभग अपने एक पत्र में वे लिखते है—

"आपका सुखद पत्र मुझको मिला और उससे मुझको परम आनंद हुआ।

आपकी समझ में हिंदी भाषा का प्रचलित होना उत्तर-पश्चिम-वासियों के लिये सबसे भारी बात है। मैं भी संपूर्ण रूप से जानता हूँ कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार संबंधी कामो में नहीं प्रवृत्त होते हैं तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसलिये मैंने बार बार हिंदी भाषा के प्रचलित करने का उद्योग किया है।

देखो, अस्सी बरस हुए बंगाली भाषा निरी अपभ्रंश भाषा थी। पहले पहल थोडी थोड़ी संस्कृत बातें उसमें मिली थीं। परंतु अब क्रम करके सँवारने से निपट अच्छी भाषा हो गई। इसी तरह चाहिए कि इन दिनो में पंडित लोग हिंदी भाषा में थोडी थोडी संस्कृत बातें मिलावे। इस पर भी स्मरण कीजिए कि उत्तर-पश्चिम में हजार बरस तक फारसी बोलनेवाले लोग राज करते थे। इसी कारण उस देश के लोग बहुत फारसी बातो को जानते है। उन फारसी बातों को भाषा से निकाल देना असंभव है। इसलिये उनको निकाल देने का उद्योग मूर्खता का काम है।"

हिंदुस्तानी पुलिस की करतूतो को सुनकर आपने बा० कार्तिकप्रसाद को लिखा था—

"कुछ दिन हुए कि मेरे एक हिंदुस्तानी दोस्त ने हिंदुस्तान के पुलिस के

ज़ुल्म की ऐसी तस्वीर खैंची कि मैं हैरान हो गया। मैंने एक चिट्ठी लाहौर नगर के 'ट्रीब्यून' नामी समाचार पत्र को लिखी। उस चिट्ठी के छपते ही मेरे पास बहुत से लोगों ने चिट्ठियाँ भेजीं जिनसे प्रकाशित हुआ कि पुलिस का ज़ुल्म उससे भी ज्यादा है, जितना मैंने सुना था। अब मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि जब तक हिंदुस्तान की पुलिस वैसी ही न हो जावे जैसे कि हमारे इँगलिस्तान में है, मैं इस बात का पीछा न छोड़ूँगा।"

भारतेंदु हरिश्चंद्र को एक चिट्ठी पिन्काट साहब ने व्रजभाषा पद्य मे लिखी थी जो नीचे दी जाती है—

"बैस-बंस-अवतंस, श्रीबाबू हरिचंद जू।
छीर नीर कलहंस, टुक उत्तर लिखि देव मोहिं॥
पर उपकार में उदार अवनी में एक, भाषत अनेक यह राजा हरिचंद है।
विभव बड़ाई वपु वसन बिलास लखि कहत यहाँ के लोग बाबू-हरिचंद है।
चंद वैसो अमिय अनंदकर आरत को कहत कविंद यह भारत को चंद है।
कैसे अब देखैं, को बतावै, कहाँ पावै? हाय, कैसे वहाँ आवैं, हम कोई मतिमंद हैं।
श्रीयुत सकल-कविंद-कुल-नुत बाबू हरिचंद।
भारत-हृदय-सतार-नभ उदय रहो जनु चंद॥"

प्रचार-कार्य

भारतेंदु के समय से साहित्य-निर्माण का कार्य तो धूम-धाम से चल पड़ा पर उस साहित्य के सम्यक् प्रचार मे कई प्रकार की बाधाएँ थीं। अदालतो की भाषा बहुत पहले से उर्दू चली आ रही थी इससे अधिकतर बालकों को अँग्रेजी के साथ या अकेले उर्दू की ही शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर सरकारी नौकरियो के योग्य बनाना ही समझा जाता रहा है। इससे चारो ओर उर्दू पढ़े लिखे लोग ही दिखाई पड़ते थे। ऐसी अवस्था मे साहित्य-निर्माण के साथ हिंदी के प्रचार का उद्योग भी बराबर चलता रहा। स्वयं बाबू हरिश्चंद्र को हिंदी भाषा और नागरी अक्षरो की उपयोगिता समझाने के लिये बहुत से नगरो मे व्याख्यान देने के लिये जाना पड़ता था। उन्होंने इस संबंध मे कई पैंफलेट भी लिखे। हिंदी-प्रचार के लिए बलिया में बड़ी भारी सभा हुई थी जिसमें भारतेंदु का बड़ा मार्मिक व्याख्यान हुआ था। वे जहाँ जाते अपना यह मूल मंत्र अवश्य सुनाते थे—

निज भाषा-उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

इसी प्रकार पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी "हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान" का राग अलापते फिरते थे। कई स्थानों पर हिंदी-प्रचार के लिये सभाएँ स्थापित हुईं। बाबू तोताराम द्वारा स्थापित अलीगढ़ की "भाषासंवर्द्धिनी" सभा का उल्लेख हो चुका है। ऐसी ही एक सभा सन् १८८४ मे 'हिंदी-उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य-सभा" के नाम से प्रयाग में प्रतिष्ठित हुई थी। सरकारी दफ्तरो में नागरी के प्रवेश के लिये बाबू हरिश्चंद्र ने कई बार उद्योग किया था। सफलता न प्राप्त होने पर भी इस प्रकार का उद्योग बराबर चलता रहा। जब लेखको की दूसरी पीढ़ी तैयार हुई तब उसे अपनी बहुत कुछ शक्ति प्रचार के काम मे भी लगानी पड़ी।

भारतेंदु के अस्त होने के उपरांत ज्यो ज्यो हिंदी गद्य-साहित्य की वृद्धि होती गई त्यो त्यो प्रचार की आवश्यकता भी अधिक दिखाई पड़ती गई। अदालती भाषा उर्दू होने से नवशिक्षितो की अधिक संख्या उर्दू पढ़नेवालो की थी, जिससे हिंदी-पुस्तको के प्रकाशन का उत्साह बढ़ने नहीं पाता था। इस साहित्य संकट के अतिरिक्त नागरी का प्रवेश सरकारी दफ्तरो में न होने से जनता का घोर संकट भी सामने था। अतः संवत् १९५० मे कई उत्साही छात्रो के उद्योग से, जिनमें बाबू श्यामसुंदरदास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिंह मुख्य थे, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। सच पूछिए तो इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्त्ति बाबू श्यामसुंदरदासजी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है। वे ही आदि से अंत तक इसके प्राण-स्वरूप स्थित होकर बराबर इसे अनेक बड़े उद्योगो मे तत्पर करते रहे। इसके प्रथम सभापति भारतेंदुजी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास हुए। इसके सहायको में भारतेंदु के सहयोगियो मे से कई सज्जन थे, जैसे—रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम्० ए०, खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन-सिंह, 'भारत जीवन' के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू गदाधरसिंह, बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि। इस सभा के उद्देश्य दो हुए—नागरी अक्षरो का प्रचार और हिंदी-साहित्य की समृद्धि।

उक्त दो उद्देश्यों में से यद्यपि प्रथम का प्रत्यक्ष संबंध हिंदी-साहित्य के इतिहास से नहीं जान पड़ता, पर परोक्ष संबंध अवश्य है। पहले कह आए हैं कि सरकारी दफ्तरों आदि मे नागरी का प्रवेश न होने से नवशिक्षितों मे हिंदी पढ़नेवालों की पर्याप्त संख्या नहीं थी। इससे नूतन साहित्य के निर्माण और प्रकाशन में पूरा उत्साह नहीं बना रहने पाता था। पुस्तकों का प्रचार होते न देख प्रकाशक भी हतोत्साह हो जाते थे और लेखक भी। ऐसी परिस्थिति में नागरीप्रचार के आंदोलन का साहित्य की वृद्धि के साथ भी संबंध मान हम संक्षेप में उसका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

बाबू हरिश्चंद्र किस प्रकार नागरी और हिंदी के संबंध मे अपनी चंद्रिका मे लेख छापा करते और जगह जगह घूमकर वक्तृता दिया करते थे, यह हम पहले कह आए हैं। वे जब बलिया के हिंदी-प्रेमी कलक्टर के निमंत्रण पर वहाँ गए थे तब कई दिनों तक बड़ी धूम रही। हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता पर उनका बहुत अच्छा व्याख्यान तो हुआ ही था, साथ ही 'सत्यहरिश्चंद्र', 'अंधेरनगरी' और 'देवाक्षरचरित्र' के अभिनय भी हुए थे। "देवाक्षरचरित्र" पंडित रविदत्त शुक्ल का लिखा हुआ एक प्रहसन था जिसमे उर्दू लिपि की गड़बड़ी के बड़े ही विनोदपूर्ण दृश्य दिखाए गए थे।

भारतेंदु के अस्त होने के कुछ पहले ही नागरी-प्रचार का झंडा पंडित गौरीदत्तजी ने उठाया। ये मेरठ के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे और मुदर्रिसी करते थे। अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर इन्होंने अपनी सारी जायदाद नागरी-प्रचार के लिये लिखकर रजिस्टरी करा दी और आप संन्यासी होकर 'नागरी-प्रचार' का झंडा हाथ में लिए चारो ओर घूमने लगे। इनके व्याख्यानों के प्रभाव से न जाने कितने देवनागरी-स्कूल मेरठ के आस पास खुले। शिक्षा-संबंधिनी कई पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। प्रसिद्ध "गौरी-नागरी-कोश" इन्हीं का है। जहाँ कहीं कोई मेला तमाशा होता वहाँ पंडित गौरीदत्तजी लड़कों की खासी भीड़ पीछे लगाए नागरी का झंडा हाथ में लिए दिखाई देते थे। मिलने पर 'प्रणाम', 'जयराम' आदि के स्थान पर लोग इनसे "जय नागरी की" कहा करते थे। इन्होंने संवत् १९५१ में दफ्तरों मे नागरी जारी करने के लिये एक मेमोरियल भी भेजा था।

नागरी-प्रचारिणी सभा अपनी स्थापना के कुछ ही दिनों पीछे दबाई नागरी के उद्धार के उद्योग में लग गई। संवत् १९५२ में जब इस प्रदेश के छोटे लाट सर ऐंटनी (पीछे लार्ड) मैकडानल काशी मे आए तब सभा ने एक आवेदन-पत्र उनको दिया और सरकारी दफ्तरों से नागरी को दूर रखने से जनता को जो कठिनाइयाँ हो रही थीं और शिक्षा के सम्यक् प्रचार मे जो बाधाएँ पड़ रही थीं, उन्हे सामने रखा। जब उन्होने इस विषय पर पूरा विचार करने का वचन दिया तब से बराबर सभा व्याख्यानो और परचों द्वारा जनता के उत्साह को जाग्रत करती रही। न जाने कितने स्थानो पर डेपुटेशन भेजे गए और हिंदी भाषा और नागरी अक्षरो की उपयोगिता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। भिन्न भिन्न नगरों में सभा की शाखाएँ स्थापित हुईं। संवत् १९५५ मे एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन—जिसमे अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण-सिंह, माँडा के राजा रामप्रसादसिंह, आवागढ़ के राजा बलवंतसिंह, डाक्टर सुदरलाल और पडित मदनमोहन मालवीय ऐसे मान्य और प्रतिष्ठित लोग थे—लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल अर्पित किया।

उक्त मेमोरियल की सफलता के लिये कितना भीषण उद्योग प्रात भर में किया गया था, यह बहुत लोगो को स्मरण होगा। सभा की ओर से न जाने कितने सज्जन सब नगरो में जनता के हस्ताक्षर लेने के लिये भेजे गए जिन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। इस आंदोलन के प्रधान नायक देशपूज्य श्रीमान् पडित मदनमोहन मालवीयजी थे। उन्होने "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नाम की एक बड़ी अँगरेजी पुस्तक, जिसमे नागरी को दूर रखने के दुष्परिणामो को बड़ी ही विस्तृत और अनुसधान-पूर्ण मीमासा थो, लिखकर प्रकाशित की। अंत मे संवत् १९५७ में भारतेंदु के समय से ही चले आते हुए उस उद्योग का फल प्रकट हुआ और कचहरियो मे नागरी के प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई।

सभा के साहित्यिक आयोजनों के भीतर हम बराबर हिंदी-प्रेमियो की सामान्य आकाक्षाओ और प्रवृत्तियो का परिचय पाते चले आ रहे हैं। पहले ही वर्ष "नागरीदास का जीवनचरित्र" नामक जो लेख पढ़ा गया वह कवियो के विषय मे बढ़ती हुई लोकजिज्ञासा का पता देता है। हिंदी के पुराने

कवियों का कुछ इतिवृत्त-संग्रह पहले पहल संवत् १८९६ मे गार्सां द तासी ने अपने "हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास" मे किया, फिर स० १९४० मे ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने "शिवसिह सरोज" मे किया। उसके पीछे प्रसिद्ध भाषावेत्ता डाक्टर (पीछे सर) ग्रियर्सन ने संवत् १९४६ में Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan प्रकाशित किया। कवियो का वृत्त भी साहित्य का एक अंग है। अतः सभा ने आगे चलकर हिंदी पुस्तकों की खोज का काम भी अपने हाथ मे लिया जिससे बहुत से गुप्त और अप्रकाशित रत्नों के मिलने की पूरी आशा के साथ साथ कवियो का बहुत कुछ वृत्तांत प्रकट होने की भी पूरी संभावना थी। संवत् १९५६ मे सभा को गवर्मेंट से ४००) वार्षिक सहायता इस काम के लिये प्राप्त हुई और खोज धूमधाम से आरंभ हुई। यह वार्षिक सहायता ज्यो ज्यों बढ़ती गई त्यो त्यों काम भी अधिक विस्तृत रूप मे होता गया। इसी खोज का फल है कि आज कई सौ ऐसे कवियो की कृतियो का परिचय हमे प्राप्त है जिनका पहले पता न था। कुछ कवियो के संबध में बहुत सी बातो की नई जानकारी भी हुई। सभा की "ग्रथमाला" मे कई पुराने कवियों के अच्छे अच्छे अप्रकाशित ग्रंथ छपे। सारांश यह कि इस खोज के द्वारा हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने की खासी सामग्री उपस्थित हुई जिसकी सहायता से दो एक अच्छे कविवृत्त संग्रह भी हिंदी में निकले।

हिंदी भाषा के द्वारा ही सब प्रकार के वैज्ञानिक विषयो की शिक्षा की व्यवस्था का विचार भी लोगो के चित्त मे अब उठ रहा था। पर बड़ी भारी कठिनता पारिभाषिक शब्दों के संबंध मे थी। इससे अनेक विद्वानो के सहयोग और परामर्श से संवत् १९६३ मे सभा ने "वैज्ञानिक कोश" प्रकाशित किया। भिन्न भिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखाकर प्रकाशित करने का काम तो तब से अब तक बराबर चल ही रहा है। स्थापना के तीन वर्ष पीछे सभा ने अपनी पत्रिका (ना० प्र० पत्रिका) निकाली जिसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक सब प्रकार के लेख आरंभ ही से निकलने लगे थे और जो आज भी साहित्य से संबंध रखनेवाले अनुसंधान और पर्यालोचन का उद्देश्य रखकर चल रही है। 'छत्रप्रकाश', 'सुजानचरित्र', 'जंगनामा', 'पृथ्वीराज रासो'

'परमाल रासो' आदि पुराने ऐतिहासिक काव्यों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त तुलसी, जायसी, भूषण, देव ऐसे प्रसिद्ध कवियों की ग्रथावलियो के भी बहुत सुंदर संस्करण सभा ने निकाले हैं। "मनोरंजन पुस्तक-माला" मे ५० से ऊपर भिन्न भिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तके निकल चुकी हैं। हिंदी का सब से बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण तथा कोश (हिंदी शब्दसागर) इस सभा के चिरस्थायी कार्यों मे गिने जायँगे।

इस सभा ने अपने ३५ वर्ष के जीवन मे हिंदी-साहित्य के "वर्तमान काल" की तीनों अवस्थाएँ देखी हैं[1]। जिस समय यह स्थापित हुई थी उस समय भारतेंदु द्वारा प्रवर्त्तित प्रथम उत्थान की ही परपरा चली आ रही थी। वह प्रचार काल था। नागरी अक्षरों और हिंदी साहित्य के प्रचार के मार्ग मे बड़ी बाधाएँ थीं। 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' की प्रारभिक सख्याओ को यदि हम निकाल कर देखे तो उनमे अनेक विषयो के लेखो के अतिरिक्त कहीं कहीं ऐसी कविताएँ भी मिल जायँगी जैसी श्रीयुत महावीरप्रसाद द्विवेदी की "नागरी तेरी यह दशा!"

नूतन हिंदी-साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हँसता खेलता सामने आया था, भारतेंदु के सहयोगी लेखकों का वह मडल किस जोश और जिंदः-दिली के साथ और कैसी चहल पहल के बीच अपना काम कर कर गया, इसका उल्लेख हो चुका है। सभा की स्थापना के पीछे घर सँभालने की चिता और व्यग्रता के से कुछ चिन्ह हिंदी-सेवक-मंडल के बीच दिखाई पड़ने लगे थे। भारतेंदुजी के सहयोगी अपने ढर्रे पर कुछ न कुछ लिखते तो जा रहे थे, पर उनमे वह तत्परता और वह उत्साह नहीं रह गया था। बाबू हरिश्चंद्र के गोलोकवास के कुछ आगे पीछे जिन लोगो ने साहित्य-सेवा ग्रहण की थी वे ही अब प्रौढ़ता प्राप्त करके काल की गति परखते हुए अपने कार्य मे तत्पर दिखाई देते थे। उनके अतिरिक्त कुछ नए लोग भी मैदान मे धीरे धीरे उतर रहे थे। यह नवीन हिंदी साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरंभ मे 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।

---

१ सवत् १९८५ तक।

प्रकरण ३

गद्य-साहित्य का प्रसार

द्वितीय उत्थान

१९५०—१९५५

सामान्य परिचय

इस उत्थान का आरंभ हम संवत् १९५० से मान सकते हैं।
कुछ ऐसी चिंताओं और आकांक्षाओं का आभास पाते हैं जिनका समय भार-
तेंदु के सामने नहीं आया था। भारतेंदु-मंडल मनोरंजक साहित्य निर्माण द्वारा
हिंदी-गद्य-साहित्य की स्वतंत्र सत्ता का भाव ही प्रतिष्ठित करने मे अधिकतर लगा
रहा। अब यह भाव पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था और शिक्षित समाज को
अपने इस नए गद्य साहित्य का बहुत कुछ परिचय भी हो गया था। प्रथम
उत्थान के भीतर बहुत बड़ी शिकायत यह रहा करती थी कि अँगरेजी की ऊँची
शिक्षा पाए हुए बड़े बड़े डिग्रीधारी लोग हिंदी-साहित्य के नूतन निर्माण मे योग
नहीं देते और अपनी मातृभाषा से उदासीन रहते हैं। द्वितीय उत्थान मे यह
शिकायत बहुत कुछ कम हुई। उच्च शिक्षा-प्राप्त लोग धीरे धीरे आने लगे—
पर अधिकतर यह कहते हुए कि "मुझे तो हिंदी आती नहीं"। इधर से जवाब
मिलता था "तो क्या हुआ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए।"
अतः बहुत से लोगों ने हिंदी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया। उनकी
भाषा में जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दर गुजर कर दिए जाते थे।
जब वे कुछ काम कर चुकते थे—दो चार चीजें लिख चुकते थे—तब तो पूरे
लेखक हो जाते थे। फिर उन्हें हिंदी आने न आने की परवा क्यों होने लगी?

इस काल-खंड के बीच हिंदी लेखकों की तारीफ मे प्रायः यही कहा-सुना
जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते है, वे अरबी-फारसी के पूरे विद्वान्
है, ये अंगरेजी के अच्छे पंडित हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी
थी कि ये हिंदी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं होता था कि

हिंदी भी कोई जानने की चीज है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिंदी के प्रौढ और अच्छे लेखक भी अपने लेखो में फारसीदानी, अँगरेजीदानी, सस्कृत दानी, आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे।

भाषा बिगड़ने का एक और सामान दूसरी ओर खड़ा हो गया था। हिंदी के पाठको का अब वैसा अकाल नही था—विशेषतः उपन्यास पढ़नेवालो का। बँगला उपन्यासों के अनुवाद धड़ाधड़ निकलने लगे थे। बहुत से लोग हिंदी लिखना सीखने के लिये केवल संस्कृत शब्दो की जानकारी ही आवश्यक समझते थे जो बँगला की पुस्तको से प्राप्त हो जाती थी। यह जानकारी थोड़ी बहुत होते ही वे बँगला से अनुवाद भी कर लेते थे और हिंदी के लेख भी लिखने लगते थे। अतः एक ओर तो अँगरेजीदानों की ओर से "स्वार्थ लेना", "जीवन होड़" "कवि का सदेश", "दृष्टिकोण" आदि आने लगे; दूसरी ओर वंगभाषाश्रित लोगों की ओर से 'सिहरना', 'काँदना', 'बसंत रोग' आदि। इतना अवश्य था कि पिछले कैंडे के लोगों की लिखावट उतनी अजनबी नहीं लगती थी जितनी पहले कैंडेवालों की। बंगभाषा फिर भी अपने देश की और हिंदी से मिलती जुलती भाषा थी। उसके अभ्यास से प्रसंग या स्थल के अनुरूप बहुत ही सुदर और उपयुक्त संस्कृत शब्द मिलते थे। अतः बगभाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुंदर सस्कृत पदविन्यास की परपरा हिंदी मे आई, यह स्वीकार करना पड़ता है।

पर "अँगरेजी मे विचार करनेवाले" जब आपटे का अँगरेजी सस्कृत कोश लेकर अपने विचारो का शाब्दिक अनुवाद करने बैठते थे तब तो हिंदी बेचारी कोसों दूर जा खडी होती थी। वे हिंदी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिंदी भाषा नही लिखते थे। उनके बहुत से वाक्यो का तात्पर्य अँगरेजी भाषा की भावभंगी से परिचित लोग ही समझ सकते थे, केवल हिंदी या सस्कृत जाननेवाले नही।

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदुजी और उनके सहयोगी लेखको की दृष्टि व्याकरण के नियमो पर अच्छी तरह जमी नहीं थी। वे "इच्छा किया", "आशा किया" ऐसे प्रयोग भी कर जाते थे और वाक्यविन्यास की सफाई पर भी उतना ध्यान नहीं रखते थे। पर उनकी भाषा हिंदी ही होती थी,

मुहावरे के खिलाफ प्रायः नहीं जाती थी। पर द्वितीय उत्थान के भीतर बहुत दिनों तक व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूपहानि दोनों साथ साथ दिखाई पड़ती रहीं। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता पर तो थोड़े ही दिनों में कोपदृष्टि पड़ी, पर भाषा की रूपहानि की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिये हमारा हिंदी साहित्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदीजी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप मे उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर लेखको को बहुत कुछ सावधान कर दिया। यद्यपि कुछ हठी और अनाड़ी लेखक अपनी भूलों और गलतियों का समर्थन तरह तरह की बातें बनाकर करते रहे, पर अधिकतर लेखकों ने लाभ उठाया और लिखते समय व्याकरण आदि का पूरा ध्यान रखने लगे। गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिये शुद्धता आवश्यक समझी जायगी तब तक बना रहेगा।

व्याकरण की ओर इस प्रकार ध्यान जाने पर कुछ दिनों व्याकरण-संबंधिनी बातो की चर्चा भी पत्रों में अच्छी चली। विभक्तियाँ शब्दों से मिलाकर लिखी जानी चाहिएँ या अलग, इसी प्रश्न को लेकर कुछ काल तक खंडन-मंडन के लेख जोर-शोर से निकले। इस आंदोलन के नायक हुए थे—पंडित गोविंद-नारायणजी मिश्र, जिन्होंने "विभक्ति-विचार" नाम की एक छोटी सी पुस्तक द्वारा हिंदी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ बताकर लोगों को उन्हें मिलाकर लिखने की सलाह दी थी।

इस द्वितीय उत्थान मे जैसे अधिक प्रकार के विषय लेखकों की विस्तृत दृष्टि के भीतर आए वैसे ही शैली की अनेकरूपता का अधिक विकास भी हुआ। ऐसे लेखकों की संख्या कुछ बढ़ी जिनकी शैली में कुछ उनकी निज की विशिष्टता रहती थी, जिनकी लिखावट को परख कर लोग कह सकते थे कि यह उन्हीं की है। साथ ही वाक्य विन्यास मे अधिक सफाई और व्यवस्था आई। विराम चिन्हों का आवश्यक प्रयोग होने लगा। अँगरेजी आदि अन्य समुन्नत भाषाओं की उच्च विचारधारा से परिचित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट

अधिकार रखनेवाले कुछ लेखकों की कृपा से हिंदी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यंजन-प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ। सघन और गुफित विचारसूत्रो को व्यक्त करनेवाली तथा सूक्ष्म और गूढ़ भावों को झलकानेवाली भाषा हिंदी-साहित्य को कुछ कुछ प्राप्त होने लगी। उसी के अनुरूप हमारे साहित्य का डौल भी बहुत कुछ ऊँचा हुआ। बँगला के उत्कृष्ट सामाजिक, पारिवारिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लगातार आते रहने से रुचि परिष्कृत होती रही, जिससे कुछ दिनो की तिलस्म ऐयारी और जासूसी के उपरांत उच्च कोटि के सच्चे साहित्यिक उपन्यासो की मौलिक रचना का दिन भी ईश्वर ने दिखाया।

नाटक के क्षेत्र मे वैसी उन्नति नहीं दिखाई पड़ी। बाबू राधाकृष्णदास के "महाराणा प्रताप" (या राजस्थान केसरी) की कुछ दिन धूम रही और उसका अभिनय भी बहुत बार हुआ। राय देवीप्रसादजी पूर्ण ने "चद्रकला भानुकुमार" नामक एक बहुत बडे डीलडौल का नाटक लिखा, पर वह साहित्य के विविध अगो से पूर्ण होने पर भी वस्तु-वैचित्र्य के अभाव तथा भाषणो की कृत्रिमता आदि के कारण उतना प्रसिद्ध न हो सका। बँगला के नाटको के कुछ अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा के बाद भी होते रहे पर उतनी अधिकता से नहीं, जितनी अधिकता से उपन्यासो के। इससे नाटक की गति बहुत मंद रही। हिंदी-प्रेमियो के उत्साह से स्थापित प्रयाग और काशी की नाटक-मंडलियो (जैसे, भारतेंदु नाटक मंडली) के लिये रगशाला के अनुकूल दो एक छोटे मोटे नाटक अवश्य लिखे गए पर वे साहित्यिक प्रसिद्धि न पा सके। प्रयाग मे पंडित माधव शुक्लजी और काशी मे पंडित दुगवेकरजी अपनी रचनाओं और अनूठे अभिनयो द्वारा बहुत दिनों तक दृश्य काव्य की रुचि जगाये रहे। इसके उपरात बँगला में श्री द्विजेद्रलाल राय के नाटकों की धूम हुई और उनके अनुवाद हिंदी मे धडाधड़ हुए। इसी प्रकार रवीद्र बाबू के कुछ नाटक भी हिंदी रूप मे लाए गए। द्वितीय उत्थान के अंत में दृश्य-काव्य की अवस्था यही रही।

निबंधों की ओर यद्यपि बहुत कम ध्यान दिया गया और उसकी परंपरा ऐसी न चली कि हम ५-७ उच्च कोटि के निबध-लेखकों को उसी प्रकार झट

से छाँटकर बता सके जिस प्रकार अँगरेजी साहित्य मे बता दिए जाते हैं, फिर भी बीच बीच मे अच्छे और उच्च कोटि के निबंध मासिक पत्रिकाओ मे दिखाई पड़ते रहे। इस द्वितीय उत्थान मे साहित्य के एक एक अंग को लेकर जैसी विशिष्टता लेखको मे आ जानी चाहिए थी वैसी विशिष्टता न आ पाई। किसी विषय में अपनी सबसे अधिक शक्ति देख उसे अपनाकर बैठने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई दी। बहुत से लेखकों का यह हाल रहा कि कभी अखबार-नवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करने लगते और कभी इतिहास और पुरातत्त्व की बाते लेकर सामने आते। ऐसी अवस्था मे भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करनेवाले गूढ, गभीर निबंध-लेखक कहाँ से तैयार होते? फिर भी भिन्न भिन्न शैलियाँ प्रदर्शित करनेवाले कई अच्छे लेखक इस बीच बीच मे बताए जा सकते हैं जिन्होने लिखा तो कम है पर जो कुछ लिखा है वह महत्त्व का है।

समालोचना का आरंभ यद्यपि भारतेंदु के जीवनकाल मे ही कुछ न कुछ हो गया था पर उसका कुछ अधिक वैभव इस द्वितीय उत्थान में ही दिखाई पड़ा। श्रीयुत पडित महावीर प्रसादजी द्विवेदी ने पहले पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। फिर मिश्रबंधुओ और पडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियो के संबंध में विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातो तक ही रही। भाषा के गुण, दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता, इन्हीं सब परंपरागत विषयो तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होनेवाली समालोचना जिसमे किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।

साहित्यिक मूल्य रखनेवाले चार जीवनचरित महत्त्व के निकले पंडित माधवप्रसाद मिश्र की "विशुद्ध चरितावली" (स्वामी विशुद्धानंद का जीवन-चरित) तथा बाबू शिवनंदन सहाय लिखित "बाबू हरिश्चंद्र का जीवन-चरित", "गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवनचरित" और "चैतन्य महाप्रभु का जीवनचरित"।

द्वितीय उत्थान के भीतर गद्य-साहित्य का निर्माण इतने परिमाण में और इतने रूपों में हो गया कि हम उसका निरूपण कुछ विभाग करके कर सकते हैं। सुभीते के लिये हम चार विभाग करते हैं—नाटक, उपन्यास-कहानियाँ, निबंध और समालोचना।

नाटक

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतेंदु के पीछे नाटकों की ओर प्रवृत्ति बहुत कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक दिखाई न पड़े। अनुवादों की परंपरा अलबत्त चलती रही।

बंगभाषा के अनुवाद—बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा वीरनारी, कृष्णकुमारी और पद्मावती नाटकों के अनुवाद का उल्लेख पहले हो चुका है। सं० १९५० के पीछे गहमर (जि० गाजीपुर) के बाबू गोपालराम ने 'वनवीर', 'बभ्रुवाहन' 'देशदशा', 'विद्याविनोद' और रवींद्र बाबू के 'चित्रांगदा' का अनुवाद किया।

द्वितीय उत्थान के अंतिम भाग में प० रूपनारायण पांडे ने गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरोदप्रसाद विद्या-विनोद के 'खानजहाँ', रवींद्र बाबू के 'अचलायतन' तथा द्विजेंद्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' आदि कई नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। अनुवादों की भाषा अच्छी खासी हिंदी है और मूल के भावों को ठीक ठीक व्यक्त करती है। इन नाटकों के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि इनमें बंगवासियों की आवेशशील प्रकृति का आरोप अनेक पात्रों में पाया जाता है जिससे बहुत से इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों के क्षोभपूर्ण लंबे भाषण उनके अनुरूप नहीं जान पड़ते। प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखे हुए नाटकों में उस काल की संस्कृति और परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन नहीं प्रकट होता।

अँगरेजी के अनुवाद—जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ, एम० ए० ने संवत् १९५० के कुछ आगे पीछे शेक्सपियर के इन तीन नाटकों के अनुवाद किए—

रोमियो जुलियट ('प्रेमलीला' के नाम से), ऐज़ यू लाइक इट और वेनिस का बैपारी। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी के छोटे भाई पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने सं० १९५० में 'मैकबेथ' का बहुत अच्छा अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' के नाम से प्रकाशित किया। इसके उपरांत सं० १९६७ के लगभग 'हैमलेट' का एक अनुवाद 'जयंत' के नाम से निकला जो वास्तव मे मराठी अनुवाद का हिंदी अनुवाद था।

संस्कृत के अनुवाद—संस्कृत के नाटको के अनुवाद के लिये राय बहादुर लाला सीताराम, बी० ए० सदा आदर के साथ स्मरण किए जायँगे। भारतेंदु की मृत्यु से दो वर्ष पहले ही उन्होने संस्कृत काव्यो के अनुवाद मे लग्गा लगाया और सं० १९४० में मेघदूत का अनुवाद घनाक्षरी छंदो मे प्रकाशित किया। इसके उपरांत वे बराबर किसी न किसी काव्य, नाटक का अनुवाद करते रहे। सं० १९४४ मे उनका 'नागानंद' का अनुवाद निकला। फिर तो धीरे धीरे उन्होंने मृच्छकटिक, महावीर-चरित, उत्तर-रामचरित, मालती-माधव, मालविकाग्निमित्र का भी अनुवाद कर डाला। यद्यपि पद्यभाग के अनुवाद मे लाला साहब को वैसी सफलता नहीं हुई पर उनकी हिंदी बहुत सीधी सादी, सरल और आडंबर-शून्य है। संस्कृत का भाव उसमे इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पाई है।

भारतेंदु के समय मे वे काशी के क्वींस-कालेज-स्कूल के सेकंड मास्टर थे। पीछे डिपटी कलक्टर हुए और अंत मे शांतिपूर्वक प्रयाग मे आ रहे जहाँ २ जनवरी १९३७ को उनका साकेतवास हुआ।

संस्कृत के अनेक पुराण-ग्रंथों के अनुवादक, रामचरित-मानस, बिहारी सतसई के टीकाकार, सनातनधर्म के प्रसिद्ध व्याख्याता मुरादाबाद के पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणी-संहार' और 'अभिज्ञान शकुंतला' के हिंदी अनुवाद भी प्रस्तुत किए। संस्कृत की 'रत्नावली नाटिका' हरिश्चंद्र को बहुत पसंद थी और उसके कुछ अंश का अनुवाद भी उन्होने किया था, पर पूरा न कर सके थे। भारत-मित्र के प्रसिद्ध संपादक, हिंदी के बहुत ही सिद्ध-हस्त लेखक बाबू बालमुकुंद गुप्त ने उक्त नाटिका का पूरा अनुवाद अत्यंत सफलतापूर्वक किया।

संवत् १९७० मे पंडित सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' का और पीछे 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कविरत्नजी के ये दोनो अनुवाद बहुत ही सरस हुए जिनमे मूल के भावो की रक्षा का भी पूरा ध्यान रखा गया है। पद्य अधिकतर ब्रजभाषा के सवैयों मे हैं जो पढ़ने में बहुत मधुर हैं। इन पद्यो मे खटकनेवाली केवल दो बाते कहीं कहीं मिलती हैं। पहली बात तो यह है कि ब्रजभाषासाहित्य में स्वीकृत शब्दों के अतिरिक्त वे कुछ स्थलो पर ऐसे शब्द लाए हैं जो एक भूभाग तक ही (चाहे वह ब्रजमंडल के अतर्गत ही क्यों न हो) परिमित है। शिष्ट साहित्य मे ब्रजमडल के भीतर बोले जानेवाले सब शब्द नही ग्रहण किए गए हैं। ब्रजभाषा देश की सामान्य काव्यभाषा रही है। अतः काव्यों मे उसके वे ही शब्द लिए गए हैं जो बहुत दूर तक बोले जाते हैं और थोड़े बहुत सब स्थानों मे समझ लिए जाते हैं। उदाहरण के लिये 'सिदौसी' शब्द लीजिए जो खास मथुरा-वृदावन मे बोला जाता है, पर साहित्य मे नहीं मिलता। दूसरी बात यह कि, कहीं कहीं श्लोकों का पूरा भाव लाने के प्रयत्न मे भाषा दुरूह और अव्यवस्थित हो गई है।

मौलिक नाटक—काशी-निवासी पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने प्रथम उत्थान के अंत मे दो नाटक लिखे थे—'चौपट-चपेट' और 'मयक-मंजरी'। इनमे से प्रथम तो एक प्रहसन था जिसमें चरित्रहीन और छलकपट से भरी स्त्रियो तथा लुच्चो लफंगो आदि के बीभत्स और अश्लील चित्र अकित किए गए थे। दूसरा पॉच अंकों का नाटक था जो शृंगार रस की दृष्टि से संवत् १९४८ मे लिखा गया था। यह भी साहित्य मे कोई विशेष स्थान न प्राप्त कर सका और लोक-विस्मृत हो गया। हिंदी के विख्यात कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की प्रवृत्ति इस द्वितीय उत्थान के आरंभ में नाटक लिखने की ओर भी हुई थी और उन्होंने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' नाम के दो नाटक लिखे थे। ये दोनो नाटक उपाध्याय जी ने हाथ आजमाने के लिये लिखे थे। आगे उन्होने इस ओर कोई प्रयत्न नहीं किया।

पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने संस्कृत नाटकों के अनुवाद के अतिरिक्त 'सीता-वनवास' नाम का एक नाटक भी लिखा था जिसमे भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' की कुछ झलक थी। उनके भाई पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र ने

तीन अच्छे रूपक लिखे। 'प्रभास-मिलन' ब्रज के नंद, यशोदा, गोप-गोपियों आदि की प्रभास-क्षेत्र मे वसुदेव, कृष्ण, बलराम आदि से भेंट होने का मार्मिम प्रसंग लेकर बड़ी सहृदयता के साथ रचा गया। 'मीराबाई नाटक' भक्ति-भाव जगानेवाला उत्तम नाटक है। 'लल्ला बाबू' समाज का एक छोटा सा खंड चित्र दिखानेवाला अच्छा प्रहसन है।

भारतेंदु का बृहत् जीवन-चरित लिखनेवाले बा० शिवनंदन सहाय का 'सुदामा नाटक' भी उल्लेख योग्य है।

इन मौलिक रूपको की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथा-वस्तु के लिये लोगो का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगो की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करनेवाली उद्भावना उनमे नहीं पाई जाती। इस द्वितीय उत्थान के बीच कल्पित कथा-वस्तु लेकर लिखा जानेवाला बहुत बड़ा मौलिक नाटक कानपुर के प्रसिद्ध कवि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का 'चद्रकला-भानुकुमार' है। पर वह भी इतिहास के मध्ययुग के राजकुमारो और राज-कुमारियो का जीवन सामने लाता है।

"पूर्णजी" ब्रजभाषा के एक बड़े ही सिद्धहस्त कवि थे, साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने इस नाटक को शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से ही लिखा था, अभिनय के उद्देश्य से नही। वस्तु-विन्यास मे कुतूहल उत्पन्न करनेवाला जो वैचित्र्य होता है उसके न रहने से कम ही लोगों के हाथ मे यह नाटक पड़ा। ललित और अलंकृत भाषण के बीच बीच मे मधुर पद्य पढ़ने की उत्कंठा रखनेवाले पाठको ने ही अधिकतर इसे पढ़ा।

उपन्यास-कहानियाँ

इस द्वितीय उत्थान में आलस्य का जैसा त्याग उपन्यासकारों में देखा गया वैसा किसी और वर्ग के हिंदी-लेखकों में नहीं। अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी कुछ दिनों तक धड़ाधड़ निकले—किस प्रकार के,

यह आगे प्रकट किया जायगा। पहले अनुवादो की बात खतम कर देनी चाहिए।

अनुवाद—सं० १९५१ तक बा० रामकृष्ण वर्मा उर्दू और अँगरेजी से भी कुछ अनुवाद कर चुके थे, जैसे—'ठगवृत्तातमाला' (सं० १९४६), 'पुलिस वृत्तातमाला' (१९४७), 'अकबर' (१९४८), 'अमला वृत्तातमाला' (१९५१)। 'चित्तौर चातकी' का बंगभाषा से अनुवाद उन्होंने सं० १९५२ मे किया। यह पुस्तक चित्तौर के राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध समझी गई और इसके विरोध में यहाँ तक आंदोलन हुआ कि सब कापियाँ गगा मे फेंक दी गई। फिर बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (१९५२) और 'प्रमीला' (१९५३) का अनुवाद किया। 'जया' और 'मधुमालती' के अनुवाद दो एक वरस पीछे निकले।

भारतेंदु-प्रवर्त्तित प्रथम उत्थान के अनुवादको में भारतेंदुकाल की हिंदी की विशेषता बनी रही। उपर्युक्त तीनो लेखको की भाषा बहुत ही साधु और सयत रही। यद्यपि उसमे चटपटापन न था पर हिंदीपन पूरा पूरा था। फारसी-अरबी के शब्द बहुत ही कम दिखाई देते है, साथ ही संस्कृत के शब्द भी ऐसे ही आए हैं जो हिंदी के परपरागत रूप मे किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं उत्पन्न करते। साराश यह कि उन्होने 'शूरता', 'चपलता', 'लघुता', 'मूर्खता', 'सहायता', 'दीर्घता', 'मृदुता' ऐसी संस्कृत का सहारा लिया है; 'शौर्य्य', 'चापल्य', 'लाघव', 'मौर्ख्य', 'साहाय्य', 'दैर्घ्य' और 'मार्दव' ऐसी सस्कृत का नहीं।

द्वितीय उत्थान के आरंभ मे हमें बाबू गोपालराम (गहमर) बंगभाषा के गार्हस्थ्य उपन्यासों के अनुवाद मे तत्पर मिलते है। उनके कुछ उपन्यास तो इस उत्थान (सं० १९५७) के पूर्व लिखे गए—जैसे 'चतुर चचला' (१९५०), 'भानमती' (१९५१), 'नये बाबू' (१९५१)—और बहुत से इसके आरंभ मे, जैसे 'बड़ा भाई' (१९५७), 'देवरानी जेठानी' (१९५८), 'दो बहिन' (१९५९), 'तीन पतोहू' (१९६१) और 'सास पतोहू'। भाषा उनकी चटपटी और वक्रतापूर्ण है। ये गुण लाने के लिये कहीं कहीं उन्होने

पूरबी शब्दों और मुहावरों का भी बेधड़क प्रयोग किया है। उनके लिखने का ढंग बहुत ही मनोरंजक है। इसी काल के आरंभ में गाजीपुर के मुंशी उदितनारायण लाल के भी कुछ अनुवाद निकले जिनमें मुख्य 'दीपनिर्वाण' नामक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें पृथ्वीराज के समय का चित्र है।

इस उत्थान के भीतर बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चंडीचरण सेन, शरत् बाबू, चारुचंद्र इत्यादि बंगभाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपन्यासकारों की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद तो हो ही गए, रवींद्र बाबू के भी 'आँख की किरकिरी' आदि कई उपन्यास हिंदी रूप में दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस उत्थान के अंत में आविर्भूत होनेवाले हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ। इस अनुवाद-विधान में योग देनेवालों में पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पंडित रूपनारायण पांडेय विशेष उल्लेख योग्य हैं। बंगभाषा के अतिरिक्त उर्दू, मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासों के अनुवाद हिंदी में हुए पर बँगला की अपेक्षा बहुत कम। काशी के बा० गंगाप्रसाद गुप्त ने 'पूना में हलचल' आदि कई उपन्यास उर्दू से अनुवाद करके निकाले। मराठी से अनूदित उपन्यासों में बा० रामचंद्र वर्मा का 'छत्रसाल' बहुत ही उत्कृष्ट है।

अँगरेजी के दो ही चार उपन्यासों के अनुवाद देखने में आए—जैसे, रेनल्ड्स कृत 'लैला' और 'लंडन-रहस्य'। अँगरेजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'टाम काका की कुटिया' का भी अनुवाद हुआ।

अनुवादों की चर्चा समाप्त कर अब हम मौलिक उपन्यासों को लेते हैं।

पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे। द्वितीय उत्थान-काल के पहले ही ये नरेंद्रमोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेंद्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। उक्त काल के आरंभ में तो 'चंद्रकांता संतति' नामक इनके ऐयारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी की किताबें नहीं पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गए। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा, रससंचार,

भावविभूति या चरित्रचित्रण नहीं। ये वास्तव मे घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमे जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य-कोटि मे नहीं आते। पर हिंदी-साहित्य के इतिहास मे बाबू देवकी नंदन का स्मरण इस बात के लिये सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने किसी और ग्रंथकार ने नहीं। 'चंद्रकाता पढ़ने के लिये ही न जाने कितने उर्दू-जीवी लोगो ने हिंदी सीखी। चंद्रकाता पढ़ चुकने पर वे "चंद्रकाता की किस्म की कोई किताब" ढूँढ़ने में परेशान रहते थे। शुरू शुरू मे 'चद्रकाता' और 'चंद्रकाता सतति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक हो गए। 'चद्रकाता' पढ़कर वे हिंदी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।

बाबू देवकीनंदन के प्रभाव से "तिलस्म" और "ऐयारी" के उपन्यासो की हिंदी मे बहुत दिनो तक भरमार रही और शायद अभी तक यह शौक बिल्कुल ठंढा नहीं हुआ है। बाबू देवकीनंदन के तिलस्मी रास्ते पर चलने-वालो मे बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष उल्लेख योग्य हैं।

बाबू देवकीनदन के सबंध मे इतना और कह देना जरूरी है कि उन्होने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है जिसे थोड़ी हिंदी और थोड़ी उर्दू पढ़े लोग भी समझ ले। कुछ लोगों का यह समझना कि उन्होने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली 'आम-फहम' भाषा का बिलकुल अनुसरण किया जो एकदम उर्दू की ओर झुक गई थी, ठीक नहीं। कहना चाहे तो यो कह सकते है कि उन्होने साहित्यिक हिंदी न लिखकर "हिंदुस्तानी" लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हलकी रचनाओ में काम दे सकती है।

उपन्यासो का ढेर लगा देनेवाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार **पंडित किशोरी-लाल गोस्वामी** (जन्म सं० १६२२—मृत्यु १६८६) है, जिनकी रचनाएँ साहित्य-कोटि मे आती हैं। इनके उपन्यासो मे समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओ के रूप-रग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है। गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ तथा हिंदी

के पुराने कवि और लेखक थे। संवत् १९५५ मे उन्होंने "उपन्यास" मासिक-पत्र निकाला और इस द्वितीय उत्थान-काल के भीतर ६५ छोटे बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। अतः साहित्य की दृष्टि से उन्हे हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए। इस द्वितीय उत्थान-काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं। और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे पर वे वास्तव मे उपन्यासकार न थे। और चीजे लिखते लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिये चुन लिया और उसी मे रम गए। यह दूसरी बात है कि उनके बहुत से उपन्यासो का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमे उच्च वासनाएँ व्यक्त करनेवाले दृश्यों की अपेक्षा निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करनेवाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी। इस बात की शिकायत 'चपला' के संबंध में अधिक हुई थी।

एक और बात जरा खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मजाक। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला। इस शौक के कुछ आगे पीछे उन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवनचरित लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ के ३ अंको में (भाग १ संख्या २, ३, ४) निकला। उर्दू जबान और शेर-सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। गलत या गलत मानी मे लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दरजे से गिरा देते है। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया। 'मल्लिका देवी या बंग-सरोजिनी' में संस्कृत प्राय समास-बहुला भाषा काम में लाई गई है। इन दोनो प्रकार की लिखावटो को देखकर कोई विदेशी चकपकाकर पूछ सकता है कि "क्या दोनो हिंदी है?" "हम यह भी कर सकते हैं, वह भी कर सकते हैं" -इस हौसले ने जैसे बहुत से लेखको को किसी एक विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगों की भाषा को बहुत कुछ डाँवाडोल रखा, कोई एक टेढ़ा-सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।

गोस्वामीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसंधान नहीं सूचित होता। कहीं कहीं तो कालदोष तुरंत ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहाँ जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यासों के नाम ये हैं—तारा, चपला, तरुण-तपस्विनी, रजिया बेगम, लीलावती, राजकुमारी, लवंगलता, हृदयहारिणी, हीराबाई, लखनऊ की कब्र, इत्यादि इत्यादि।

प्रसिद्ध कवि और गद्य लेखक पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने भी दो उपन्यास ठेठ हिंदी मे लिखे—'ठेठ हिंदी का ठाट' (सं० १९५६) और 'अधखिला फूल' (१९६४)। पर ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गईं, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं। उनकी सबसे पहले लिखी पुस्तक "वेनिस का बाँका" मे जैसे भाषा संस्कृतपन की सीमा पर पहुँची हुई थी वैसे ही इन दोनों पुस्तकों मे ठेठपन की हद दिखाई देती है। इन तीनों पुस्तकों को सामने रखने पर पहला ख्याल यही पैदा होता है कि उपाध्यायजी क्लिष्ट संस्कृतप्राय भाषा भी लिख सकते हैं और सरल से सरल ठेठ हिंदी भी। अधिकतर इसी भाषा-वैचित्र्य पर खयाल जमकर रह जाता है। उपाध्यायजी के साथ पंडित लज्जाराम मेहता का भी स्मरण आता है जो अखबार-नवीसी के बीच बीच में पुरानी हिंदू-मर्यादा, हिंदूधर्म और हिंदू पारिवारिक व्यवस्था की सुंदरता और समीचीनता दिखाने के लिये छोटे बड़े उपन्यास भी लिखा करते थे। उपन्यासो मे मुख्य ये हैं—धूर्त रसिकलाल (सं० १९५६), हिंदू गृहस्थ, आदर्श दंपति (१९६१), बिगड़े का सुधार (१९६४) और आदर्श हिंदू (१९७२)। ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं। उपाध्यायजी कवि हैं और मेहताजी पुराने अखबार-नवीस।

काव्य-कोटि मे आनेवाले भावप्रधान उपन्यास, जिनमें भावों या मनोविकारो की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो—चरित्र-चित्रण या घटना-वैचित्र्य का लक्ष्य नहीं—हिंदी में न देख, और बंगभाषा मे काफी देख, बाबू ब्रजनंदनसहाय, बी० ए० ने दो उपन्यास इस ढंग के प्रस्तुत किए—"सौंदर्य्योपासक" और "राधाकांत" (सं० १९६९)।

छोटी कहानियाँ

जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है उसी प्रकार कथा-कहानी कहना और सुनना भी। कहानियो का चलन सभ्य-असभ्य सब जातियों मे चला आ रहा है। सब जगह उनका समावेश शिष्ट साहित्य के भीतर भी हुआ है। घटना-प्रधान और मार्मिक, उनके ये दो स्थूल भेद भी बहुत पुराने हैं और इनका मिश्रण भी। बृहत्कथा, बैतालपचीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि घटनाचक्र मे रमानेवाली कथाओ की पुरानी पोथियाँ हैं। कादंबरी, माधवानल कामकंदला, सीत-बसंत इत्यादि वृत्त वैचित्र्य पूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलो मे रमानेवाले भाव प्रधान आख्यान हैं। इन दोनो कोटि की कहानियो में एक बडा भारी भेद तो यह दिखाई देगा कि प्रथम मे इतिवृत्त का प्रवाह मात्र अपेक्षित होता है; पर दूसरी कोटि की कहानियो मे भिन्न-भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है।

आधुनिक ढंग के उपन्यासो और कहानियो के स्वरूप का विकास इस भेद के आधार पर क्रमशः हुआ है। इस स्वरूप के विकास के लिये कुछ बाते नाटकों की ली गई, जैसे—कथोपकथन, घटनाओ का विन्यास-वैचित्र्य, बाह्य और अभ्यंतर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भाव व्यंजना। इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही; वह तो बना ही रहेगा। उसमे अंतर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा-कहानियो में कथा-प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था जिसमे घटनाएँ पूर्वापर जुड़ती सीधी चली जाती थीं। पर योरप मे जो नए ढंग के कथानक नावेल के नाम से चले और बंगभाषा मे आकर 'उपन्यास' कहलाए (मराठी में वे 'कादंबरी' कहलाने लगे) वे कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरंभ मे रखकर चल सकते हैं और उनमें घटनाओ की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर उधर और शृंखलाओं से गुंफित होती चलती है और अंत में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।

उपर्युक्त दृष्टि से यदि हम देखें तो इंशा की रानी केतकी की बड़ी कहानी न आधुनिक उपन्यास के अंतर्गत आएगी, न राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' या 'वीरसिंह का वृत्तांत' आधुनिक छोटी कहानी के अंतर्गत।

अँगरेजी की मासिक पत्रिकाओ मे जैसी छोटी छोटी आख्यायिकाएँ या कहानियाँ निकला करती हैं वैसी कहानियो की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा मे चल पड़ी थी। ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक और भाव-व्यंजक खंड-चित्रो के रूप मे होती थीं। द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियो का आभास लेकर प्रकट होनेवाली 'सरस्वती' पत्रिका में इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष (सं० १९५७) में ही पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' नाम की कहानी छपी जो मौलिक जान पड़ती है। इसके उपरात तो उसमें कहानियाँ बराबर निकलती रहीं पर वे अधिकतर बंगभाषा से अनूदित या छाया लेकर लिखी होती थीं। बंगभाषा से अनुवाद करनेवालो मे इंडियन प्रेस के मैनेजर बा० गिरिजाकुमार घोष, जो हिंदी कहानियों मे अपना नाम 'लाला पार्वतीनदन' देते थे, विशेष उल्लेख योग्य है। उसके उपरात 'बंगमहिला' का स्थान है जो मिर्जापुर-निवासी प्रतिष्ठित बंगाली सज्जन बाबू रामप्रसन्न घोष की पुत्री और बा० पूर्णचंद्र की धर्मपत्नी थीं। उन्होंने बहुत सी कहानियो का बँगला से अनुवाद तो किया ही, हिंदी मे कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं जिनमें से एक थी "दुलाईवाली" जो सं० १९६४ की 'सरस्वती' (भाग ८, संख्या ५) मे प्रकाशित हुई।

कहानियों का आरभ कहाँ से मानना चाहिए, यह देखने के लिए 'सरस्वती' मे प्रकाशित कुछ मौलिक कहानियों के नाम वर्षक्रम से नीचे दिए जाते है—

इंदुमती (किशोरीलाल गोस्वामी)	सं० १९५७
गुलबहार (,, ,,)	सं० १९५९
प्लेग की चुड़ैल (मास्टर भगवानदास मिरजापुर)	१९५९
ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल)	१९६०
पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी)	१९६०
दुलाईवाली (बंग-महिला)	१९६४

इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं—'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली'। यदि 'इंदुमती, किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरांत 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाईवाली' का नंबर आता है।

ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए और वे इस काल के भीतर की प्रायः सब पत्रिकाओं में बीच बीच में निकलती रहीं। सं० १९६८ में कल्पना और भावुकता के कोश बा० जयशंकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' नाम की कहानी उनके मासिक पत्र 'इंदु' में निकली। उसके उपरांत तो उन्होंने 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खंडहर', 'चित्रमंदिर' इत्यादि अनेक कहानियाँ लिखीं जो तृतीय उत्थान के भीतर आती हैं। हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले जी० पी० श्रीवास्तव की पहली कहानी भी 'इंदु' में सं० १९५८ में ही निकली थी। इसी समय के आस पास आज-कल के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने भी कहानी लिखना आरंभ किया। उनकी पहली कहानी 'रक्षा-बंधन' सन् १९१३ की 'सरस्वती' में छपी। सूर्यपुरा के राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह जी हिंदी के एक अत्यंत भावुक और भाषा की शक्तियों पर अद्भुत अधिकार रखनेवाले पुराने लेखक हैं। उनकी एक अत्यंत भावुकतापूर्ण कहानी "कानों में कँगना" सं० १९७० में 'इंदु' में निकली थी। उसके पीछे आपने 'बिजली' आदि कुछ और सुंदर कहानियाँ भी लिखीं। पं० ज्वालादत्त शर्मा ने सं० १९७१ से कहानी लिखना आरंभ किया और उनकी पहली कहानी सन् १९१४ की 'सरस्वती' में निकली। चतुरसेन शास्त्री भी उसी वर्ष कहानी लिखने की ओर झुके।

संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान्, हिंदी के अनन्य आराधक श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी "उसने कहा था" सं० १९७२ अर्थात् सन् १९१५ की 'सरस्वती' में छपी थी। इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता

के साथ पुकार या कराह नहीं रहा। कहानी भर मे कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रो के बोलने की अपेक्षा नहीं।

हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद जी की छोटी कहानियाँ भी संवत् १९७३ से ही निकलने लगीं। इस प्रकार द्वितीय उत्थान-काल के अंतिम भाग में ही आधुनिक कहानियो का आरंभ हम पाते है जिनका पूर्ण विकास तृतीय उत्थान में हुआ।

निबंध

यदि गद्य कवियो या लेखको की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधो मे ही सबसे अधिक संभव होता है। इसी लिये गद्यशैली के विवेचक उदाहरणो के लिये अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं। निबंध या गद्यविधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानो का बड़ा सुंदर मेल भी करते हैं। लक्ष्यभेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे, विचारात्मक निबंधों मे व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबंधो मे धारा, तरंग और विक्षेप की रीति। इसी विक्षेप के भीतर वह 'प्रलाप शैली' आएगी जिसका बँगला की देखा-देखी कुछ दिनों से हिंदी मे भी चलन बढ़ रहा है। शैलियों के अनुसार गुण-दोष भी भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते है।

आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारो की शृंखला रखी ही न जाय या जान बूझ कर जगह जगह से तोड़ दी जाय, भावो की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालो की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारो ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व-चिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतो के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंध-सूत्रों को पकडकर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरो मे कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रो की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न भिन्न लेखको का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न भिन्न दृष्टियो से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात मे भी है कि निबंध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए। जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ-संबंध सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलो की ओर झुकता और गंभीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार कुछ बातों के संबंध में लोगो की बँधी हुई धारणाओं के विपरीत चलने में जिस लेखक को आनंद मिलेगा वह उन बातों के ऐसे पक्षों पर वैचित्र्य के साथ विचरेगा जो उन धारणाओ को व्यर्थ या अपूर्ण सिद्ध करते दिखाई देंगे। उदाहरण के लिये आलसियों और लोभियों को लीजिए, जिन्हें दुनिया बुरा कहती चली आ रही है। कोई लेखक अपने निबंध मे उनके अनेक गुणों को विनोद पूर्वक सामने रखता हुआ उनकी प्रशंसा का वैचित्र्यपूर्ण आनंद ले और दे सकता है। इसी प्रकार वस्तु के नाना सूक्ष्म ब्योरों पर दृष्टि गड़ानेवाला लेखक किसी छोटी से छोटी, तुच्छ से तुच्छ, बात को गंभीर विषय का सा रूप देकर, पांडित्यपूर्ण

भाषा की पूरी नकल करता हुआ सामने रख सकता है। पर सब अवस्थाओं मे कोई बात अवश्य चाहिए।

इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजनप्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ संबंधो का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी खड़ी तरह तरह की मुद्रा और उछल कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पडेगी।

भारतेंदु के समय से ही निबंधो की परंपरा हमारी भाषा में चल पड़ी थी जो उनके सहयोगी लेखकों मे कुछ दिनो तक जारी रही। पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्थायी विषयो पर निबंध लिखने की परंपरा बहुत जल्दी बंद हो गई। उसके साथ ही वर्णनात्मक निबंध-पद्धति पर सामयिक घटनाओं, देश और समाज की जीवनचर्य्या, ऋतुचर्य्या आदि का चित्रण भी बहुत कम हो गया। इस द्वितीय उत्थान के भीतर उत्तरोत्तर उच्च कोटि के स्थायी गद्य-साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था, न हुआ। अधिकांश लेखक ऐसे ही कामों में लगे जिनमे बुद्धि को श्रम कम पड़े। फल यह हुआ कि विश्वविद्यालयों मे हिंदी की ऊँची शिक्षा का विधान हो जाने पर उच्च कोटि के गद्य की पुस्तकों की कमी का अनुभव चारो ओर हुआ।

भारतेंदु के सहयोगी लेखक स्थायी विषयों के साथ साथ समाज की जीवन-चर्य्या, ऋतुचर्य्या, पर्व-त्योहार आदि पर भी साहित्यिक निबंध लिखते आ रहे थे। उनके लेखों में देश की परंपरागत भावनाओ और उमंगों का प्रतिबिंब रहा करता था। होली, विजयादशमी, दीपावली, रामलीला इत्यादि पर उनके लिखे प्रबंधो मे जनता के जीवन का रंग पूरा पूरा रहता था। इसके लिये वे वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों विधानो का बड़ा सुंदर मेल करते थे। यह सामाजिक सजीवता भी द्वितीय उत्थान के लेखको मे वैसी न रही।

इस उत्थानकाल के आरंभ मे ही निबंध का रास्ता दिखानेवाले दो अनुवादग्रंथ प्रकाशित हुए—"बेकन-विचाररत्नावली" (अँगरेजी के बहुत पुराने क्या पहले निबंधलेखक लार्ड बेकन के कुछ निबंधो का अनुवाद) और "निबंध-मालादर्श" (चिपलूणकर के मराठी निबंधो का अनुवाद)। पहली पुस्तक

पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी की थी और दूसरी पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की। उस समय यह आशा हुई थी कि इन अनुवादों के पीछे ये दोनो महाशय शायद उसी प्रकार के मौलिक निबंध लिखने मे हाथ लगाएँ। पर ऐसा न हुआ। मासिक पत्रिकाएँ इस द्वितीय उत्थानकाल के भीतर बहुत सी निकलीं पर उनमें अधिकतर लेख "बातो के संग्रह" के रूप में ही रहते थे; लेखकों के अंतःप्रयास से निकली विचारधारा के रूप मे नहीं। इस काल के भीतर जिनकी कुछ कृतियाँ निबंध-कोटि में आ सकती हैं उनका संक्षेप मे उल्लेख किया जाता है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलतपुर (जि० रायबरेली) मे वैशाख शुक्ल ४ सं० १६२७ को और देहावसान पौष कृष्ण ३० सं० १६६५ को हुआ।

द्विवेदीजी ने सन् १६०३ मे "सरस्वती" के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय उन्होने लिखने मे ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप मे रख दिया जाय कि साधारण समझनेवाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जायँ। कई उपयोगी पुस्तको के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखो में अधिकतर लेख 'बातो के संग्रह' के रूप मे ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नए नए विचारो की उद्भावना-वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधो की श्रेणी मे दो ही चार लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं, जैसे—

"इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

"कविता यदि यथार्थ मे कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बडे बडे काम हुए हैं। × × कविता मे कुछ न कुछ झूठ का अश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगो को बहुत। × × × संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसका वैसा ही वर्णन करना चाहिए।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी के लेख या निबध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचारों की वह गूढ़-गुफित परंपरा उनमे नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचारपद्धति पर दौड़ पडे। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर कसे गए हो और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड को लिए हो। द्विवेदीजी के लेखो को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिये लिख रहा है। एक एक सीधी बात कुछ हेर फेर—कहीं कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच छः तरह से पाँच छः वाक्यों मे कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों मे छोटे छोटे वाक्यो का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दो के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शात होकर समझाने बुझाने के काम मे लाया जाता है। उनकी यह व्यास-शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न मे बड़े काम की है।

इस बात के उनके दो लेख "क्या हिंदी नाम की कोई भाषा ही नहीं" (सरस्वती सन् १९१३) और "आर्यसमाज का कोप" (सरस्वती १९१४) अच्छे उदाहरण हैं। उनके कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं—

(१) आप कहते हैं कि प्राचीन भाषा मर चुकी और उसे मरे तीन सौ वर्ष हुए। इस पर प्रार्थना है कि न वह कभी मरी और न उसके मरने के कोई लक्षण ही दिखाई देते हैं। यदि आप कभी आगरा, मथुरा, फर्रुखाबाद, मैनपुरी और इटावे तशरीफ ले जाँय तो कृपा करके वहाँ के एक आध अपर प्राइमरी या मिडिल स्कूल का मुआइना न सही तो मुलाहजा अवश्य ही करें। ऐसा करने

से आपको मालूम हो जायगा कि जिसे आप मुर्दा समझ रहे हैं, वह अब तक इन जिलों में बोली जाती है। अगर आपकी इस 'भाखा' नामक भाषा को मरे तीन सौ वर्ष हुए तो कृपा करके यह बताइए कि श्रीमान् ही के सधर्मी काजिम अली आदि कवियों ने किस भाषा में कविता की है। १७०० ईसवी से लेकर ऐसे अनेक मुसलमान कवि हो चुके हैं जिन्होंने 'भाखा' में बड़े बड़े ग्रंथ बनाए हैं। हिन्दू-कवियों की आप खबर न रखते तो कोई विशेष आक्षेप की बात न थी।

× × × ×

आनरेबल असगरअलीखाँ की पाँचवीं उक्ति यह है कि उर्दू या हिन्दुस्तानी ही यहाँ की सार्वदेशिक भाषा है। आपके इस कथन की सचाई की जाँच सहज ही में हो सकती है। ऊपर हाली साहब के दीवान और दूसरे साहित्य-सम्मेलन के सभापति के भाषण से जो अवतरण दिए गए हैं उन्हें खाँ साहब बारी बारी से एक बंगाली, एक मदरासी, एक गुजराती और एक महाराष्ट्र को जो इस प्रांत के निवासी न हों, दिखावें और उनसे यह कहें कि इनका मतलब हमें समझा दीजिए। बस तत्काल ही आपको मालूम हो जायगा कि दो में से कौन भाषा अन्य प्रांतवासी अधिक समझते हैं।

श्रीयुत असगरअलीखाँ के इस कथन से कि "Urdu or Hindustani is the lingua franca of the country" एक भेद की बात खुल गई। वह यह कि आप लोगों की राय में यह हिन्दुस्तानी और कुछ नहीं, उर्दू ही का एक नाम है। अतएव समझना चाहिए कि जब हिंदुस्तानी भाषा के प्रयोग पर जोर दिया जाता है तब "हिंदुस्तानी" नाम की आड़ में उर्दू ही का पक्ष लिया जाता है और बेचारी हिंदी के बहिष्कार की चेष्टा की जाती है।

(२) जिस समाज के विद्यार्थी बच्चों तक को अपने दोषों पर धूल डालकर दूसरों को धमकाने और बिना पूछे ही उन्हें "नेक सलाह" देने का अधिकार है उसके बड़ों और विद्वानों के पराक्रम की सीमा कौन निर्दिष्ट कर सकेगा?

× × × ×

हमारे पास इससे भी बढ़कर कुतूहलजनक पत्र आए हैं। बनावटी या सच्चा नाम देकर बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड हमें उर्दू में भेजा है। उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनंतर इस बात पर दुःख

प्रकट किया गया है कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा हमारा सिर धड से अलग कर दिया जाता। भाई सिंह ! दुःख मत करो। आर्य्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो—

"कर कुठार, आगे यह सीसा"

पं० माधवप्रसाद मिश्र का जन्म पंजाब के हिसार जिले में भिवानी के पास कूँगड़ नामक ग्राम मे भाद्र शुक्ल १३ संवत् १९२८ को और परलोकवास उसी ग्राम मे प्लेग से चैत्र कृष्ण ४ सवत् १९६४ को हुआ। ये बड़े तेजस्वी, सनातनधर्म के कट्टर समर्थक, भारतीय संस्कृति की रक्षा के सतत अभिलाषी विद्वान् थे। इनकी लेखनी मे बड़ी शक्ति थी। जो कुछ ये लिखते थे बडे जोश के साथ लिखते थे, इससे इनकी शैली बहुत प्रगल्भ होती थी। गौड़ होने के कारण मारवाडियो से इनका विशेष लगाव था और उनके समाज का सुधार ये हृदय से चाहते थे, इसी से "वैश्योपकारक" पत्र का संपादन-भार कुछ दिन इन्होने अपने ऊपर लिया था। जिस वर्ष "सरस्वती" निकली (सं० १९५७) उसी वर्ष प्रसिद्ध उपन्यासकार बा० देवकीनंदन खत्री की सहायता से काशी से इन्होने "सुदर्शन" नामक पत्र निकलवाया जो सवा दो वर्ष चलकर बंद हो गया। इसके संपादनकाल मे इन्होने साहित्य-संबंधी बहुत से लेख, समीक्षाएँ और निबंध लिखे। जोश मे आने से ये बडे शक्तिशाली लेख लिखते थे। 'समालोचक'-संपादक पं० चंद्रधर शर्म्मा गुलेरीजी ने इसी से एक बार लिखा था कि—

"मिश्रजी बिना किसी अभिनिवेश के लिख नहीं सकते। यदि हमे उनसे लेख पाने है तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करे।"

इसमे सदेह नहीं कि जहाँ किसी ने कोई ऐसी बात लिखी जो इन्हे सनातन-धर्म के संस्कारो के विरुद्ध अथवा प्राचीन ग्रंथकारो और कवियो के गौरव को कम करनेवाली लगी कि इनकी लेखनी चल पड़ती थी। पाश्चात्य संस्कृताभ्यासी विद्वान् जो कुछ कच्चा पक्का मत यहाँ के वेद, पुराण, साहित्य आदि के संबंध मे प्रकट किया करते वे इन्हें खल जाते थे और उनका विरोध ये डटकर करते थे। उस विरोध मे तर्क, आवेश और भावुकता सब का एक अद्भुत मिश्रण रहता था। 'वेबर का भ्रम' इसी झोंक मे लिखा गया था। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

ने अपनी 'नैषध-चरित-चर्चा' में नैषध के कई एक बड़ी दूर की सूझवाले अत्युक्तिपूर्ण पद्यों को अस्वाभाविक और सुरुचि-विरुद्ध कह दिया। फिर क्या था, ये एकबारगी फिर पड़े और उनकी बातो का अपने ढंग पर उत्तर देते हुए लगे हाथों पं० श्रीधर पाठक के 'गुनवंत हेमंत' नाम की एक कविता की, जिसकी द्विवेदी जी ने बड़ी प्रशंसा की थी, नीरसता और इतिवृत्तात्मकना भी दिखाई। यह विवाद कुछ दिन चला था।

मिश्रजी का स्वदेश-प्रेम भी बहुत गंभीर था। ये संस्कृत के और पडितों के समान देशदशा के अनुभव से दूर रहनेवाले व्यक्ति न थे। राजनीतिक आदोलनों के साथ इनका हृदय बराबर रहता था। जब देशपूज्य मालवीयजी ने छात्रों को राजनीतिक आंदोलनो से दूर रहने की सलाह दी थी तब इन्होने एक अत्यत क्षोभ-पूर्ण "खुली चिट्ठी" उनके नाम छापी थी। देशदशा की इस तीव्र अनुभूति के कारण इन्हे श्रीधर पाठक की कविताओं में एक बात बहुत खटकी। पाठकजी ने जहाँ ऋतुशोभा या देशछटा का वर्णन किया है वहाँ केवल सुख, आनंद और प्रफुल्लता के पक्ष पर ही उनकी दृष्टि पड़ी है, देश के अनेक दीन-दुखियो के पेट की ज्वाला और ककालवत् शरीर पर नहीं।

मिश्रजी ने स्वामी विशुद्धानंदजी के बड़े जीवन-चरित के अतिरिक्त और भी बीसों व्यक्तियों के छोटे छोटे जीवनचरित लिखे जिनमें कुछ संस्कृत के पुराने ढाँचे के विद्वान् तथा सनातनधर्म के सहायक सेठ साहूकार आदि हैं। 'सुदर्शन' में इनके लेख प्रायः सब विषयों पर निकलते थे, जैसे—पर्व-त्योहार, उत्सव, तीर्थस्थान, यात्रा, राजनीति इत्यादि। पर्व-त्योहारों तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे पड़नेवाले उत्सवों पर निबंध लिखने की जो परंपरा भारतेंदु के सहयोगियो ने चलाई थी वह इस द्वितीय उत्थान मे आकर इन्हीं पर समाप्त हो गई। हाँ, संवाद-पत्रों के होली, दीवाली के अंकों में उसका अभ्यास बना रहा। लोक-सामान्य स्थायी विषयो पर मिश्रजी के केवल दो लेख मिलते हैं—'धृति' और 'क्षमा'।

द्वितीय उत्थानकाल मे इस प्रभावशाली लेखक के उदय की उज्ज्वल आभा हिंदी-साहित्य-गगन में कुछ समय के लिये दिखाई पड़ी, पर खेद है कि अकाल ही विलीन हो गई। पं० माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी

लेखो को जिन्होने पढ़ा होगा उनके हृदय मे उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबंध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा-शैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुंदर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चली चलती थी। इनके गद्य के कुछ नमूने नीचे दिए जाते है—

(क) "आर्य्य-वंश के धर्म, कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह जिसने एक दिन जगत् के बड़े बडे सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था, अब कहाँ है? इस गूढ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि सब भगवान् महाकाल के पेट में समा गया। × × × जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतलस्पर्शी जल था वहाँ अब पत्थरो मे दबी हुई एक छोटी सी किंतु सुशीतल वारिधारा बह रही है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी यह भूभाग प्रकाशित हो जाता है। × × × भारतवर्ष की सुखशांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। × × × पर जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नही है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है, वह कब तक सुरक्षित रहेगा?"

(ख) अब रही आपके जानने की बात; सो जहाँ तक आप जानते हैं वहाँ तक तो सब सफाई है! आप जहाँ तक जानते है, महाकवि श्रीहर्ष के काव्य में 'सर्वत्र गाँठै ही गाँठै' हैं और पं० श्रीधर की कविता 'सर्वतो भाव से प्रशंसित' है। आप जहाँ तक जानते हैं, आप संस्कृत, हिंदी, बँगला आदि इस देश की सब भाषाएँ जानते हैं और हम वेबर साहब की करतूत से भी अनभिज्ञ हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, श्रीहर्ष 'लाल बुझक्कड़ को भी मात करता है' और वेबर साहब याज्ञवल्क्य के समान ठहरता है। आप जहाँ तक जानते हैं, हमारे तत्त्वदर्शी पंडितों ने कुछ न लिखा और अँगरेजों ने इतना लिखा कि भारतवासी उनके ऋणी हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, नैषध की प्रशंसा तो सब पक्षपाती पंडितों ने की है और निंदा दुराग्रह-रहित पुरुषों ने की है। आप जहाँ तक जानते हैं डाक्टर बूलर, हाल आदि साहबों ने जो कुछ लिखा है युक्तिपूर्वक लिखा है और मिश्र राधाकृष्ण ने युक्तिशून्य। आप जहाँ तक जानते हैं, प्रोफेसर वेबर की पुस्तक का अभी तक अनुवाद नहीं हुआ और वेबर साहब का ज्ञान हमें 'नैषध-चरित-चर्चा' से हुआ है।

(ग) लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं

और और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का जब बड़ा भारी श्रम विफल हो जाय तब कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया'। किसी का धन खो जाय, मान-मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय तो कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया'। इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किंतु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है? अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है? क्या सचमुच मिट्टी इतनी निकृष्ट है? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है, हम निकृष्ट नहीं हैं? भगवति वसुंधरे! तुम्हारा 'सर्वसहा' नाम यथार्थ है।

अच्छा माँ! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुंधरा' किसने रखा? यह नाम तो उस समय का है। यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कात्यायन आदि सुसंतानों का दिया हुआ है। जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा से और श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे।

उपन्यासो से कुछ छुट्टी पाकर **बाबू गोपालराम** (गहमर निवासी) पत्र-पत्रिकाओ मे कभी कभी लेख और निबंध भी दिया करते थे। उनके लेखों और निबंधों की भाषा बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक होती थी। विलक्षण रूप खड़ा करना उनके निबंधों की विशेषता है। किसी अनुभूत बात का चरम दृश्य दिखानेवाले ऐसे विलक्षण और कुतूहलजनक चित्रों के बीच से वे पाठक को ले चलते हैं कि उसे एक तमाशा देखने का सा आनंद आता है। उनके "ऋद्धि और सिद्धि" नामक निबंध का थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

"अर्थ या धन अलाउद्दीन का चिराग है। यदि यह हाथ में है तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थ के अधिपति हो तो वज्र मूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी० एल० की उपाधि देकर अपने तईं धन्य समझेगा। × × × बरहे पर चलनेवाला नट हाथ में बाँस लिए हुए बरहे पर दौड़ते समय, 'हाय पैसा, हाय पैसा' करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर 'हाय पैसा, हाय पैसा' करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है।

काल-माहात्म्य और दिनों के फेर से ऐश्वर्य्यशाली भगवान् ने तो सब

स्वर्ग से उतरकर दरिद्र के घर शरण ली है और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। × × × अर्थ ही इस युग का परब्रह्म है'। इस ब्रह्मवस्तु के बिना विश्व-संसार का अस्तित्व नही रह सकता। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैशबाक्स में प्रवेश करके संसार को चलाया करते हैं। × × × साधकों के हित के लिये अर्थनीति-शास्त्र में इसकी उपासना की विधि लिखी है। × × × × बच्चों की पहली पोथी में लिखा है—"बिना पूछे दूसरे का माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कहकर जोर से दूसरे का धन हड़प कर लेने से क्या कहलाता है, यह उसमें नही लिखा है। मेरी राय में यही कर्मयोग का मार्ग है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि उद्धृत अंश मे बंगभाषा के प्रसिद्ध ग्रंथकार बंकिमचद्र की शैली का पूरा आभास है।

बाबू बालमुकुंद गुप्त का जन्म पजाब के रोहतक जिले के गुरयानी गॉव मे सं० १९२२ मे और मृत्यु स० १९६४ मे हुई। ये अपने समय के सबसे अनुभवी और कुशल संपादक थे। पहले इन्होंने दो उर्दू पत्रों का संपादन किया था, पर शीघ्र ही कलकत्ते के प्रसिद्ध संवादपत्र 'बगवासी' के संपादक हो गए। बगवासी को छोड़ते ही ये 'भारतमित्र' के प्रधान संपादक बनाए गए। ये बहुत ही चलते पुरजे और विनोदशील लेखक थे अतः कभी कभी छेड़छाड़ भी कर बैठते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब 'सरस्वती' (भाग ६ संख्या ११) के अपने प्रसिद्ध 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में 'अनस्थिरता' शब्द का प्रयोग कर दिया तब इन्हे छेड़छाड़ का मौका मिल गया और इन्होने 'आत्माराम' के नाम से द्विवेदीजी के कुछ प्रयोगो की आलोचना करते हुए एक लेखमाला निकाली जिसमें चुहलबाजी का पुट पूरा था। द्विवेदीजी ऐसे गंभीर प्रकृति के व्यक्ति को भी युक्तिपूर्ण उत्तर के अतिरिक्त इनकी विनोदपूर्ण विगर्हणा के लिये "सरगौ नरक ठेकाना नाहिं" शीर्षक देकर बहुत फबता हुआ आल्हा 'कल्लू अल्हइत' के नाम से लिखना पड़ा।

पत्र-संपादन-काल मे इन्होंने कई विषयो पर अच्छे निबंध भी लिखे जिनका एक संग्रह गुप्त-निबंधावली के नाम से छप चुका है। इनके 'रत्नावली नाटिका' के सुदर अनुवाद का उल्लेख हो चुका है।

गुप्तजी ने सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति को लेकर कई मनोरंजक

प्रबंध लिखे हैं जिनमें "शिवशंभु का चिट्ठा" बहुत प्रसिद्ध है। गुप्तजी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो गुप्तजी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिंदी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेटकर रखते थे कि उनका आभास बीच बीच में ही मिलता था। उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके छिपे से रहते थे। यह उनकी लिखावट की एक बड़ी विशेषता थी। "शिवशंभु का चिट्ठा" से थोड़ा सा अंश नमूने के लिये दिया जाता है—

"इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा—बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं; साथ ही तड़-तड़ धड़-धड़ होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे; कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। 'बम भोला' कहकर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल-डिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लंबी तानी और कुछ काल सुषुप्ति के आनंद में निमग्न रहे। × × × × हाथ-पाँव सुख में; पर विचार के घोड़ों को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिंदों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुरती से अपनी कोठी में घुस गए होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गए होंगे। पर वह चील कहाँ गई होगी? × × × × हाँ? शिवशंभु को इन पक्षियों की चिंता है, पर वह यह नहीं जानता कि इन अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते।"

यद्यपि पं० गोविंदनारायण मिश्र हिंदी के बहुत पुराने लेखकों में थे पर उस पुराने समय में वे अपने फुफेरे भाई पं० सदानंद मिश्र के 'सारसुधा-निधि'

पत्र मे कुछ सामयिक और साहित्यिक लेख ही लिखा करते थे जो पुस्तकाकार छपकर स्थायी साहित्य मे परिगणित न हो सके। अपनी गद्यशैली का निर्दिष्ट रूप इस द्वितीय उत्थान के भीतर ही उन्होंने पूर्णतया प्रकाशित किया। इनकी लेखशैली का पता इनके सम्मेलन के भाषण और "कवि और चित्रकार" नामक लेख से लगता है। गद्य के संबंध मे इनकी धारणा प्राचीनो के "गद्य-काव्य" की सी थी। लिखते समय बाण और दंडी इनके ध्यान में रहा करते थे। पर यह प्रसिद्ध बात है कि संस्कृत साहित्य मे गद्य का वैसा विकास नहीं हुआ। बाण और दंडी का गद्य काव्य-अलंकार की छटा दिखानेवाला गद्य था; विचारों को उत्तेजना देनेवाला, भाषा की शक्ति का प्रसार करनेवाला गद्य नहीं। विचार-पद्धति को उन्नत करनेवाले गद्य का अच्छा और उपयोगी विकास योरपीय भाषाओं मे ही हुआ। गद्यकाव्य की पुरानी रूढि के अनुसरण से शक्तिशाली गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

पंडित गोविंदनारायण मिश्र के गद्य को समास-अनुप्रास मे गुँथे शब्दगुच्छों का एक अटाला समझिए। जहाँ वे कुछ विचार उपस्थित करते हैं वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई पड़ती है। शब्दावली दोनो प्रकार की रहती है—संस्कृत की भी और व्रजभाषा काव्य की भी। एक ओर 'प्रगल्भ प्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न शब्द कल्पना कलित अभिनव भावमाधुरी' है तो दूसरी ओर 'तम तोम सटकाती मुकाती पूरनचंद की सकल-मन-भाई छिटकी जुन्हाई' है। यद्यपि यह गद्य एक क्रीड़ा-कौतुक मात्र है पर इसकी भी थोड़ी सी झलक देख लेनी चाहिए—

(साधारण गद्य का नमूना)

"परंतु मंदमति अरसिकों के अयोग्य, मलिन अथवा कुशाग्रबुद्धि चतुरों के स्वच्छ मलहीन मन को भी यथोचित शिक्षा से उपयुक्त बना लिए बिना उनपर कवि की परम रसीली उक्ति छवि-छबीली का अलंकृत नखशिख लौं स्वच्छ सर्वांग-सुंदर अनुरूप यथार्थ प्रतिबिंब कभी न पडेगा। × × × स्वच्छ दर्पण पर ही अनुरूप, यथार्थ, सुस्पष्ट प्रतिबिंब प्रतिफलित होता है। उससे साम्हना होते ही अपनी ही प्रतिबिंबित प्रतिकृति मानों समता की स्पर्द्धा में आ, उसी समय साम्हना करने आमने-सामने आ खड़ी होती है।"

(काव्यमय गद्य का नमूना)

"सरद पूनौ के समुदित पूरनचंद की छिटकी जुन्हाई सकल-मन-भाई के भी मुँह मसि मल, पूजनीय अलौकिक पदनखचंद्रिका की चमक के आगे तेजहीन, मलीन और कलंकित कर दरसाती, लजाती, सरस-सुधा-धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती, अशेष मोह-जड़ता-प्रगाढ-तम-तोम सटकाती, मुकाती, निज भक्तजन-मनवांछित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथों से मुक्ती लुटाती × × × मुक्ताहारीनीर-चीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राज-राजहिय-सिंहासन-निवासिनी मंदहासिनी, त्रिलोक-प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली परम प्रभावशाली सुजन-मन-मोहिनी नवरस-भरी सरससुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।"

भारतेंदु के सहयोगी लेखक प्रायः 'उचित' 'उत्पन्न' 'उच्चरित' 'नव' आदि से ही संतोष करते थे पर मिश्रजी ऐसे लेखकों ने बिना किसी जरूरत के उपसर्गों का पुछल्ला जोड़ जनता के इन जाने-बूझे शब्दो को भी—'समुचित', 'समुत्पन्न', 'समुच्चरित', 'अभिनव' करके—अजनबी बना दिया। 'मृदुता', 'कुटिलता', 'सुकरता', 'समीपता', 'ऋतुजा' आदि के स्थान पर 'मार्दव', 'कौटिल्य', 'सौकर्य्य', 'सामीप्य', 'आर्जव' आदि ऐसे ही लोगों की प्रवृत्ति से लाए जाने लगे।

बाबू श्यामसुंदरदासजी नागरी-प्रचारिणी सभा के स्थापनकाल से लेकर बराबर हिंदी भाषा, कवियों की खोज तथा इतिहास आदि के संबंध मे लेख लिखते आए है। आप जैसे हिंदी के अच्छे लेखक हैं वैसे ही बहुत अच्छे वक्ता भी। आपकी भाषा इस विशेषता के लिये बहुत दिनों से प्रसिद्ध है कि उसमे अरबी-फारसी के विदेशी शब्द नहीं आते। आधुनिक सभ्यता के विधानों के बीच की लिखा पढ़ी के ढंग पर हिंदी को ले चलने मे आपकी लेखनी ने बहुत कुछ योग दिया है।

बाबू साहब ने बड़ा भारी काम लेखको के लिये सामग्री प्रस्तुत करने का किया है। हिंदी पुस्तकों की खोज के विधान द्वारा आपने साहित्य का इतिहास, कवियो के चरित और उनपर प्रबंध आदि लिखने का बहुत सा मसाला इकट्ठा करके रख दिया। इसी प्रकार आधुनिक हिंदी के नए पुराने लेखकों के संक्षिप्त

जीवन-वृत्त 'हिंदी-कोविद-रत्नमाला' के दो भागों में आपने संगृहीत किए हैं। शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें—भाषा-विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन—भी आपने लिखी या संकलित की हैं।

हास्य विनोद-पूर्ण लेख लिखनेवालों में कलकत्ते के **पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी** का नाम भी बराबर लिया जाता है। पर उनके अधिकांश लेख भाषण मात्र हैं, स्थायी विषयों पर लिखे हुए निबंध नहीं।

पं० चंद्रधर गुलेरी का जन्म जयपुर में एक विख्यात पंडित घराने मे २५ आषाढ़ संवत् १९४० मे हुआ था। इनके पूर्वज काँगड़े के गुलेर नामक स्थान से जयपुर आए थे। पं० चद्रधरजी संस्कृत के प्रकांड विद्वान् और अँगरेजी की उच्च शिक्षा से सपन्न व्यक्ति थे। जीवन के अतिम वर्षों के पहले ये बराबर अजमेर के मेयो कालेज में अध्यापक रहे। पीछे काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल होकर आए। पर हिंदी के दुर्भाग्य से थोडे ही दिनो में सं० १९७७ में इनका परलोकवास हो गया। ये जैसे धुरंधर पंडित थे वैसे ही सरल और विनोदशील प्रकृति के थे।

गुलेरीजी ने 'सरस्वती' के कुछ ही महीने पीछे अपनी थोड़ी अवस्था मे ही जयपुर से 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र अपने संपादकत्व में निकलवाया था। उक्त पत्र द्वारा गुलेरीजी एक बहुत ही अनूठी लेख-शैली लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे। ऐसा गंभीर और पांडित्यपूर्ण हास, जैसा इनके लेखो मे रहता था, और कहीं देखने मे न आया। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयो तथा कथा-प्रसंगो की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी। इसी प्रसंग गर्भत्व (Allusiveness) के कारण इनकी चुटकियो का आनंद अनेक विषयों की जानकारी रखनेवाले पाठकों को ही विशेष मिलता था। इनके व्याकरण ऐसे रूखे विषय के लेख भी मजाक से खाली नहीं होते थे।

यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरीजी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनंद उन्हीं को मिल सकता है जो बहुज्ञ या कम से कम बहुश्रुत हैं। इनके

"कछुआ धरम" और "मारेसि मोहिं कुठाउँ" नामक लेखो से उद्धरण दिए जाते है।

(१) मनुस्मृति में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निंदा या असत् कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या और कहीं उठकर चला जाय। मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरू की कलंक-कथा सुनने के पास से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय जो और देशों के सौ में नव्बे आदमियो को ऐसे अवसर पर सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे।

पुराने से पुराने आर्य्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया मे रहना चाहते थे; आर्य्य सप्त-सिंधुओं को आर्य्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि, यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिये तीन गाडियाँ बनाईं। उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवाँ' मूँजवत् हिंदूकुश के एक मित्र दर्रे खैबर में होकर सिंधु की एक घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अंभारि, बंभारि, हस्त, सुहस्त, कृशन, शंड, मर्क मारते चले आते थे। वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबे डग भरनेवाले विष्णु ने पीछे फिर कर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड आए और यहाँ 'भ्रातृव्यस्य वधाय' (सजातानां मध्यमेष्ठयाय) देवताओं को आहुति देने लगे। जहाँ जहाँ रास्ते में टिके थे वहाँ वहाँ यूप खड़े हो गए। यहाँ की सुजला, सुफला, शस्यश्यामला, भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं।

पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, मूँजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पडा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लखपती, करोड़पती कहलाते हैं वैसे तब "शतगु", "सहस्रगु" कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने "नवग्वाः" "दशग्वाः" पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें

याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई कोई 'सरहदी' यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य्य सीमाप्रांत पर जाकर भी ले आया करते थे! मोल ठहराने में बडी हुज्जत होती थी, जैसी की तरकारियों का भाव करने में कुँजडिनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता, वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढकर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कधे पर चढ़ी बालवधू के लिये कहा था कि 'याही में बेटा और याही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता? उसके पास सोम की "मनोपली" थी और इनका बिना लिए सरता नहीं। अंत में गौ का एक पाद, अर्ध होते होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखो वाली एक बरस की बछिया में सोम राजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते।

अच्छा, अब उसी पंचनद में 'वाहीक' आकर बसे। अश्वघोष की फडकती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश और आर्य्यावर्त्त की महिमा हो गई; और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्। बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते मारते तो थे ही, वेधरम भी कर देते थे। बस, समुद्र-यात्रा बंद! कहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जानेवाले द्विज का प्रायश्चित्त करा कर भी संग्रह बंद! वही कछुआ धर्म! ढाल के अंदर बैठे रहो।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पडने लगे। उन्हें मिटाने के लिये उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा। किसी न किसी तरह कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी। लगीं प्रार्थनाएँ होने—

"मा देहि राम! जननी जठरे निवासम्"।

और यह उस देश में जहाँ सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ बढकर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें।

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनो में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे।

सुरपुर में अफ़वाह पहुँची। बस, इंद्र ने किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानों अमरावती ने आँखें बन्द कर लीं। यह कछुआ धरम का भाई शुतुरमुर्ग धरम है।

(२) हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है। जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गए, पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। × × × × यही नहीं जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असिरियावालों से। उनके यहाँ 'असुर' शब्द बड़ी शान का था। 'असुर' माने प्राणवाला, जबरदस्त। हमारे इंद्र की भी यह उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। × × × पारस के पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि 'क्षत्रप', 'क्षेत्रपावन' या 'महाक्षत्रप' हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्प, विस्तास्प के वजन के कृशाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गए। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे, यवन की स्त्री यवनी तो नहीं पर यवन की लिपि 'यवनानी' शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर गए। साथ ही मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँच गए। पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि ही काम में लाते थे। वराहमिहिर की स्त्री खना चाहे यवनी रही हो, या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिः शास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे 'वेल्यूपेबल सिस्टम' भी वेद में निकाला जाय, पर पुराने हिंदू कृतघ्न और गुरुमार न थे। × × × यवन राजाओं की उपाधि 'सोटर' त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। × × × शकों के हमले हुए तो 'शाकपार्थिव' वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ आए तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजे मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की सी नारंगी।

× × × ×

वकील शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्य्यसमाज ने मर्मस्थल पर

वह मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। गैरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, पर इन्होंने तो अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसीसे कहते हैं कि "मारेसि मोहिं कुठाऊँ"। अच्छे अच्छे पद तो यो सफाई से ले लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया।

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, हिंदू कहते है। × × × और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया। चाहे 'जय रामजी' कह लो चाहे 'जय श्रीकृष्ण', नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते हैं कि पहले यह ब्रह्मा का कंठ फाडकर निकला था।

इस द्वितीय उत्थान के भीतर हम दो ऐसे निबंध-लेखको का नाम लेते हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर जिनके लेखों में भाषा की एक नई गति विधि तथा आधुनिक जगत् की विचारधारा से उद्दीप्त नूतन भाव-भगी के दर्शन होते हैं। 'सरस्वती' के पुराने पाठकों मे से बहुतों को अध्यापक पूर्णसिंह के लेखो का स्मरण होगा। उनके तीन चार निबध ही उक्त पत्रिका मे निकले, उनमे विचारो और भावो को एक अनूठे ढग से मिश्रित करनेवाली एक नई शैली मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिंदी-गद्य-साहित्य में एक नई चीज थी। भाषा की बहुत कुछ उडान, उसकी बहुत कुछ शक्ति, 'लाक्षणिकता' मे देखी जाती है। भाषा और भाव की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी। योरप के जीवन-क्षेत्र की अशाति से उत्पन्न आध्यात्मिकता की, किसानों और मजदूरों की महत्त्व-भावना की जो लहरें उठीं उनमें वे बहुत दूर तक बहे। उनके निबंध भावात्मक कोटि में ही आएँगे यद्यपि उनकी तह मे क्षीण विचारधारा स्पष्ट लक्षित होती है। इस समय उनके तीन निबंध हमारे सामने हैं "आचरण की सभ्यता", "मजदूरी और प्रेम" और "सच्ची वीरता"। यहाँ हम उनके निबंधो से कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

'आचरण की सभ्यता' से

"पश्चिमी ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है, युरोप को कदापि प्राप्त न होता, यदि धन और तेज को

एकत्रित करने के लिये युरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिये अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ युरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा मालूम होता है—वहाँ दूसरी ओर युरोप के जीवन का वह भाग जहाँ विद्या और ज्ञान का सूर्य्य चमक रहा है, इतना महान् हैं कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य भूल जायँगे।

× × × आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं न मानसिक, न आध्यात्मिक। × × × जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफ़िर में मौमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दो को परे फेंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तो हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था।"

'मजदूरी और प्रेम' से

"जबतक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनंत काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।"

इस कोटि के दूसरे लेखक है बाबू गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी०। उन्होने विचारात्मक और भावात्मक दोनो प्रकार के निबंध थोड़े बहुत लिखे है—जैसे, 'कर्त्तव्य संबंधी रोग, निदान और चिकित्सा', 'समाज और कर्त्तव्य-पालन', 'फिर निराशा क्यो'। 'फिर निराशा क्यो' एक छोटी सी पुस्तक है जिसमे कई विषयो पर बहुत छोटे छोटे आभासपूर्ण निबंध है। इन्हीं मे से एक 'कुरूपता' भी है जिसका थोड़ा सा अंश नीचे दिया जाता है—

"सौंदर्य्य की उपासना करना उचित है सही, पर क्या उसी के साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निंद्य है? नहीं, सौंदर्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर

है। सुंदर पदार्थ अपनी सुंदरता पर चाहे जितना मान करे, किंतु असुंदर पदार्थकी स्थिति में ही वह सुंदर कहलाता है। अंधों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है।

× × × ×

सत्ता-सागर में दोनों की स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों? रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए हुए बैठे हैं। सुंदर वस्तु को भी हम इसी कारण सुंदर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं। आत्मा के सुविस्तृत और औदार्यपूर्ण हो जाने पर सुंदर और असुंदर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान् नहीं कहती। इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे ससार में अपने आपको ही देखेंगे तब हमको कुरूपवान् भी रूपवान् दिखाई देगा।"

अब निबंध का प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है। खेद है कि समास-शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखनेवाले, जिनमे बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ परंपरा कसी हो, अधिक लेखक हमे न मिले।

समालोचना

समालोचना का उद्देश्य हमारे यहाँ गुण-दोष विवेचन ही समझा जाता रहा है। संस्कृत-साहित्य मे समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब कोई आचार्य्य या साहित्य-मीमांसक कोई नया लक्षण-ग्रंथ लिखता था तब जिन काव्य-रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हे रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप मे उद्धृत करता था और जिन्हें दुष्ट समझता था उन्हे दोषो के उदाहरणों में देता था। फिर उसे उसकी राय नापसंद होती थी वह उन्हीं उदाहरणों में से अच्छे ठहराए पद्यों मे दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों के दोष का परिहार करता था।[1] इसके अतिरिक्त जो दूसरा उद्देश्य,

---

१—साहित्य-दर्पणकार ने शृंगार रस के उदाहरण में "शून्य वासगृह विलोक्य" यह श्लोक उद्धृत किया। रस-गगाधरकार ने इस श्लोक में अनेक दोष दिखलाए और उदाहरण में अपना बनाया श्लोक भिड़ाया। हिंदी-कवियों में श्रीपति ने दोषों के उदाहरण में केशवदास के पद्य रखे हैं।

समालोचना का होता है—अर्थात् कवियों की अलग अलग विशेषताओं का दिग्दर्शन—उसकी पूर्ति किसी कवि की स्तुति में दो-एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ कहकर ही लोग मान लिया करते थे, जैसे—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिः मधुरसांद्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

किसी कवि या पुस्तक के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी। योरप में इसकी चाल खूब चली। वहाँ समालोचना काव्य-सिद्धांत-निरूपण से स्वतंत्र एक विषय ही हो गया। केवल गुण-दोष दिखानेवाले लेखों या पुस्तकों की धूम तो थोड़े ही दिनों रहती थी, पर किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन करानेवाली, उसकी विचारधारा में डूबकर उसकी अंतर्वृत्तियों की छानबीन करनेवाली पुस्तक, जिसमें गुणदोष-कथन भी आ जाता था, स्थायी साहित्य में स्थान पाती थी। समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते हैं—निर्णयात्मक (Judicial Method) और व्याख्यात्मक (Inductive Criticism)[1]। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निंदा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रंथ में आई हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। यह मूल्य निर्धारित करने नहीं जाती। ऐसी आलोचना अपने शुद्ध रूप में काव्य-वस्तु ही तक परिमित रहती है अर्थात् उसी के अंग-प्रत्यंग की विशेषताओं को ढूँढ़ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करने में तत्पर रहती है। पर इस व्याख्यात्मक समालोचना के अंतर्गत बहुत सी बाहरी बातों का भी विचार होता

१—Methods and Materials of Literary Criticism.—Gayley & Scott.

है—जैसे, सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक परिस्थिति आदि का प्रभाव। ऐसी समीक्षा को 'ऐतिहासिक समीक्षा' (Historical Criticism) कहते है। इसका उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसा रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सबंध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परपरा मे क्या स्थान है। बाह्य पद्धति के अतर्गत ही कवि के जीवनक्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अंतर्वृत्तियो का सूक्ष्म अनुसंधान भी है, जिसे "मनोवैज्ञानिक आलोचना" (Psychological Criticism) कहते हैं। इनके अतिरिक्त दर्शन, विज्ञान आदि की दृष्टि से समालोचना की और भी कई पद्धतियाँ हैं और हो सकती हैं। इस प्रकार समालोचना के स्वरूप का विकास योरप में हुआ।

केवल निर्णयात्मक समालोचना की चाल बहुत कुछ उठ गई है। अपनी भली बुरी रुचि के अनुसार कवियो की श्रेणी बाँधना, उन्हे नंबर देना अब एक बेहूदः बात समझी जाती है[1]।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे हिंदी-साहित्य में समालोचना पहले पहल केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई। लेखो के रूप मे इसका सूत्रपात बाबू हरिश्चंद्र के समय मे ही हुआ। लेखो के रूप मे पुस्तको की विस्तृत समालोचना उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी ने अपनी "आनंदकादंबिनी" मे शुरू की। लाला श्रीनिवासदास के "संयोगिता स्वयंवर" नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना, जिसमे दोषो का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था, उक्त पत्रिका में निकली थी। पर किसी ग्रंथकार के गुण अथवा दोष ही दिखाने के लिये कोई पुस्तक भारतेंदु के समय में न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्तक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की "हिंदी कालिदास की आलोचना" थी जो इस द्वितीय उत्थान के आरंभ मे ही निकली। इसमें लाला सीताराम, बी० ए० के अनुवाद किए हुए नाटकों के भाषा तथा भाव-संबंधी दोष बड़े विस्तार से दिखाए गए हैं। यह अनुवादों की समालोचना थी

१–The ranking of writers in order of merit has become obsolete.—The New Criticism by J. E. Spingarn (1911).

अतः भाषा की त्रुटियो और मूल भाव के विपर्य्यय आदि के आगे जा ही नहीं सकती थी। दूसरी बात यह कि इसमे दोषो का ही उल्लेख हो सका, गुण नहीं ढूँढ़े गए।

इसके उपरांत द्विवेदीजी ने कुछ संस्कृत कवियो को लेकर दूसरे ढंग की—अर्थात् विशेषता-परिचायक—समीक्षाएँ भी निकालीं। इस प्रकार की पुस्तको मे "विक्रमांकदेव-चरितचर्चा" और "नैषधचरित-चर्चा" मुख्य हैं। इनमे कुछ तो पंडितमंडली मे प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोको की खूबियों पर साधुवाद है (जैसे, क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है!) और कुछ भिन्न भिन्न विद्वानों के मतो का संग्रह। इस प्रकार की पुस्तको से संस्कृत न जानने वाले हिंदी-पाठकों को दो तरह की जानकारी हासिल होती है—संस्कृत के किसी कवि की कविता किस ढंग की है, और वह पडितों और विद्वानो के बीच कैसी समझी जाती है। द्विवेदीजी की तीसरी पुस्तक "कालिदास की निरकुशता" में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किए गए है जिन्हें संस्कृत के विद्वान् लोग कालिदास की कविता मे बताया करते हैं। यह पुस्तक हिंदी वालो के या संस्कृतवालो के फायदे के लिये लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता। जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले मे फैली बातो से दूसरे मुहल्लेवालो को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूपे मे समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप मे नही।

यद्यपि द्विवेदीजी ने हिंदी के बड़े बड़े कवियो को लेकर गभीर साहित्य, समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तको की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिंदी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदीजी न उठ खड़े होते तो, जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और उटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी; उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमे भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।

कवियों का बड़ा भारी इति-वृत्त-संग्रह (मिश्रबंधु-विनोद) तैयार करने के पहले मिश्रबंधुओं ने "हिंदी नवरत्न" नामक समालोचनात्मक ग्रंथ निकाला था

जिसमे सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि 'देव' हिंदी के सबसे बडे कवि है। हिंदी के पुराने कवियो को समालोचना के लिये सामने लाकर मिश्रबंधुओं ने बेशक बड़ा जरूरी काम किया। उनकी बाते समालोचना कही जा सकती है या नही, यह दूसरी बात है। रीतिकाल के भीतर यह सूचित किया जा चुका कि हिंदी में साहित्य शास्त्र का वैसा निरूपण नहीं हुआ जैसा संस्कृत में हुआ। हिंदी के रीति-ग्रथों के अभ्यास से लक्षणा, व्यजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की सम्यक् धारणा नहीं हो सकती। कविता की समालोचना के लिये यह धारणा कितनी आवश्यक है, कहने की जरूरत नही। इसके अतिरिक्त उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिये विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण-बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है। "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यो को लेकर यह राय जाहिर करना कि "तुलसी कभी राम की निंदा नहीं करते; पर सूर ने दो चार स्थानो पर कृष्ण के कामों की निंदा भी की है," साहित्यमर्मज्ञो के निकट क्या समझा जायगा ?

'सूरदास प्रभु वै अति खोटे", "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यो पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव मे खोटे कहे गए है, न काले कलूटे कृतघ्न। पहला वाक्य सखी की विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है जो उस सखी का राधाकृष्ण के प्रति रति-भाव व्यंजित करता है। इसी प्रकार दूसरा वाक्य विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोद मिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है। यह अमर्ष यहाँ विप्र-लंभ शृंगार मे रतिभाव का ही व्यंजक है[1]। इसी प्रकार कुछ 'दैन्य' भाव की उक्तियों को लेकर तुलसीदासजी खुशामदी कहे गये हैं। 'देव' को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने के लिये बिहारी मे बिना दोष के दोष ढूँढ़े गए है। 'सक्रोन' को 'संक्रांति' का (संक्रमण तक ध्यान कैसे जा सकता था ?) अपभ्रंश समझ आप लोगो ने उसे बहुत बिगाड़ा हुआ शब्द माना है। 'रोज' शब्द 'रुलाई' के अर्थ में कबीर, जायसी आदि पुराने कवियों मे न जाने कितनी

१-देखिए "भ्रमरगीतसार" की भूमिका।

जगह आया है और आगरे आदि के आस पास अब तक बोला जाता है; पर वह भी 'रोजा' समझा गया है। इसी प्रकार की बे सिर पैर की बातो से पुस्तक भरी है। कवियों की विशेषताओं के मार्मिक निरूपण की आशा से जो इसे खोलेगा, वह निराश ही होगा।

इसके उपरांत पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमे उस साहित्य-परंपरा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्य्यासप्तशती' और 'गाथासप्तशती' के बहुत से पद्यो के साथ बिहारी के दोहों का पूरा पूरा मेल दिखाकर शर्म्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परंपरा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का उद्घाटन भी साहित्य समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है। हिंदी के दूसरे कवियो के मिलते-जुलते पद्यो की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्म्मा जी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस पुस्तक मे शर्म्माजी ने उन आक्षेपो का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिये बिहारी पर किए गए थे। हो सकता है कि शर्म्माजी ने भी बहुत से स्थलो पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होने जो कुछ किया है वह अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।

यहाँ पर यह बात सूचित कर देना आवश्यक है कि शर्म्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत (Conventional) है। दूसरे शृंगारी कवियो से अलग करने वाली बिहारी की विशेषताओ के अन्वेषण और अंतःप्रवृत्तिओं के उद्घाटन का—जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है—प्रयत्न इसमें नहीं हुआ है। एक खटकनेवाली बात है, बिना जरूरत के जगह जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज।

शर्म्माजी की पुस्तक से दो बाते हुई। एक तो "देव बड़े कि बिहारी" यह भद्दा झगड़ा सामने आया; दूसरे "तुलनात्मक समालोचना" के पीछे लोग बेतरह पड़े।

"देव और बिहारी" के झगड़े को लेकर पहली पुस्तक पं० कृष्णबिहारी मिश्र, बी० ए०, एल-एल० बी० की मैदान मे आई। इस पुस्तकमे बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बडे कवियो की भिन्न भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बाते कही गई हैं, वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई है, 'नवरत्न' की तरह यों ही नहीं कही गई है। यह पुरानी परिपाटी की साहित्य-समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने के योग्य है। मिश्रबंधुओ की अपेक्षा प० कृष्णबिहारी जी साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते है। "देव और बिहारी" के उत्तर मे लाला भगवान-दीनजी ने "बिहारी और देव" नाम की पुस्तक निकाली जिसमे उन्होने मिश्र-बंधुओं के भद्दे आक्षेपो का उचित शब्दो मे जवाब देकर पंडित कृष्णबिहारीजी की बातो पर भी पूरा विचार किया। अच्छा हुआ कि 'छोटे बड़े' के इस भद्दे झगड़े की ओर अधिक लोग आकर्षित नहीं हुए।

अब "तुलनात्मक समालोचना" की बात लीजिए। उसकी ओर लोगो का कुछ आकर्षण देखते ही बहुतो ने 'तुलना' को ही समालोचना का चरम लक्ष्य समझ लिया और पत्रिकाओ में तथा इधर उधर भी लगे भिन्न भिन्न कवियों के पद्यो को लेकर मिलान करने। यहाँ तक कि जिन दो पद्यो में वास्तव मे कोई भाव-साम्य नहीं, उनमे भी बादरायण संबंध स्थापित करके लोग इस "तुल-नात्मक समालोचना" के मैदान मे उतरने का शौक जाहिर करने लगे। इसका असर कुछ समालोचको पर भी पड़ा। पंडित कृष्णबिहारी मिश्रजी ने जो "मतिराम ग्रंथावली" निकाली, उसकी भूमिका का आवश्यकता से अधिक अंश उन्होंने इस 'तुलनात्मक आलोचना' को ही अर्पित कर दिया; और बातो के लिये बहुत कम जगह रखी।

द्वितीय उत्थान के भीतर 'समालोचना' की यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई पर उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत (Conventional) ही रहा। कवियों की विशेषताओ का अन्वेषण और उनकी अंतःप्रकृति की छानबीन करनेवाली उच्च कोटि की समालोचना का प्रारंभ तृतीय उत्थान मे जाकर हुआ।

गद्य-साहित्य की वर्त्तमान गति

तृतीय उत्थान

(संवत् १९७५ से)

इस तृतीय उत्थान मे हम वर्त्तमान काल मे पहुँचते हैं जो अभी चल रहा है। इसमें आकर हिंदी गद्य-साहित्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के भीतर अनेक नए रास्ते खुले जिनमें से कई एक पर विलायती गलियों के नाम की तख्तियाँ भी लगीं। हमारे गद्य-साहित्य का यह काल अभी हमारे सामने है। इसके भीतर रहने के कारण इसके संबंध में हम या हमारे सहयोगी जो कुछ कहेंगे वह इस काल का अपने संबंध मे अपना निर्णय होगा। सच पूछिए तो वर्त्तमान काल जो अभी चल रहा है, हमसे इतना दूर पीछे नहीं छूटा है कि इतिहास के भीतर आ सके। इससे यहाँ आकर हम अपने गद्य-साहित्य से विविध अंगों का संक्षिप्त विवरण ही इस दृष्टि से दे सकते हैं कि उनके भीतर की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ लक्षित हो जायँ।

सब से पहले ध्यान लेखको और ग्रंथकारों की दिन दिन बढ़ती संख्या पर जाता है। इन बीस इक्कीस वर्षों के बीच हिंदी साहित्य का मैदान काम करने-वालो से पूरा पूरा भर गया, जिससे उसके कई अंगों की बहुत अच्छी पूर्त्ति हुई, पर साथ ही बहुत सी फालतू चीजे भी इधर उधर बिखरीं। जैसे भाषा का पूरा अभ्यास और उस पर अच्छा अधिकार रखनेवाले, प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरूप को ठीक ठीक परखनेवाले अनेक लेखकों द्वारा हमारा साहित्य पुष्ट और प्रौढ़ हो चला, वैसे ही केवल पाश्चात्य साहित्य के किसी कोने में आँख खोलनेवाले और योरप की हर एक नई-पुरानी बात को 'आधुनिकता' कहकर चिल्लानेवाले लोगों के द्वारा बहुत कुछ अधिकार चर्चा—बहुत-सी अनाड़ीपन

की बातें—भी फैल चलीं। एक दूसरे ढाँचे के लोग योरप की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुसार समय समय पर उठे हुए नाना वादों और प्रवादों को लेकर और उनकी उक्तियों के टेढ़े सीधे अनुवाद की उद्धरणी करके ही अपने को हमारे वास्तविक साहित्य निर्माताओ से दस हाथ आगे बता चले।

इनके कारण हमारा सच्चा साहित्य रुका तो नहीं, पर व्यर्थ की भीड-भाड़ के बीच ओट में अवश्य पड़ता रहा। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या निबंध, क्या समालोचना, क्या काव्य-स्वरूप मीमांसा, सब क्षेत्रों के भीतर कुछ विलायती मंत्रों का उच्चारण सुनाई पड़ता आ रहा है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अपने जन्म-स्थान मे अब नहीं सुनाई पड़ते। हँसी तब आती है जब कुछ ऐसे व्यक्ति भी 'मध्ययुग की प्रवृत्ति', 'क्लासिकल', 'रोमांटिक' इत्यादि शब्दों से विभूषित अपनी आलोचना द्वारा 'नए युग की वाणी' का सचार समझाने खड़े होते हैं, जो इन शब्दों का अर्थ जानना तो दूर रहा, अँगरेजी भी नहीं जानते। उपन्यास के क्षेत्र मे देखिए तो एक ओर प्रेमचद ऐसे प्रतिभाशाली उपन्यासकार हिंदी की कीर्ति का देश-भर मे प्रसार कर रहे हैं; दूसरी ओर कोई उनकी भर-पेट निंदा करके टाल्सटॉय का 'पापी के प्रति घृणा नहीं दया' वाला सिद्धात लेकर दौड़ता है। एक दूसरा आता है जो दयावाले सिद्धांत के विरुद्ध योरप का साम्यवादी सिद्धांत ला भिड़ाता है और कहता है कि गरीबों का रक्त चूसकर उन्हें अपराधी बनाना और फिर बड़ा बनकर दया दिखाना तो उच्च वर्ग के लोगों की मनोवृत्ति है। वह बड़े जोश के साथ सूचित करता है कि इस मनोवृत्ति का समर्थन करनेवाला साहित्य हमें नहीं चाहिए, हमें तो ऐसा साहित्य चाहिए जो पद-दलित अकिंचनों में रोष, विद्रोह और आत्म-गौरव का संचार करे और उच्च वर्ग के लोगो मे नैराश्य, लज्जा और ग्लानि का।

एक ओर स्वर्गीय जयशकर प्रसादजी अपने नाटकों द्वारा यह साफ झलका देते हैं कि प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त लेकर चलनेवाले नाटको की रचना के लिये काल-विशेष के भीतर के तथ्य बटोरनेवाला कैसा विस्तृत अध्ययन और उन तथ्यो द्वारा अनुमित सामाजिक स्थिति के सजीव ब्योरे सामने खड़ा करनेवाली कैसी सूक्ष्म कल्पना चाहिए; दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे नाटकों के प्रति उपेक्षा

का-सा भाव दिखाते हुए बर्नर्ड शा आदि का नाम लेते हैं और कहते हैं कि आधुनिक युग 'समस्या नाटकों' का है। यह ठीक है कि विज्ञान की साधना द्वारा संसार के वर्त्तमान युग का बहुत-सा रूप योरप का खड़ा किया हुआ है। पर इसका क्या यह मतलब है कि युग का सारा रूप विधान योरप ही करे और हम आराम से जीवन के सब क्षेत्रों में उसी के दिए हुए रूपों को ले लेकर रूपवान् बनते चलें ? क्या अपने स्वतंत्र स्वरूप-विकास की हमारी शक्ति सब दिन के लिये मारी गई ?

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि योरप के साहित्य क्षेत्र मे उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहाँ न हो। यदि हमे वर्त्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहाँ के अनेक 'वादों' और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिए। उन वादो की चर्चा अच्छी तरह हो, उन पर पूरा विचार हो और उनके भीतर जो थोड़ा-बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास मे रखा जाय। पर उनमें से कभी इसको, कभी उसको, यह कहते हुए सामने रखना कि वर्त्तमान विश्व-साहित्य का स्वरूप यही है जिससे हिंदी साहित्य अभी बहुत दूर है, अनाड़ीपन ही नहीं जंगलीपन भी है।

आज-कल भाषा की भी बुरी दशा है। बहुत से लोग शुद्ध भाषा लिखने का अभ्यास होने के पहले ही बडे बडे पोथे लिखने लगते है जिनमे व्याकरण की भद्दी भूलें तो रहती ही हैं, कहीं कही वाक्य-विन्यास तक ठीक नहीं रहता। यह बात और किसी भाषा के साहित्य मे शायद ही देखने को मिले। व्याकरण की भूलों तक ही बात नहीं है। अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले है। वे अँगरेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यो-के त्यो उठाकर रख देते हैं; यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिंदी हुई या और कुछ। नीचे के अवतरणो से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) उनके हृदय में अवश्य ही एक ललित कोना होगा जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा। (कुंडलीचक्र उपन्यास)।

(२) वह उन लोगों में से न था जो **घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों।** (वही)

(३) क्या संभव नहीं है कि भारत के बड़े बडे **स्वार्थ** कुछ लोगों की नामावली उपस्थित करें। (आज, २८ अक्टूबर, १९२९)

उपन्यास-कहानी

इस तृतीय उत्थान मे हमारा उपन्यास-कहानी साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ। नूतन विकास लेकर आनेवाले प्रेमचंद जी जो कर गए वह तो हमारे साहित्य की एक निधि ही है, उनके अतिरिक्त पं० विश्वंभरनाथ कौशिक, बाबू प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्री जैनेंद्रकुमार ऐसे सामाजिक उपन्यासकार तथा बा० वृंदावनलाल वर्मा ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासकार उपन्यास-भंडार की बहुत सुंदर पूर्ति करते जा रहे है। सामाजिक उपन्यासो में देश मे चलनेवाले राष्ट्रीय तथा आर्थिक आंदोलनों का भी आभास बहुत कुछ रहता है। तअल्लुकेदारो के अत्याचार, भूखे किसानों की दारुण दशा के बड़े चटकीले चित्र उनमे प्रायः पाए जाते हैं। इस संबंध मे हमारा केवल यही कहना है कि हमारे निपुण उपन्यासकारो को केवल राजनीतिक दलो द्वारा प्रचारित बाते लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि अँगरेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन निर्वाह करनेवालों (किसानों और जमीदारो दोनों) की और नगर के रोजगारियों या महाजनो की परस्पर क्या स्थिति हुई। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राजकर्मचारियो का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियो का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्‌गम बना दी गई है। व्यापार-श्रेणियो को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फूलता-फलता रखने के लिये दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से संबंध रखनेवाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर—गिरती गई।

जमीदारों के अतर्गत हमें ९८ प्रतिशत साधारण जमीदारों को लेना चाहिए, २ प्रतिशत बड़े बडे तअल्लुकेदारों को नहीं। किसान और जमींदार एक ओर

तो सरकार की भूमि-कर संबंधी नीति से पिसते आ रहे हैं, दूसरी ओर उन्हे भूखों मारनेवाले नगरों के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की उपज का भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं। भाव किसानो, जमींदारों के हाथ मे नहीं। किसानों के बीस सेर के भाव से अन्न लेकर व्यापारी सात आठ सेर के भाव से बेचा करते हैं। नगरों के मजदूर तक पान बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गॉव के जमींदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे उपन्यासकारों को देश के वर्त्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।

वर्त्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न भिन्न वर्गों मे जो प्रवृत्तियॉ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। समाज के बीच खान-पान के व्यवहार तक मे जो भद्दी नकल होने लगी है—गर्मी के दिनों में भी सूट बूट कसकर टेबुलों पर जो प्रीति-भोज होने लगा है—उसको हॅसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों मे ही है। लोग या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिंत्य परिस्थितियॉ खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप मे सामने लाना और कभी कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासो का काम है।

लोक की सामयिक परिस्थितियो तक न रहकर जीवन के नित्य स्वरूप की विषमताऍ और उलझने सामने रखनेवाले उपन्यास भी योरप में लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। जीवन में कुछ बातों का जो मूल्य चिरकाल से निर्धारित चला आ रहा है—जैसे पाप और पुण्य का—उसकी मीमांसा में भी उपन्यास प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार उपन्यासों का लक्ष्य वहॉ क्रमशः ऊँचा होता गया जिससे जीवन के नित्य स्वरूप का चिंतन और अनुभव करनेवाले बड़े बड़े कवि इधर उपन्यास के क्षेत्र में भी काम करते दिखाई देते हैं। बड़े

हर्ष की बात है कि हमारे हिंदी-साहित्य में भी बा० भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' नाम का इस ढंग का एक सुंदर उपन्यास प्रस्तुत किया है।

द्वितीय उत्थान के भीतर बँगला से अनूदित अथवा उनके आदर्श पर लिखे गए उपन्यासो मे देश की सामान्य जनता के गार्हस्थ्य और पारवारिक जीवन के बड़े धार्मिक और सच्चे चित्र रहा करते थे। प्रेमचदजी के उपन्यासों में भी निम्न और मध्य श्रेणी के गृहस्थो के जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप मिलता रहा। पर इधर बहुत से ऐसे उपन्यास सामने आ रहे हैं जो देश के सामान्य भारतीय जीवन से हटकर बिलकुल योरपीय रहन-सहन के साँचे में ढले हुए बहुत छोटे से वर्ग का जीवन-चित्र ही यहाँ से वहाँ तक अंकित करते है। उनमें मिस्टर, मिसेज, मिस, प्रोफेसर, होस्टल, क्लब, ड्राइंगरूम, टेनिस, मैच, सिनेमा, मोटर पर हवाखोरी, कालेज की छात्रावस्था के बीच के प्रणय व्यवहार इत्यादि ही सामने आते हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी शिक्षा के दिन दिन बढते हुए प्रचार से देश के आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष हो गया है पर यह सामान्य पक्ष नहीं है। भारतीय रहन सहन, खान-पान, रीति-व्यवहार प्रायः सारे जनता के बीच बने हुए है। देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते।

यहाँ तक तो सामाजिक उपन्यासों की बात हुई। ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम देखने मे आ रहे है। एक प्रकार से तो यह अच्छा है। जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न भिन्न कालो की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग अलग विशेष रूप से अध्ययन करनेवाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्योरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करनेवाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासो में हाथ लगाना ठीक नहीं। द्वितीय उत्थान के भीतर जो कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए या बग भाषा से अनुवाद करके लाए गए, उनमे देश-काल की परिस्थिति का अध्ययन नही पाया जाता। अब किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्त-काल मे गुलाबी और फीरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़ फानूस लाए जाएँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याखान दिए जाएँगे, और उन पर करतल-ध्वनि होगी; बात बात में 'धन्यवाद', 'सहानुभूति' ऐसे

शब्द तथा 'सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना' ऐसे फिकरे पाए जायँगे तो काफी हँसनेवाले और नाक-भौं सिकोडनेवाले मिलेंगे। इससे इस जमीन पर बहुत समझ बूझ कर पैर रखना होगा।

ऐतिहासिक उपन्यास जिस ढग से लिखना चाहिए, यह प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्रीराखालदास बंद्योपाध्याय ने अपने 'करुणा', 'शशांक' और 'धर्मपाल' नामक उपन्यासो द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया। प्रथम दो के अनुवाद हिंदी में हो गए हैं। खेद है कि इस समीचीन पद्धति पर प्राचीन हिंदू साम्राज्य काल के भीतर की कथा-वस्तु लेकर मौलिक उपन्यास न लिखे गए। नाटक के क्षेत्र में अलबत स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी ने इस पद्धति पर कई सुदर ऐतिहासिक नाटक लिखे। इसी पद्धति पर उपन्यास लिखने का अनुरोध हमने उनसे कई बार किया था जिसके अनुसार शुंगकाल (पुष्यमित्र, अग्निमित्र का समय) का चित्र उपस्थित करनेवाला एक बड़ा मनोहर उपन्यास लिखने में उन्होंने हाथ भी लगाया था, पर साहित्य के दुर्भाग्य से उसे अधूरा छोड़कर ही वे चल बसे।

वर्त्तमानकाल मे ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में केवल बा० वृंदावनलाल वर्मा दिखाई दे रहे है। उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग के प्रारंभ मे बुंदेलखंड की स्थिति लेकर 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' नामक दो बड़े सुंदर उपन्यास लिखे हैं। विराटा की पद्मिनी की कल्पना तो अत्यत रमणीय है।

उपन्यासों के भीतर लबे लबे दृश्य-वर्णनो तथा धाराप्रवाह भाव-व्यंजना-पूर्ण भाषण की प्रथा जो पहले थी वह योरप मे बहुत कुछ छाँट दी गई, अर्थात् वहाँ उपन्यासो से काव्य का रग बहुत कुछ हटा दिया गया। यह बात वहाँ नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में 'यथातथ्यवाद' की प्रवृत्ति के साथ हुई। इससे उपन्यास-कला की अपनी निज की विशिष्टता निखरकर झलकी, इसमें कोई सदेह नहीं। वह विशिष्टता यह है कि घटनाएँ और पात्रो के क्रियाकलाप ही भावों को बहुत-कुछ व्यक्त कर दें, पात्रो के प्रगल्भ भाषण की उतनी अपेक्षा न रहे। पात्रों के थोड़े से मार्मिक शब्द ही हृदय पर पड़नेवाले प्रभाव को पूर्ण कर दें। इस तृतीय उत्थान का आरंभ होते होते हमारे हिंदी-साहित्य में उपन्यास का

यह पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्वरूप लेकर स्वर्गीय प्रेमचंदजी आए। द्वितीय उत्थान के मौलिक उपन्यासकारो मे शील-वैचित्र्य की उद्भावना नहीं के बराबर थी। प्रेमचदजी के ही कुछ पत्रकारो मे ऐसे स्वाभाविक ढॉचे की व्यक्तिगत विशेषताऍ मिलने लगी जिन्हे सामने पाकर अधिकांश लोगो को यह भासित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषतावाले व्यक्ति हमने कहीं न-कहीं देखे है। ऐसी व्यक्तिगत विशेषता ही सच्ची विशेषता है, जिसे झूठी विशेषता और वर्गगत विशेषता दोनों से अलग समझना चाहिए। मनुष्य-प्रकृति की व्यक्तिगत विशेषताओ का संगठन भी प्रकृति के और विधानों के समान कुछ ढरों पर होता है, अतः ये विशेषताऍ बहुतो को लखाई पड़ती रहती हैं; चाहे वे उन्हे शब्दो मे व्यक्त न कर सके। प्रेमचंद की सी चलती और पात्रो के अनुरूप रंग बदलनेवाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई थी।

अंतःप्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्घाटन का कौशल भी प्रेमचंदजी के दो एक उपन्यासो मे, विशेषतः 'गबन' मे देखने में आया। सत् और असत्, भला और बुरा, दो सर्वथा भिन्न वर्ग करके पात्र निर्माण करने की अस्वाभाविक प्रथा भी इस तृतीय उत्थान मे बहुत कुछ कम हुई है, पर मनोवृत्ति की अस्थिरता का वह चित्रण अभी बहुत कम दिखाई पडा है जिसके अनुसार कुछ परिस्थितियो मे मनुष्य अपने शील-स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध आचरण कर जाता है।

उपन्यासो से भी प्रचुर विकास हिंदी मे छोटी कहानियो का हुआ है। कहानियॉ बहुत तरह की लिखी गईं; उनके अनेक प्रकार के रूप-रग प्रकट हुए। इसमे तो कोई सदेह नहीं कि उपन्यास और छोटी कहानी दोनों के ढॉचे हमने पश्चिम से लिए हैं। हैं भी ये ढॉचे बडे सुंदर। हम समझते हैं कि हमे ढॉचों ही तक रहना चाहिए। पश्चिम मे भिन्न भिन्न दृष्टियों से किए हुए उनके वर्गीकरण, उनके संबंधमे निरूपित तरह तरह के सिद्धांत भी हम समेटते चलें, इसकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। उपन्यासों और छोटी कहानियो का हमारे वर्त्तमान हिंदी-साहित्य में इतनी अनेकरूपता के साथ विकास हुआ है कि उनके संबध मे हम अपने कुछ स्वतत्र सिद्धांत स्थिर कर सकते हैं, अपने ढंग पर उनके भेद उपभेद निरूपित कर सकते हैं। इसकी आवश्यकता समझने के

लिये एक उदाहरण लीजिए। छोटी कहानियो के जो आदर्श और सिद्धांत अँगरेजी की अधिकतर पुस्तकों मे दिए गए है, उनके अनुसार छोटी कहानियों मे शील या चरित्र-विकास का अवकाश नही रहता। पर प्रेमचंदजी की एक कहानी है 'बड़े भाई साहब' जिसमें चरित्र के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जिस संग्रह के भीतर यह कहानी है, उसकी भूमिका मे प्रेमचदजी ने कहानी में चरित्रविकास को बड़ा भारी कौशल कहा है। छोटी कहानियो के जो छोटे-मोटे संग्रह निकलते है उनमे भूमिका के रूप मे अँगरेजी पुस्तको से लेकर कुछ सिद्धांत प्रायः रख दिए जाते हैं। यह देखकर दुःख होता है, विशेष करके तब, जब उन सिद्धांतों से सर्वथा स्वतंत्र कई सुंदर कहानियाँ उन संग्रहों के भीतर ही मिल जाती है।

उपन्यास और नाटक दोनो से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति किस प्रकार योरप मे हुई है और दृश्य-वर्णन, प्रगल्भ भाव-व्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि किस प्रकार हटाए जाने लगे हैं, इसका उल्लेख हम अभी कर आए हैं[१]। उसके अनुसार इस तृतीय उत्थान मे हमारे उपन्यासों के ढाँचो में भी कुछ परिवर्तन हुआ। परिच्छेदो के आरंभ में लंबे लंबे काव्यमय दृश्य-वर्णन, जो पहले रहा करते थे, बहुत कम हो गए; पात्रों के भाषण का ढंग भी कुछ अधिक स्वाभाविक और व्यावहारिक हुआ। उपन्यास को काव्य के निकट रखनेवाला पुराना ढाँचा एकबारगी छोड़ नहीं दिया गया है। छोड़ा क्यो जाय? उसके भीतर हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबंधो (जैसे, कादंबरी, हर्षचरित) के स्वरूप की परंपरा छिपी हुई है। योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे। यह कुछ आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे पीछे रखें। अब यह आदत छोड़नी चाहिए कि कहीं हार्डी का कोई उपन्यास पढ़ा और उसमें अवसाद या 'दुःखवाद' की गंभीर छाया देखी तो चट बोल उठे कि अभी हिंदी के उपन्यासों को वहाँ तक पहुँचने में बहुत देर है। बौद्धो के दुःखवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपनहावर से होता हुआ हार्डी तक पहुँचा, यह भी जानना चाहिए।

१—देखो पृ० ५२८ का अंतिम पैरा।

योरप में नाटक और उपन्यास से काव्यत्व निकाल बाहर करने का जो प्रयत्न हुआ है, उसका कुछ कारण है। वहाँ जब फ्रास और इटली के कलावादियो द्वारा काव्य भी बेल-बूटे की नक्काशी की तरह जीवन से सर्वथा पृथक् कहा जाने लगा, तब जीवन को ही लेकर चलनेवाले नाटक और उपन्यास का उससे सर्वथा पृथक् समझा जाना स्वाभाविक ही था। पर इस अत्यत पार्थक्य का आधार प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जगत् और जीवन के नाना पक्षो को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भाव व्यजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओ के सचरण द्वारा विविध परिस्थितियो की उद्भावना को। उपन्यास न जाने कितनी ऐसी परिस्थितियाँ सामने लाते हैं जो काव्य-धारा के लिये प्रकृत मार्ग खोलती हैं।

उपन्यासो और कहानियों के सामाजिक और ऐतिहासिक ये दो भेद तो बहुत प्रत्यक्ष है। ढाँचो के अनुसार जो तीन मुख्य भेद—कथा के रूप मे, आत्मकथा के रूप में और चिट्ठी-पत्री के रूप मे—किए गए है उनमे से अधिकतर उदाहरण तो प्रथम के ही सर्वत्र हुआ करते हैं। द्वितीय के उदाहरण भी अब हिंदी मे काफी हैं, जैसे, 'दिल की आग' (जी० पी० श्रीवास्तव)। तृतीय के उदाहरण हिंदी में बहुत कम पाए जाते है, जैसे, 'चंद हसीनो के खतूत'। इस ढाँचे मे उतनी सजीवता भी नहीं।

कथा-वस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार हिंदी के अपने वर्त्तमान उपन्यासों मे हमें ये भेद दिखाई पड़ते है—

(१) घटना-वैचित्र्य प्रधान अर्थात् केवल कुतूहलजनक, जैसे, जासूसी, और वैज्ञानिक आविष्कारो का चमत्कार दिखानेवाले। इनमे साहित्य का गुण अत्यत अल्प होता है—केवल इतना ही होता है कि ये आश्चर्य और कुतूहल जगाते हैं।

(२) मनुष्य के अनेक पारस्परिक संबंधों की मार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखनेवाले, जैसे, प्रेमचंदजी का 'सेवा-सदन', 'निर्मला', 'गोदान'; श्री विश्वंभर-

नाथ कौशिक का 'माँ', भिखारिणी'; श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा', 'विकास', 'विजय'; चतुरसेन शास्त्री का 'हृदय की प्यास'।

(३) समाज के भिन्न भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करनेवाले, जैसे, प्रेमचंदजी का 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि'; प्रसादजी का 'कंकाल', 'तितली'।

(४) अंतर्वृत्ति अथवा शील वैचित्र्य और उसका विकासक्रम अंकित करनेवाले, जैसे, प्रेमचंदजी का 'गबन'; श्री जैनेंद्रकुमार का 'तपोभूमि', 'सुनीता'।

(५) भिन्न भिन्न जातियों और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक संबंध पर जोर देनेवाले, जैसे, राजा राधिकारमणप्रसादसिंहजी का 'राम रहीम'।

(६) समाज के पाखंड-पूर्ण कुत्सित पक्षों का उद्घाटन और चित्रण करनेवाले, जैसे, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' 'बुधुवा की बेटी'।

(७) बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति की रमणीयता का समन्वित रूप में चित्रण करनेवाले, सुंदर और अलंकृत पद विन्यास-युक्त उपन्यास, जैसे, स्वर्गीय श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' का 'मंगल प्रभात'।

अनुसंधान और विचार करने पर इसी प्रकार और दृष्टियों से भी कुछ भेद किए जा सकते हैं। सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के जो आंदोलन देश में चल रहे हैं उनका आभास भी बहुत से उपन्यासों में मिलता है। प्रवीण उपन्यासकार उनका समावेश और बहुत सी बातों के बीच कौशल के साथ करते हैं। प्रेमचंदजी के उपन्यासों और कहानियों में भी ऐसे आंदोलनों के आभास प्रायः मिलते हैं। पर उनमें भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक (Propagandist) का रूप ऊपर आ गया।

छोटी कहानियाँ

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ

और भी विशद और विस्तृत रूप मे हुआ है और उसमे वर्त्तमान कवियो का भी पूरा योग रहा है। उनके इतने रूप-रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब के सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते। न तो सब मे विस्तार के किसी नियम का पालन मिलेगा, न चरित्र-विकास का अवकाश। एक संवेदना या मनोभाव का सिद्धांत भी कहीं कहीं ठीक न घटेगा। उसके स्थान पर हमे मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी सवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप देगा। श्री चडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'उन्मादिनी' का जिस परिस्थिति मे पर्य्यवसान होता है उसमे पूरन का सत्त्वोद्रेक, सौदामिनी का अपत्यस्नेह और कालीशकर की स्तब्धता तीनो का योग है। जो कहानियाँ कोई मार्मिक परिस्थिति लक्ष्य मे रखकर चलेगी उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न भिन्न रूप-रंगो के सहित और परिस्थितियों का विशद चित्रण भी बराबर मिलेगा। घटनाएँ और कथोपकथन बहुत अल्प रहेगे। 'हृदयेश' जी की कहानियाँ प्रायः इसी ढंग की हैं। 'उन्मादिनी' में घटना गतिशील नहीं। 'शांति-निकेतन' मे घटना और कथोपकथन दोनों कुछ नहीं। यह भी कहानी का एक ढंग है, यह हमे मानना पडेगा। पाश्चात्य आदर्श का अनुसरण इसमे नहीं है, न सही।

वस्तु-विन्यास के ढग में भी इधर अधिक वैचित्य आया है। घटनाओ मे काल के पूर्वापर क्रम का विपर्य्यय कहीं कहीं इस तरह का मिलेगा कि समझने के लिए कुछ देर रुकना पड़ेगा। कहानियो मे 'परिच्छेद' न लिखकर केवल १, २, ३ आदि सख्याएँ देकर विभाग करने की चाल है। अब कभी कभी एक ही नम्बर के भीतर चलते हुए वृत्त के बीच थोड़ी सी जगह छोडकर किसी पूर्वकाल की परिस्थिति पाठको के सामने एकबारगी रख दी जाती है। कहीं कही चलते हुए वृत्त के बीच मे परिस्थिति का नाटकीय ढंग का एक छोटा सा चित्र भी आ जाता है। इस प्रकार के चित्रों मे चारो ओर सुनाई पडते हुए शब्दो का संघात भी सामने रखा जाता है, जैसे, बाजार की सड़क का यह कोलाहल—

"मोटरों, ताँगों और इक्कों के आने-जाने का मिलित स्वर। चमचमाती हुई कार का म्युज़ीकल हार्न।'.....'बचना भैये। हटना; राजा बाबू .....

अच्छा ! तिवारीजी हैं, नमस्कार !......हटना भा-आई।......आदाब अर्ज़ दरोगा जी।"

('पुष्करिणी में 'चोर' नाम की कहानी—भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

हिंदी मे जो कहानियाँ लिखी गई है, स्थूल दृष्टि से देखने पर, वे इन प्रणालियों पर चली दिखाई पड़ती हैं—

(१) सादे ढंग से केवल कुछ अत्यंत व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गभीर संवेदना या मनोभाव में पर्य्यवसित होनेवाली, जिसका बहुत ही अच्छा नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'। पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया' और 'पेंसिल स्केच' नाम की कहानियाँ भी इसी ढँग की हैं। ऐमी कहानियों में परिस्थिति की मार्मिकता अपने वर्णन या व्याख्या द्वारा हृदयगम कराने का प्रयत्न लेखक नहीं करता, उसका अनुभव वह पाठक पर छोड़ देता है।

(२) परिस्थितियो के विशद और मार्मिक—कभी कभी रमणीय और अलंकृत—वर्णनों और व्याख्याओ के साथ मंद मधुर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति मे पर्य्यवसित होनेवाली। उदाहरण—स्व० चंडीप्रसाद हृदयेश की 'उन्मादिनी', 'शांतिनिकेतन'। ऐसी कहानियों मे परिस्थिति के अंतर्गत प्रकृति का चित्रण भी प्रायः रहता है।

(३) उक्त दोनों के बीच की पद्धति ग्रहण करके चलनेवाली, जिसमे घटनाओं की व्यंजकता और पाठको की अनुभूति पर पूरा भरोसा न करके लेखक भी कुछ मार्मिक व्याख्या करता चलता है; उ०—प्रेमचंदजी की कहानियाँ। पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, पं० ज्वालादत्त शर्मा, श्री जैनेंद्रकुमार, पं० विनोदशंकर व्यास, श्री सुदर्शन, पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' इत्यादि अधिकाश लेखकों की कहानियाँ अधिकतर इसी पद्धति पर चली हैं।

(४) घटना और संवाद दोनों मे गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुंदर समन्वय के साथ चलनेवाली। उ०—प्रसादजी तथा राय कृष्णदास जी की कहानियाँ।

(५) किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करनेवाली लाक्षणिक कहानी, जैसे, पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'भुनगा'।

वस्तु समष्टि के स्वरूप की दृष्टि से भी बहुत से वर्ग किए जा सकते हैं, जिनमे से मुख्य ये हैं—

(१) सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता सामने लानेवाली। अधिकतर कहानियाँ इस वर्ग के अतर्गत आएँगी।

(२) भिन्न भिन्न वर्गों के सस्कार का स्वरूप सामने रखनेवाली। उ०—प्रेमचंदजी की 'शतरंज के खिलाड़ी' और श्री ऋषभचरण जैन की 'दान' नाम की कहानी।

(३) किसी मधुर या मार्मिक प्रसंग कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खड-चित्र दिखानेवाली। उ०—राय कृष्णदासजी की 'गहूला' और जयशकर प्रसादजी का 'आकाशदीप'।

(४) देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जनसमुदाय की दुर्दशा सामने लानेवाली, जैसे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी', 'हृद्‌गति' तथा श्री जैनेंद्रकुमार की 'अपना अपना भाग्य', नाम की कहानी।

(५) राजनीतिक आंदोलन मे सम्मिलित नव-युवको के स्वदेश-प्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र खड़ा करनेवाली, जैसे, पांडेय बेचन शर्म्मा उग्र की 'उसकी माँ' नाम की कहानी।

(६) समाज के भिन्न भिन्न क्षेत्रो के बीच धर्म, समाज-सुधार, व्यापार-व्यवसाय, सरकारी काम, नई सभ्यता आदि की ओट मे होनेवाले पाखंड-पूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लानेवाली कहानियाँ, जैसी 'उग्र'जी की हैं। 'उग्र' की भाषा बड़ी अनूठी चपलता और आकर्षक वैचित्र्य के साथ चलती है। इस ढग की भाषा उन्हीं के उपन्यासो और 'चाँद्नी' ऐसी कहानियो मे ही मिल सकती है।

(७) सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का आदिम रूप झलकानेवाली, जैसे, राय कृष्णदासजी की 'अतःपुर का आरंभ', श्रीमंत समत की 'चँबेली की कली', श्री जैनेद्रकुमार की 'बाहुबली'।

(८) अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक काल-खंड के बीच अत्यंत मार्मिक और रमणीय प्रसंग का अवस्थान करनेवाली, जैसे, श्री विंदु ब्रह्मचारी और श्रीमंत समंत (पं० बालकरामं विनायक) की कहानियाँ।

ये कहानियाँ 'कथामुखी' नाम की मासिक पत्रिका (अयोध्या, संवत् १६७७-७८) मे निकली थीं। इनमें से कुछ के नाम ये है—वनभागिनी, कृत्तिका, हेरम्या और बाहुमान, कनकप्रभा, श्वेतद्वीप का तोता क्या पढ़ता था, चँबेली की कली। इनमें से कुछ कहानियो मे एशिया के भिन्न भिन्न भागों मे (ईरान, तुर्किस्तान, आर्मेनिया, चीन, सुमात्रा इत्यादि मे) भारतीय संस्कृति और प्रभाव का प्रसार (Greater India) दिखानेवाले प्रसगों की अनूठी उद्भावना पाई जाती है, जैसे 'हेरम्या और बाहुमान्' मे। ऐसी कहानियो मे भिन्न भिन्न देशो की प्राचीन सस्कृति के अध्ययन की त्रुटि अवश्य कहीं कहीं खटकती है, जैसे, 'हेरम्या और बाहुमान्' मे आर्य्य पारसीक और सामी अरब सभ्यता का घपला है।

एशिया के भिन्न भिन्न भागो मे भारतीय संस्कृति और प्रभाव की झलक जयशंकर प्रसादजी के 'आकाशदीप' मे भी है।

(६) हास्य-विनोद द्वारा अनुरंजन करनेवाली। उ०—जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानंद और कांतानाथ पाडेय 'चोंच' की कहानियाँ।

इस श्रेणी की कहानियो का अच्छा विकास हिंदी मे नही हो रहा है। अन्नपूर्णानंदजी का हास सुरुचि-पूर्ण है। 'चोंच' जी की कहानियाँ अतिरंजित होने पर भी व्यक्तियों के कुछ स्वाभाविक ढाँचे सामने लाती हैं। जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में शिष्ट और परिष्कृत हास की मात्रा कम पाई जाती है। समाज के चलते जीवन के किसी विकृत पक्ष को, या किसी वर्ग के व्यक्तियों की बेढंगी विशेषताओ को हँसने हँसाने योग्य बनाकर सामने लाना अभी बहुत कम दिखाई पड़ रहा है।

यह बात कहनी पड़ती है कि शिष्ट और परिष्कृत हास का जैसा सुदर विकास पाश्चात्य साहित्य मे हुआ है वैसा अपने यहाँ अभी नहीं देखने मे आ रहा है। पर हास्य का जो स्वरूप हमे संस्कृत के नाटकों और फुटकल पद्यों मे मिलता है, वह बहुत ही समीचीन, साहित्य-सम्मत और वैज्ञानिक है। संस्कृत के नाटकों में हास्य के आलंबन विदूषक के रूप मे पेटू ब्राह्मण रहे है और फुटकल पद्यों में शिव ऐसे औढर देवता तथा उनका परिवार और समाज। कहीं कही खटमल ऐसे क्षुद्र जीव भी आ गए हैं। हिंदी मे इनके अतिरिक्त

कंजूसों पर विशेष कृपा हुई है। पर ये सब आलंबन जिस ढग से सामने लाए गए हैं उसे देखने से स्पष्ट हो जायगा कि रस-सिद्धांत का पालन बड़ी सावधानी से हुआ है। रसो में हास्य रस का जो स्वरूप और जो स्थान है यदि वह बराबर दृष्टि मे रहे तो अत्यत उच्च और उत्कृष्ट श्रेणी के हास का प्रवर्त्तन हमारे साहित्य मे हो सकता है।

हास्य के आलबन से विनोद तो होता ही है, उसके प्रति कोई न कोई और भाव भी—जैसे, राग, द्वेष, घृणा, उपेक्षा, विरक्ति—साथ साथ लगा रहता है। हास्य रस के जो भारतीय आलबन ऊपर बताए गए हैं वे सब इस ढंग से सामने लाए जाते है कि उनके प्रति द्वेष, घृणा इत्यादि न उत्पन्न होकर एक प्रकार का राग या प्रेम ही उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था हमारे रस-सिद्धात के अनुसार है। स्थायी भावों मे आधे सुखात्मक है और आधे दुःखात्मक। हास्य आनंदात्मक भाव है। एक ही आश्रय मे, एक ही आलबन के प्रति, आनदात्मक और दुःखात्मक भावों की एक साथ स्थिति नहीं हो सकती। हास्य रस मे आश्रय के रूप में किसी पात्र की अपेक्षा नहीं होती, श्रोता या पाठक ही आश्रय रहता है। अतः रस की दृष्टि से हास्य में द्वेष और घृणा नामक दुःखात्मक भावो की गुजाइश नहीं। हास्य के साथ जो दूसरा भाव आ सकता है वह सचारी के रूप में ही। द्वेष या घृणा का भाव जहाँ रहेगा वहाँ हास की प्रधानता नहीं रहेगी, वह 'उपहास' हो जायगा। उसमे हास का सच्चा स्वरूप रहेगा ही नहीं। उसमें तो हास को द्वेष का व्यंजक या उसका आच्छादक मात्र समझना चाहिए।

जो बात हमारे यहाँ की रस-व्यवस्था के भीतर स्वतः सिद्ध है वही योरप मे इधर आकर एक आधुनिक सिद्धात के रूप में यो कही गई है कि 'उत्कृष्ट हास वही है जिसमें आलंबन के प्रति एक प्रकार का प्रेमभाव उत्पन्न हो अर्थात् वह प्रिय लगे'। यहाँ तक तो बात बहुत ठीक रही। पर योरप मे नूतन सिद्धात-प्रवर्त्तक बनने के लिये उत्सुक रहनेवाले चुप कब रह सकते हैं। वे दो कदम आगे बढ़कर आधुनिक 'मनुष्यता-वाद' या 'भूतदया-वाद' का स्वर ऊँचा करते हुए बोले "उत्कृष्ट हास वह है जिसमें आलंबन के प्रति दया या करुणा उत्पन्न हो।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह होली-मुहर्रम सर्वथा अस्वाभाविक,

अवैज्ञानिक और रस-विरुद्ध हैं। दया या करुणा दुःखात्मक भाव है, हास आनंदात्मक। दोनों की एक साथ स्थिति बात ही बात है। यदि हास के साथ एक ही आश्रय में किसी और भाव का सामंजस्य हो सकता है तो प्रेम या भक्ति का ही। भगवान् शंकर के बौड़मपन का किस भक्तिपूर्ण विनोद के साथ वर्णन किया जाता है, वे किस प्रकार बनाए जाते है, यह हमारे यहाँ "रारि सी मची है त्रिपुरारि के तबेला मे" देखा जा सकता है।

हास्य का स्वरूप बहुत ठीक सिद्धांत पर प्रतिष्ठित होने पर भी अभी तक उसका ऐसा विस्तृत विकास हमारे साहित्य में नहीं हुआ है जो जीवन के अनेक क्षेत्रों से—जैसे, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, व्यावसायिक—आलंबन ले लेकर खड़ा करे।

नाटक

यद्यपि और देशों के समान यहाँ भी उपन्यासों और कहानियों के आगे नाटकों का प्रणयन बहुत कम हो गया है, फिर भी हमारा नाट्य-साहित्य बहुत कुछ आगे बढ़ा है। नाटकों के बाहरी रूप-रंग भी कई प्रकार के हुए है और अवयवों के विन्यास और आकार-प्रकार मे भी वैचित्र्य आया है। ढाँचों मे जो विशेषता योरप के वर्त्तमान नाटकों में प्रकट हुई है, वह हिंदी के भी कई नाटको मे इधर दिखाई पड़ने लगी है, जैसे अंक के आरंभ और बीच मे भी समय, स्थान तथा पात्रों के रूप-रंग और वेश-भूषा का बहुत सूक्ष्म ब्योरे के साथ लंबा वर्णन। स्वागत भाषण की चाल भी अब उठ रही है। पात्रो के भाषण भी न अब बहुत लंबे होते हैं न लंबे लबे वाक्यवाले। ये बातें सेठ गोविंददासजी तथा पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटको मे पाई जायँगी। थिएटरो के कार्य्य-क्रम मे दो अवकाशो के विचार से इधर तीन अक रखने की प्रवृत्ति भी लक्षित हो रही है। दो एक व्यक्ति अँगरेजी मे एक अंकवाले आधुनिक नाटक देख उन्हीं के ढंग के दो एक एकांकी नाटक लिखकर उन्हे बिल्कुल एक नई चीज कहते हुए सामने लाए। ऐसे लोगो को जान रखना चाहिए कि एक अंकवाले कई उप-रूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गए है।

यह तो स्पष्ट है कि आधुनिक काल के आरंभ से ही बँगला की देखा-देखी हमारे हिंदी नाटको के ढाँचे पाश्चात्य होने लगे। नांदी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना हटाई जाने लगी। भारतेंदु ने ही 'नीलदेवी' और 'सती-प्रताप' मे प्रस्तावना नहीं रखी है; हाँ, आरंभ मे यशोगान या मगलगान रख दिया है। भारतेंदु के पीछे तो यह भी हटता गया। भारतेंदु-काल से ही अंको का अवस्थान अँगरेजी ढंग पर होने लगा। अंकों के बीच के स्थान-परिवर्त्तन या दृश्य-परिवर्त्तन को 'दृश्य' और कभी कभी 'गर्भांक' शब्द रखकर सूचित करने लगे, यद्यपि 'गर्भांक' शब्द का हमारे नाट्यशास्त्र मे कुछ और ही अर्थ है। 'प्रसाद' जी ने अपने 'स्कदगुप्त' आदि नाटकों में यह 'दृश्य' शब्द (जो अँगरेजी Scene का अनुवाद है) छोड़ दिया है और स्थान परिवर्त्तन या पट-परिवर्त्तन के स्थलो पर कोई नाम नहीं रखा है। इसी प्रकार आजकल 'विष्कंभक' और 'प्रवेशक' का काम देनेवाले दृश्य तो रखे जाते हैं, पर ये नाम हटा दिए गए हैं। 'प्रस्तावना' के साथ 'उद्‌घातक', 'कथोद्‌घातक' आदि का विन्यास-चमत्कार भी गया। पर ये युक्तियाँ सर्वथा अस्वाभाविक न थीं। एक बात बहुत अच्छी यह हुई है कि पुराने नाटकों में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था उसके स्थान पर कथा की गति से संबद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है। आधुनिक नाटकों मे प्रसादजी के 'स्कंदगुप्त' नाटक का मुद्‌गल ही एक ऐसा पात्र है जो पुराने विदूषक का स्थानापन्न कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र मे नाटक भी काव्य के ही अंतर्गत माना गया है अतः उसका लक्ष्य भी निर्दिष्ट शील स्वभाव के पात्रो को भिन्न भिन्न परिस्थितियो में डालकर उनके वचनो और चेष्टाओ द्वारा दर्शकों मे रस सचार करना ही रहा है। पात्रो के धीरोदात्त आदि बँधे हुए ढाँचे थे जिनमे ढले हुए सब पात्र सामने आते थे। इन ढाँचों के बाहर शील-वैचित्र्य दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता था। योरप में धीरे धीरे शील वैचित्र्य-प्रदर्शन को प्रधानता प्राप्त होती गई; यहाँ तक कि किसी नाटक के सबध में वस्तु-विधान और चरित्र-विधान की चर्चा का ही चलन हो गया। इधर 'यथातथ्य-वाद' के प्रचार से वहाँ रहा सहा काव्यत्व भी झूठी भावुकता कहकर हटाया

जाने लगा। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हमारे 'प्रसाद' और 'प्रेमी' ऐसे प्रतिभाशाली नाटककारों ने उक्त प्रवृत्ति का अनुसरण न करके रस-विधान और शील-वैचित्र्य दोनों का सामंजस्य रखा है। 'स्कंदगुप्त नाटक' मे, जिस प्रकार देवसेना और शर्वनाग ऐसे गूढ़ चरित्र के पात्र हैं, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम, युद्धोत्साह, स्वदेश-भक्ति आदि भावों की मार्मिक और उत्कृष्ट व्यंजना भी है। हमारे यहाँ के पुराने ढाँचो के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका बधन हटाकर वैचित्र्य के लिये मार्ग खोलना तो ठीक ही है, पर यह आवश्यक नही कि उसके साथ रसात्मकता भी हम निकाल दे।

हिंदी-नाटकों के स्वतंत्र विकास के लिये ठीक मार्ग तो यह दिखाई पड़ता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाए रहे, पर उनके स्वरूप के प्रसार के लिये और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों का मेल सफाई के साथ करते चलें। अपने नाट्य शास्त्र के जटिल विधान को ज्यों का त्यों लेकर तो हम आजकल चल नही सकते, पर उसका बहुत सा रूप-रंग अपने नाटकों मे ला सकते हैं जिससे भारतीय परंपरा के प्रतिनिधि वे बने रह सकते हैं। रूपक और उपरूपक के जो बहुत से भेद किए गए है उनमे से कुछ को हम आजकल भी चला सकते है। उनके दिए हुए लक्षणो मे वर्त्तमान रुचि के अनुसार जो हेर-फेर चाहे कर लें। इसी प्रकार अभिनय की रोचकता बढ़ानेवाली जो युक्तियाँ हैं—जैसे, उद्घातक, कथोद्घातक—उनमे से कई एक को, आवश्यक रूपांतर के साथ और स्थान का बंधन दूर करके हम बनाए रख सकते हैं। संतोष की बात है कि 'प्रसाद' और 'प्रेमी' जी के नाटको मे इसके उदाहरण हमे मिलते है, जैसे, कथोद्घात के ढग पर एक पात्र के मुँह से निकले हुए शब्द को लेकर दूसरे पात्र का यह प्रवेश—

शर्वनाग—देख, सामने सोने का संसार खड़ा है।

(रामा का प्रवेश)

रामा—पामर ! सोने की लंका राख हो गई। (स्कंदगुप्त)

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों में भी यह मिलता है। 'शिवा-साधना' मे देखिए—

जीजा०—हाँ ! यह एक बाधा है ।

(सई बाई का बालक संभाजी को लिए हुए प्रवेश)

सई बाई—यह बाधा भी न रहेगी, माँजी !

प्राचीन नाट्यशास्त्र (भारतीय और यवन दोनों) मे कुछ बातों का—जैसे, मृत्यु, वध, युद्ध—दिखाना वर्जित था । आजकल उस नियम के पालन की आवश्यकता नहीं मानी जाती । प्रसादजी ने अपने नाटकों में बराबर मृत्यु, वध और आत्महत्या दिखाई है । प्राचीन भारत और यवनान में ये निषेध भिन्न भिन्न कारणों से थे । यवनान में तो बड़ा भारी कारण रंगशाला का स्वरूप था । पर भारत मे अत्यन्त क्षोभ तथा शिष्ट-रुचि की विरक्ति बचाने के लिये कुछ दृश्य वर्जित थे । मृत्यु और वध अत्यंत क्षोभकारक होने के कारण, भोजन परिष्कृत रुचि के विरुद्ध होने के कारण तथा रंगशाला की थोड़ी सी जगह के बीच दूर से पुकारना अस्वाभाविक और अशिष्ट लगने के कारण वर्जित थे । देश की परंपरागत सुरुचि की रक्षा के लिये कुछ व्यापार तो हमें आजकल भी वर्जित रखने चाहिए, जैसे, चुंबन-आलिंगन । स्टेशन के प्लेटफार्म पर चुंबन आलिंगन चाहे योरप की सभ्यता के भीतर हो, पर हमारी दृष्टि में जगलीपन या पशुत्व है ।

इस तृतीय उत्थान के बीच हमारे वर्त्तमान नाटक-क्षेत्र मे दो नाटककार बहुत ऊँचे स्थान पर दिखाई पड़े—स्व० जयशंकर प्रसादजी और श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' । दोनो की दृष्टि ऐतिहासिक काल की ओर रही है । 'प्रसाद'जी ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिंदू काल के भीतर चुना और 'प्रेमी'जी ने मुस्लिम-काल के भीतर । 'प्रसाद' के नाटकों में 'स्कंदगुप्त' श्रेष्ठ है और 'प्रेमी' के नाटकों मे 'रक्षा-बंधन' ।

'प्रसाद'जी मे प्राचीन काल की परिस्थितियों के स्वरूप की मधुर भावना के अतिरिक्त भाषा को रंगनेवाली चित्रमयी कल्पना और भावुकता की अधिकता भी विशेष परिमाण में पाई जाती है । इसके कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्त्तमान गद्य-काव्य के खंड हो गए है । बीच बीच मे जो गान रखे गए हैं वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं, न प्राचीन काल की भाव-

पद्धति के। वे तो वर्त्तमान काव्य की एक शाखा के प्रगीत मुक्तक (Lyrics) मात्र हैं। अपनी सबसे पिछली रचनाओं से ये त्रुटियाँ उन्होंने निकाल दी हैं। 'चद्रगुप्त' और 'ध्रुव-स्वामिनी' इन दोषो से प्रायः मुक्त है। पर 'चंद्रगुप्त' मे एक दूसरा बड़ा भारी दोष आ गया है। उसके भीतर सिकंदर के भारत पहुँचने के कुछ पहले से लेकर सिल्यूकस के पराजय तक के २५ वर्ष के दीर्घकाल की घटनाएँ लेकर कसी गई हैं जो एक नाटक के भीतर नहीं आनी चाहिए। जो पात्र युवक के रूप में नाटक के आरंभ मे दिखाई पड़े, वे नाटक के अत मे भी उसी रूप मे सामने आते हैं। यह दोष तो इतिहास की ओर दृष्टि ले जाने पर दिखाई पड़ता है अर्थात् बाहरी है। पर घटनाओ की अत्यत सघनता का दोष रचना से सबंध रखता है। बहुत से भिन्न भिन्न पात्रो से सबद्ध घटनाओं के जुड़ते चलने के कारण बहुत कम चरित्रो के विकास का अवकाश रह गया है। पर इस नाटक मे विन्यस्त वस्तु और पात्र इतिहास का ज्ञान रखनेवालो के लिये इतने आकर्षक हैं कि उक्त दोषो की ओर ध्यान कुछ देर मे जाता है। 'मुद्रा-राक्षस' से इसमे कई बातो की विशेषता है। पहली बात तो यह है कि इसमे चद्रगुप्त केवल प्रयत्न के फल का भोक्ता कठपुतला भर नहीं, प्रयत्न मे अपना क्षत्रिय-भाग सुदरता के साथ पूरा करनेवाला है। नीति-प्रवर्त्तन का भाग चाणक्य पूरा करता है। दूसरी बात यह है कि 'मुद्राराक्षस' मे चाणक्य का व्यक्तित्व—उसका हृदय—सामने नहीं आता। तेजस्विता, धीरता, प्रत्युत्पन्न बुद्धि और ब्राह्मणोचित त्याग आदि सामान्य गुणो के बीच केवल प्रतीकार की प्रबल वासना ही हृदय-पक्ष की ओर झलकती है। पर इस नाटक मे चाणक्य के प्रयत्न का लक्ष्य भी ऊँचा किया गया है और उसका पूरा हृदय भी सामने रखा गया है।

नाटको का प्रभाव पात्रो के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलंबित रहता है। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के कथोपकथन 'प्रसाद' जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त हैं। उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदय ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्म व्यंजक अनूठापन भी। 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करनेवाले कई पात्र आ जाते हैं। 'प्रेमी'जी के नाटकों मे यह खटकनेवाली बात नहीं मिलती।

'प्रसाद' और 'प्रेमी' के नाटक यद्यपि ऐतिहासिक हैं, पर उनमें आधुनिक आदर्शों और भावनाओं का अभ्यास इधर उधर बिखरा मिलता है। 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' दोनो में स्वदेश-प्रेम, विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का आधुनिक रूप-रंग बराबर झलकता है। आजकल के मजहबी दंगों का स्वरूप भी हम 'स्कंदगुप्त' में देख सकते है। 'प्रेमी' के 'शिवासाधना' नाटक के शिवाजी भी कहते है—"मेरे शेष जीवन की एकमात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतंत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अंत करना, राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की क्रांति करना"। हम समझते है कि ऐतिहासिक नाटक मे किसी पात्र से आधुनिक भावनाओं की व्यंजना जिस काल का वह नाटक हो उस काल की भाषा-पद्धति और विचार पद्धति के अनुसार करानी चाहिए; 'क्रांति' ऐसे शब्दो द्वारा नहीं। 'प्रेमी' जी के 'रक्षा-बंधन' मे मेवाड़ की महारानी कर्मवती का हूमायूँ को भाई कहकर राखी भेजना और हूमायूँ का गुजरात के मुसलमान बादशाह बहादुरशाह के विरुद्ध एक हिंदू-राज्य की रक्षा के लिये पहुँचना, यह कथा-वस्तु ही हिंदू-मुसलिम भेद-भाव की शांति सूचित करती है। उसके ऊपर कट्टर सरदारो और मुल्लों की बात का विरोध करता हुआ हुमायूँ जिस उदार भाव की सुंदर व्यंजना करता है वह वर्त्तमान हिंदू-मुसलिम दुर्भाव की शांति का मार्ग दिखाता जान पड़ता है। इसी प्रकार 'प्रसाद' जी के 'ध्रुव स्वामिनी' नामक बहुत छोटे से नाटक मे एक संभ्रांत राजकुल की स्त्री का विवाह-संबंध-मोक्ष सामने लाया गया है, जो वर्त्तमान सामाजिक आंदोलन का एक अंग है।

वर्त्तमान राजनीति के अभिनयों का परिचय प्राप्त कर सेठ गोविंददास जी ने इधर साहित्य के अभिनय-क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। उन्होने तीन अच्छे नाटक लिखे हैं। "कर्त्तव्य" मे राम और कृष्ण दोनो के चरित्र नाटक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खंड करके रखे गए हैं जिनका उद्देश्य है कर्त्तव्य के विकास की दो भूमियाँ दिखाना। नाटककार के विवेचनानुसार मर्य्यादा-पालन प्रथम भूमि है जो पूर्वार्ध में राम द्वारा पूर्णता को पहुँचती है। लोकहित की व्यापक दृष्टि से आवश्यकतानुसार नियम और मर्य्यादा का उल्लंघन उसके आगे की भूमि है, जो नाटक के उत्तरार्ध में श्रीकृष्ण ने अपने चरित्र द्वारा—जैसे,

जरासंध के सामने लड़ाई का मैदान छोड़कर भागना—प्रदर्शित की है। वास्तव मे पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो अलग अलग नाटक हैं, पर नाटककार ने अपने कौशल से कर्त्तव्य-विकास की सुंदर उद्भावना द्वारा दोनो के बीच पूर्वापर संबंध स्थापित कर दिया है। यह भी एक प्रकार का कौशल है। इसे 'ऊटक-नाटक' न समझना चाहिए। सेठजी का दूसरा नाटक 'हर्ष' ऐतिहासिक है जिसमे सम्राट् हर्षवर्द्धन, माधवगुप्त, शशांक आदि पात्र आए हैं। इन दोनो नाटको मे प्राचीन वेषभूषा, वास्तुकला इत्यादि का ध्यान रखा गया है। 'प्रकाश' नाटक मे वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो का चित्रण है। यद्यपि इन तीनो नाटकों के वस्तु-विन्यास और कथोपकथन मे विशेष रूप से आकर्षित करनेवाला अनूठापन नहीं है, पर इनकी रचना बहुत ठिकाने की है।

पं० गोविंदवल्लभ पंत भी अच्छे नाटककार हैं। उनका 'वरमाला' नाटक जो मार्कंडेय पुराण की एक कथा लेकर निर्मित है, बड़ी निपुणता से लिखा गया है। मेवाड़ की पन्ना नामक धाय के अलौकिक त्याग का ऐतिहासिक वृत्त लेकर 'राजमुकुट' की रचना हुई है। 'अंगूर की बेटी' (जो फारसी शब्द का अनुवाद है) मद्य के दुष्परिणाम दिखानेवाला सामाजिक नाटक है।

कुछ हलके ढग के नाटकों में, जिनसे बहुत साधारण पढ़े-लिखे लोगो का भी कुछ मनोरंजन हो सकता है, स्वर्गीय प० बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', 'तुलसीदास' आदि उल्लेखयोग्य है। हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के फरासीसी नाटको के हिंदुस्तानी अनुवादों के अतिरिक्त 'मरदानी औरत', 'गड़बड़झाला', 'नोक-झोंक', 'दुमदार आदमी' इत्यादि बहुत से छोटे-मोटे प्रहसन भी लिखे हैं, पर वे परिष्कृत रुचि के लोगों को हँसाने मे समर्थ नहीं। "उलट-फेर" नाटक औरों से अच्छे ढर्रे का कहा जाता है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटको के द्वारा स्त्रियो की स्थिति आदि कुछ सामाजिक प्रश्न या 'समस्याएँ' तो सामने रखी ही हैं, योरप में प्रवर्त्तित 'यथातथ्यवाद' का वह खरा रूप भी दिखाने का प्रयत्न किया है जिसमें झूठी भावुकता और मार्मिकता से पीछा छुड़ाकर नर-प्रकृति अपने वास्तविक रूप मे

सामने लाई जाती है। ऐसे नाटको का उद्देश्य होता है समाज अधिकतर जैसा है वैसा ही सामने रखना, उसके भीतर की नाना विषमताओ से उत्पन्न प्रश्नो का जीता जागता रूप खड़ा करना तथा यदि संभव हो तो समाधान के स्वरूप का भी आभास देना। लोक के बीच कभी कभी जो उच्च भावो के कुछ दृष्टात दिखाई पड़ जाया करते है उनपर कल्पना का झूठा रग चढ़ाकर धोखे की टट्टियाॅ खड़ी करना और बहुत सी फालतू भावुकता जगाना अब बद होना चाहिए, यही उपर्युक्त 'यथातथ्यवाद' के अनुयायियो का कहना है। योरप मे जब 'कला' और 'सौंदर्य' की बड़ी पुकार मची और कुछ कलाकार, कवि और लेखक अपना यही काम समझने लगे कि जगत् के सुंदर पक्ष से सामग्री चुन चुनकर एक काल्पनिक सौदर्य सृष्टि खड़ी करे और उसका मधुपान करके झूमा करें, तब इसकी घोर प्रतिक्रिया वहाॅ आवश्यक थी और यहाॅ भी 'सौंदर्य्यवाद' और 'कलावाद' का हिंदी मे खासा चलन होने के कारण अब आवश्यक हो गई है। जब कोई बात हद के बाहर जाकर जी उबाने और विरक्ति उत्पन्न करने लगती है तब साहित्य के क्षेत्र में प्रतिक्रिया अपेक्षित होती है। योरप के साहित्य क्षेत्र में एकांगदर्शिता इतनी बढ़ गई है कि किसी न किसी हद पर जाकर कोई न कोई वाद बराबर खड़ा होता रहता है और आगे बढ़ चलता है। उसके थोड़े ही दिनों पीछे बड़े वेग से उसकी प्रतिक्रिया होती है जिसकी धारा दूसरी हद की ओर बढ़ती है। अतः योरप के किसी 'वाद' को लेकर चिल्लानेवालो को यह समझ रखना चाहिए कि उसका बिल्कुल उलटा वाद भी पीछे लगा आ रहा है।

प्रतिक्रिया के रूप में निकली हुई साहित्य की शाखाएँ प्रतिक्रिया का रोष ठंडा होने पर धीरे धीरे पलटकर मध्यम पथ पर आ जाती हैं। कुछ दिनों तक तो वे केवल चिढ़ाती सी जान पड़ती हैं, पीछे शात भाव से सामजस्य के साथ चलने लगती हैं। 'भावुकता' भी जीवन का एक अंग है। अतः साहित्य की किसी शाखा से हम उसे बिल्कुल हटा तो सकते नहीं। हाॅ, यदि वह व्याधि के रूप मे—फीलपाॅव की तरह—बढ़ने लगे, तो उसकी रोक-थाम आवश्यक है।

नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायणजी योरप से लाए हैं उसमें काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है। उनके नाटकों में न चित्रमय

और भावुकता से लदे भाषण हैं, न गीत या कविताएँ। खरी खरी बात कहने का जोश कहीं कही अवश्य है। इस प्रणाली पर उन्होंने कई नाटक लिखे हैं, जैसे, 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मंदिर', 'आधी रात'।

समाज के कुत्सित, बीभत्स और पाखंडपूर्ण अंशों के चटकीले दृश्य दिखाने के लिये पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने छोटे छोटे नाटकों या प्रहसनो से भी काम लिया है। 'चुंबन' और 'चार बेचारे' (संपादक, अध्यापक, सुधारक, प्रचारक) इसीलिये लिखे गए हैं। 'महात्मा ईसा' के फेर मे तो वे नाहक पड़े।

पं० उदयशंकर भट्ट ने, जो पंजाब मे बहुत अच्छी साहित्य-सेवा कर रहे हैं, 'तक्षशिला', 'राका', 'मानसी' आदि कई अच्छे काव्यो के अतिरिक्त, अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं। 'दाहर या सिंध-पतन' तथा 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक है। हाल मे 'कमला' नामक एक सामाजिक नाटक भी आपने लिखा है जिसमे किसान आदोलन तथा सामाजिक असामजस्य का मार्मिक चित्रण है। 'दस हजार' नाम का एक एकांकी नाटक भी आपने इधर लिखा है।

भट्टजी की कला का पूर्ण विकास पौराणिक नाटकों मे दिखाई पड़ता है। पौराणिक क्षेत्र के भीतर से वे ऐसे पात्र ढूँढ़कर लाए हैं जिनके चारो ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएँ बड़ी गहरी छाया डालती हुई आती हैं—ऐसी विषमताएँ जो वर्त्तमान समाज को भी क्षुब्ध करती रहती हैं। 'अंबा' नाटक मे भीष्म द्वारा हरी हुई अंबा की जन्मातर-व्यापिनी प्रतीकार-वासना के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष संबंध की वह विषमता भी सामने आती है जो आजकल के महिला-आंदोलनो की तह मे वर्त्तमान है। 'मत्स्यगंधा' एक भाव-नाट्य या पद्यबद्ध नाटक है। उसमे जीवन का वह रूप सामने आता है जो ऊपर से सुख-पूर्ण दिखाई पड़ता है, पर जिसके भीतर भीतर न जाने कितनी उमगों और मधुर कामनाओ के ध्वंस की विषाद-धारा यहाँ से वहाँ तक छिपी मिलती है। 'विश्वामित्र' भी इसी ढंग का एक सुंदर नाटक है। चौथा नाटक 'सगरविजय' भी उत्तम है। पौराणिक सामग्री का जैसा सुंदर उपयोग भट्टजी ने किया है, वैसा कम देखने में आता है। ऐतिहासिक नाटक-रचना में जो स्थान 'प्रसाद' और 'प्रेमी' का है, पौराणिक नाटक रचना मे वही स्थान भट्टजी का है।

श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' ने महाराणा प्रताप का राज्याभिषेक से लेकर अंत तक का वृत्त लेकर 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक की रचना की है। स्व० राधा-कृष्णदासजी के 'प्रताप-नाटक' का आरंभ मानसिंह के अपमान से होता है जो नाट्यकला की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त है। परिस्थितियों को प्रधानता देने में भी 'मिलिंद' जी का चुनाव उतना अच्छा नहीं है। कुछ ऐतिहासिक त्रुटियाँ भी हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री ने उपन्यास और कहानियाँ तो लिखी ही हैं, नाटक की ओर भी हाथ बढ़ाया है। अपने 'अमर राठौर' और 'उत्सर्ग' नामक ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने कथावस्तु को अपने अनुकूल गढ़ने में निपुणता अवश्य दिखाई है, पर अधिक ठोक-पीट के कारण कहीं कहीं ऐतिहासिकता और कहीं कहीं घटनाओं की महत्ता भी झड़ गई है।

अँगरेज कवि शेली के ढंग पर श्री सुमित्रानंदन पंत ने कवि-कल्पना को दृश्य रूप देने के लिये 'ज्योत्स्ना' नाम से एक रूपक लिखा है। पर शेली का रूपक (Prometheus Unbound) तो आधिदैविक शासन से मुक्ति और जगत् के स्वातंत्र्य का एक समन्वित प्रसंग लेकर चला है, और उसमें पृथ्वी, वायु आदि आधिभौतिक देवता अपने निज के रूप में आए हैं, किंतु 'ज्योत्स्ना' में बहुत दूर तक केवल सौंदर्य्य-चयन करनेवाली कल्पना मनुष्य के सुख-विलास की भावना के अनुकूल चमकती उषा, सुरभित समीर, चटकती कलियाँ, कलरव करते विहंग आदि को अभिनय के लिये मनुष्य के रंगमंच पर जुटाने में प्रवृत्त है। उसके उपरांत आजकल की हवा में उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओं पर कथोपकथन है। सब मिला कर क्या है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्री कैलासनाथ भटनागर का 'भीम प्रतिज्ञा' भी विद्यार्थियों के योग्य अच्छा नाटक है।

एकांकी नाटक का उल्लेख आरंभ में हो चुका है और यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार पहले-पहल दो-एक व्यक्ति उसे भारतीत नाट्य-साहित्य में एक अश्रुतपूर्व वस्तु समझते हुए लेकर आए। अब इधर हिंदी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने भी कुछ एकांकी नाटक लिखे हैं जिनका एक अच्छा

संग्रह "आधुनिक एकांकी नाटक" के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमे श्रीसुदर्शन, रामकुमार वर्म्मा, भुवनेश्वर, उपेंद्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्म्मा, धर्मप्रकाश आनद, उदयशंकर भट्ट के क्रमशः 'राजपूत की हार', 'दस मिनट', 'स्ट्राइक', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'सबसे बड़ा आदमी', 'दीन' तथा 'दस हजार' नाम के नाटक सगृहीत हैं।

हिंदी के कुछ प्रसिद्ध कवियों और उपन्यासकारो ने भी—जैसे, बा० मैथिलीशरण गुप्त, श्री वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रेमचद, विश्वंभरनाथ शर्म्मा कौशिक, सुदर्शन—नाटक की ओर हाथ बढ़ाया, पर उनका मुख्य स्थान कवियो और उपन्यासकारों के बीच ही रहा।

मौलिक नाटको के अतिरिक्त सस्कृत के पुराने नाटको मे से भास के 'स्वप्न-वासवदत्ता' (अनुवादक—सत्यजीवन वर्म्मा), 'पचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' (अनु०—व्रजजीवनदास), 'प्रतिमा' (अनु०—बलदेव शास्त्री) तथा दिङ्नाग के 'कुंदमाला' नाटक (अनु०—वागीश्वर विद्यालंकार) के अनुवाद भी हिंदी मे हुए।

जर्मन कवि गेटे के प्रसिद्ध नाटक 'फाउस्ट' का अच्छा अनुवाद श्री भोलानाथ शर्मा, एम० ए० ने किया है।

निबंध

विश्वविद्यालयो के उच्च शिक्षा-क्रम के भीतर हिंदी साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबंधो की—ऐसे निबंधो की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन-उपलब्धि के रूप मे जान पड़े—जितनी ही आवश्यकता है उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं। निबंध की जो स्थिति हमे द्वितीय उत्थान मे दिखाई पडी प्रायः वही स्थिति इस वर्त्तमान काल मे भी बनी हुई है। अर्थ-वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास जैसा कहानियो के भीतर प्रकट हुआ है, वैसा निबंध के क्षेत्र मे नहीं देखने में आ रहा है, जो उसका उपयुक्त स्थान है।

यदि किसी रूप मे गद्य की कोई नई गति विधि दिखाई पड़ी तो काव्यात्मक गद्य-प्रबंधों के रूप मे। पहले तो बंगभाषा के 'उद्भ्रात प्रेम' (चद्रशेखर मुखोपाध्याय कृत) को देख कुछ लोग उसी प्रकार की रचना की ओर झुके; पीछे भावात्मक गद्य की कई शैलियो की ओर। 'उद्भ्रात प्रेम' उस विक्षेप शैली पर लिखा गया था जिसमे भावावेश द्योतित करने के लिये भाषा बीच बीच मे असबद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती थी। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ प्रबंध—यदि उन्हे प्रबध कह सकें—निकले जिनमे भावुकता की झलक यहाँ से वहाँ तक रहती थी। पीछे श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अंतस्तल' मे प्रेम के अतिरिक्त और दूसरे भावो की भी प्रबल व्यजना अलग अलग प्रबधों में की गई जिनमे कुछ दूर तक एक ढंग पर चलती धारा के बीच बीच मे भाव का प्रबल उत्थान दिखाई पड़ता था। इस प्रकार इन प्रबंधो की भाषा तरगवती धारा के रूप मे चली थी अर्थात् उसमे 'धारा' और 'तरंग' दोनों का योग था। ये दोनो प्रकार के गद्य बंगाली थिएटरो की रंग-भूमि के भाषणो के से प्रतीत हुए।

पीछे रवींद्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिए जिस भावात्मक गद्य का चलन हुआ वह विशेष अलंकृत होकर अन्योक्ति-पद्धति पर चला। ब्रह्मसमाज ने जिस प्रकार ईसाइयों के अनुकरण पर अपनी प्रार्थना का विशेष दिन रविवार रखा था, उसी प्रकार अपने भक्ति-भाव की व्यंजना के लिये पुराने ईसाई-संतों की पद्धति भी ग्रहण की। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। इसी की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण मे संत बरनार्ड (St. Bernard) नाम के जो प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं, उन्होने दूल्हे रूप ईश्वर के हृदय के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का ईस प्रकार उल्लेख किया है—

"यद्यपि वे कई बार मेरे भीतर आए, पर मैंने न जाना कि वे कब आए। आ जाने पर कभी कभी मुझे उनकी आहट मिली है; उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है: वे आनेवाले हैं, इसका आभास मुझे कभी कभी पहले से मिला है; पर वे कब भीतर आए और कब बाहर गए इसका पता मुझे कभी न चला।"

इसी प्रकार उस परोक्ष आलंबन को प्रियतम मानकर उसके साथ संयोग और वियोग की अनेक दशाओं की कल्पना इस पद्धति की विशेषता है। रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' की रचना इसी पद्धति पर हुई है। हिंदी मे भी इस ढग की रचनाएँ हुईं जिनमे राय कृष्णदासजी की 'साधना', 'प्रवाल' और 'छाया-पथ', वियोगी हरि जी की 'भावना' और 'अंतर्नाद' विशेष उल्लेख योग्य है। हाल मे श्री भँवरमल सिंघी ने 'वेदना' नाम की इसी ढंग की एक पुस्तक लिखी है जिसके भूमिका-लेखक हैं भाषातत्त्व के देश-प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या।

यह तो हुई आध्यात्मिक या सांप्रदायिक क्षेत्र से गृहीत लाक्षणिक भावुकता, जो बहुत कुछ अभिनीत या अनुकृत होती है अर्थात् बहुत कम दशाओ मे हृदय की स्वाभाविक पद्धति पर चलती है। कुछ भावात्मक प्रबंध लौकिक प्रेम को लेकर भी मासिक पत्रो मे निकलते रहते हैं जिनमे चित्र-विधान कम और कसक, टीस, वेदना अधिक रहती है।

अतीत के नाना खंडों में जाकर रमनेवाली भावुकता का मनुष्य की प्रकृति मे एक विशेष स्थान है। मनुष्य की इस प्रकृतिस्थ भावुकता का अनुभव हम आप भी करते हैं और दूसरो को भी करते हुए पाते है। अतः यह मानव-हृदय की एक सामान्य वृत्ति है। बड़े हर्ष की बात है कि अतीत क्षेत्र मे रमानेवाली अत्यंत मार्मिक और चित्रमयी भावना लेकर महाराजकुमार डाक्टर श्री रघुवीर-सिंह जी (सीतामऊ, मालवा) हिंदी साहित्य क्षेत्र में आए। उनकी भावना मुगल-सम्राटो के कुछ अवशिष्ट चिह्न सामने पाकर प्रत्यभिज्ञा के रूप मे मुगल-साम्राज्य-काल के कभी मधुर, भव्य और जगमगाते दृश्यों के बीच, कभी पतन-काल के विषाद, नैराश्य और बेबसी की परिस्थितियों के बीच बड़ी तन्मयता के साथ रमी है। ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, जहाँगीर और नूरजहाँ की कब्र इत्यादि पर उनके भावात्मक प्रबंधो की शैली बहुत ही मार्मिक और अनूठी है।

गद्य-साहित्य मे भावात्मक और काव्यात्मक गद्य का भी एक विशेष स्थान है, यह तो मानना ही पड़ेगा। अतः उपयुक्त क्षेत्र मे उसका आविर्भाव और

प्रसार अवश्य प्रसन्नता की बात है। पर-दूसरे क्षेत्रो मे भी, जहाँ गंभीर विचार और व्यापक दृष्टि अपेक्षित है, उसे घसीटे जाते देख दुःख होता है। जो चिंतन के गूढ़ विषय हैं उनको भी लेकर कल्पना की क्रीड़ा दिखाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। विचार-क्षेत्रों के ऊपर इस भावात्मक और कल्पनात्मक प्रणाली का धावा पहले-पहल 'काव्य का स्वरूप' बतलानेवाले निबंधो मे वग-साहित्य के भीतर हुआ, जहाँ शेक्सपियर की यह उक्ति गूँज रही थी—

"सौदर्य्य-मद में झूमती हुई कवि की दृष्टि स्वर्ग से भूलोक और भूलोक से स्वर्ग तक विचरती रहती है"[1]।

काव्य पर जाने कितने ऐसे निबंध लिखे गए जिनमे सिवा इसके कि "कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है," "कविता हृदय-कानन मे खिली हुई कुसुम-माला है", "कविता देवलोक के मधुर सगीत की गूँज है", और कुछ भी न मिलेगा। यह कविता का ठीक ठीक स्वरूप बतलाना है कि उसकी विरुदावली बखानना? हमारे यहाँ के पुराने लोगो मे भी 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' ऐसी ऐसी बहुत सी विरुदावलियाँ प्रचलित थी, पर वे लक्षण या स्वरूप पूछने पर नहीं कही जाती थी। कविता भावमयी, रसमयी और चित्रमयी होती है, इससे यह आवश्यक नहीं कि उसके स्वरूप का निरूपण भी भावमय, रसमय और चित्रमय हो। 'कविता' के ही निरूपण तक भावात्मक प्रणाली का यह धावा रहता तो भी एक बात थी। कवियो की आलोचना तथा और और विषयों मे भी इसका दखल हो रहा है, यह खटके की बात है। इससे हमारे साहित्य मे घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशका है। जिन विषयो के निरूपण में सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार-परंपरा अपेक्षित है, उन्हे भी इस हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा?

१–The poet's eye in fine frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth and earth to heaven.

समालोचना और काव्य-मीमांसा

इस तृतीय उत्थान मे समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, दीन-दयाल गिरि और कबीरदास की विस्तृत आलोचनाएँ पुस्तकाकार और भूमिकाओ के रूप में भी निकलीं। इस इतिहास के लेखक ने तुलसी, सूर और जायसी पर विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं जिनमे से प्रथम 'गोस्वामी तुलसीदास' के नाम से पुस्तकाकार छपी है, शेष दो क्रमशः 'भ्रमरगीत सार' और 'जायसी-ग्रंथावली' मे सम्मिलित हैं। स्व० लाला भगवानदीन की सूर, तुलसी और दीनदयाल गिरि की समालोचनाएँ उनके संकलित और संपादित 'सूर-पंचरत्न', 'दोहावली' और 'दीनदयाल गिरि ग्रंथावली' मे सम्मिलित हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की कबीर-समीक्षा उनके द्वारा संगृहीत 'कबीर-वचनावली' के साथ और डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की 'कबीर-ग्रंथावली' के साथ भूमिका-रूप मे सन्निविष्ट है।

इसके उपरांत 'कलाओ' और 'साधनाओ' का ताँता बँधा और

(१) केशव की काव्य-कला (श्री कृष्णशंकर शुक्ल),
(२) गुप्तजी की कला (प्रो० सत्येंद्र),
(३) प्रेमचंद की उपन्यास-कला (पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज')
(४) प्रसाद की नाट्य-कला,
(५) पद्माकर की काव्य-साधना (अखौरी गंगाप्रसादसिंह),
(६) 'प्रसाद' की काव्य-साधना (श्री रामनाथ लाल 'सुमन'),
(७) मीरा की प्रेम-साधना (पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'),

एक दूसरे के आगे पीछे निकलीं। इनमें से कुछ पुस्तके तो समालोचना की असली पद्धति पर निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक दोनो ढंग लिए हुए चली हैं तथा कवि के बाह्य और आभ्यंतर दोनों का अच्छा परिचय कराती हैं, जैसे, 'केशव की काव्यकला', 'गुप्तजी की कला'। 'केशव की काव्य-कला' में पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान भी किया है। उनका 'कविवर रत्नाकर' भी कवि की विशेषताओ को मार्मिक ढंग से सामने रखता है। पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

कृत 'गुप्तजी की काव्यधारा' में भी मैथिलीशरण गुप्तजी की रचना के विविध पक्षों का सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ उद्घाटन हुआ है। 'पद्माकर की काव्य-साधना' द्वारा भी पद्माकर के संबंध मे बहुत सी बातो की जानकारी हो जाती है। इधर हाल में पं० रामकृष्ण शुक्ल ने अपनी 'सुकविसमीक्षा' मे कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेंदु, मैथिली-शरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद पर अच्छे समीक्षात्मक निबंध लिखे है। 'मीरा की प्रेम-साधना' भावात्मक है जिसमे 'माधव' जी मीरा के भावो का स्वरूप पहचानकर उन भावो मे आप भी मग्न होते दिखाई पड़ते है। इन सब पुस्तको से हमारा समीक्षा-साहित्य बहुत कुछ समृद्ध हुआ है, इसमे संदेह नहीं। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य-निर्माता' नाम की एक पुस्तक लिखकर हिंदी के कई वर्त्तमान कवियो और लेखको की प्रवृत्तियो और विशेषताओ का अपने ढंग पर अच्छा आभास दिया है।

ठीक-ठिकाने से चलनेवाली समीक्षाओ को देख जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। यह सजावट अँगरेजी के अथवा बॅगला के समीक्षा-क्षेत्र से कुछ विचित्र, कुछ विदग्ध, कुछ अतिरंजित चलते शब्द और वाक्य ला लाकर खड़ी की जाती है। कहीं कहीं तो किसी अँगरेजी कवि के संबंध मे की हुई समीक्षा का कोई खंड ज्यो का त्यों उठाकर किसी हिंदी-कवि पर भिड़ा दिया जाता है। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े बड़े गूढ़ कोने झॉक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यो से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावो से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय या भाव कुछ और है, आलोचकजी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे है। कवि के मानसिक विकास का एक आरोपित इतिहास तक—किसी विदेशी कवि के मानसिक विकास का इतिहास कहीं से लेकर—वे सामने रखेंगे, पर इस बात का कहीं कोई प्रमाण न मिलेगा कि आलोच्य कवि के पचीस-तीस पद्यों का भी ठीक तात्पर्य्य उन्होने समझा है। ऐसे आलो-चको के शिकार 'छायावादी' कहे जानेवाले कुछ कवि ही अभी हो रहे हैं। नूतन

शाखा के एक अच्छे कवि हाल ही मे मुझ से मिले जो ऐसे कदरदानों से पनाह माँगते थे। अब सुनने मे आ रहा है कि इस ढंग के ऊँचे हौसलेवाले दो एक आलोचक तुलसी और सूर के चारो ओर भी ऐसा ही चमचमाता वाग्जाल बिछानेवाले हैं।

काव्य की 'छायावाद' कही जानेवाली शाखा चले काफी दिन हुए। पर ऐसी कोई समीक्षा-पुस्तक देखने मे न आई जिसमें उक्त शाखा की रचना-प्रक्रिया (Technique), प्रसार की भिन्न-भिन्न भूमियाँ, सोच समझकर निर्दिष्ट की गई हो। केवल प्रो० नगेंद्र की 'सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक ही ठिकाने की मिली। बात यह है कि इधर अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर 'छायावाद' चला, उधर उसके साथ ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा (Impressionist Criticism) का फैशन बंगाल होता हुआ आ धमका। इस प्रकार की समीक्षा मे कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं; आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े उसका वह सुंदरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे। कोई यह नहीं पूछ सकता कि कवि का भाव तो कुछ और है, उसका यह प्रभाव कैसे पड़ सकता है। इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिंतन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता ही छेक लिया।

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र मे उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र मे। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसी लिये पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को, ठीक-ठीक हृदयंगम करने मे सहारा मिले; इसलिये नही कि आलोचक की भाव-भगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थ-गर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप में मिले कि "एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है; वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौंदर्य्य पर आप ही नाच उठा है", तो उसे लेकर कोई क्या करेगा ?

सारे योरप की बात छोड़िए, अँगरेजी के वर्त्तमान समीक्षा-क्षेत्र में ही प्रभा-

वाभिव्यंजक समीक्षा की निस्सारता प्रकट करनेवाली पुस्तकें बराबर निकल रही है[1]। इस ढंग की समीक्षाओ मे प्रायः भाषा विचार मे बाधक बनकर आ खड़ी होती है। लेखक का ध्यान शब्दो की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना, अपनी उक्ति के चमत्कार, आदि मे उलझा रहता है जिनके बीच स्वच्छंद विचारधारा के लिये जगह ही नहीं मिलती। विशुद्ध आलोचना के क्षेत्र मे भाषा की क्रीडा किस प्रकार बाधक हुई है, कुछ बॅधे हुए शब्द और वाक्य किस प्रकार विचारो को रोक रहे है, ऐसी बाते जिनकी कहीं सत्ता नहीं किस प्रकार घने वाग्जाल के भीतर से भूत बनकर झॉकती रही हैं, यह दिखाते हुए इस बीसवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध समालोचना-तत्त्वज्ञ ने बड़ी खिन्नता प्रकट की है[2]।

हमारे यहॉ के पुराने व्याख्याताओं और टीकाकारो की अर्थक्रीड़ा प्रसिद्ध है। किसी पद्य का और का और अर्थ करना तो उनके बाएँ हाथ का खेल है। तुलसीदासजी की चौपाइयो के बीस बीस अर्थ करनेवाले अभी मौजूद हैं। अभी थोड़े दिन हुए, हमारे एक मित्र ने सारी 'बिहारी-सतसई' का शातरस-परक अर्थ करने की धमकी दी थी। फारसी के हाफिज आदि शायरो की शृंगारी उक्तियों के आध्यात्मिक अर्थ प्रसिद्ध हैं, यद्यपि अरबी-फारसी के कई पहुँचे हुए विद्वान् यह आध्यात्मिकता नहीं स्वीकार करते। इस पुरानी प्रवृत्ति का नया संस्करण भी कहीं कहीं दिखाई पड़ने लगा है। रवींद्र बाबू ने अपनी प्रतिभा के बल से कुछ सस्कृत-काव्यो की समीक्षा करते हुए कहीं कहीं आध्यात्मिक अर्थों की योजना की

१–देखिये Psychological Approach to Literary Criticism जिसमें यह अच्छी तरह दिखा दिया गया है कि प्रभावाभिन्यजक समीक्षा कोई समीक्षा ही नहीं।

२–A diligent search will still find many Mystic Beings... . .sheltering in verbal thickets * * * * * While current attitudes to language persist, this difficulty of the linguistic phantom must still continue.

—'Principles of Literary Criticism'
By I. A. Richards.

है। 'प्राचीन साहित्य' नाम की पुस्तक मे मेघदूत आदि पर जो निबंध है उनमें ये बातें मिलेंगी। काशी के एक व्याख्यान मे उन्होंने 'अभिज्ञान-शाकुतल' के सारे आख्यान का आध्यात्मिक पक्ष निरूपित किया था। इस संबंध मे हमारा यही कहना है कि इस प्रकार की प्रतिभापूर्ण कृतियो का भी अपना अलग मूल्य है। वे कल्पनात्मक साहित्य के अंतर्गत अवश्य हैं, पर विशुद्ध समालोचना की कोटि में नहीं आ सकतीं।

योरपवालों को हमारी आध्यात्मिकता बहुत पसद आती है। भारतीयो की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता की चर्चा पच्छिम मे बहुत हुआ करती है। इस चर्चा के मूल में कई बातें हैं। एक तो ये शब्द हमारी अकर्मण्यता और बुद्धि-शैथिल्य पर परदा डालते हैं। अतः चर्चा या तारीफ करनेवालो मे कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो चाहते है कि यह परदा पड़ा रहे। दूसरी बात यह है कि ये शब्द पूरबी और पच्छिमी जातियों के बीच एक ऐसी सीमा बाँधते हैं जिससे पच्छिम मे हमारे संबध में एक प्रकार का कुतूहल-सा जाग्रत रहता है और हमारी बाते कुछ अनूठेपन के साथ कही जा सकती हैं। तीसरी बात यह है कि आधिभौतिक समृद्धि के हेतु जो भीषण सघर्ष सैकड़ो वर्ष तक योरप मे रहा उससे क्लांत और शिथिल होकर बहुत से लोग जीवन के लक्ष्य मे कुछ परिवर्तन चाहने लगे—शाति और विश्राम के अभिलाषी हुए। साथ ही साथ धर्म और विज्ञान का झगड़ा भी बंद हुआ। अतः योरप में जो इधर आध्यात्मिकता की चर्चा बढ़ी वह विशेषतः प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप मे। स्वर्गीय साहित्याचार्य्य पं० रामावतारजी पांडेय और चद्रधरजी गुलेरी इस आध्यात्मिकता की चर्चा से बहुत घबराया करते थे।

पुस्तकों और कवियो की आलोचना के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य-मीमासा को लेकर भी बहुत से लेख और कुछ पुस्तके इस काल मे लिखी गई—जैसे, बा० श्यामसुंदरदास कृत साहित्यालोचन, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत विश्व साहित्य। इनमे से पहिली पुस्तक तो शिक्षोपयोगी है। दूसरी पुस्तक मे योरोपीय साहित्य के विकास तथा पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों के कुछ प्रचलित मतो का दिग्दर्शन है।

इधर दो एक लेखको की एक और प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। वे योरप के

कुछ कला संबंधी एकदेशीय और अत्युक्त मतों को सामने लाकर हिंदीवालों की आँखो मे उसी प्रकार चकाचौध उत्पन्न करना चाहते है जिस प्रकार कुछ लोग वहाँ के फैशन की तड़क-भड़क दिखाकर। जर्मनी, फ्रास, इटली, रूस और स्वेडन इत्यादि अनेक देशो के नए-पुराने कवियों, लेखको और समीक्षको के नाम गिनाकर वे एक प्रकार का आतंक उत्पन्न करना चाहते है। वे कला-संबंधी विलायती पुस्तको की बातें लेकर और कहीं मैटरलिंक (Materlinck), कहीं गेटे (Goethe), कहीं टाल्सटाय (Tolstoy) के उद्धरण देकर अपने लेखो की तड़क-भड़क भर बढ़ाते हैं। लेखो को यहाँ से वहाँ तक पढ़ जाइए, लेखको के अपने किसी विचार का कहीं पता न लगेगा। उद्धृत मतों की व्याप्ति कहाँ तक है, भारतीय सिद्धांतों के साथ उनका कहाँ सामंजस्य है और कहाँ विरोध, इन सब बातो के विवेचन का सर्वथा अभाव पाया जायगा। साहित्यिक विवेचन से संबध रखनेवाले जिन भावो और विचारों के द्योतन के लिये हमारे यहाँ के साहित्य ग्रंथो मे बराबर से शब्दप्रचलित चले आते है उनके स्थान पर भद्दे गढ़े हुए शब्द देखकर लेखको की अनभिज्ञता की ओर बिना ध्यान गए नही रहता। समालोचना के क्षेत्र मे ऐसे विचारशून्य लेखो से कोई विशेष लाभ नही।

पश्चिम के काव्य कला संबंधी प्रचलित वादो मे अक्सर एकांग-दृष्टि की दौड़ ही विलक्षण दिखाई पड़ा करती हैं। वहाँ के कुछ लेखक काव्य के किसी एक पक्ष को उसका पूर्ण स्वरूप मान, इतनी दूर तक ले जाते है कि उनके कथन मे अनूठी सूक्ति का सा चमत्कार आ जाता है और बहुत से लोग उसे सिद्धांत या विचार के रूप में ग्रहण कर चलते हैं। यहाँ हमारा काम काव्य के स्वरूप पर विचार करना या प्रबंध लिखना नहीं बल्कि प्रचलित प्रवृत्तियो और उनके उद्‌गमो तथा कारणो का दिग्दर्शन कराना मात्र है। अतः यहाँ काव्य या कला के संबंध मे उन प्रवादो का, जिनका योरप मे सबसे अधिक फैशन रहा है, संक्षेप मे उल्लेख करके तब मै इस प्रसग को समाप्त करूँगा। इसकी आवश्यकता यहाँ मै केवल इसलिये समझता हूँ कि एक ओर योरप में तो व्यापक और सूक्ष्मदृष्टि संपन्न समीक्षकों द्वारा इन प्रवादों का निराकरण हो रहा है, दूसरी ओर हमारे हिंदी साहित्य में इनकी भद्दी नकल शुरू हुई है।

योरप मे जिस प्रवाद का इधर सबसे अधिक फैशन रहा है वह है—"काव्य का उद्देश्य काव्य ही है" या "कला का उद्देश्य कला ही है"। इस प्रवाद के कारण जीवन और जगत् की बहुत सी बाते, जिनका किसी काव्य के मूल्य निर्णय मे बहुत दिनो से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि "ये तो इतर वस्तुएँ है, शुद्ध कलाक्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाएँ है"। पाश्चात्य देशो मे इस प्रवाद की योजना करनेवाले कई सामान खड़े हुए थे। कुछ तो इसमे जर्मन सौंदर्य-शास्त्रियो की यह उद्भावना सहायक हुई कि सौंदर्य संबंधी अनुभव (Æsthetic experience) एक भिन्न ही प्रकार का अनुभव है जिसका और प्रकार के अनुभवो से कोई संबंध ही नहीं। इससे बहुतेरे साहित्यशास्त्री यह समझने लगे कि कला का मूल्य निर्धारण भी उसके मूल्य को और सब मूल्यो से एकदम विच्छिन्न करके ही होना चाहिए। ईसा की १९वीं शताब्दी के मध्यभाग मे ह्विस्लर (Whistler) ने यह मत प्रवर्त्तित किया जिसका चलन अब तक किसी न किसी रूप मे रहा है। अँगरेजी मे इस मत के सबसे प्रभावशाली व्याख्याताओ मे डाक्टर ब्रैडले (Dr. Bradley) हैं।

उन्होंने इस संबंध मे कहा है—"यह (काव्य-सौंदर्य संबंधी) अनुभव अपना लक्ष्य आप ही है; इसका अपना निराला मूल्य है। अपने विशुद्ध क्षेत्र के बाहर भी इसका और प्रकार का मूल्य हो सकता है। किसी कविता से यदि धर्म और शिष्टाचार का भी साधन होता हो, कुछ शिक्षा भी मिलती हो, प्रबल मनोविकारो का कुछ निरोध भी सम्भव हो, लोकोपयोगी विधानों मे कुछ सहायता भी पहुँचती हो अथवा कवि को कीर्ति या अर्थलाभ भी हो तो अच्छी ही बात है। इनके कारण भी उसकी कदर हो सकती है। पर इन बाहरी बातो के मूल्य के हिसाब से उस कविता की उत्तमता की असली जाँच नहीं हो सकती। उसकी उत्तमता तो एक तृप्तिदायक कल्पनात्मक अनुभव विशेष से संबंध रखती है। अतः उसकी परीक्षा भीतर से ही हो सकती है। किसी कविता के लिखते या जाँचते समय यदि बाहरी मूल्यो की ओर भी ध्यान रहेगा तो बहुत करके उसका मूल्य घट जायगा या छिप जायगा। बात यह है कि कविता को यदि हम उसके विशुद्ध क्षेत्र से बाहर ले जायँगे तो उसका स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो जायगा,

क्योंकि उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति। उसकी तो एक दुनिया ही निराली है—एकांत, स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र।"[1]

काव्य और कला के संबंध मे अब तक प्रचलित इस प्रकार के नाना अर्थवादो का पूरा निराकरण रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने अपनी पुस्तक "साहित्यसमीक्षा सिद्धांत" (Principles of Literary Criticism)[2] मे बड़ी सूक्ष्म और गंभीर मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है। उपर्युक्त कथन मे चारों मुख्य बातो की अलग अलग परीक्षा करके उन्होने उनकी अपूर्णता, अयुक्तता और अर्थहीनता प्रतिपादित की है। यहाँ उनके दिग्दर्शन का स्थान नहीं। प्रचलित सिद्धांत का जो प्रधान पक्ष है कि "कविता की दुनिया ही निराली है; उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति" इस पर रिचर्ड्स के वक्तव्य का सारांश नीचे दिया जाता है—

"यह सिद्धांत कविता को जीवन से अलग समझने का आग्रह करता है। पर स्वयं डाक्टर ब्रैडले इतना मानते है कि जीवन के साथ उसका लगाव भीतर भीतर अवश्य है। हमारा कहना है कि यही भीतरी लगाव असल चीज है। जो कुछ काव्यानुभव (Poetic experience) होता है वह जीवन से ही होकर आता है। काव्य-जगत् की शेष जगत् से भिन्न कोई सत्ता नहीं है और न उसके कोई अलौकिक या विशेष नियम हैं। उसकी योजना बिल्कुल वैसे ही अनुभवो से हुआ करती है जैसे और सब अनुभव होते हैं। प्रत्येक काव्य एक परिमित अनुभवखंड मात्र है जो विरोधी उपादानों के संसर्ग से कभी चटपट और कभी देर में छिन्न-भिन्न हो जाता है। साधारण अनुभवो से उसमे यही विशेषता होती है कि उसकी योजना बहुत गूढ़ और नाजुक होती है। जरा सी ठेस से वह चूर चूर हो सकता है। उसकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वह एक हृदय से दूसरे हृदय मे पहुँचाया जा सकता है। बहुत से हृदय उसका अनुभव बहुत थोड़े ही फेरफार के साथ कर सकते हैं। काव्यानुभव से मिलते-

१–Oxford Lectures on Poetry.

२–Third Edition, 1928.

जुलते और भी अनुभव होते है, पर इस अनुभव की सबसे बड़ी विशेषता है यही सर्वग्राह्यता (Communicability), इसी लिये इसके प्रतीति काल मे हमे इसे अपनी व्यक्तिगत विशेष बातो की छूत से बचाए रखना पड़ता है।[1] यह सबके अनुभव के लिये होता है, किसी एक ही के नहीं। इसी लिये किसी काव्य को लिखते या पढ़ते समय हमे अपने अनुभव के भीतर उस काव्य और उस काव्य से इतर वस्तुओ के बीच अलगाव करना पड़ता है। पर यह अलगाव दो सर्वथा भिन्न या असमान वस्तुओं के बीच नहीं होता, बल्कि एक ही कोटि की वृत्तियो के भिन्न भिन्न विधानों के बीच होता है[2]।"

यह तो हुई रिचर्ड्स की मीमांसा। अब हमारे यहाँ के संपूर्ण काव्यक्षेत्र की अंतःप्रकृति को छानबीन कर जाइए, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षो पर और जगत् के नाना रूपो के साथ मनुष्य हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्यशास्त्रियो का मत लीजिए तो जैसे संपूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है वैसे ही उसका एक अग काव्य भी। 'अर्थ' का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्यप्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ 'लोक की सुख-समृद्धि' लेना चाहिए। जीवन के और साधनो की अपेक्षा काव्यानुभव मे विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप मे होता है जिसमे व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्य जीवन और अंतर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय पर इसका विचार अवश्य होता आया है और होगा। हमारे यहाँ के लक्षणग्रंथों मे रसानुभव को जो 'लोकोत्तर' और 'ब्रह्मानंद सहोदर' आदि कहा

१—इसी को हमारे साहित्य-शास्त्र में 'साधारणीकरण' कहते हैं।

२—But this is no severance between unlike things, but between differences of the same activities. * * * * The myth of a 'transmutation' or 'Poetisation' of experience and that other myth of the 'contemplative' or 'æsthetic attitude' [illegible] part but due to talking about poetry and the 'poetic' [illegible] talking about the concrete experiences which are [illegible]

है वह अर्थवाद के रूप मे, सिद्धात रूप मे नहीं। उसका तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि रस मे व्यक्तित्व का लय हो जाता है।

योरप मे समालोचना-शास्त्र का क्रमागत विकास फ्रास मे ही हुआ। अतः फ्रांस का प्रभाव यूरोपीय देशो मे बहुत कुछ रहा। विवरणात्मक समालोचना के अंतर्गत ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना का उल्लेख हो चुका है। पीछे प्रभाववादियो (Impressionists) का जो दल खड़ा हुआ वह कहने लगा कि हमे किसी कवि की प्रकृति, स्वभाव, सामाजिक परिस्थिति आदि से क्या प्रयोजन ? हमे तो केवल किसी काव्य को पढ़ने से जो आनंदपूर्ण प्रभाव हमारे चित्त पर पड़ता है उसी को प्रकट करना चाहिए और उसी की समालोचना समझनी चाहिए। प्रभाववादियों का पक्ष यह है "हमारे चित्त पर किसी काव्य से जो आनद उत्पन्न होता है वही आलोचना है। इससे अधिक आलोचना और चाहिए क्या ? जो प्रभाव हमारे चित्त पर पड़े उसी का वर्णन यदि हमने कर दिया तो समालोचना हो गई।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मत के अनुसार समालोचना एक व्यक्तिगत वस्तु है। उसके औचित्य-अनौचित्य पर किसी को कुछ विचार करने की जरूरत नहीं। जिसपर जैसा प्रभाव पडे वह वैसा कहे।

उक्त प्रभाववादियो की बात लें तो समालोचना कोई व्यवस्थित शास्त्र नही रह गया। वह एक कला की कृति से निकली हुई दूसरी कला की कृति, एक काव्य से निकला हुआ दूसरा काव्य, ही हुआ।

काव्य की स्वरूप-मीमासा के सबंध मे योरप मे इधर सबसे अधिक जोर रहा है 'अभिव्यजनावाद' (Expressionism) का, जिसके प्रवर्त्तक है इटली के क्रोचे (Benedetto Croce)। इसमें अभिव्यजना अर्थात् किसी बात को कहने का ढग ही सब कुछ है, बात चाहे जो या जैसी हो अथवा कुछ ठीक-ठिकाने की न भी हो। काव्य में जिस वस्तु या भावका वर्णन होता है वह, इस वाद के अनुसार उपादान मात्र है; समीक्षा मे उसका कोई विचार अपेक्षित नहीं। काव्य मे मुख्य वस्तु है वह आकार या साँचा जिसमे वह वस्तु या भाव डाला जाता है[१]। जैसे कुडल की सुंदरता की चर्चा उसके आकार या

१–An æsthetic fact is 'form' and nothing else.

रूप को लेकर होती है, सोने को लेकर नहीं, वैसे ही काव्य के संबंध में भी समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्यक्षेत्र के बाहर की बात है। क्रोचे का कहना है कि अनूठी उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है, उसे किसी दूसरे कथन का पर्य्याय न समझना चाहिए। जैसे, यदि किसी कवि ने कहा है कि "सोई हुई आशा आँख मलने लगी", तो यह न समझना चाहिए कि उसने यह उक्ति इस उक्ति के स्थान पर कही है कि "फिर कुछ कुछ आशा होने लगी।" वह एक निरपेक्ष उक्ति है। कवि को वही कहना ही था। वाल्मिकि ने जो यह कहा कि "न स संकुचितः पथाः येन वाली हतो गतः", वह इसके स्थान पर नही कि "तुम भी वाली के समान मारे जा सकते हो।"

इस वाद मे तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वतः कविता नहीं। पर यह बात इतनी दूर तक नही घसीटी जा सकती कि उस उक्ति की मार्मिकता का अनुभव उसकी तह मे छिपी हुई वस्तु या भाव पर बिना दृष्टि रखे ही हो सकता है। बात यह है कि 'अभिव्यजनावाद' भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशीवाला सौंदर्य मानकर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई संबध नहीं। और कलाओ को छोड़ यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।

इन्हीं दोनों वादों की दृष्टि से यह कहा जाने लगा कि समालोचना के क्षेत्र से अब लक्षण, नियम, रीति, काव्यभेद, गुणदोष, छंदोव्यवस्था आदि का विचार उठ गया[१]। पर इस कथन की व्याप्ति कहाँ तक है, यह विचारणीय है। साहित्य के ग्रंथों मे जो लक्षण, नियम आदि दिए गए थे वे विचार की व्यवस्था के लिये, काव्य-संबंधी चर्चा के सुबीते के लिये। पर इन लक्षणों और नियमो का उपयोग गहरे और कठोर बंधन की तरह होने लगा और

१–The New Criticism—by J. E Spingarn (1911).

उन्हीं को बहुत से लोग सब कुछ समझने लगे। जब कोई बात हद से बाहर जाने लगती है तब प्रतिवर्त्तन (Reaction) का समय आता है। योरप में अनेक प्रकार के वादो की उत्पत्ति प्रतिवर्त्तन के रूप में ही हुआ करती है। अतः हमें सामंजस्य बुद्धि से काम लेकर अपना स्वतंत्र मार्ग निकालना चाहिए।

बेल-बूटे और नक्काशी के लक्ष्य के समान काव्य का भी लक्ष्य सौंदर्य-विधान लगातार कहते रहने से काव्य रचना पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका उल्लेख हो चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि यह सब काव्य के साथ 'कला' शब्द लगने के कारण हुआ है। हमारे यहाँ काव्य की गिनती ६४ कलाओ के भीतर नहीं की गई है। यहाँ इतना और सूचित करना आवश्यक जान पड़ता है कि सौंदर्य की भावना को रूप देने मे मनोविज्ञान के क्षेत्र से आए हुए उस सिद्धात का भी असर पड़ा है जिसके अनुसार अतस्संज्ञा मे निहित अतृप्त काम वासना ही कला-निर्माण की प्रेरणा करनेवाली अंतर्वृत्ति है। योरप मे चित्रकारी, मूर्तिकारी, नक्काशी, बेल-बूटे आदि के समान कविता भी 'ललित कलाओं' के भीतर दाखिल हुई; अतः धीरे धीरे उसका लक्ष्य भी सौंदर्य विधान ही ठहराया गया। जब कि यह सौंदर्य-भावना काम-वासना द्वारा प्रेरित ठहराई गई तब पुरुष कवि के लिये यह स्वाभाविक ही ठहरा कि उसकी सारी सौंदर्य भावना स्त्री-मयी हो अर्थात् प्रकृति-के अपार क्षेत्र में जो कुछ सुदर दिखाई पड़े उसकी भावना स्त्री के रूप-सौंदर्य के भिन्न-भिन्न अग लाकर ही की जाय। अरुणोदय की छटा का अनुभव कामिनी के कपोलो पर दौड़ी हुई लज्जा की ललाई लाकर किया जाय; राका रजनी की सुषमा का अनुभव सुंदरी के उज्ज्वल वस्त्र या शुभ्र हास द्वारा किया जाय; आकाश मे फैलती हुई कादंबिनी तब तक सुंदर न लगे जब तक उस पर स्त्री के मुक्त कुंतल का आरोप न हो। आजकल तो स्त्री-कवियो की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष कवियो का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं मे क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूछ के रूप में देखना चाहिए।

काव्यरचना और काव्यचर्चा दोनों में इधर 'स्वप्न' और 'मद' का प्रधान स्थान रहने लगा है। ये दोनों शब्द काव्य के भीतर प्राचीन समय में धर्म-सप्रदायों से आए। लोगो की धारणा थी कि संत या सिद्ध लोगों को बहुत

सी बातो का आभास या तो स्वप्न मे मिलता था अथवा तन्मयता की दशा मे। कवियो को अपने भावों मे मग्न होते देख लोग उन्हे भी इस प्रत्यक्ष जगत् और जीवन से अलग कल्पना के स्वप्न-लोक मे विचरनेवाले जीव प्यार और श्रद्धा से कहने लगे। यह बात बराबर कवियो की प्रशसा मे अर्थवाद के रूप मे चलती रही। पर ईसा की इस बीसवीं सदी मे आकर वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में फ्रायड (Freude) द्वारा प्रदर्शित की गई। उसने कहा कि जिस प्रकार स्वप्न अंतस्संज्ञा मे निहित अतृप्त वासनाओ की तृप्ति का एक अंतर्विधान है, उसी प्रकार कलाओ को निर्माण करनेवाली कल्पना भी। इससे कवि-कल्पना और स्वप्न का अभेद-भाव भी पक्का हो गया। पर सच पूछिए तो कल्पना मे आई हुई वस्तुओं की अनुभूति और स्वप्न मे दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की अनुभूति के स्वरूप मे बहुत अंतर है। अतः काव्य-रचना या काव्यचर्चा में 'स्वप्न' की बहुत अधिक भरमार अपेक्षित नहीं। यों ही कहीं कही साम्य के लिये यह शब्द आ जाया करे तो कोई हर्ज नही।

अब 'मद' और 'मादकता' लीजिए। काव्यक्षेत्र मे इसका चलन फारस मे बहुत पहले से अनुमित होता है। यद्यपि इसलाम के पूर्व वहाँ का सारा साहित्य नष्ट कर दिया गया, उसका एक चिट भी कहीं नहीं मिलता है, पर शायरी मे 'मद' और 'प्याले' की रूढ़ि बनी रही, जिसको सूफियो ने और भी बढ़ाया। सूफी शायर दीन-दुनिया से अलग, प्रेममद मे मतवाले आज़ाद जीव माने जाते थे। धीरे धीरे कवियो के संबंध मे भी 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की भावना वहाँ जड़ पकड़ती गई और वहाँ से हिंदुस्तान मे आई। योरप में गेटे और वर्ड्सवर्थ के समय तक 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की इस भावना का कवि और काव्य के साथ कोई नित्य-संबंध नही समझा जाता था। जर्मन कवि गेटे बहुत ही व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ था; इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ भी लोक-व्यवहार से अलग एक रिंद नहीं माना जाता था। एक खास ढग का फक्कड़पन और मतवालापन बाइरन और शेली में दिखाई पड़ा जिनकी चर्चा योरप ही तक न रहकर अँगरेज़ी साहित्य के साथ साथ हिंदुस्तान तक पहुँची। इससे मतवालेपन और फक्कड़पन की जो भावना पहले से फारसी साहित्य के प्रभाव से बँधती आ रही थी वह और भी पक्की हो गई।

भारत मे मतवालेपन या फक्कड़पन की भावना अघोरपंथ आदि कुछ संप्रदायों मे तथा सिद्ध बननेवाले कुछ साधुओ में ही चलती आ रही थी। कवियो के संबंध मे इसकी चर्चा नही थी। यहाँ तो कवि के लिये लोक-व्यवहार मे कुशल होना आवश्यक समझा जाता था। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा मे कवि के जो लक्षण कहे हैं उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। यह ठीक है कि राजशेखर ने राज-सभाओं मे बैठनेवाले दरबारी कवियो के स्वरूप का वर्णन किया है और वह स्वरूप एक विलासी दरबारी का है, मुक्त-हृदय स्वच्छंद कवि का नहीं। पर वाल्मीकि से लेकर भवभूति और पडितराज तथा चंद से लेकर ठाकुर और पद्माकर तक कोई मद से झूमनेवाला, लोक व्यवहार से अनभिज्ञ या बेपरवा फक्कड़ नहीं माना गया।

प्रतिभाशाली कवियों की प्रवृत्ति अर्थ में रत साधारण लोगो से भिन्न और मनस्विता लिए होती है तथा लोगो के देखने मे कभी कभी एक सनक सी जान पड़ती है। जैसे और लोग अर्थ की चिंता मे लीन होते हैं वैसे ही वे अपने किसी उद्भावित प्रसंग मे लीन दिखाई पड़ते हैं। प्रेम और श्रद्धा के कारण लोग इन प्रवृत्तियों को अत्युक्ति के साथ प्रकट करते हुए 'मद मे झूमना' 'स्वप्न मे लीन रहना', 'निराली दुनिया मे विचरना' कहने लगे। पर इसका यह परिणाम न होना चाहिए कि कवि लोग अपनी प्रशस्ति की इन अत्युक्त बातो को ठीक ठीक चरितार्थ करने मे लगे।

लोग कहते हैं कि समालोचकगण अपनी बाते कहते ही रहते है, पर कवि लोग जैसी मौज होती है वैसी रचना करते ही हैं। पर यह बात नहीं है। कवियों पर साहित्य मीमांसको का बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। बहुतेरे कवि-विशेषतः नए—उनके आदर्शों के अनुकूल चलने का प्रयत्न करने लगते है। उपर्युक्त वादो के अनुकूल इधर बहुत कुछ काव्यरचना योरप मे हुई, जिसका कुछ अनुकरण बॅगला मे हुआ। आजकल हिंदी की जो कविता 'छायावाद' के नाम से पुकारी जाती है उसमे इन सब वादो का मिला जुला आभास पाया जायगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन सब हिंदी कवियो ने उनके सिद्धात सामने रखकर रचना की है। उनके आदर्शों के अनुकूल कुछ कविताएँ योरप में हुई, जिनकी देखा-देखी बॅगला और हिंदी मे भी होने लगी।

इस प्रसंग मे इतना लिखने का प्रयोजन केवल यही है कि योरप के साहित्यक्षेत्र में फैशन के रूप मे प्रचलित बातो को कच्चे-पक्के ढंग से सामने लाकर कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा करना अपनी मस्तिष्कशून्यता के साथ ही साथ समस्त हिंदी पाठकों पर मस्तिष्कशून्यता का आरोप करना है। काव्य और कला पर निकलनेवाले भड़कीले लेखों मे आवश्यक अभिज्ञता और स्वतंत्र विचार का अभाव देख दुःख होता है। इधर कुछ दिनों से "सत्यं, शिवं, सुंदरम्" की बड़ी धूम है, जिसे कुछ लोग शायद उपनिषद्-वाक्य समझकर "अपने यहाँ भी कहा है" लिखकर उद्धृत किया करते हैं। यह कोमल पदावली ब्रह्मसमाज के महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर की है और वास्तव में The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है[१]। बस इतना और कहकर मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ कि किसी साहित्य मे केवल बाहर की भद्दी नकल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा करकट के रूप में न इकट्ठी की जाय। उसकी कड़ी परीक्षा हो, उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाय; जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास मे सहायता पहुँचे।

१-Thus arises the phantom problem of the æsthetic mode or æsthetic state, a legacy from the days of abstract investigation into the Good, the Beautiful and the True.

—Principles of Literary Criticism.
(I. A. Richards)

आधुनिक काल
(संवत् १९०० से....)
काव्य-खंड
पुरानी धारा

गद्य के आविर्भाव और विकास-काल से लेकर अब तक कविता की वह परंपरा भी चलती आ रही है जिसका वर्णन भक्ति-काल और रीति-काल के भीतर हुआ है। भक्ति भाव के भजनो, राजवश के ऐतिहासिक चरित-काव्यो, अलंकार और नायिकाभेद के ग्रथों तथा शृगार और वीर-रस के कवित्त-सवैयो और दोहो की रचना बराबर होती आ रही है। नगरो के अतिरिक्त हमारे ग्रामों मे भी न जाने कितने बहुत अच्छे कवि पुरानी परिपाटी के मिलेंगे। ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा गुजरात से लेकर बिहार तक और कुमाऊँ-गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आई है। काश्मीर के किसी ग्राम के रहनेवाले ब्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमे जबू मे किसी महाशय ने दिया था और शायद उनके दो एक सवैये भी सुनाए थे।

गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम ब्रजभाषा के बहुत अच्छे कवि थे जिन्होंने अपने "गढ़ राजवश" काव्य मे गढ़वाल के ५२ राजाओ का वर्णन दोहा चौपाइयो मे किया है। वे श्रीनगर (गढवाल) के राजा प्रद्युम्नसाह के समय मे थे। कुमाऊँ-गढ़वाल पर जब नैपाल का अधिकार हुआ तब नैपाली सूबेदार हस्तिदल चौतरिया के अनुरोध से उन्होने उक्त काव्य लिखा था। मोलाराम का जन्म सवत् १८१७ मे और मृत्यु १८९० मे हुई। उन्होने ग्रंथ मे बहुत सी घटनाओ का आँखो-देखा वर्णन लिखा है, इससे उसका ऐतिहासिक मूल्य भी है।

ब्रजभाषा-काव्य-परपरा के कुछ प्रसिद्ध कवियो और उनकी रचनाओ का उल्लेख नीचे किया जाता है—

सेवक—ये असनीवाले ठाकुर कवि के पौत्र थे और काशी के रईस बाबू देवकीनंदन के प्रपौत्र बाबू हरिशंकर के आश्रय मे रहते थे। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इन्होने "वाग्विलास" नाम का एक बड़ा ग्रंथ नायिकाभेद का बनाया। इसके अतिरिक्त बरवा छंद मे एक छोटा नख-शिख भी इनका है। इनके सवैये सर्वसाधारण मे प्रचलित हो गए थे। "कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की" कुछ बुड्ढे रसिक अब तक कहते सुने जाते हैं। इनका जन्म संवत् १८७२ मे और मृत्यु संवत् १९३८ मे हुई।

महाराज रघुराजसिंह रीवाँ-नरेश—इनका जन्म संवत् १८८० में और मृत्यु संवत् १९३६ मे हुई। इन्होने भक्ति और शृंगार के बहुत ग्रंथ रचे। इनका "राम-स्वयंवर" (सं० १९२६) नामक वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य बहुत ही प्रसिद्ध है। वर्णनों मे इन्होने वस्तुओ की गिनती (राजसी ठाट-बाट, घोड़ों हाथियों के भेद आदि) गिनानेवाली प्रणाली का खूब अवलंबन किया है। 'राम-स्वयंवर' के अतिरिक्त 'रुक्मिणी-परिणय', 'आनंदांबुनिधि', 'रामाष्टयाम', इत्यादि इनके लिखे बहुत से अच्छे ग्रंथ हैं।

सरदार—ये काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह के आश्रित थे। इनका कविता-काल संवत् १९०२ से १९४० तक कहा जा सकता है। ये बहुत ही सिद्धहस्त और साहित्य-मर्मज्ञ कवि थे। 'साहित्य सरसी', 'वाग्विलास', 'षटऋतु', 'हनुमतभूषण', 'तुलसीभूषण', 'शृंङ्गार-संग्रह', 'राम-रत्नाकर', 'साहित्य-सुधाकर', रामलीला-प्रकाश इत्यादि कई मनोहर काव्य-ग्रंथ इन्होने रचे है। इसके अतिरिक्त इन्होने हिंदी के प्राचीन काव्यों पर बड़ी बड़ी टीकाएँ भी लिखी है। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', सूर के दृष्टिकूट और बिहारी सतसई पर बहुत अच्छी टीकाएँ इनकी है।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही—ये अयोध्या के एक साधु थे और अपने समय के बड़े भारी महात्मा माने जाते थे। सं० १९११ में इन्होने 'विश्रामसागर' नामक एक बड़ा ग्रंथ बनाया जिसमें अनेक पुराणो की कथाएँ संक्षेप में दी गई हैं। भक्तजन इस ग्रंथ का बड़ा आदर करते हैं।

ललितकिशोरी—इनका नाम साह कुंदनलाल था। ये लखनऊ के

एक समृद्ध वैश्य घराने में उत्पन्न हुए थे। पीछे वृंदावन मे जाकर एक विरक्त भक्त की भाँति रहने लगे। इन्होंने भक्ति और प्रेम सबधी बहुत से पद और गजलें बनाई है। कविता-काल सवत् १९१२ से १९३० तक समझना चाहिए। वृंदावन का प्रसिद्ध साहजी का मदिर इन्हीं का बनवाया है।

राजा लक्ष्मणसिंह—ये हिंदी के गद्य-प्रवर्त्तकों में हैं। इनका उल्लेख गद्य के विकास के प्रकरण मे हो चुका है*। इनकी ब्रजभाषा की कविता भी बड़ी ही मधुर और सरस होती थी। ब्रजभाषा की सहज मिठास इनकी वाणी से टपकी पड़ती है। इनके 'शकुनला' के पहले अनुवाद में तो पद्य न था, पर पीछे जो सस्करण इन्होंने निकाला, उसमे मूल श्लोकों के स्थान पर पद्य रखे गए। ये पद्य बड़े ही सरस हुए। इसके उपरात स० १९३८ और १९४० के बीच मे इन्होने 'मेघदूत' का बड़ा ही ललित और मनोहर अनुवाद निकाला। 'मेघदूत' जैसे मनोहर काव्य के लिये ऐसा ही अनुवादक होना चाहिए था। इस अनुवाद के सवैये बहुत ही ललित और सुदर हैं। जहाँ चौपाई-दोहे आए हैं, वे स्थल उतने सरस नहीं है।

लछिराम (ब्रह्मभट)—इनका जन्म सवत् १८९८ में अमोढ़ा (जिला बस्ती) मे हुआ था। ये कुछ दिन अयोध्यानरेश महाराज मानसिह (प्रसिद्ध कवि द्विजदेव) के यहाँ रहे। पीछे बस्ती के राजा शीतलाबख्शसिंह से, जो एक अच्छे कवि थे, बहुत सी भूमि पाई। दर्भंगा, पुरनिया आदि अनेक राजधानियों मे इनका सम्मान हुआ। प्रत्येक सम्मान करनेवाले राजा के नाम पर इन्होंने कुछ न कुछ रचना की है—जैसे, मानसिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, प्रेमरत्नाकर (राजा बस्ती के नाम पर), लक्ष्मीश्वररत्नाकर (दर्भंगा-नरेश के नाम पर), रावणेश्वर-कल्पतरु (गिद्धौर-नरेश के नाम पर), कमलानद-कल्पतरु (पुरनिया के राजा के नाम पर जो हिंदी के अच्छे कवि और लेखक थे) इत्यादि इत्यादि। इन्होंने अनेक रसो पर कविता की है। समस्या-पूर्तियाँ बहुत जल्दी करते थे। वर्त्तमान काल मे ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी पर कविता करनेवालों मे ये बहुत प्रसिद्ध हुए है।

---

* देखो पृष्ठ ४४०।

गोविंद गिल्लाभाई—कोई समय था जब गुजरात में ब्रजभाषा की कविता का बहुत प्रचार था। अब भी इसका चलन वैष्णवों मे बहुत कुछ है। गोविंद गिल्लाभाई का जन्म संवत् १९०५ मे भावनगर रियासत के अंतर्गत सिहोर नामक स्थान मे हुआ था। इनके पास ब्रजभाषा के काव्यों का बड़ा अच्छा संग्रह था। 'भूषण' का एक बहुत शुद्ध संस्करण इन्होने निकाला। ब्रजभाषा की कविता इनकी बहुत ही सुंदर और पुराने कवियो के टक्कर की होती थी। इन्होंने बहुत सी काव्य की पुस्तके लिखी है जिनमे से कुछ के नाम ये हैं—'नीति-विनोद', 'शृंगार-सरोजिनी', 'षटऋतु', 'पावस-पयोनिधि', 'समस्यापूर्ति-प्रदीप', 'वक्रोक्ति-विनोद', 'श्लेषचंद्रिका', 'प्रारब्ध-पचासा', 'प्रवीन-सागर'।

नवनीत चौबे—पुरानी परिपाटी के आधुनिक कवियों मे चौबे जी की बहुत ख्याति रही है। ये मथुरा के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १९१५ और मृत्यु १९८९ मे हुई।

यहाँ तक संक्षेप में उन कवियों का उल्लेख हुआ जिन्होने पुरानी परिपाटी पर कविता की है। इसके आगे अब उन लोगो का समय आता है जिन्होने एक ओर तो हिंदी-साहित्य की नवीन गति के प्रवर्त्तन मे योग दिया, दूसरी ओर पुरानी परिपाटी के कविता के साथ भी अपना पूरा संबंध बनाए रखा। ऐसे लोगों मे भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्मा मुख्य है।

भारतेंदु जी ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी। उन्होने देखा कि बहुत से शब्द जिन्हे बोल-चाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे, कवित्तो और सवैयो में बराबर लाए जाते हैं। इसके कारण कविता जनसाधारण की भाषा से दूर पडती जाती है। बहुत से शब्द तो प्राकृत और अपभ्रंश-काल की परपरा के स्मारक के रूप मे ही बने हुए थे। 'चक्कव', 'भुवाल', 'ठायो', 'दीह' 'ऊनो', 'लोय' आदि के कारण बहुत से लोग ब्रजभाषा की कविता से किनारा खींचने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते-बढ़ते बहुत बुरी हद को पहुँच गया था, वह शब्दों का तोड़-मरोड़ और

गढ़ंत के शब्दो का प्रयोग था। उन्होने ऐसे शब्दों को भरसक अपनी कविता से दूर रखा और अपने रसीले सवैयो में जहाँ तक हो सका, बोलचाल की व्रज-भाषा का व्यवहार किया। इसी से उनके जीवनकाल मे ही उनके सवैये चारो ओर सुनाई देने लगे।

भारतेंदुजी ने कविसमाज भी स्थापित किए थे जिनमे समस्यापूर्तियाँ बराबर हुआ करती थीं। दूर दूर से कवि लोग आकर उसमे सम्मिलित हुआ करते थे। पडित अंबिकादत्त व्यास ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार पहले पहल ऐसे ही कवि समाज के बीच समस्यापूर्ति करके दिखाया था। भारतेंदुजी के शृंगार-रस के कवित्त-सवैये बड़े ही सरस और मर्मस्पर्शी होते थे। "पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना दुखिया अँखियाँ नहिं मानति हैं", "मरेहू पै आँखे ये खुली ही रही जायँगी" आदि उक्तियो का रसिक समाज में बडा आदर रहा। उनके शृंगार-रस के कवित्त-सवैयो का संग्रह "प्रेममाधुरी" में मिलेगा। कवित्त-सवैयो से बहुत अधिक भक्ति और शृगार के पद और गाने उन्होंने बनाए जो "प्रेमफुलवारी", "प्रेममालिका", "प्रेमप्रलाप" आदि पुस्तकों मे संगृहीत है। उनकी अधिकतर कविता कृष्णभक्त कवियो के अनुकरण पर रचे पदो के रूप में ही है।

पडित प्रतापनारायणजी भी समस्यापूर्त्ति और पुराने ढग की शृंगारी कविता बहुत अच्छी करते थे। कानपुर के 'रसिक-समाज' में वे बड़े उत्साह से अपनी पूर्त्तियाँ सुनाया करते थे। देखिए "पपीहा जब पूछिहै पीव कहाँ" की कैसी अच्छी पूर्त्ति उन्होने की थी—

बनि बैठि है मान की मूरति-सी, मुख खोलत बोलै न "नाही" न 'हाँ'।
तुम ही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ॥
बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अबलौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू पपिहा जब पूछिहै "पीव कहाँ?"

प्रतापनारायणजी कैसे मनमौजी आदमी थे, यह कहा जा चुका है। लावनीबाजों के बीच बैठकर वे लावनियाँ बना बनाकर भी गाया करते थे।

उपाध्याय बदरीनारायण (प्रेमघनजी) भी इस प्रकार की पुरानी कविता

किया करते थे। "चरचा चलिबे की चलाइए ना" को लेकर बनाया हुआ उनका यह अनुप्रासपूर्ण सवैया देखिए—

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिए, तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम-कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना॥
'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम, अहो! बिथा-बारि बृथा बरसाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना॥

चौधरी साहब ने भी सर्वसाधारण मे प्रचलित कजली, होली आदि गाने की चीजे बहुत बनाई है। 'कजली-कादबिनी' मे उनकी बनाई कजलियो का संग्रह है।

ठाकुर जगमोहनसिंहजी के सवैये भी बहुत, सरस होते थे। उनके शृंगारी कवित्त-सवैयों का संग्रह कई पुस्तको में है। ठाकुर साहब ने कवित्त-सवैयों मे "मेघदूत" का भी बहुत सरस अनुवाद किया है। उनकी शृंगारी कविताएँ 'श्यामा' से ही संबंध रखती है और 'प्रेम-संपत्तिलता' (संवत् १८८५), 'श्यामा-लता' और 'श्यामा-सरोजिनी' (संवत् १८८६) में संगृहीत हैं। 'प्रेमसंपत्तिलता' का एक सवैया दिया जाता है—

अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाऊँ गरे लगिकै छतियाँ।
मन की करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिय री रस की बतियाँ॥
हम हारि अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेहभरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुख की रतियाँ॥

पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्म्मा (बलवीर) के उत्साह से ही काशी-कवि-समाज चलता रहा। उसमे दूर दूर के कविजन भी कभी कभी आ जाया करते थे। समस्याएँ कभी कभी बहुत टेढ़ी दी जाती थीं—जैसे, "सूरज देखि सकै नहिं घूग्घू", "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे"। उक्त दोनो समस्याओ की पूर्त्ति व्यासजी ने बड़े विलक्षण ढंग से की थी। उक्त समाज की ओर से ही शायद 'समस्यापूर्त्ति प्रकाश" निकला था जिसमे 'व्यासजी' और 'बलवीरजी' (रामकृष्ण वर्म्मा) की बहुत सी पूर्त्तियाँ है। व्यासजी का "बिहारी-बिहार" (बिहारी के सब दोहों पर कुंडलियाँ)

बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें उन्होंने बिहारी के दोहों के भाव बड़ी मार्मिकता से पल्लवित किए हैं। डुमरॉव-निवासी पंडित नकछेदी तिवारी (अजान) भी इस रसिक-मंडली के बड़े उत्साही कार्य्यकर्त्ता थे। वे बड़ी सुंदर कविता करते थे और पढ़ने का ढंग तो उनका बड़ा ही अनूठा था। उन्होंने 'मनोमंजरी' आदि कई अच्छे संग्रह भी निकाले और कवियों का वृत्त भी बहुत कुछ संग्रह किया। बाबू रामकृष्ण की मंडली मे पं० विजयानंद त्रिपाठी भी व्रजभाषा की कविता बड़ी अच्छी करते थे।

इस पुरानी धारा के भीतर लाला सीताराम बी० ए० के पद्यानुवादो को भी लेना चाहिए। ये कविता मे अपना 'भूप' उपनाम रखते थे। 'रघुवंश' का अनुवाद इन्होने दोहा-चौपाइयो मे और 'मेघदूत' का घनाक्षरी मे किया है।

यद्यपि पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय इस समय खडी बोली के और आधुनिक विषयो के ही कवि प्रसिद्ध हैं पर प्रारंभकाल मे वे भी पुराने ढंग की शृंगारी कविता बहुत सुंदर और सरस करते थे। इनके निवासस्थान निजामाबाद में सिख-संप्रदाय के महत बाबा सुमेर सिंहजी हिंदी-काव्य के बडे प्रेमी थे। उनके यहाँ प्रायः कवि समाज एकत्र हुआ करता था जिसमे उपाध्यायजी भी अपनी पूर्त्तियाँ पढ़ा करते थे। इनका "हरिऔध" उपनाम उसी समय का है। इनकी पुराने ढंग की कविताएँ 'रस-कलश' में संगृहीत हैं जिसमें इन्होने नायिकाओ के कुछ नए ढंग के भेद रखने का प्रयत्न किया है। ये भेद रस-सिद्धात के अनुसार ठीक नहीं उतरते।

पडित श्रीधर पाठक का संबंध भी लोग खड़ी बोली के साथ ही अकसर चताया करते है।* पर खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा पाठकजी की व्रजभाषा की कविताएँ ही अधिक सरस, हृदयग्राहिणी और उनकी मधुर-स्मृति को चिरकाल तक बनाए रखनेवाली हैं। यद्यपि उन्होंने समस्यापूर्त्ति नहीं की, नायिकाभेद के उदाहरणो के रूप मे कविता नहीं की, पर जैसी मधुर और रसभरी व्रजभाषा उनके 'ऋतुसंहार' के अनुवाद मे है, वैसी पुराने कवियो मे किसी किसी की ही मिलती है। उनके सवैयो मे हम व्रजभाषा का जीता जागता रूप पाते हैं। वर्षाऋतु-वर्णन का यह सवैया ही लीजिए—

वारि-फुहार-भरे बदरा, सोइ सोहत कुंजर-से मतवारे।
बीजुरी-जोति धुजा फहरै, घन-गर्जन-शब्द सोई हैं नगारे॥
रोर को घोर को ओर न छोर, नरेसन की-सी छटा छबि धारे।
कामिन के मन को प्रिय पावस, आयो, प्रिये नव मोहिनी डारे॥

व्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियो में स्वर्गीय बा० जगन्नाथदास (रत्नाकर) का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इनका जन्म काशी मे भाद्रपद शुक्ल ६ स० १९२३ और मृत्यु आषाढ़ कृष्ण ३ सं० १९८९ को हरद्वार मे हुई। भारतेंदु के पीछे संवत् १९४६ से ही ये व्रजभाषा मे कविता करने लगे थे। 'हिंडोला' आदि इनकी पुस्तकें बहुत पहले निकली थीं। काव्य-संबंधिनी एक पत्रिका भी इन्होंने कुछ दिनों तक निकाली थी। इनकी कविता बड़े-बड़े पुराने कवियो के टक्कर की होती थी। पुराने कवियो मे भी इनकी-सी सूझ और उक्ति-वैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी। ये साहित्य तथा व्रजभाषा-काव्य के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते थे।

इन्होने 'हरिश्चंद्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धव शतक' नाम के तीन बहुत ही सुंदर प्रबंध-काव्य लिखे हैं। अँगरेज कवि पोप के समालोचना-संबंधी प्रसिद्ध काव्य (Essay on Criticism) का रोला छंदो मे अच्छा अनुवाद इन्होंने किया है। फुटकल रचनाएँ तो इनकी बहुत अधिक हैं, शृंगार और वीर दोनों की। इनकी रचनाओ का बहुत बड़ा संग्रह 'रत्नाकर' के नाम से काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। 'गंगावतरण' मे गंगा के आकाश से उतरने और शिव के उन्हे सँभालने के लिये सन्नद्ध होने का वर्णन बहुत ही ओजपूर्ण है। 'उद्धवशतक' की मार्मिकता और रचना-कौशल भी अद्वितीय है। उसके दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्मदूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरन कौ मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥

मान्यो हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यो जो तुम,
तौ हूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ,
गोपिन को आवत न भावत भड़ंग है।
कहै रतनाकर करत टाँय टाँय वृथा,
सुनत न कोऊ यहाँ यह मुहचंग है॥
और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ!
साँस रोकिबे को कहा जोग ही कुढंग है?
कुटिल कटारी है, अटारी है उतंग अति,
जमुना-तरंग है, तिहारो सतसंग है॥

कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविता भी व्रजभाषा के पुराने कवियो का स्मरण दिलानेवाली होती थी। जब तक ये कानपुर मे रहे तब तक कविता की चर्चा की बड़ी धूम रही। वहाँ के 'रसिक-समाज' मे पुरानी परिपाटी के कवियो की बड़ी चहल-पहल रहा करती थी। "पूर्ण" जी ने कुछ दिनो तक 'रसिकवाटिका' नाम की एक पत्रिका भी चलाई, जिसमे समस्या-पूर्त्तियाँ और पुराने ढग की कविताएँ छपा करती थीं। खेद है कि केवल ४७ वर्ष की अवस्था मे ही सवत् १९७७ मे इनका देहांत हो गया। इनकी रचना कैसी सरस होती थी और ललित पदावली पर उनका कैसा अच्छा अधिकार था, इसका अनुमान इनके 'धराधर धावन' (मेघदूत का अनुवाद) से उद्धृत इस पद्य से हो सकता है—

नव कलित केसर-वलित हरित सुपीत नीप निहारि कै।
करि असन दल कँदलीन जो कलियाहिं प्रथम कछार पै॥
हे घन, विपिन थल अमल परिमल पाय भूतल की भली।
मधुकर मतंग कुरंग वृंद जनायहैं तेरी गली॥

श्री वियोगी हरि व्रजभूमि, व्रजभाषा और व्रजपति के अनन्य उपासक हैं। ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रूखे जमाने मे कम दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने अधिकतर पुराने कृष्ण-भक्त कवियो की पद्धति पर बहुत से रसीले तथा भक्ति-भाव-पूर्ण पदो की रचना की है जिन्हें सुनकर आजकल के रसिक भक्त भी "बलहारी है!" बिना कहे नहीं रह सकते। इनकी इस प्रकार की रचनाएँ 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक', 'प्रेमांजलि' आदि मे मिलेगी। छतरपुर से प्रयाग आने पर राजनीतिक आंदोलनों की भी कुछ हवा इन्हें लगी थी और इन्होने 'चरखे की गूँज', 'चरखा-स्तोत्र', 'असहयोग-वीणा' ऐसी कुछ रचनाएँ भी की थीं, पर उनमे इनकी स्थायी मनोवृत्ति न थी। यह अवश्य है कि देश के लिये त्याग करनेवाले वीरो के प्रति इनके मनमे अपार श्रद्धा है। वियोगी हरि-जी ने 'वीर-सतसई' नामक एक बड़ा काव्य दोहो मे लिखा है जिसमे भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध वीरों की प्रशस्तियाँ हैं। इस ग्रंथ पर इन्हे प्रयाग के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) का पुरस्कार मिला था। इसके कुछ दोहे देखिए—

पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नवरस ही में वीर॥
जोरि नावँ संग 'सिंह' पद करत सिंह बदनाम।
ह्वै हौ कैसे सिंह तुम करि सृगाल के काम?
या तेरी तरवार में नहिं कायर अब आब।
दिल हू तेरो बुझि गयो, वामें नेक न ताब॥

कविवर बिहारीलाल की परंपरा के वर्त्तमान प्रतिनिधि श्रीदुलारेलालजी भार्गव के दोहो की बारीकी साहित्य-क्षेत्र मे अपना कमाल खड़ी बोली के इस जमाने मे भी दिखाती रहती है। बिहारी की प्रतिभा जिस ढाँचे की थी उसी ढाँचे की दुलारेलालजी की भी है, इसमे सदेह नही। एक एक दोहे में सफाई के साथ रस से स्निग्ध वा वैचित्र्य से चमत्कृत कर देनेवाली प्रचुर सामग्री भरने का गुण इनमें भी है। कुछ दोहो मे देशभक्ति, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय आंदोलन इत्यादि की भावना का अनूठेपन के साथ समावेश करके इन्होंने पुराने साँचे मे नया मसाला ढालने की अच्छी कला दिखाई है।

आधुनिक काव्य-क्षेत्र मे दुलारेलालजी ने व्रजभाषा-काव्य-चमत्कार-पद्धति का एक प्रकारसे पुनरुद्धार किया है। इनकी 'दुलारे-दोहावली' पर टीकमगढ़ राज्य की ओर से २०००) का 'देव-पुरस्कार' मिल चुका है। 'दोहावली' के कुछ दोहे देखिये—

तन-उपबन सहिहै कहा बिछुरन-झंझाबात।
उड़यो जात उर-तरु जबै चलिबे ही की बात॥
दमकति दरपन-दरप दरि दीपसिखा-दुति देह।
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि स-नेह॥
झर सम दीजै देस हित झरझर जीवन-दान।
रुकि-रुकि यों चरसा सरिस दैबौ कहा, सुजान!
गाँधी गुरु तें ग्यान लै चरखा अनहद जोर।
भारत सबद तरंग पै बहत मुकुति की ओर।

अभी थोडे दिन हुए, अयोध्या के पं० रामनाथ ज्योतिषी ने राम-कथा लेकर अपना 'रामचंद्रोदय काव्य' लिखा है जिस पर उन्हें २०००) का 'देव-पुरस्कार' मिला है।

आधुनिक विषयो को लेकर कविता करनेवाले कई कवि जैसे, स्व० नाथूराम-शकर शर्मा, लाला भगवानदीन, पुरानी परिपाटी की बड़ी सुदर कविता करते थे। प० गयाप्रसादजी शुक्ल 'सनेही' के प्रभाव से कानपुर मे व्रजभाषा-काव्य के मधुर स्रोत अभी बराबर वैसे ही चल रहे हैं, जैसे 'पूर्ण' जी के समय में चलते थे। नई पुरानी दोनों परिपाटियो के कवियो का कानपुर अच्छा केंद्र है। व्रजभाषा-काव्य परंपरा किस प्रकार जीती-जागती चली चल रही है, यह हमारे वर्त्तमान कवि-सम्मेलनो मे देखा जा सकता है।

प्रकरण २

नई धारा

प्रथम उत्थान

संवत् १९२५—१९५०

यह सूचित किया जा चुका है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गद्य-साहित्य को देश-काल के अनुसार नए नए विषयों की ओर लगाया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नए रंग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोक-हित, समाज-सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नए विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए। रीति-काल के कवियों की रूढ़ि में हास्य रस के आलंबन कंजूस ही चले आते थे। पर साहित्य के इस नए युग के आरंभ से ही कई प्रकार के नए आलंबन सामने आने लगे—जैसे, पुरानी लकीर के फकीर, नए फैशन के गुलाम, नोच-खसोट करनेवाले अदालती अमले, मूर्ख और खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देशभक्त इत्यादि। इसी प्रकार वीरता के आश्रय भी जन्मभूमि के उद्धार के लिये रक्त बहानेवाले, अन्याय और अत्याचार का दमन करनेवाले इतिहास-प्रसिद्ध वीर होने लगे। सारांश यह कि इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नए नए विषयों के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले। कालचक्र के फेर से जिस नई परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाए बिना जैसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है।

विषयों की अनेकरूपता के साथ साथ उनके विधान का भी ढंग बदल

चला। प्राचीन धारा में 'मुक्तक' और 'प्रबंध' की जो प्रणाली चली आती थी, उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा। पुरानी कविता मे 'प्रबंध' का रूप कथात्मक और वस्तुवर्णनात्मक ही चला आता था। या तो पौराणिक कथाओ, ऐतिहासिक वृत्तो को लेकर छोटे बड़े आख्यान-काव्य रचे जाते थे—जैसे, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचद्रिका, छत्रप्रकाश, सुदामा-चरित्र, दानलीला, चीरहरन लीला इत्यादि—अथवा विवाह, मृगया, झूला, हिंडोला, ऋतुविहार आदि को लेकर वस्तुवर्णनात्मक प्रबध। अनेक प्रकार के सामान्य विषयो पर—जैसे, बुढ़ापा, विधिविडंबना, जगत-सचाई-सार, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत—कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावो की मिश्रित धारा के रूप मे छोटे छोटे प्रबंधो या निबंधों की चाल न थी। इस प्रकार के विषय कुछ उक्तिवैचित्र्य के साथ ही पद्य मे कहे जाते थे अर्थात् वे मुक्तक की सूक्तियो के रूप में ही होते थे। पर नवीन धारा के आरंभ मे छोटे-छोटे पद्यात्मक निबधो की परंपरा भी चली जो प्रथम उत्थानकाल के भीतर तो बहुत कुछ भावप्रधान रही, पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) होने लगी।

नवीन धारा के प्रथम उत्थान के भीतर हम हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी आदि को ले सकते है।

जैसा ऊपर कह आए हैं, नवीन धारा के बीच भारतेंदु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओ में देशदशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होने लिखीं जिनमे कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्त्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिंता इत्यादि अनेक पुनीत भावो का संचार पाया जाता है। "विजयिनी-विजय-वैजयंती" मे, जो मिस्र मे भारतीय सेना की विजय प्राप्ति पर लिखी गई थी, देशभक्ति-व्यंजक कैसे भिन्न-भिन्न संचारी भावों का उद्गार है! कहीं गर्व, कही क्षोभ, कहीं विषाद। "सहसन बरसन सो सुन्यो

जो सपने नहि कान, सो जय आरज शब्द" को सुन और "फरकि उठीं सबकी भुजा, खरकि उठी तरवार। क्यो आपुहि ऊँचे भए आर्य्य मोछ के बार" का कारण जान, प्राचीन आर्य्य-गौरव का गर्व कुछ आ ही रहा था कि वर्त्तमान अधोगति का दृश्य ध्यान मे आया और फिर वही "हाय भारत!" की धुन!

हाय! वहै भारत-भुव भारी। सब ही बिधि सो भई दुखारी।
हाय! पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी।
तुममें जल नहिं जमुना गंगा। बढहु बेगि किन प्रबल तरंगा?
बोरहु किन झट मथुरा कासी? धोवहु यह कलंक की रासी।

'चित्तौर', 'पानीपत' इन नामो मे हिंदू हृदय के लिये कितने भावो की व्यंजना भरी है। उसके लिये ये नाम ही काव्य हैं। नीलदेवी में यह कैसी करुण पुकार है—

कहाँ करुणानिधि केसव सोए?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए॥

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि भारतेंदुजी ने हिंदी-काव्य को केवल नए नए विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। दूसरी बात उनके संबंध मे ध्यान देने की यह है कि वे केवल "नरप्रकृति" के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनंतरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। अपने नाटको मे दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रखे हैं (जैसे सत्यहरिश्चद्र मे गंगा का वर्णन, चंद्रावली में यमुना का वर्णन) वे केवल परंपरा-पालन के रूप मे हैं। उनके भीतर उनका हृदय नहीं पाया जाता। वे केवल उपमा और उत्प्रेक्षा के चमत्कार के लिये लिखे जान पड़ते हैं। एक पंक्ति में कुछ अलग अलग वस्तुएँ और व्यापार हैं और दूसरी पंक्ति मे उपमा या उत्प्रेक्षा। कहीं कहीं तो यह अप्रस्तुत विधान तीन पंक्तियों तक चला चलता है।

अंत मे यह सूचित कर देना आवश्यक है कि गद्य को जिस परिमाण मे भारतेंदु ने नए नए विषयों और मार्गों की ओर लगाया उस परिमाण मे पद्य

को नहीं। उनकी अधिकांश कविता तो कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर गेय पदों के रूप में है जिनमे राधाकृष्ण की प्रेमलीला और विहार का वर्णन है। शृंगाररस के कवित्त-सवैयो का उल्लेख पुरानी धारा के अंतर्गत हो चुका है*। देशदशा, अतीत गौरव आदि पर उनकी कविताएँ या तो नाटको मे रखने के लिये लिखी गई अथवा विशेष अवसरो पर—जैसे प्रिंस आफ़ वेल्स (पीछे सम्राट् सप्तम एडवर्ड) का आगमन, मिस्र पर भारतीय सेना द्वारा ब्रिटिश सरकार की विजय—पढ़ने के लिये। ऐसी रचनाओ में राजभक्ति और देशभक्ति का मेल आजकल के लोगो को कुछ विलक्षण लग सकता है। देशदशा पर दो एक होली या बसंत आदि गाने की चीजे फुटकल भी मिलती हैं। पर उनकी कविताओ के विस्तृत संग्रह के भीतर आधुनिकता कम ही मिलेगी।

गाने की चीजो में भारतेंदु ने कुछ लावनियाँ और ख्याल भी लिखे जिनकी भाषा खड़ी वोली होती थी।

भारतेंदुजी स्वयं पद्यात्मक निबंधों की ओर प्रवृत्त नहीं हुए, पर उनके भक्त और अनुयायी पं० प्रतापनारायण मिश्र इस ओर बढ़े। उन्होंने देश-दशा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' ऐसे विषय भी कविता के लिये चुने। ऐसी कविताओ मे कुछ तो विचारणीय बातें हैं, कुछ भाव-व्यंजना और विचित्र विनोद। उनके कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी हैं जिनमे शिक्षितो के बीच प्रचलित बातें साधारण भाषण के रूप मे कही गई है। उदाहरण के लिये 'क्रंदन' की ये पंक्तियाँ देखिए—

तबहिं लख्यो जँह रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत॥
जहाँ कृषि वाणिज्य शिल्पसेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋन-भारन।
कहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥

---

* देखो पृ० ५८१।

इस प्रकार के इतिवृत्तात्मक पद्य भारतेंदुजी ने भी कुछ लिखे हैं। जैसे—

अँगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख़्वारी॥

मिश्रजी की विशेषता वास्तव मे उनकी हास्य-विनोदपूर्ण रचनाओ मे दिखाई पड़ती है। 'हरगंगा', 'तृप्यताम्', 'बुढ़ापा', इत्यादि कविताएँ बड़ी ही विनोदपूर्ण और मनोरंजक है। 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' वाली 'हिंदी की हिमायत' भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) ने अधिकतर विशेष विशेष अवसरो पर—जैसे, दादा भाई नौरोजी के पार्लामेंट के मेंबर होने के अवसर पर, महारानी विक्टोरिया की हीरक-जुबिली के अवसर पर, नागरी के कचहरियों मे प्रवेश पाने पर, प्रयाग के सनातन धर्म महासम्मेलन (सं० १९६३) के अवसर पर—आनंद आदि प्रकट करने के लिये कविताएँ लिखी हैं। भारतेंदु के समान नवीन विषयों के लिये ये भी प्रायः रोला छंद ही लेते थे। इनके छंदो मे यतिभग प्रायः मिलता है। एक बार जब इस विषय पर मैंने इनसे बातचीत की; तब इन्होने कहा—"मैं यतिभंग को कोई दोष नहीं मानता, पढ़नेवाला ठीक चाहिए।" देश की राजनीतिक परिस्थिति पर इनकी दृष्टि बराबर रहती थी। देश की दशा सुधारने के लिये जो राजनीतिक या धर्म-संबंधी आदोलन चलते रहे, उन्हे ये बडी उत्कंठा से परखा करते थे। जब कही कुछ सफलता दिखाई पड़ती, तब लेखों और कविताओ द्वारा हर्ष प्रकट करते; और जब बुरे लक्षण दिखाई देते, तब क्षोभ और खिन्नता। कांग्रेस के अधिवेशनो मे ये प्रायः जाते थे। 'हीरक-जुबिली' आदि की कविताओ को खुशामदी कविता न समझना चाहिए। उनमें ये देशदशा का सिंहावलोकन करते थे—और मार्मिकता के साथ।

विलायत मे दादाभाई नौरोजी के 'काले' कहे जाने पर इन्होने 'कारे' शब्द को लेकर बड़ी सरस और क्षोभपूर्ण कविता लिखी थी। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे॥

कारे काम, राम, जलधर जल-बरसनवारे।
कारे लागत ताही सो कारन कों प्यारे॥
यातें नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे।
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे॥

सफल होहिं मन के सबही संकल्प तुम्हारे।

हीरक-जुबिली के अवसर पर लिखे 'हार्दिक हर्षादर्श' मे देश की दशा का ही वर्णन है। जैसे—

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भए बीरबर सकल सुभट एकहि सँग गारत॥
मरे बिबुध नरनाह सकल चातुर गुनमंडित।
बिगरो जनसमुदाय बिना पथदर्शक पंडित॥
नए नए मत चले, नए झगरे नित बाढे।
नए नए दुख परे सीस भारत पै गाढे॥

'प्रेमघन' जी की कई बहुत ही प्राजल और सरस कविताएँ उनके दोनो नाटको मे है। "भारत-सौभाग्य" नाटक चाहे खेलने योग्य न हो, पर देश-दशा पर वैसा बडा, अनूठा और मनोरंजक नाटक दूसरा नहीं लिखा गया। उसके प्रारंभ के अंको मे 'सरस्वती', 'लक्ष्मी' और 'दुर्गा' इन तीनों देवियों के भारत से क्रमशः प्रस्थान का दृश्य बड़ा ही भव्य है। इसी प्रकार उक्त तीनो देवियो के मुँह से बिदा होते समय जो कविताएँ कहलाई गई है, वे भी बड़ी मार्मिक हैं। 'हंसारूढ़ा सरस्वती' के चले जाने पर 'दुर्गा' कहती है—

आजु लौं रही अनेक भाँति धीर धारि कै।
पै न भाव मोहि बैठनो सु मौन मारि कै।
जाति हौं चली वहीं सरस्वती गई जहाँ॥

उद्धृत कविताओं मे उनकी गद्यवाली चमत्कार-प्रवृत्ति नहीं दिखाई पडती। अधिकाश कविताएँ ऐसी ही हैं। पर कुछ कविताएँ उनकी ऐसी भी हैं - जैसे, 'मयंक' और 'आनंद-अरुणोदय'—जिनमें कहीं लंबे लंबे रूपक हैं और कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार।

यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंहजी अपनी कविता को नए विषयो की ओर नहीं ले गए, पर प्राचीन सस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनो का संस्कार मन में लिए हुए, प्रेमचर्य्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्यप्रदेश के रमणीय स्थलो को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिंदी-काव्य मे एक नूतन विधान का आभास दिया था। जिस समय हिंदी-साहित्य का अभ्युदय हुआ, उस समय संस्कृत-काव्य अपनी प्राचीन विशेषता बहुत कुछ खो चुका था, इससे वह उसके पिछले रूप को ही लेकर चला। प्रकृति का जो सूक्ष्म निरीक्षण वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति मे पाया जाता है, वह संस्कृत के पिछले कवियों मे नहीं रह गया। प्राचीन संस्कृत कवि प्राकृतिक दृश्यो के विधान में कई वस्तुओ की संश्लिष्ट योजना द्वारा 'बिंब-ग्रहण' कराने का प्रयत्न करते थे। इस कार्य्य को अच्छी तरह संपन्न करके तब वे इधर उधर उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा थोड़ा बहुत अप्रस्तुत वस्तु-विधान भी कर देते थे। पर पीछे मुक्तकों मे सूक्ष्म और संश्लिष्ट योजना के स्थान पर कुछ इनी-गिनी वस्तुओ को अलग अलग गिनाकर 'अर्थ-ग्रहण' कराने का प्रयत्न ही रह गया और प्रबंध-काव्यो के वर्णनो में उपमा और उत्प्रेक्षा की इतनी भरमार हो चली कि प्रस्तुत दृश्य गायब हो चला।[1]

यही पिछला विधान हमारे हिंदी-साहित्य मे आया। 'षट् ऋतु-वर्णन' मे प्राकृतिक वस्तुओ और व्यापारों का जो उल्लेख होता था, वह केवल 'उद्दीपन' की दृष्टि से—अर्थात् नायक या नायिका के प्रति पहले से प्रतिष्ठित भाव को और जगाने या उद्दीप्त करने के लिये। इस काम के लिये कुछ वस्तुओ का अलग अलग नाम ले लेना ही काफी होता है। स्वयं प्राकृतिक दृश्यो के प्रति कवि के भाव का पता देनेवाले वर्णन पुराने हिंदी काव्य में नहीं पाए जाते।

संस्कृत के प्राचीन कवियो की प्रणाली पर हिंदी-काव्य के संस्कार का जो संकेत ठाकुर साहब ने दिया, खेद है कि उसकी ओर किसी ने ध्यान न दिया। प्राकृतिक वर्णन की इस प्राचीन भारतीय प्रणाली के संबंध मे थोड़ा विचार

१—देखिए "माधुरी" (ज्येष्ठ, असाढ़ १९८०) में प्रकाशित मेरा "काव्य में प्राकृतिक दृश्य"।

करके हम आगे बढते हैं। प्राकृतिक दृश्यों की ओर यह प्यार भरी सूक्ष्म दृष्टि प्राचीन सस्कृत काव्य की एक ऐसी विशेषता है जो फारसी या अरबी के काव्य क्षेत्र में नहीं पाई जाती। योरप के कवियो में जाकर ही यह मिलती है। अँगरेजी साहित्य मे वर्ड्सवर्थ, शेली और मेरडिथ (Wordsworth, Shelley, Meredith) आदि मे उसी ढग का सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और मनोरम रूप-विधान पाया जाता है जैसा प्राचीन संस्कृत-साहित्य में। प्राचीन भारतीय और नवीन यूरोपीय दृश्य विधान मे पीछे थोडा लक्ष्य-भेद हो गया। भारतीय प्रणाली मे कवि के भाव का आलंबन प्रकृति ही रही, अतः उसके रूप का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य का एक स्वतत्र लक्ष्य दिखाई पड़ता है। पर यूरोपीय साहित्य मे काव्य-निरूपण की बराबर बढ़ती हुई परपरा के बीच धीरे धीरे यह मत प्रचार पाने लगा कि "प्राकृतिक दृश्यो का प्रत्यक्षीकरण मात्र तो स्थूल व्यवसाय है; उनको लेकर कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करना ही कवि-कर्म है"।

उस प्रवृत्ति के अनुसार कुछ पाश्चात्य कवियो ने तो प्रकृति के नाना रूपो के बीच व्यजित होनेवाली भावधारा का बहुत सुदर उद्घाटन किया, पर बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओ का आरोप करके उन रूपो को अपनी अत-र्वृत्तियों से छोपने लगे। अब इन दोनो प्रणालियो मे से किस प्रणाली पर हमारे काव्य में दृश्य-वर्णन का विकास होना चाहिए, यह विचारणीय है। मेरे विचार मे प्रथम प्रणाली का अनुसरण ही समीचीन है। अनत रूपों से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओ का अनंत प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयों को उसके भीतर नाना भावो की व्यजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावों की सचमुच व्यजना कर रहे हैं, उन्हे छोड़ अपने परिमित अंतःकोटर की वासनाओं से उन्हें छोपना एक झूटे खेलवाड़ के ही अतर्गत होगा। यह बात मैं स्वतंत्र दृश्य-विधान के सबध मे कह रहा हूँ जिसमे दृश्य ही प्रस्तुत विषय होता है। जहाँ किसी पूर्व प्रतिष्ठित भाव की प्रबलता व्यजित करने के लिये ही प्रकृति के क्षेत्र से वस्तु-व्यापार लिए जायँगे, वहाँ तो वे उस भाव में रँगे दिखाई ही देगे। पद्माकर की विरहिणी का यह कहना कि "किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की डारन पै डोलत अँगारन के पुज हैं" ठीक ही है। पर बराबर इसी रूप में प्रकृति को देखना दृष्टि को

संकुचित करना है। अपने ही सुख-दुःख के रंग में रँगकर प्रकृति को देखा तो क्या देखा? मनुष्य ही सब कुछ नहीं है। प्रकृति का अपना रूप भी है।

पं० अंबिकादत्त व्यास ने नए नए विषयों पर भी कुछ फुटकल कविताएँ रची हैं जो पुरानी पत्रिकाओं मे निकली हैं। एक बार उन्होने कुछ बेतुके पद्य भी आजमाइश के लिये बनाए थे, पर इस प्रयत्न मे उन्हें सफलता नहीं दिखाई पड़ी थी, क्योंकि उन्होने हिंदी का कोई प्रचलित छंद लिया था।

भारतेंदु के सहयोगियो की बात यहीं समाप्त कर अब हम उन लोगों की ओर आते हैं जो उनकी मृत्यु के उपरांत मैदान मे आए और जिन्होने काव्य की भाषा और शैली मे भी कुछ परिवर्त्तन उपस्थित किया। भारतेंदु के सहयोगी लेखक यद्यपि देशकाल के अनुकूल नए नए विषयो की ओर प्रवृत्त हुए, पर भाषा उन्होने परंपरा से चली आती हुई व्रजभाषा ही रखी और छंद भी वे ही लिए जो व्रजभाषा में प्रचलित थे। पर भारतेंदु के गोलोकवास के थोड़े ही दिन पीछे भाषा के संबंध मे नए विचार उठने लगे। लोगों ने देखा कि हिंदी-गद्य की भाषा तो खड़ी बोली हो गई और उसमे साहित्य भी बहुत कुछ प्रस्तुत हो चुका, पर कविता की भाषा अभी व्रजभाषा ही बनी है। गद्य एक भाषा मे लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा मे, यह बात खटक चली। इसकी कुछ चर्चा भारतेंदु के समय में ही उठी थी, जिसके प्रभाव से उन्होने "दशरथ विलाप" नाम की एक कविता खड़ी बोली मे (फारसी छंद मे) लिखी थी। कविता इस ढंग की थी—

> कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे। किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे।
> बुढापे में ये दुख भी देखना था। इसी के देखने को मैं बचा था॥

यह कविता राजा शिवप्रसाद को बहुत पसंद आई थी और इसे इन्होने अपने 'गुटका' मे दाखिल किया था।

खड़ी बोली मे पद्य-रचना एकदम कोई नई बात नहीं थी। नामदेव और कबीर की रचना में हम खड़ी बोली का पूरा स्वरूप दिखा आए हैं और यह सूचित कर चुके हैं कि उसका व्यवहार अधिकतर सधुक्कड़ी भाषा के भीतर हुआ करता था। शिष्ट साहित्य के भीतर परंपरागत काव्य-भाषा व्रजभाषा का

ही चलन रहा। इंशा ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' मे कुछ ठेठ खड़ी बोली के पद्य भी उर्दू छंदों में रखे। उसी समय में प्रसिद्ध कृष्णभक्त नागरीदास हुए। नागरीदास तथा उनके पीछे होनेवाले कुछ कृष्णभक्तो मे इश्क की फारसी पदावली और गजलबाजी का शौक दिखाई पड़ा। नागरीदास के 'इश्क चमन' का एक दोहा है—

कोइ न पहुँचा वहाँ तक आसिक नाम अनेक।
इश्क-चमन के बीच में आया मजनूँ एक॥

पीछे नजीर अकबराबादी ने (जन्म-सवत् १७९७, मृत्यु १८७७) कृष्ण-लीला-संबधी बहुत से पद्य हिंदी-खड़ी बोली में लिखे। वे एक मनमौजी सूफी भक्त थे। उनके पद्यों के नमूने देखिए—

यारो सुनो य दधि के लुटैया का बालपन।
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन॥
मोहन-सरूप नृत्य करैया का बालपन।
वन बन में ग्वाल गौवें चरैया का बालपन॥
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥
परदे में बालपन के ये उनके मिलाप थे।
जोती-सरूप कहिए जिन्हे सो वो आप थे॥

वाँ कृष्ण मदनमोहन ने जब जब ग्वालों से यह बात कही।
औ आपी से झट गेंद डंडा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नंदललन मनमोहन जसुमत-दैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

लखनऊ के शाह कुंदनलाल और फुंदनलाल 'ललितकिशोरी' और 'ललित-माधुरी, नाम से प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त हुए हैं जिनका रचनाकाल सवत् १९१३ और १९३० के बीच समझना चाहिए। उन्होने और कृष्णभक्तों के समान ब्रजभाषा

के अनेक पद तो बनाए ही हैं, खड़ी बोली में कई झूलना छंद भी लिखे हैं, जैसे—

जंगल में अब रमते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुष-गंध न भाती है, सँग मरकट मोर सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
'ललित किशोरी' इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

इसके उपरांत ही लावनीबाजो का समय आता है। कहते हैं कि मिरजापुर के तुकनगिरि गोसाइं ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश के लिये लावनी की लय चलाई। लावनी की बोली खड़ी बोली रहती थी। तुकनगिरि के दो शिष्य रिसालगिरि और देवीसिंह प्रसिद्ध लावनीबाज हुए, जिनके आगे चलकर दो परस्पर प्रतिद्वंद्वी अखाड़े हो गए। रिसालगिरि का ढग 'तुर्रा' कहलाया जिसमे अधिकतर ब्रह्मज्ञान रहता था। देवीसिंह का बाना 'सखी का बाना' और उनका ढंग 'कलगी' कहलाया जो भक्ति और प्रेम लेकर चलता था। लावनीबाजो मे काशीगिरि उपनाम 'बनारसी' का बड़ा नाम हुआ। लावनियों मे पीछे उर्दू के छंद अधिकतर लिए जाने लगे। 'ख्याल' को भी लावनी के ही अंतर्गत समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कुछ पिछले कवि भी, जैसा कि हम दिखा आए हैं, इधर उधर खड़ी बोली के दो-चार कवित्त-सवैये रच दिया करते थे। इधर लावनीबाज और ख्यालबाज भी अपने ढंग पर कुछ ठेठ हिंदी मे गाया करते थे। इस प्रकार खड़ी बोली की तीन छंद-प्रणालियाँ उस समय लोगों के सामने थी जिस समय भारतेंदुजी के पीछे कविता की भाषा का सवाल लोगो के सामने आया—हिंदी के कवित्त-सवैया की प्रणाली, उर्दू छंदो की प्रणाली और लावनी का ढंग। सं० १९४३ में पं० श्रीधर पाठक ने इसी पिछले ढंग पर "एकांतवासी योगी" खड़ी बोली-पद्य मे निकाला। इसकी भाषा अधिकतर बोलचाल की और सरल थी। नमूना देखिए—

आज़ रात इससे परदेशी चल कीजे विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण, संकोच नहीं॥

तृण-शय्या औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आशीर्वाद॥
\+ + + +
प्रानपियारे की गुन-गाथा, साधु ? कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नही वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥

इसके पीछे तो "खड़ी बोली" के लिये एक आंदोलन ही खड़ा हुआ। मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ी बोली का झंडा लेकर उठे। संवत् १९४५ मे उन्होने 'खड़ी बोली आदोलन' की एक पुस्तक छपाई जिसमे उन्होंने बड़े जोर शोर से यह राय जाहिर की कि अब तक जो कविता हुई, वह तो ब्रजभाषा की थी, हिंदी की नहीं। हिंदी में भी कविता हो सकती है। वे भाषातत्त्व के जानकार न थे। उनकी समझ में खड़ी बोली ही हिंदी थी। अपनी पुस्तक में उन्होंने खडी बोली-पद्य की चार स्टाइलें कायम की थीं—जैसे, मौलवी-स्टाइल, मुंशी स्टाइल, पंडित स्टाइल, मास्टर स्टाइल। उनकी पोथी मे और पद्यों के साथ पाठकजी का "एकांतवासी योगी" भी दर्ज हुआ। और कई लोगों से अनुरोध करके उन्होने खड़ी बोली की कविताएँ लिखाईं। चंपारन के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् और वैद्य पं० चंद्रशेखरधर मिश्र, जो भारतेंदु जी के मित्रो मे थे, संस्कृत के अतिरिक्त हिंदी मे भी बड़ी सुदर और आशु कविता करते हैं। मैं समझता हूँ कि हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल मे संस्कृत-वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य पहले-पहल मिश्रजी ने ही लिखे। बाबू अयोध्याप्रसादजी उनके पास भी पहुँचे और कहने लगे - "लोग कहते है कि खड़ी बोली मे अच्छी कविता नही हो सकती। क्या आप भी यही कहते है ? यदि नही, तो मेरी सहायता कीजिए।" उक्त पडितजी ने कुछ कविता लिखकर उन्हें दी, जिसे उन्होंने अपनी पोथी मे शामिल किया। इसी प्रकार खडी बोली के पक्ष मे जो राय मिलती, वह भी उसी पोथी मे दर्ज होती जाती थी। धीरे धीरे एक बडा पोथा हो गया जिसे बगल मे दबाए वे जहाँ कहीं हिंदी के संबंध मे सभा होती, जा पहुँचते। यदि बोलने का अवसर न मिलता या कम मिलता तो वे बिगड़कर चल देते थे।

काव्य खंड

नई धारा

द्वितीय उत्थान

(संवत् १९५०—१९७५)

पं० श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी' का उल्लेख खड़ी बोली की कविता के आरंभ के प्रसंग में प्रथम उत्थान के अंतर्गत हो चुका है। उसकी सीधी-सादी खड़ी बोली और जनता के बीच प्रचलित लय ही ध्यान देने योग्य नहीं है, किंतु उसकी कथा की सार्वभौम मार्मिकता भी ध्यान देने योग्य है। किसी के प्रेम मे योगी होना और प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी छाकर रहना एक ऐसी भावना है जो समान रूप से सब देशो के और सब श्रेणियो के स्त्री-पुरुषों के मर्म का स्पर्श स्वभावतः करती आ रही है। सीधी-सादी खड़ी बोली मे अनुवाद करने के लिये ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियो तक के गीतो की मार्मिकता के मेल मे हो, पंडितो की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है। भारतीय हृदय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिये पुराने परिचित ग्राम-गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है; केवल पडितो द्वारा प्रवर्तित काव्य-परपरा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है।

पंडितों की बाँधी प्रणाली पर चलनेवाली काव्यधारा के साथ साथ सामान्य अपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छंद और प्राकृतिक भावधारा भी गीतो के रूप मे चलती रहती है—ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य भाषा के साथ साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पडितो की काव्य-भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर

आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य-परपरा में नया जीवन डालता है। प्राकृत के पुराने रूपो से लदी अपभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी तब शिष्ट काव्य प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका। यही प्राकृतिक नियम काव्य के स्वरूप के सबध मे भी अटल समझना चाहिए। जब जब शिष्टो का काव्य पडितो द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और सकुचित होगा तब तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।

यह भावधारा अपने साथ हमारे चिर-परिचित पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, जगल-मैदानो आदि को भी समेटे चलती है। देश के स्वरूप के साथ यह सबद्ध चलती है। एक गीत में कोई ग्रामवधू अपने वियोग काल की दीर्घता की व्यंजना अपने चिर-परिचित प्रकृति-व्यापार द्वारा इस भोले ढंग से करती है—

"जो नीम का प्यारा पौधा प्रिय अपने हाथ से द्वार पर लगा गया वह बडा होकर फूला और उसके फूल झड़ भी गए, पर प्रिय न आया।"

इस भावधारा की अभिव्यजन-प्रणालियाँ वे ही होती हैं जिन पर जनता का हृदय इस जीवन में अपने भाव स्वभावतः ढालता आता है। हमारी भाव-प्रवर्त्तिनी शक्ति का असली भडार इसी स्वाभाविक भावधारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पडितो की काव्यधारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पडकर रूढ़ हो जाती है तब वह कृत्रिम होने लगती है और उसकी शक्ति भी क्षीण होने लगती है। ऐसी परिस्थिति में इसी भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के ढलाव की नाना अंतर्भूमियो को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामजस्य के रूप मे हो, अध प्रतिक्रिया के रूप मे नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्त्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता (True Romanticism) कहना चाहिए, क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।

इँगलैंड के जिस 'स्वच्छंदतावाद' (Romanticism) का इधर हिंदी मे भी बराबर नाम लिया जाने लगा है उसके प्रारंभिक उत्थान के भीतर परिवर्त्तन के मूल प्राकृतिक आधार का स्पष्ट आभास रहा। पीछे कवियो की व्यक्तिगत, विद्यागत और बुद्धिगत प्रवृत्तियो और विशेषताओं के—जैसे, रहस्यात्मकता, दार्शनिकता, स्वातंत्र्यभावना, कलावाद आदि के—अधिक प्रदर्शन से वह कुछ ढँक सा गया। काव्य को पांडित्य की विदेशी रूढ़ियो से मुक्त और स्वच्छंद काउपर (Cowper) ने किया था, पर स्वच्छंद होकर जनता के हृदय में संचरण करने की शक्ति वह कहाँ से प्राप्त करे, यह स्काटलैंड के एक किसानी झोपड़ो मे रहनेवाले कवि बर्न्स (Burns) ने ही दिखाया था। उसने अपने देश के परंपरागत प्रचलित गीतो की मार्मिकता परखकर देशभाषा में रचनाएँ कीं, जिन्होने वहाँ के सारे जनसमाज के हृदय में अपना घर किया। स्काट (Walter Scott) ने भी देश की अंतर्व्यापिनी भावधारा से शक्ति लेकर साहित्य को अनुप्राणित किया था।

जिस परिस्थिति मे अँगरेजी-साहित्य मे स्वच्छंदतावाद का विकास हुआ उसे भी देखकर यह समझ लेना चाहिए कि रीतिकाल के अंत मे, या भारतेंदु-काल के अंत में हिंदी-काव्य की जो परिस्थिति थी वह कहाँ तक इँगलैंड की परिस्थिति के अनुरूप थी। सारे यूरोप मे बहुत दिनों तक पंडितो और विद्वानों के लिखने-पढ़ने की भाषा लैटिन (प्राचीन रोमियो की भाषा) रही। फरॉसीसियो के प्रभाव से इँगलैंड की काव्यरचना भी लैटिन की प्राचीन रूढ़ियों से जकड़ी जाने लगी। उस भाषा के काव्यों की सारी पद्धतियो का अनुसरण होने लगा। बँधी हुई अलंकृत पदावली, वस्तु-वर्णन की रूढ़ियाँ, छंदों की व्यवस्था सब ज्यों की त्यों रखी जाने लगी। इस प्रकार अँगरेजी काव्य, विदेशी काव्य और साहित्य की रूढ़ियों से इतना आच्छन्न हो गया कि वह देश की परंपरागत स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न सा हो गया। काउपर, क्रैब और बर्न्स ने काव्यधारा को साधारण जनता की नादरुचि के अनुकूल नाना मधुर लयो मे तथा लोक-हृदय के ढलाव की नाना मार्मिक अंतर्भूमियो मे स्वच्छंतापूर्वक ढाला। अँगरेजी साहित्य के भीतर काव्य का यह स्वच्छंद रूप पूर्व रूप से बहुत अलग दिखाई पड़ा। बात यह थी कि लैटिन (जिसके साहित्य का निर्माण बहुत कुछ यवनानी

ढाँचे पर हुआ था) इँगलैंड के लिये दूर देश की भाषा थी अतः उसका साहित्य भी वहाँ के निवासियो के अपने चिर सचित सस्कार और भाव्य-व्यंजन पद्धति से दूर पड़ता था।

पर हमारे साहित्य मे रीति-काल की जो रूढ़िया हैं वे किसी और देश की नहीं; उनका विकास इसी देश के साहित्य के भीतर सस्कृत मे हुआ है। सस्कृत काव्य और उसी के अनुकरण पर रचित प्राकृत-अपभ्रश काव्य भी हमारा ही पुराना काव्य है, पर पंडितो और विद्वानो द्वारा रूपग्रहण करते रहने और कुछ बँध जाने के कारण जनसाधारण की भावमयी वाग्धारा से कुछ हटा सा लगता है। पर एक ही देश और एक ही जाति के बीच आविर्भूत होने के कारण दोनों मे कोई मौलिक पार्थक्य नहीं। अतः हमारे वर्त्तमान काव्यक्षेत्र मे यदि अनुभूति की स्वच्छदता की धारा प्रकृत पद्धति पर अर्थात् परपरा मे चले आते हुए मौखिक गीतो के मर्मस्थल से शक्ति लेकर चलने पाती तो वह अपनी ही काव्यपरपरा होती—अधिक सजीव और स्वच्छंद की हुई।

रीति-काल के भीतर हम दिखा चुके हैं कि किस प्रकार रसो और अलकारो के उदाहरणों के रूप मे रचना होने से और कुछ छंदो की परिपाटी बँध जाने से हिंदी-कविता जकड़ सी उठी थी। हरिश्चद्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नए नए विषयो की ओर मोडने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा व्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यजना के ढग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छदता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छंदता का आभास पहले पहल प० श्रीधर पाठक ने ही दिया। उन्होने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपो तक ही न रहकर अपनी आँखों से भी उसके रूपो को देखा। 'गुनवंत हेमत' में वे गाँवों मे उपजानेवाली मूली-मटर ऐसी वस्तुओ को भी प्रेम से सामने लाए जो परंपरागत ऋतु-वर्णनो के भीतर नहीं दिखाई पड़ती थी। इसके लिये उन्हे पं० माधवप्रसाद मिश्र की बौछार भो सहनी पडी थी। उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिये सुदर लय और चढ़ाव उतार के कई नए ढाँचे भी निकाले और इस बात का ध्यान रखा कि छंदो का सुंदर लय से पढना एक बात है, राग-रागिनी गाना दूसरी बात। ख्याल या लावनी की लय पर जैसे 'एकातवासी योगी' लिखा गया वैसे ही सुथरे-साइँयो के सधुक्कड़ी ढंग पर 'जगत-सचाई-सार',

जिसमें कहा गया कि 'जगत है सच्चा, तनिक न कच्चा, समझो बच्चा! इसका भेद'। 'स्वर्गीय वीणा' में उन्होने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण सङ्केत किया जिसके ताल सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है। इन सब बातो का विचार करने पर पं० श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद (Romanticism) के प्रवर्त्तक ठहरते है।

खेद है कि सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का यह मार्ग हमारे काव्यक्षेत्र के बीच चल न पाया। बात यह है कि उसी समय पिछले संस्कृत-काव्य के संस्कारो के साथ प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी हिंदी साहित्य-क्षेत्र में आए जिनका प्रभाव गद्यसाहित्य और काव्य-निर्माण दोनों पर बहुत ही व्यापक पडा। हिंदी मे परंपरा से व्यवहृत छंदो के स्थान पर संस्कृत के वृत्तों का चलन हुआ, जिसके कारण संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा। भक्तिकाल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले संस्कृत-साहित्य की पद्धति की ओर लोगों का ध्यान बँटा। द्विवेदीजी 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा बराबर कविता में बोलचाल की सीधी सादी भाषा का आग्रह करते रहे जिससे इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) पद्यो का खड़ी बोली मे ढेर लगने लगा। यह तो हुई द्वितीय उत्थान के भीतर की बात।

आगे चलकर तृतीय उत्थान मे उक्त परिस्थिति के कारण जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई वह स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर न बढ़ने पाई। बीच मे रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' की धूम उठ जाने के कारण नवीनता-प्रदर्शन के इच्छुक नए कवियों मे से कुछ लोग तो बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं की रूपरेखा लाने में लगे, कुछ लोग पाश्चात्य काव्य-पद्धति को 'विश्व-साहित्य' का लक्षण समझ उसके अनुसरण मे तत्पर हुए। परिणाम यह हुआ कि अपने यहाँ के रीतिकाल की रूढ़ियो और द्वितीय उत्थान की इतिवृत्तात्मकता से छूटकर बहुत सी हिंदी-कविता विदेश की अनुकृत रूढ़ियों और वादों मे जा फँसी। इने गिने नए कवि ही स्वच्छंदता के स्वाभाविक पथ पर चले।

"एकांतवासी योगी" के बहुत दिनो पीछे पं० श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली मे और भी रचनाएँ कीं। खड़ी बोली की इनकी दूसरी पुस्तक "श्रांत पथिक"

(गोल्ड-स्मिथ के Traveller का अनुवाद) निकली। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली में फुटकल कविताएँ भी पाठकजी ने बहुत सी लिखीं। मन की मौज के अनुसार कभी कभी तो एक ही विषय के वर्णन मे दोनो बोलियो के पद्य रख देते थे। खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों मे ये बराबर कविता करते रहे। 'ऊजड़ ग्राम' (Deserted Village) इन्होंने ब्रजभाषा में ही लिखा। अँगरेजी और संस्कृत दोनो के काव्य साहित्य का अच्छा परिचय रखने के कारण हिंदी कवियों में पाठकजी की रुचि बहुत ही परिष्कृत थी। शब्दशोधन मे तो पाठकजी अद्वितीय थे। जैसी चलती और रसीली इनकी ब्रजभाषा होती थी, वैसा ही कोमल और मधुर सस्कृत पद-विन्यास भी। ये वास्तव मे एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचिसंपन्न कवि थे। भद्दापन इनमे न था—न रूप रग मे, न भाषा में, न भाव में, न चाल मे, न भाषण में।

इनकी प्रतिभा बराबर रचना के नए नए मार्ग भी निकाला करती थी। छद, पदविन्यास, वाक्यविन्यास आदि के संबंध मे नई नई बंदिशे इन्हे खूब सूझा करती थीं। अपनी रुचि के अनुसार कई नए ढाँचे के छंद इन्होने निकाले, जो पढ़ने मे बहुत ही मधुर लय पर चलते थे। यह छंद देखिए—

> नाना कृपान निज पानि लिए, वपु नील वसन परिधान किए,
> गंभीर घोर अभिमान हिए, छकि पारिजात-मधुपान किए,
> छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत, पलपल पर आकृति-कोर झुकावत।
> यह मोर नचावत, सोर मचावत, स्वेत स्वेत बगपाँति उड़ावत ॥
> नंदन प्रसून-मकरंद-बिंदु-मिश्रित समीर बिनु धीर चलावत।

अत्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समाप्त होनेवाले गद्य के-से लंबे वाक्यो के छंद भी (जैसे अँगरेजी मे होते हैं) इन्होने लिखे है। 'सांध्य-अटन' का यह छंद देखिए—

> विजन वन-प्रांत था; प्रकृतिमुख शांत था,
> अटन का समय था, रजनि का उदय था।
> प्रसव के काल की लालिमा में लसा
> बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा।

सद्य-उत्फुल्ल-अरविंद-निभ नील सुवि-
शाल नभवक्ष पर जा रहा था चढ़ा ॥

विश्व-संचालक परोक्ष संगीत ध्वनि की ओर रहस्यपूर्ण संकेत 'स्वर्गीय वीणा' की इन पंक्तियों में देखिए—

कहीं पै स्वर्गीय कोइ बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
कोई पुरंदर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुंदरी है।
वियोग तप्ता सी भोगमुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है।
दया है, दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है॥
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं बदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्मांड भर को मानो दो उँगलियों पर नचा रही है॥

यह कह आए है कि खड़ी बोली की पहली पुस्तक 'एकातवासी योगी'' इन्होंने लावनी या ख्याल के ढंग पर लिखी थी। पीछे खड़ी बोली को हिंदी के प्रचलित छदो मे ले आए। 'श्रात पथिक' की रचना इन्होंने रोला मे की। इसके आगे भी ये बढ़े, और यह दिखा दिया कि सवैये मे भी खड़ी बोली कैसी मधुरता के साथ ढल सकती है—

इस भारत में बन पावन तू ही तपस्वियों का तप आश्रम था।
जगतत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा बनवास की थी तब और; प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

पाठकजी कविता के लिये हर एक विषय ले लेते थे। समाज-सुधार के वे बड़े आकांक्षी थे; इससे विधवाओं की वेदना, शिक्षा-प्रचार ऐसे ऐसे विषय भी उनकी कलम के नीचे आया करते थे। विषयो को काव्य का पूरा पूरा स्वरूप देने मे चाहे वे सफल न हुए हो, अभिव्यजना के वाग्वैचित्र्य की ओर उनका ध्यान चाहे न रहा हो; गभीर नूतन विचार-धारा चाहे उनकी कविताओं के भीतर कम मिलती हो, पर उनकी वाणी मे कुछ ऐसा प्रसाद था कि जो बात

उसके द्वारा प्रकट की जाती थीं, उसमे सरसता आ जाती थी। अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन पाठकजी ने सबसे अधिक किया, इससे हिंदी-प्रेमियो मे वे प्रकृति के उपासक कहे जाते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उनकी वह उपासना प्रकृति के उन्हीं रूपों तक परिमित थी जो मनुष्य को सुखदायक और आनदप्रद होते हैं, या जो भव्य और सुदर होते हैं। प्रकृति के सीधे सादे, नित्य आँखों के सामने आनेवाले, देश के परपरागत जीवन से सबंध रखनेवाले दृश्यो की मधुरता की ओर उनकी दृष्टि कम रहती थी।

प० श्रीधर पाठक का जन्म सवत् १९३३ मे और मृत्यु सं० १९८५ में हुई।

भारतेंदु के पीछे और द्वितीय उत्थान के पहले ही हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि **पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय (हरिऔध)** नए विषयो की ओर चल पड़े थे। खड़ी बोली के लिये उन्होंने पहले उर्दू के छंदो और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा, क्योकि उर्दू के छदों मे खड़ी बोली अच्छी तरह मँज चुकी थी। सवत् १९५७ के पहले ही वे बहुत सी फुटकल रचनाएँ इस उर्दू ढग पर कर चुके थे। नागरीप्रचारिणी सभा के गृहप्रवेशोत्सव के समय सं० १९५७ में उन्होने जो कविता पढ़ी थी, उसके ये चरण मुझे अब तक याद है—

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पडा मैदान कोसों का अभी॥
मौलवी ऐसा न होगा एक भी।
खूब उर्दू जो न होवे जानता॥

इसके उपरात तो वे बराबर इसी ढंग की कविता करते रहे। जब पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के प्रभाव से खड़ी बोली ने संस्कृत छंदों और सस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया, तब उपाध्यायजी—जो गद्य मे अपनी भाषा सबंधिनी पटुता उसे दो हदों पर पहुँचाकर दिखा चुके थे— उस शैली की ओर भी बढ़े और सवत् १९७१ मे उन्होने अपना 'प्रिय-प्रवास' नामक बहुत बड़ा काव्य प्रकाशित किया।

नवशिक्षितो के ससर्ग से उपाध्यायजी ने लोक-सग्रह का भाव अधिक

ग्रहण किया है। उक्त काव्य मे श्रीकृष्ण व्रज के रक्षक नेता के रूप मे अंकित किए गए है। खड़ी बोली मे इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह सारा संस्कृत के वर्णवृत्तो मे है जिसमें अधिक परिमाण मे रचना करना कठिन काम है। उपाध्यायजी का संस्कृत पद-विन्यास अनेक उपसर्गों से लदा तथा 'मंजु', 'मंजुल', 'पेशल' आदि से बीच बीच मे जटित अर्थात् चुना हुआ होता है। द्विवेदीजी और उनके अनुयायी कवि-वर्ग की रचनाओ से उपाध्याय जी की रचना इस बात मे साफ अलग दिखाई पड़ती है। उपाध्यायजी कोमलकांत पदावली को कविता का सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ समझते हैं। यद्यपि द्विवेदीजी अपने अनुयायियो के सहित जब इस संस्कृतवृत्त के मार्ग पर बहुत दूर तक चल चुके थे, तब उपाध्यायजी उसपर आए, पर वे बिल्कुल अपने ढंग पर चले। किसी प्रकार की रचना को हद पर—चाहे उस हद तक जाना अधिकतर लोगों को इष्ट न हो—पहुँचाकर दिखाने की प्रवृत्ति के अनुसार उपाध्यायजी ने अपने इस काव्य मे कई जगह संस्कृत शब्दो की ऐसी लंबी लड़ी बाँधी है कि हिंदी को 'है', 'था', 'किया', 'दिया' ऐसी दो-एक क्रियाओ के भीतर ही सिमटकर रह जाना पड़ा है। पर सर्वत्र यह बात नहीं है। अधिकतर पदो मे बड़े ढंग से हिंदी अपनी चाल पर चली चलती दिखाई पड़ती है।

यह काव्य अधिकतर भाव-व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है। कृष्ण के चले जाने पर व्रज की दशा का वर्णन बहुत अच्छा है। विरह-वेदना से क्षुब्ध वचनावली प्रेम की अनेक अंतर्दशाओ की व्यंजना करती हुई बहुत दूर तक चली चलती है। जैसा कि इनके नाम से प्रकट है, इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये भी अपर्याप्त है। अतः प्रबंध-काव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते? किसी के वियोग मे कैसी कैसी बातें मन मे उठती हैं और क्या क्या कहकर लोग रोते है, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है। परंपरा-पालन के लिये जो दृश्य-वर्णन हैं वे किसी बगीचे में लगे हुए पेड़-पौधों के नाम गिनाने के समान है। इसी से शायद करील का नाम छूट गया।

दो प्रकार के नमूने उद्धृत करके हम आगे बढ़ते हैं—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेंदु-बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य-सन्मूर्ति थी॥

धीरे धीरे दिन गत हुआ; पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा बार आया॥
यों ही बीती विपुल घटिका औ कई बार बीते।
आया न कोई मधुपुर से औ न गोपाल आए।

इस काव्य के उपरात उपाध्यायजी का ध्यान फिर बोलचाल की ओर गया। इस बार उनका मुहावरों पर अधिक जोर रहा। बोलचाल की भाषा में अनेक फुटकल विषयों पर कविताएँ रचीं जिनकी प्रत्येक पंक्ति में कोई न कोई मुहावरा अवश्य खपाया गया। ऐसी कविताओ का संग्रह 'चोखे चौपदे' (स० १९८९) में निकला। 'पद्यप्रसून' (१९८२) मे भाषा दोनों प्रकार की है—बोलचाल की भी और साहित्यिक भी। मुहावरों के नमूने के लिये 'चोखे चौपदे' का एक पद्य दिया जाता है—

क्यों पले पीस कर किसी को तू?
है बहुत पालिसी बुरी तेरी।
हम रहे चाहते पटाना ही;
पेट तुमसे पटी नहीं मेरी॥

भाषा के दोनो नमूने ऊपर हैं। यही द्विकलात्मक कला उपाध्यायजी की बड़ी विशेषता है। इससे शब्द-भडार पर इनका विस्तृत अधिकार प्रकट होता है। इनका एक और बड़ा काव्य, वैदेही-वनवास'[1], जिसे ये बहुत दिनों से लिखते चले आ रहे थे, अब छप रहा है।[2]

१—यह संवत् १९९७ में प्रकाशित हो गया। २—उपाध्यायजी गत हो गए।

इस द्वितीय उत्थान के आरंभ-काल में हम **पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी** को पद्य-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्त्तक के रूप मे पाते हैं। गद्य पर जो शुभ प्रभाव द्विवेदीजी का पड़ा, उसका उल्लेख गद्य के प्रकरण में हो चुका है[1]। खड़ी बोली के पद्य-विधान पर भी आपका पूरा पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत कुछ सफाई आई। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग व्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। 'सरस्वती' के संपादन-काल मे उनकी प्रेरणा से बहुत से नए लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओ की भाषा आदि दुरुस्त करके वे 'सरस्वती' में दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे धीरे बहुत से कवियो की भाषा साफ हो गई। उन्हीं नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया।

यह तो हुई भाषा-परिष्कार की बात। अब उन्होने पद्य-रचना की जो प्रणाली स्थिर की, उसके संबंध मे भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। द्विवेदी-जी कुछ दिनो तक बंबई की ओर रहे थे जहाँ मराठी के साहित्य से उनका परिचय हुआ। उसके साहित्य का प्रभाव उन पर बहुत कुछ पड़ा। मराठी कविता मे अधिकतर संस्कृत के वृत्तो का व्यवहार होता है। पद-विन्यास भी प्रायः गद्य का-सा ही रहता है। बंगभाषा की-सी 'कोमलकांत-पदावली' उसमे नही पाई जाती। इसी मराठी के नमूने पर द्विवेदीजी ने हिंदी मे पद्य-रचना शुरू की। पहले तो उन्होने व्रजभाषा का ही अवलंबन किया। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित 'नागरी तेरी यह दशा!' और रघुवंश का कुछ आधार लेकर रचित 'अयोध्या का विलाप' नाम की उनकी कविताएँ संस्कृत वृत्तो मे पर व्रजभाषा मे ही लिखी गई थीं। जैसे—

श्रीयुक्त नागरि निहारि दशा तिहारी।
होवै विषाद मन माहिं अतीव भारी॥

प्राकार जासु नभ-मंडल में समाने।
प्राचीर जासु लखि लोकप हू सकाने॥
जाकी समस्त सुनि संपति की कहानी।
नीचे नवाय सिर देवपुरी लजानी॥

इधर आधुनिक काल में ब्रजभाषा-पद्य के लिये संस्कृत वृत्तों का व्यवहार पहले-पहल स्वर्गीय पं० सरयूप्रसाद मिश्र ने रघुवंश महाकाव्य के अपने 'पद्य-बद्ध भाषानुवाद' में किया था जिसका प्रारंभिक अंश भारतेंदु की "कवि वचन-सुधा" में प्रकाशित हुआ था। पूरा अनुवाद बहुत दिनों पीछे संवत् १९६८ में पुस्तकाकार छपा। द्विवेदीजी ने आगे चलकर ब्रजभाषा एकदम छोड़ ही दी और खड़ी बोली मे ही काव्य-रचना करने लगे।

मराठी का सस्कार तो था ही, पीछे जान पड़ता है, उनके मन में वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth)का वह पुरना सिद्धांत भी कुछ जम गया था कि "गद्य और पद्य का पद-विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए।" पर यह प्रसिद्ध बात है कि वर्ड्स्वर्थ का वह सिद्धात असंगत सिद्ध हुआ था और वह अपनी उत्कृष्ट कविताओं मे उसका पालन न कर सका था। द्विवेदीजी ने भी बराबर उक्त सिद्धांत के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविताओं के बीच-बीच मे सानुप्रास कोमल पदावली का व्यवहार उन्होने किया है। जैसे—

सुरम्यरूपे, रसराशि-रंजिते,
विचित्र-वर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानंदविधायिनी महा
कवींद्रकांते, कविते! अहो कहाँ?
मांगल्य-मूलमय वारिद-वारि-वृष्टि॥

पर उनका जोर बराबर इस बात पर रहता था कि कविता बोल-चाल की भाषा में होनी चाहिए। बोल-चाल से उनका मतलब ठेठ या हिंदुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत् (Prosaic) हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—"गिरा-अर्थ जलबीचि सम कहियत भिन्न

न भिन्न"—भाषा से विचार अलग नहीं रह सकता। उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। 'यथा', 'सर्वथा', 'तथैव' ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी अधिक गद्य का स्वरूप दे दिया।

यद्यपि उन्होंने संस्कृत वृत्तों का व्यवहार अधिक किया है पर हिंदी के कुछ चलते छंदों में भी उन्होंने बहुत सी कविताएँ (जैसे विधि-विडंबना) रची है जिनमे संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी कम है। अपना "कुमारसंभव सार" उन्होंने इसी ढंग पर लिखा है। कुमारसंभव का यह अनुवाद बहुत ही उत्तम हुआ है। इसमे मूल के भाव बड़ी सफाई से आए हैं। संस्कृत के अनुवादों में मूल का भाव लाने के प्रयत्न मे भाषा में प्रायः जटिलता आ जाया करती है। पर इसमे यह बात जरा भी नहीं है। ऐसा साफ़-सुथरा दूसरा अनुवाद जो मैंने देखा है, वह पं० केशवप्रसादजी मिश्र का 'मेघदूत' है। द्विवेदीजी की रचनाओं के दो नमूने देकर हम आगे बढ़ते हैं।

आरोग्ययुक्त बलयुक्त सुपुष्ट गात,
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता।
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है,
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

इंद्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझमें, मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य्य शरासन पाँच-कुसुम-सायक-धारी,
अभी बना लेवे तत्क्षण ही उसको निज आज्ञाकारी॥

द्विवेदीजी की कविताओं का संग्रह "काव्यमंजूषा" नाम की पुस्तक में हुआ है। उनकी कविताओं के दूसरे संग्रह का नाम 'सुमन' है।

द्विवेदीजी के प्रभाव और प्रोत्साहन से हिंदी के कई अच्छे अच्छे कवि

निकले जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय और पं० लोचनप्रसाद पांडेय मुख्य हैं ।

'सरस्वती' का संपादन द्विवेदीजी के हाथ में आने के प्रायः तीन वर्ष पीछे (सं० १९६३ से) **बाबू मैथिलीशरण गुप्त** की खड़ी बोली की कविताएँ उक्त पत्रिका मे निकलने लगीं और उनके संपादनकाल तक बराबर निकलती रहीं। संवत् १९६६ में उनका 'रंग में भंग' नामक एक छोटा सा प्रबंध-काव्य प्रकाशित हुआ जिसकी रचना चित्तौड़ और बूँदी के राजघरानों से संबध रखनेवाली रजपूती आन की एक कथा को लेकर हुई थी। तब से गुप्तजी का ध्यान प्रबंधकाव्यों की ओर बराबर रहा और वे बीच बीच में छोटे या बड़े प्रबंध-काव्य लिखते रहे। गुप्तजी की ओर पहले-पहल हिंदी-प्रेमियों का सबसे अधिक ध्यान खींचनेवाली उनकी 'भारत-भारती' निकली । इसमें 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर भारतीयों की या हिंदुओं की भूत और वर्त्तमान दशाओ की विषमता दिखाई गई है; भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी-सादी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिंदी-कविता के लिये खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी। इसी के ढग पर बहुत दिनों पीछे इन्होंने 'हिंदू' लिखा। 'केशों की कथा', 'स्वर्ग-सहोदर' इत्यादि बहुत सी फुटकल रचनाएँ इनकी 'सरस्वती' में निकली हैं, जो 'मंगल घट' में संगृहीत हैं।

प्रबंध-काव्यों की परंपरा इन्होंने बराबर जारी रखी। अब तक ये नौ-दस छोटे-बड़े प्रबंध-काव्य लिख चुके हैं जिनके नाम हैं—रंग में भग, जयद्रथ-वध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत, यशोधरा। अंतिम दो बड़े काव्य हैं। 'विकट भट' में जोधपुर के एक राजपूत सरदार की तीन पीढ़ियों तक चलनेवाली बात की टेक की अद्भुत पराक्रमपूर्ण कथा है। 'गुरुकुल' में सिख गुरुओं के महत्त्व का वर्णन है। छोटे काव्यों मे 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' का स्मरण अधिकतर लोगों को

है। गुप्तजी के छोटे काव्यो की प्रसंग-योजना भी प्रभावशालिनी है और भाषा भी बहुत साफ सुथरी है।

'वैतालिक' की रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति खड़ी बोली में गीत काव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई।

यद्यपि गुप्तजी जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही महत्त्व और सौंदर्य्य का दर्शन करनेवाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखनेवाले कवि हैं, पर तृतीय उत्थान मे 'छायावाद' के नाम से रहस्यात्मक कविताओं का ललरव सुन इन्होने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर मे गाये जो 'झंकार' में संगृहीत हैं। पर असीम के प्रति उत्कंठा और लंबी-चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्तजी की अंतःप्रेरित प्रवृत्ति के अंतर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पड़े।

'साकेत' और 'यशोधरा' इनके दो बड़े प्रबंध हैं। दोनों मे उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबंधत्व की कमी है। बात यह है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तको (Lyrics) की ओर हो चुकी थी। 'साकेत' की रचना तो, मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उर्मिला 'काव्य की उपेक्षिता' न रह जाय। पूरे दो सर्ग (९ और १०) उसके वियोग-वर्णन मे खप गए हैं। इस वियोग-वर्णन के भीतर कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक चमत्कारपूर्ण पद्य तथा आजकल की नई रंगत की वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्यवाले गीत दोनों रखे हैं। काव्य का नाम 'साकेत' रखा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसमें अयोध्या में होनेवाली घटनाओं और परिस्थितियों का ही वर्णन प्रधान है। राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट मे राम-भरत-मिलन तक की कथा आठ सर्गों तक चलती है। उसके उपरात दो सर्गों तक उर्मिला की वियोगावस्था की नाना अंतर्वृत्तियों का विस्तार है जिसके बीच-बीच मे अत्यंत उच्च भावों की व्यंजना है। सूरदास की गोपियाँ वियोग में कहती है कि—

मधुबन तुम कत रहत हरे ?
बिरह-बियोग श्यामसुंदर के काहे न उकठि परे ?

पर उर्मिला कहती है—

रह चिर दिन तू हरी भरी,
बढ़ सुख से बढ़, सृष्टि सुंदरी !

प्रेम के शुभ प्रभाव से उर्मिला के हृदय की उदारता का और भी प्रसार हो गया है। वियोग की दशा मे प्रिय लक्ष्मण के गौरव की भावना उसे सँभाले हुए है। उन्माद की अवस्था मे जब लक्ष्मण उसे सामने खड़े जान पड़ते हैं तब उस भावना को गहरा आघात पहुँचता है और वह व्याकुल होकर कहने लगती है—

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे, अहो ! तो गिरे, गिरे।

दडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ शत्रुघ्न के मुँह से माडवी और भरत के सामने पूरी रसात्मकता के साथ वर्णन कराई गई हैं। रामायण के भिन्न भिन्न पात्रों की परपरा से प्रतिष्ठित स्वरूपों को विकृत न करके उनके भीतर ही आधुनिक आंदोलनों की भावनाएँ—जैसे, किसानो और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, युद्ध-प्रथा की मीमांसा, राज्य-व्यवस्था में प्रजा का अधिकार और सत्याग्रह, विश्वबंधुत्व, मनुष्यत्व—कौशल के साथ झलकाई गई हैं। किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परपरा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।

'यशोधरा' की रचना नाटकीय ढंग पर है। उसमें भगवान् बुद्ध के चरित्र से संबंध रखनेवाले पात्रो के उच्च और सुंदर भावों की व्यजना और परस्पर कथोपकथन हैं, जिनमें कहीं कहीं गद्य भी है। भाव-व्यजना प्रायः गीतों में है।

'द्वापर' में यशोदा, राधा, नारद, कस, कुब्जा इत्यादि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का अलग अलग मार्मिक चित्रण है। नारद और कंस की मनोवृत्तियों के स्वरूप तो बहुत ही विशद और समन्वित रूप में सामने रखे गए हैं।

गुप्तजी ने 'अनघ', 'तिलोत्तमा' और 'चंद्रहास' नामक तीन छोटे छोटे पद्यबद्ध रूपक भी लिखे हैं। 'अनघ' में कवि ने लोक-व्यवस्था के सबध मे उठी

हुई आधुनिक भावनाओं और विचारों का अवस्थान प्राचीनकाल के भीतर ले जाकर किया है। वर्त्तमान किसान आंदोलन का रंग प्रधान है।

गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियो को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिंदी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निस्संदेह कहे जा सकते हैं। भारतेंदु के समय से स्वदेश-प्रेम की भावना जिस रूप मे चली आ रही थी उसका विकास 'भारत-भारती' मे मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनो ने जो रूप धारण किया उसका पूरा पूरा आभास पिछली रचनाओ मे मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानो और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सबकी झलक हम पाते हैं।

गुप्तजी की रचनाओ के भीतर तीन अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है जिसमें खड़ी बोली के पद्यो की मसृणबंध रचना हमारे सामने आती है। 'सरस्वती' मे प्रकाशित अधिकांश कविताएँ तथा 'भारत भारती' इस अवस्था की रचना के उदाहरण है। ये रचनाएँ काव्य-प्रेमियों को कुछ गद्यवत्, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं। इनमें सरस और कोमल पदावली की कमी भी खटकती थी। बात यह है कि यह खड़ी बोली के परिमार्जन का काल था। इसके अनंतर गुप्तजी ने बंगभाषा की कविताओं का अनुशीलन तथा मधुसूदन दत्त रचित ब्रजांगना, मेघनाद-वध आदि का अनुवाद भी किया। इससे इनकी पदावली मे बहुत कुछ सरसता और कोमलता आई, यद्यपि कुछ ऊबड़-खाबड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दो की ठोकरें कहीं कहीं, विशेषतः छोटे छंदों के चरणांत मे, अब भी लगती है। 'भारत भारती' और 'वैतालिक' के बीच की रचनाएँ इस दूसरी अवस्था के उदाहरण में ली जा सकती हैं। उसके उपरांत 'छायावाद' कही जानेवाली कविताओं का चलन होता है और गुप्तजी का कुछ झुकाव प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी हो जाता है। इस झुकाव का आभास 'साकेत' और 'यशोधरा' मे भी पाया जाता है। यह तीसरी अवस्था है।

गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं; प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करनेवाले

अथवा मद में झूमने (या 'झीमने') वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमे हैं। इनकी रचना के कई प्रकार के नमूने नीचे दिए जाते हैं—

क्षत्रिय! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।
वैश्यो! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का?

(भारत-भारती)

थे, हो और रहोगे जब तुम, थी, हूँ और सदैव रहूँगी।
कल निर्मल जल की धारा सी आज यहाँ, कल वहाँ बहूँगी।
दूती! बैठी हूँ सज कर मैं।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से धाम धरा धन सब तज कर मैं।

× × × ×

अच्छी आँख-मिचौनी खेलो!
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली।

× × × ×

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी।

(झंकार)

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे।

× × × ×

सखि, नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा! तरता तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिमबिंदु बचे तब भी, चलता उनको धरता धरता।
गड़ जायँ न कंटक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता।
आकाशजाल सब ओर तना, रवि तंतुवाय है आज बना;
करता है पद-प्रहार वही, मक्खी सी भिन्ना रही मही।

घटना हो चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य।
आती है ऊपर, सखी! छा कर चंद्रादित्य॥
इंद्रवधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय।
नन्हीं दूबों का हृदय निकल पड़ा यह हाय॥
इस उत्पल से काय में, हाय! उपल से प्राण।
रहने दे बक ध्यान यह, पावें ये दृग त्राण॥

× × × ×

वेदने! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी।

× × × ×

हा! मेरे कुंजों का कूजन रोकर, निराश होकर सोया।
वह चंद्रोदय उसको उढ़ा रहा है धवल वसन-सा धोया॥

× × × ×

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अंतस्तल भरके, उछल उछल कर छल छल करके,
थल थल तर के, कल कल धर के बिखराती है पारा।

× × × ×

ओ मेरे मानस के हास! खिल सहस्रदल, सरस सुवास।

× × × ×

स्वजनि, रोता है मेरा गान।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।

× × × ×

बस इसी प्रिय-कानन-कुंज में—मिलन भाषण के स्मृति-पुंज में—
अभय छोड मुझे तुम दीजियो, हसन-रोदन से न पसीजियो।

('साकेत')

स्वर्गीय **पं० रामचरित उपाध्याय** का जन्म सं० १९२९ मे गाजीपुर में हुआ था, पर पिछले दिनों मे वे आजमगढ़ के पास एक गाँव में रहने लगे थे। कुछ वर्ष हुए उनका देहांत हो गया। वे सस्कृत के अच्छे पंडित थे और पहले पुराने ढंग की हिंदी-कविता की ओर उनकी रुचि थी। पीछे 'सरस्वती' मे जब खड़ी बोली की कविताएँ निकलने लगीं तब वे नए ढंग की रचना की ओर बढ़े और द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से बराबर उक्त पत्रिका में अपनी रचनाएँ भेजते रहे। 'राष्ट्र-भारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'देवी द्रौपदी', 'भारत-भक्ति', 'विचित्र विवाह' इत्यादि अनेक कविताएँ उन्होंने खड़ी बोली में लिखी हैं। छोटी कविताएँ अधिकतर विदग्ध भाषण के रूप में हैं। 'रामचरित-चिंतामणि' नामक एक बड़ा प्रबंधकाव्य भी उन्होंने लिखा है जिसके कई एक प्रसंग बहुत सुंदर बन पड़े हैं जैसे—अंगद-रावण-सवाद। भाषा उनकी साफ होती थी और कुछ वैदग्ध्य के साथ चलती थी। अगद-रावण-संवाद की ये पंक्तियाँ देखिए—

कुशल से रहना यदि है तुम्हें, दनुज ! तो फिर गर्व न कीजिए।
शरण में गिरिए रघुनाथ के ; निबल के बल केवल राम हैं।

× × × ×

सुन कपे ! यम, इंद्र, कुबेर की न हिलती रसना मम सामने।
तदपि आज मुझे करना पड़ा मनुज-सेवक से बकवाद भी।
यदि कपे ! मम राक्षस-राज का स्तवन है तुझसे न किया गया।
कुछ नही डर है; पर क्यों वृथा निलज ! मानव-मान बढ़ा रहा ?

दूसरे संस्कृत के विद्वान् जिनकी कविताएँ 'सरस्वती' मे बराबर छपती रहीं

झालरापाटन के **पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न** है। 'सरस्वती' के अतिरिक्त हिंदी के और पत्रो तथा पत्रिकाओ मे भी ये अपनी कविताएँ भेजते रहे। राजपूताने से निकलनेवाले 'विद्याभास्कर' नामक एक पत्र का संपादन भी इन्होंने कुछ दिन किया था। मालवा और राजपूताने में हिंदी-साहित्य के प्रचार मे इन्होने बड़ा काम किया है। नवरत्न जी संस्कृत के भी अच्छे कवि हैं। गोल्डस्मिथ के Hermit या 'एकांतवासी योगी' का इन्होंने संस्कृत श्लोको मे अनुवाद किया है। हिंदी मे भी इनकी रचनाएँ कम नहीं। कुछ पुस्तके लिखने के अतिरिक्त अनुवाद भी कई पुस्तकों का किया है। रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' का हिंदी-पद्यों मे इनका अनुवाद बहुत पहले निकला था। माघ के 'शिशुपाल-वध' के दो सर्गों का अनुवाद 'हिंदी माघ' के नाम से इन्होंने सवत् १६८५ मे किया था। पहले ये ब्रजभाषा के कवित्त आदि रचते थे जिनमे कही कहीं खड़ी बोली का भी आभास रहता था। शुद्ध खड़ी बोली के भी कुछ कवित्त इनके मिलते हैं। 'सरस्वती' मे प्रकाशित इनकी कविताएँ अधिकतर इतिवृत्तात्मक या गद्यवत् हैं, जैसे—

> मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ, भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
> देखूँ उसे मैं नित्त बार बार, मानों मिला मित्र मुझे पुराना॥
> 'ब्रह्मन्, तजो पुस्तक-प्रेम आप, देता अभी हूँ यह राज्य सारा।'
> कहे मुझे यों यदि चक्रवर्ती, 'ऐसा न राजन्! कहिए', कहूँ मैं॥

पं० लोचनप्रसाद पांडेय बहुत छोटी अवस्था से कविता करने लगे थे। संवत् १६६२ से इनकी कविताएँ 'सरस्वती' तथा और मासिक पत्रिकाओं में निकलने लगी थीं। इनकी रचनाएँ कई ढंग की हैं—कथा-प्रबंध के रूप मे भी और फुटकल प्रसंग के रूप मे भी। चित्तौड़ के भीमसिंह के अपूर्व स्वत्व-त्याग की कथा नंददास की रासपचाध्यायी के ढंग पर इन्होने लिखी है। "मृगी-दुःखमोचन" मे इन्होंने खड़ी बोली के सवैयों मे एक मृगी की अत्यत दारुण परिस्थिति का वर्णन सरस भाषा मे किया है जिससे पशुओं तक पहुँचनेवाली इनकी व्यापक और सर्वभूत-दयापूर्ण काव्यदृष्टि का पता चलता है। इनका हृदय कहीं कहीं पेड़-पौधों तक की दशा का मार्मिक अनुभव करता पाया

जाता है। यह भावुकता इनकी अपनी है। भाषा की गद्यवत् सरल सीधी गति उस रचना-प्रवृत्ति का पता देती है जो द्विवेदीजी के प्रभाव से उत्पन्न हुई थी। पर इनकी रचनाओं मे खड़ी बोली का वैसा स्वच्छ और निखरा रूप नहीं मिलता जैसा गुप्तजी की उस समय की रचनाओं में मिलता है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं[1]—

चढ़ जाते पहाड़ों में जाके कभी, कभी झाड़ों के नीचे फिरें विचरें।
कभी कोमल पत्तियाँ खाया करें, कभी मीठी हरी हरी घास चरें।
सरिता-जल में प्रतिबिंब लखें निज, शुद्ध कहीं जल पान करें।
कहीं मुग्ध हो झर्झर निर्झर से तरु-कुंज में जा तप-ताप हरें॥
रहती जहाँ शाल रसाल तमाल के पादपों की अति छाया घनी।
चर के तृण आते, थके वहाँ बैठते थे मृग औ उसकी घरनी।
पगुराते हुए दृग मूँदे हुए वे मिटाते थकावट थे अपनी।
खुर से कभी कान खुजाते, कभी सिर सींग पै धारते थे टहनी॥
(मृगीदुःखमोचन)

सुमन विटप वल्ली काल की क्रूरता से।
झुलस जब रही थीं ग्रीष्म की उग्रता से॥
उस कुसमय में हा ! भाग्य-आकाश तेरा।
अयि नव लतिके ! था घोर आपत्ति-घेरा॥
अब तब बुझता था जीवनालोक तेरा।
यह लख उर होता दुःख से दग्ध मेरा॥

इस प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त और न जाने कितने कवियो ने खड़ी बोली मे फुटकल कविताएँ लिखीं जिन पर द्विवेदीजी का प्रभाव स्पष्ट झलकता था। ऐसी कविताओं से मासिक पत्रिकाएँ भरी रहती थीं। जो कविता को अपने से दूर की वस्तु समझते थे वे भी गद्य में चलनेवाली भाषा को पद्यबद्ध करने का अभ्यास करने लगे। उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होने लगीं। उनके संबंध मे यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि वे अधिकतर इतिवृत्तात्मक गद्य-

---

१—पांडेयजी गत हो गए।

निबंध के रूप में होती थीं। फल इसका यह हुआ कि काव्य-प्रेमियों को उनमें काव्यत्व नहीं दिखाई पड़ता था और वे खड़ी बोली की अधिकांश कविता को 'तुकबंदी' मात्र समझने लगे थे। आगे चलकर तृतीय उत्थान में इस परिस्थिति के विरुद्ध गहरा प्रतिवर्त्तन (Reaction) हुआ।

यहाँ तक तो उन कवियों का उल्लेख हुआ जिन्होने द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से अथवा उसके आदर्श के अनुकूल रचनाएँ कीं। पर इस द्वितीय उत्थान के भीतर अनेक ऐसे कवि भी बराबर अपनी वाग्धारा बहाते रहे जो अपना स्वतंत्र मार्ग पहले से निकाल चुके थे और जिन पर द्विवेदी जी का कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता।

द्विवेदी-मंडल के बाहर की काव्य-भूमि

द्विवेदीजी के प्रभाव से हिंदी-काव्य ने जो स्वरूप प्राप्त किया उसके अतिरिक्त और अनेक रूपों में भी भिन्न भिन्न कवियों की काव्य-धारा चलती रही। कई एक बहुत अच्छे कवि अपने अपने ढगपर सरस और प्रभावपूर्ण कविता करते रहे जिनमे मुख्य राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम शकर शर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रूपनारायण पाडेय हैं।

इन कवियों में से अधिकांश तो दो रंगी कवि थे जो ब्रजभाषा मे तो शृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त सवैयों या गेय पदो मे करते आते थे और खड़ी बोली में नूतन विषयों को लेकर चलते थे। बात यह थी कि खड़ी बोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिये कुछ नई नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण-संबंधी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रहकर जीवन के कुछ और पक्षो की ओर भी बढ़ी, पर गहराई के साथ नही। त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए जिनके बीच बीच मे जन्मभूमि-प्रेम, स्वजाति-गौरव, आत्म-सम्मान की व्यंजना करनेवाले जोशीले भाषण

रखे गए। जीवन की गूढ़, मार्मिक या रमणीय परिस्थितियाँ झलकाने के लिये नूतन कथा-प्रसंगों की कल्पना या उद्भावना की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी। केवल पं० रामनरेश त्रिपाठी ने कुछ ध्यान कल्पित प्रबंध की ओर दिया।

दार्शनिकता का पुट राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की रचनाओं में कहीं कहीं दिखाई पड़ता है, पर किसी दार्शनिक तथ्य को हृदय-ग्राह्य रसात्मक रूप देने का प्रयास उनमें भी नहीं पाया जाता। उनके "वसत-वियोग" में भारत-दशा-सूचक प्राकृतिक विभूति के नाना चित्रों के बीच बीच में कुछ दार्शनिक तत्व रखे गए है और अत में आकाशवाणी द्वारा भारत के कल्याण के लिये कर्मयोग और भक्ति का आदेश दिलाया गया है। प्रकृति-वर्णन की ओर हमारा काव्य कुछ अधिक अग्रसर हुआ पर प्रायः वहीं तक रहा जहाँ तक उसका संबंध मनुष्य के सुख-सौंदर्य की भावना से है। प्रकृति के जिन सामान्य रूपों के बीच नर-जीवन का विकास हुआ है, जिन रूपो से हम बराबर घिरे रहते आए हैं उनके प्रति वह राग या ममता न व्यक्त हुई जो चिर सहचरों के प्रति स्वभावतः हुआ करती है। प्रकृति के प्रायः वे ही चटकीले भड़कीले रूप लिए गए जो सजावट के काम के समझे गए। सारांश यह कि जगत् और जीवन के नाना रूपों और तथ्यों के बीच हमारे हृदय का प्रसार करने में वाणी वैसी तत्पर न दिखाई पड़ी।

राय देवीप्रसाद "पूर्ण" का उल्लेख 'पुरानी धारा' के भीतर हो चुका है। वे व्रजभाषा-काव्य-परंपरा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे और जब तक जीवित रहे, अपने 'रसिक समाज' द्वारा उस परंपरा की पूरी चहल-पहल बनाए रहे। उक्त समाज की ओर से 'रसिकवाटिका' नाम की एक पत्रिका निकलती थी जिसमें उस समय के प्रायः सब व्रजभाषा कवियों की सुदर रचनाएँ छपती थीं। जब संवत् १९७७ में पूर्णजी का देहावसान हुआ उस समय उक्त समाज निरवलंब सा हो गया और—

रसिक समाजी ह्वै चकोर चहुँ ओर हेरैं,
कविता को पूरन कलानिधि कितै गयो। (रतनेश)

'पूर्ण' जी सनातनधर्म के बडे उत्साही, अनुयायी तथा अध्ययनशील व्यक्ति

थे। उपनिषद् और वेदांत में उनकी अच्छी गति थी। सभा-समाजों के प्रति उनका बहुत उत्साह रहता था और उनके अधिवेशनो मे अवश्य कोई न कोई कविता पढ़ते थे। देश मे चलनेवाले आंदोलनो (जैसे, स्वदेशी) को भी उनकी वाणी प्रतिध्वनित करती थी। भारतेंदु, प्रेमघन आदि प्रथम उत्थान के कवियों के समान 'पूर्ण' जी में भी देशभक्ति और राजभक्ति का समन्वय पाया जाता है। बात यह है कि उस समय तक देश के राजनीतिक प्रयत्नो मे अवरोध और विरोध का बल नहीं आया था और लोगों की पूरी तरह घड़क नहीं खुली थी। अतः उनकी रचना मे यदि एक ओर 'स्वदेशी' पर देशभक्ति-पूर्ण पद्य मिले और दूसरी ओर सन् १९११ वाले दिल्ली दरबार के ठाटबाट का वर्णन, तो आश्चर्य न करना चाहिए।

प्रथम उत्थान के कवियों के समान 'पूर्ण' जी पहले नूतन विषयों की कविता भी व्रजभाषा मे करते थे जैसे—

विगत आलस की रजनी भई। रुचिर उद्यम की द्युति छै गई॥
उदित सूरज है नव भाग को। अरुन रंग नए अनुराग को॥
तजि बिछौनन को अब भागिए। भरत खंड प्रजागण जागिए॥

इसी प्रकार 'सग्राम-निंदा' आदि अनेक विषयों पर उनकी रचनाएँ व्रज-भाषा में ही हैं। पीछे खड़ी बोली की कविता का प्रचार बढ़ने पर बहुत सी रचना उन्होंने खड़ी बोली मे भी की, जैसे 'अमल्तास', 'वसंत-वियोग', 'स्वदेशी कुंडल', 'नए सन् (१९१०) का स्वागत', 'नवीन संवत्सर (१९६७) का स्वागत', इत्यादि। स्वदेशी, देशोद्धार आदि पर उनकी अधिकांश रचनाएँ इतिवृत्तात्मक पद्यों के रूप में हैं। 'वसंत-वियोग' बहुत बड़ी कविता है जिसमें कल्पना अधिक सचेष्ट मिलती है। उसमे भारत-भूमि की कल्पना एक उद्यान के रूप में की गई है। प्राचीन काल में यह उद्यान सत्व-गुण-प्रधान, तथा प्रकृति की सारी विभूतियों से संपन्न था और इसके माली देवतुल्य थे। पीछे मालियो के प्रमाद और अनैक्य से उद्यान उजड़ने लगता है। यद्यपि कुछ यशस्वी महापुरुष (विक्रमादित्य ऐसे) कुछ काल के लिये उसे सँभालते दिखाई पड़ते हैं, पर उसकी दशा गिरती ही जाती है। अंत में उसके माली

साधना और तपस्या के लिये कैलास मानसरोवर की ओर जाते हैं जहाँ आकाशवाणी होती है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी में जब 'पश्चिमी शासन' होगा तब उन्नति का आयोजन होगा। 'अमल्तास' नाम की छोटी सी कविता में कवि ने अपने प्रकृति-निरीक्षण का भी परिचय दिया है। ग्रीष्म मे जब वनस्थली के सारे पेड़-पौधे झुलसे से रहते हैं और कहीं प्रफुल्लता नहीं दिखाई देती है, उस समय अमलतास चारों ओर फूलकर अपनी पीत प्रभा फैला देता है। इससे कवि भक्ति के महत्त्व का संकेत ग्रहण करता है—

देख तब वैभव, द्रुमकुल-संत! विचारा उसका सुखद निदान।
करे जो विषम काल को मंद, गया उस सामग्री पर ध्यान॥
रँगा निज प्रभु ऋतुपति के रंग, द्रुमों में अमलतास तू भक्त।
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल, दहन में तेरे रहा अशक्त॥

'पूर्ण' जी की कविताओं का संग्रह 'पूर्ण-संग्रह' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनको खड़ी बोली की रचना के कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

नंदनवन का सुना नहीं है किसने नाम,
मिलता है जिसमें देवों को भी आराम।

उसके भी बासी सुखरासी, उग्र हुआ यदि उनका भाग।
आकर के इस कुसुमाकर मे करते हैं नंदन-रुचि त्याग॥

× × × ×

है उत्तर में कोट शैल सम तुंग विशाल,
विमल सघन हिम-वलित ललित धवलित सब काल॥

× × × ×

हे नर दक्षिण! इसके दक्षिण, पश्चिम, पूर्व
है अपार जल से परिपूरित कोश अपूर्व।
पवन देवता गगन-पंथ से सुघन-घटों में लाकर नीर,
सींचा करते हैं यह उपवन करके सदा कृपा गंभीर॥

× × × ×

कर देते हैं बाहर भुनगों का परिवार,
तब करते हैं कीश उदुंबर का आहार।
पत्तीगृह विचार तरुगण को नहीं हिलाते हैं गजवृंद।
हंस भृंग-हिंसा के भय से खाते नहीं बंद अरविंद॥
धेनुवत्स जब छक जाते हैं पीकर छीर,
तब कुछ दुहते हैं गौत्रों को चतुर अहीर।
लेते हैं हम मधुकोशों से मधु जो गिरे आप ही आप।
मक्खी तक निदान इस थल की पाती नहीं कभी संताप॥

(वसंत-वियोग)

सरकारी कानून का रख कर पूरा ध्यान।
कर सकते हो देश का सभी तरह कल्यान॥
सभी तरह कल्यान देश का कर सकते हो।
करके कुछ उद्योग सोग सब हर सकते हो॥
जो हो तुम में जान, आपदा भारी सारी।
हो सकती है दूर, नहीं बाधा सरकारी॥

पं० नाथूराम शंकर शर्मा का जन्म संवत् १६१६ मे और मृत्यु १९८९ में हुई। वे अपना उपनाम 'शंकर' रखते थे और पद्यरचना मे अत्यंत सिद्धहस्त थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र के वे साथियों मे थे और उस समय के कवि-समाजो मे बराबर कविता पढ़ा करते थे। समस्या-पूर्ति वे बड़ी ही सटीक और सुंदर करते थे जिससे उनका चारों ओर पदक, पगड़ी, दुशाले आदि से सत्कार होता था। 'कवि व चित्रकार', 'काव्य-सुधाधर', 'रसिक-मित्र' आदि पत्रों में उनकी अनूठी पूर्तियाँ और ब्रजभाषा की कविताएँ बराबर निकला करती थीं। छंदों के सुंदर नपे तुले विधान के साथ ही उनकी उद्भावनाएँ भी बड़ी अनूठी होती थीं। वियोग का यह वर्णन पढ़िए—

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ जाएगी।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल में पिघलकर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जाएगी।

झारैंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारैंगे खमंडल में आग मढ जाएगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जाएगी।

पीछे खड़ी बोली का प्रचार होने पर वे उसमे भी बहुत अच्छी रचना करने लगे। उनकी पदावली कुछ उद्दंडता लिए होती थी। इसका कारण यह है कि उनका संबंध आर्य्य-समाज से रहा जिसमें अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों के उग्र विरोध की प्रवृत्ति बहुत दिनों तक जाग्रत रही। उसी अंतर्वृत्ति का आभास उनकी रचनाओं मे दिखाई पड़ता है। "गर्भरंडा-रहस्य" नामक एक बड़ा प्रबंध-काव्य उन्होने विधवाओं की बुरी परिस्थिति और देवमंदिरों के अनाचार आदि दिखाने के उद्देश्य से लिखा था। उसका एक पद्य देखिए—

फैल गया हुडदंग होलिका की हलचल में
फूल फूलकर फाग फला महिला-मंडल में॥
जननी भी तज लाज बनी ब्रजमक्खी सबकी।
पर मैं पिंड छुड़ाय जवनिका में जा दबकी॥

फबतियाँ और फटकार इनकी कविताओं की एक विशेषता है। फैशनवालो पर कही हुई "ईश गिरिजा को छोड़ि ईशु गिरिजा में जाय" वाली प्रसिद्ध फबती इन्हीं की है। पर जहाँ इनकी चित्तवृत्ति दूसरे प्रकार की रही है, वहाँ की उक्तियाँ बड़ी मनोहर भाषा में हैं। यह कवित्त ही लीजिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मंद मंद पड जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायँगे॥
चौक चौंक चारों ओर चौकडी भरैंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब
कौन से अडीले उपमान अड़ जायँगे?

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही) हिंदी के एक बड़े ही भावुक और सरस हृदय कवि हैं। ये पुरानी और नई दोनो चाल की कविताएँ लिखते हैं। इनकी बहुत सी कविताएँ 'त्रिशूल' के नाम से निकली हैं। उर्दू-कविता भी इनकी बहुत ही अच्छी होती है। इनकी पुराने ढंग की कविताएँ 'रसिकमित्र', 'काव्यसुधानिधि' और 'साहित्य सरोवर' आदि मे बराबर निकलती रहीं। पीछे इनकी प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर हुई। इनकी तीन पुस्तके प्रकाशित हैं—'प्रेम-पचीसी', 'कुसुमांजलि' 'कृषक-क्रंदन'। इस मैदान में भी इन्होंने अच्छी सफलता पाई। एक पद्य नीचे दिया जाता है—

> **तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।**
> **तू है महासागर अगम, मैं एक धारा क्षुद्र हूँ॥**
> **तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ।**
> **तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥**

पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम भी खड़ी बोली के कवियो मे बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। भाषा की सफाई और कविता के प्रसाद गुण पर इनका बहुत जोर रहता है। काव्यभाषा में लाघव के लिये कुछ कारक-चिन्हों और संयुक्त क्रियाओ के कुछ अंतिम अवयवो को छोड़ना भी (जैसे, 'कर रहा है' के स्थान पर 'कर रहा' या 'करते हुए' के स्थान पर 'करते') ये ठीक नहीं समझते। काव्यक्षेत्र मे जिस स्वाभाविक स्वच्छंदता (Romanticism) का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था उसके पथ पर चलनेवाले द्वितीय उत्थान मे त्रिपाठीजी ही दिखाई पड़े। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक इनके तीनों खंड-काव्यो मे इनकी कल्पना ऐसे मर्मपथ पर चली है जिसपर मनुष्य मात्र का हृदय स्वभावतः ढलता आया है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं के भीतर न बँधकर अपनी भावना के अनुकूल स्वच्छंद संचरण के लिये कवि ने नूतन कथाओ की उद्भावना की है। कल्पित आख्यानो की ओर यह विशेष झुकाव स्वच्छद मार्ग का अभिलाष सूचित करता है। इन प्रबंधों में नर-जीवन जिन रूपो में ढालकर सामने लाया गया है, वे मनुष्य मात्र का मर्मस्पर्श करनेवाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छद और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।

स्वदेशभक्ति की जो भावना भारतेंदु के समय से चली आती थी उसे सुंदर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठीजी ने ही प्रदान किया। त्रिपाठीजी के उपर्युक्त तीनो काव्य देशभक्ति के भाव से प्रेरित हैं। देशभक्ति का यह भाव उनके मुख्य पात्रो को जीवन के कई क्षेत्रों मे सौंदर्य प्रदान करता दिखाई पड़ता है—कर्म के क्षेत्र मे भी, प्रेम के क्षेत्र में भी। वे पात्र कई तरफ से देखने मे सुंदर लगते हैं। देशभक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठीजी द्वारा प्राप्त हुआ, इसमें संदेह नहीं।

त्रिपाठीजी ने भारत के प्रायः सब भागों मे भ्रमण किया है, इससे इनके प्रकृति-वर्णन में स्थानगत विशेषताएँ अच्छी तरह आ सकी हैं। इनके 'पथिक' में दक्षिण भारत के रम्य दृश्यों का बहुत विस्तृत समावेश है। इसी प्रकार इनके 'स्वप्न' मे उत्तराखंड और काश्मीर की सुषमा सामने आती है। प्रकृति के किसी खड के संश्लिष्ट चित्रण की प्रतिभा इनमे अच्छी है। सुंदर आलंकारिक साम्य खड़ा करने में भी इनकी कल्पना प्रवृत्त होती है। पर झूठे आरोपों द्वारा अपनी उड़ान दिखाने या वैचित्र्य खड़ा करने के लिये नहीं।

'स्वप्न' नामक खड-काव्य तृतीय उत्थान-काल के भीतर लिखा गया है जब 'छायावाद' नाम की शाखा चल चुकी थी, इससे उस शाखा का भी कुछ रंग कहीं कहीं उसके भीतर झलक मारता है, जैसे—

> प्रिय की सुध सी ये सरिताएँ, ये कानन कांतार सुसज्जित
> मैं तो नहीं, किंतु है मेरा हृदय किसी प्रियतम से परिचित।
> जिसके प्रेम पत्र आते हैं प्रायः सुख-संवाद-सन्निहित॥

अतः उस काव्य को लेकर देखने से थोडी थोड़ी इनकी सब प्रवृत्तियाँ झलक जाती हैं। उसके आरंभ में हम अपनी प्रिया मे अनुरक्त वसत नामक-एक सुदर और विचारशील युवक को जीवन की गभीर वितर्क-दशा मे पाते हैं। एक ओर उसे प्रकृति की प्रमोदमयी सुषमाओं के बीच प्रियतमा के साहचर्य का प्रेम-सुख लीन रखना चाहता है, दूसरी ओर समाज के असख्य प्राणियों का कष्ट-क्रंदन उसे उद्धार के लिये बुलाता जान पडता है। दोनो पक्षो के बहुत से सजीव चित्र बारी बारी से बड़ी दूर तक चलते हैं। फिर उस युवक

के मन मे जगत् और जीवन के संबंध में गभीर जिज्ञासाएँ उठती है। जगत् के इन नाना रूपो का उद्गम कहाँ है ? सृष्टि के इन व्यापारो का अतिम लक्ष्य क्या है ? यह जीवन हमे क्यो दिया गया है ? इसी प्रकार के प्रश्न उसे व्याकुल करते रहते है और कभी कभी वह सोचता है—

> इसी तरह की अमित कल्पना के प्रवाह में मैं निशिवासर,
> बहता रहता हूँ विमोह-वश; नहीं पहुँचता कहीं तीर पर।
> रात दिवस की बूँदों द्वारा तन-घट से परिमित यौवन-जल
> है निकला जा रहा निरतर, यह रुक सकता नही एक पल।

कभी कभी उसकी वृत्ति रहस्योन्मुख होती है। वह सारा खेल खड़ा करनेवाले उस छिपे हुए प्रियतम का आकर्षण अनुभव करता है और सोचता है कि मै उसके अन्वेषण मे क्यो न चल पडूँ।

उसकी सुमना उसे दिन रात इस प्रकार भावनाओ मे ही मग्न और अव्यवस्थित देखकर कर्ममार्ग पर स्थित हो जाने का उपदेश देती है—

> सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार द्रव्य-बल।
> मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल॥
> मन की अमित तरंगो में तुम् खोते हो इस जीवन का सुख॥

इसके उपरांत देश पर शत्रु चढ़ाई करता है और राजा उसे रोकने में असमर्थ होकर घोषणा करता है कि प्रजा अपनी रक्षा कर ले। इस पर देश के झुंड के झुड युवक निकल पड़ते है और उनकी पत्नियाँ और माताएँ गर्व से फूली नहीं समाती हैं। देश की इस दशा मे वसत को घर मे पड़ा देख उसकी पत्नी सुमना को अत्यंत लज्जा होती है और वह अपने पति से स्वदेश के इस संकट के समय शस्त्र-ग्रहण करने को कहती है। जब वह देखती है कि उसका पति उसी के प्रेम के कारण नहीं उठता है तब वह अपने को ही प्रिय के कर्त्तव्य-पथ का बाधक समझती है। वह सुनती है कि एक रुग्णा वृद्धा यह देखकर कि उसका पुत्र उसी की सेवा के ध्यान से युद्ध पर नहीं जाता है, अपना प्राणत्याग कर देती है। अंत मे सुमना अपने को वसंत के सामने से

हटाना ही स्थिर करती है और चुपचाप घर से निकल पडती है। वह पुरुष-वेष मे वीरों के साथ सम्मिलित होकर अत्यत पराक्रम के साथ लड़ती है। उधर वसंत उसके वियोग मे प्रकृति के खुले क्षेत्र में अपनी प्रेम-वेदना की पुकार सुनाता फिरता है, पर सुमना उस समय प्रेम क्षेत्र से दूर थी—

> अर्द्ध निशा में तारागण से प्रतिबिंबित अति निर्मल जलमय।
> नील झील के कलित कूल पर मनोव्यथा का लेकर आश्रय॥
> नीरवता में अंतस्तल का मर्म करुण स्वर-लहरी में भर।
> प्रेम जगाया करता था वह विरही विरह-गीत गा गा कर॥
> भोजपत्र पर विरह-व्यथामय अगणित प्रेमपत्र लिख लिखकर।
> डाल दिए थे उसने गिरि पर, नदियों के तट पर, वनपथ पर॥
> पर सुमना के लिये दूर थे ये वियोग के दृश्य-कदंबक।
> और न विहारी की पुकार ही पहुँच सकी उसके समीप तक॥

अत में वसत एक युवक (वास्तव मे पुरुष-वेष में सुमना) के उद्बोधन से निकल पड़ता है और अपनी अद्भुत वीरता द्वारा सब का नेता बनकर विजय प्राप्त करता है। राजा यह कहकर कि 'जो देश की रक्षा करे वही राजा' उसको राज्य सौंप देता है। उसी समय सुमना भी उसके सामने प्रकट हो जाती है।

स्वदेश-भक्ति की भावना कैसे मार्मिक और रसात्मक रूप में कथा के भीतर व्यक्त हुई है, यह उपर्युक्त साराश द्वारा देखा जा सकता है। जैसा हम पहले कह आए हैं, त्रिपाठीजी की कल्पना मानव हृदय के सामान्य मर्मपथ पर चलनेवाली है। इनका ग्राम-गीत संग्रह करना इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है। अतः त्रिपाठी जी हमे स्वच्छंदतावाद (Romanticism) के प्रकृत पथ पर दिखाई पड़ते हैं। इनकी रचना के कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

> चारु चद्रिका से आलोकित विमलोदक सरसी के तट पर,
> बौर-गंध से शिथिल पवन में कोकिल का आलाप श्रवण कर।
> और सरक आती समीप है प्रमदा करती हुई प्रतिध्वनि,
> हृदय द्रवित होता है सुनकर शशिकर छूकर यथा चंद्रमणि।

किंतु उसी क्षण भूख-प्यास से विकल वस्त्र-वंचित अनाथगण,
'हमें किसी की छाँह चाहिए' कहते चुनते हुए अन्नकण।
आ जाते हैं हृदयद्वार पर, मैं पुकार उठता हूँ तत्क्षण—
हाय! मुझे धिक् है जो इनका कर न सका मैं कष्ट-निवारण।

× × × ×

उमड़-घुमड़ कर जब घमंड से उठता है सावन में जलधर,
हम पुष्पित कदंब के नीचे झूला करते हैं प्रति वासर।
तड़ित-प्रभा या घनगर्जन से भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर;
वह भुजबंधन कस लेती है, यह अनुभव है परम मनोहर।
किंतु उसी क्षण वह गरीबिनी, अति विषादमय जिसके मुँह पर
चुने हुए छप्पर की भीषण चिंता के हैं घिरे वारिधर,
जिसका नहीं सहारा कोई, आ जाती है दृग के भीतर,
मेरा हर्ष चला जाता है एक आह के साथ निकलकर।

(स्वप्न)

प्रति क्षण नूतन वेष बना कर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ, यही चाहता मन है॥

× × × ×

सिंधु-विहंग तरंग-पंख को फड़का कर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में, रक्षण में॥

(पथिक)

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बनकर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में।

(फुटकल)

स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी के जीवन का प्रारंभिक काल उस बुंदेलखंड में व्यतीत हुआ था जहाँ देश की परंपरागत पुरानी संस्कृति अभी बहुत कुछ बनी हुई है। उनकी रहन सहन बहुत सादी और उनका हृदय बहुत सरल तथा कोमल था। उन्होने हिंदी के पुराने काव्यों का नियमित रूप से अध्ययन किया था इससे वे ऐसे लोगों से कुढते थे जो परपरागत हिंदी-साहित्य की कुछ भी जानकारी प्राप्त किए बिना केवल थोड़ी सी अँगरेजी शिक्षा के बल पर हिंदी-कविताएँ लिखने लग जाते थे। बुँदेलखंड मे शिक्षितवर्ग के बीच भी और सर्वसाधारण में भी हिंदी-कविता का सामान्य रूप से प्रचार चला आ रहा है। ऋतुओं के अनुसार जो त्योहार और उत्सव रखे गए हैं, उनके आगमन पर वहाँ लोगो में अब भी प्रायः वही उमग दिखाई देती है। विदेशी सस्कारों के कारण वह मारी नहीं गई है। लाला साहब वही उमग-भरा हृदय लेकर छतरपुर से काशी आ रहे। हिंदी शब्दसागर के संपादकों में एक वे भी थे। पीछे विश्वविद्यालय मे हिदी के अध्यापक हुए। हिंदी साहित्य की व्यवस्थित रूप से शिक्षा देने के लिये काशी में उन्होने एक साहित्य-विद्यालय खोला जो उन्हीं के नाम से अब तक बहुत अच्छे ढंग पर चला जा रहा है। कविता मे वे अपना उपनाम 'दीन' रखते थे।

लालाजी का जन्म सवत् १९२३ मे और मृत्यु १९८७ (जुलाई, १९३०) मे हुई।

पहले वे ब्रजभाषा में पुराने ढग की कविता करते थे, पीछे 'लक्ष्मी' के संपादक हो जाने पर खडी बोली की कविताएँ लिखने लगे। खड़ी बोली मे उन्होंने वीरो के चरित्र लेकर बोलचाल ही की फड़कती भाषा मे जोशीली रचना की है। खड़ी बोली की कविताओ का तर्ज उन्होंने प्रायः मुशियाना ही रखा था। बह या छद भी उर्दू के रखते थे और भाषा में चलते अरबी या फारसी शब्द भी लाते थे। इस ढंग के उनके तीन काव्य निकले है—'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक' और 'वीर पचरत्न'। लालाजी पुराने हिंदी-काव्य और साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। बहुत से प्राचीन काव्यों की नए ढग की टीकाएँ करके उन्होंने अध्ययन के

अभिलाषियो का बड़ा उपकार किया है। रामचंद्रिका, कविप्रिया, दोहावली, कवितावली, बिहारी सतसई आदि की इनकी टीकाओ ने विद्यार्थियो के लिये अच्छा मार्ग खोल दिया। भक्ति और शृंगार की पुराने ढंग की कविताओ मे उक्ति-चमत्कार वे अच्छा लाते थे।

उनकी कविताओ के दोनों तरह के नमूने नीचे देखिए—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब
बाढ़ी चित्त करुना की अजब उमंग है।
पद-रज डारि करे पाप सब छारि,
करि नवल-सुनारि दियो धामहू उतंग है॥
'दीन' भनै ताहि लखि जात पतिलोक
और उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुकनिधान राम रज की बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई हस्व ऋषि-पतिनी-पतंग है॥

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता॥
जो वीर-सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥
सब वीर किया करते हैं सम्मान कलम का।
वीरों का सुयशगान है अभिमान कलम का॥

इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'नवीन बीन' या 'नदी मे दीन' में है।

पंडित रूपनारायण पांडेय—ने यद्यपि व्रजभाषा मे भी बहुत कुछ कविता की है, पर इधर अपनी खड़ी बोली की कविताओ के लिये ही ये अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होने बहुत ही उपयुक्त विषय कविता के लिये चुने हैं और उनमें पूरी रसात्मकता लाने मे समर्थ हुए है। इनके विषय के चुनाव मे ही भावुकता टपकती है, जैसे दलित कुसुम, वन-विहंगम, आश्वासन। इनकी कविताओ का संग्रह 'पराग' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। पाडेयजी

की "वन विहंगम" नाम की कविता में हृदय की विशालता और सरसता का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। 'दलित कुसुम' की अन्योक्ति भी बड़ी हृदय-ग्राहिणी है। संस्कृत और हिंदी दोनो के छंदो में खड़ी बोली को इन्होंने बड़ी सुघड़ाई से ढाला है। यहाँ स्थानाभाव से हम दो ही पद्य उद्धृत कर सकते हैं।

अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय-घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तू ने, हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला ॥

वन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनो वहीं ॥
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रही।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं ॥

खड़ी बोली की खरखराहट (जो तब तक बहुत कुछ बनी हुई थी) के बीच 'वियोगी हरि' के समान स्वर्गीय **पं० सत्यनारायण कविरत्न** (जन्म सवत् १९१६, मृत्यु १९७५) भी व्रज की मधुर वाणी सुनाते रहे। रीतिकाल के कवियों की परपरा पर न चलकर वे या तो भक्तिकाल के कृष्णभक्त कवियों के ढग पर चले हैं अथवा भारतेंदु-काल की नूतन कविता की प्रणाली पर। व्रजभूमि, व्रजभाषा और व्रज-पति का प्रेम उनके हृदय की संपत्ति थी। व्रज के अतीत दृश्य उनकी आँखों में फिरा करते थे। इदौर के पहले साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर वे मुझे वहाँ मिले थे। वहाँ की अत्यंत काली मिट्टी देख वे बोले, "या माटी कों तो हमारे कन्हैया न खाते"।

अँगरेजी की ऊँची शिक्षा पाकर उन्होने अपनी चाल-ढाल व्रजमडल के ग्रामीण भले-मानसो की ही रखी। धोती, बगल बदी और दुपट्टा; सिरपर एक गोल टोपी; यही उनका वेष रहता था। वे बाहर जैसे सरल और सादे थे, भीतर भी वैसे ही थे। सादापन दिखावे के लिये धारण किया हुआ नहीं है, स्वभावगत है, यह बात उन्हें देखते ही और उनकी बातें

सुनते ही प्रकट हो जाती थी। बाल्यकाल से लेकर जीवनपर्य्यंत वे आगरे से डेढ़ कोस पर ताजगंज के पास धाँधूपुर नामक गाँव मे ही रहे। उनका जीवन क्या था, जीवन की विषमता का एक छोटा हुआ दृष्टांत था। उनका जन्म और बाल्यकाल, विवाह और गार्हस्थ्य, सब एक दुःखभरी कहानी के संबद्ध खंड थे। वे थे ब्रजमाधुरी मे पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य्य-समाज के तीखेपन मे तली महिला। इस विषमता की विरसता बढ़ती ही गई और थोड़ी ही अवस्था में कविरत्नजी की जीवन-यात्रा समाप्त हो गई।

ब्रजभाषा की कविताएँ वे छात्रावस्था ही से लिखने लगे थे। बसंतागम पर, वर्षा के दिनों मे वे रसिये आदि ग्राम-गीत अपढ़ ग्रामीणों मे मिलकर निस्संकोच गाते थे। सवैया पढ़ने का ढंग उनका ऐसा आकर्षक था कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते थे। जीवन की घोर विषमताओं के बीच भी वे प्रसन्न और हँसमुख दिखाई देते थे। उनके लिये उनका जीवन ही एक काव्य था, अतः जो बाते प्रत्यक्ष उनके सामने आती थी उन्हे काव्य का रूप-रंग देते उन्हे देर नहीं लगती थी। मित्रो के पास वे प्रायः पद्य मे पत्र लिखा करते थे जिनमे कभी कभी उनके स्वभाव की झलक भी रहती थी, जैसे स्वर्गीय पद्मसिंह जी के पास भेजी हुई इस कविता मे—

> जो मो सों हँसि मिलै होत मैं तासु निरंतर चेरो।
> बस गुन ही गुन निरखत तिह मधि सरल प्रकृति को प्रेरो॥
> यह स्वभाव को रोग जानिए, मेरो बस कछु नाहीं।
> नित नव बिकल रहत याही सों सहृदय-बिछुरन माहीं॥
> सदा दारु-योषित सम बेबस आशा मुदित प्रमानै।
> कोरो सत्य ग्राम को बासी कहा "तकल्लुफ" जानै॥

किसी का कोई अनुरोध टालना तो उनके लिये असंभव था। यह जानकर बराबर लोग किसी न किसी अवसर के उपयुक्त कविता बना देने की प्रेरणा उनसे किया करते थे और वे किसी को निराश न करते थे। उनकी वही दशा थी जो उर्दू के प्रसिद्ध शायर इंशा की लखनऊ दरबार मे हो गई थी। इससे उनकी अधिकांश रचनाएँ सामयिक हैं और जल्दी मे जोड़ी हुई प्रतीत होती हैं।

जैसे—स्वामी रामतीर्थ, तिलक, गोखले, सरोजिनी नायडू इत्यादि की प्रशस्तियाँ; लोकहितकर आयोजनो के लिये अपील (हिंदू-विश्वविद्यालय के लिये लंबी अपील देखिए); दुःख और अन्याय के निवारण के लिये पुकार (कुली प्रथा के विरुद्ध 'पुकार' देखिए)

उन्होने जीती-जागती ब्रजभाषा ली है। उनकी ब्रजभाषा उसी स्वरूप में बँधी न रहकर जो काव्य परंपरा के भीतर पाया जाता है, बोलचाल के चलते रूपों को लेकर चली है। बहुत से ऐसे शब्दो और रूपों का उन्होंने व्यवहार किया है जो परंपरागत काव्यभाषा मे नहीं मिलते।

'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' के अनुवादों में श्लोको के स्थान पर उन्होंने बड़े मधुर सवैये रखे हैं। मकाले के अँगरेजी खंड काव्य 'होरेशस' का पद्यबद्ध अनुवाद उन्होंने बहुत पहले किया था। कविरत्न जी की बड़ी कविताओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमरदूत' विशेष उल्लेख-योग्य हैं। 'भ्रमरदूत' में यशोदा ने द्वारका में जा बसे हुए कृष्ण के पास सदेश भेजा है। उसकी रचना नददास के 'भ्रमरगीत' के ढंग पर की गई है, पर अत मे देश की वर्त्तमान दशा और अपनी दशा का भी हलका-सा आभास कवि ने दिया है। सत्यनारायणजी की रचना के कुछ नमूने देखिए—

अलबेली कहुँ बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोए धोए पातन की अनुपम कमनाई॥
चातक शुक कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल॥
निरखि घन की घटा।

लखि यह सुषमा-जाल लाल निज बिन नँदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी॥
सुधि बुधि तज माथौ पकरि, करि करि सोच अपार।
दृगजल मिस मानहुँ निकरि बही विरह की धार॥
कृष्ण रटना लगी।

कौने भेजौं दूत, पूत सों बिथा सुनावै।
बातन में बहराइ जाइ ताको यह लावै॥
त्यागि मधुपुरी को गयो छाँड़ि सबन के साथ।
सात समुंदर पै भयो दूर द्वारकानाथ॥
जाइगो को उहाँ?

नित नव परत अकाल, काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन को आनंद न देख्यो जात यहाँ कहुँ।
बढ़यो यथेच्छाचारकृत जहँ देखौं तहँ राज।
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्य-समजाज॥
दिनन के फेर सों।

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हैं बिदेसी तंग करत दै विपदा खासी॥

× × × ×

नारी शिक्षा अनादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेश-अवनति-प्रचंड-पातक-अधिकारी॥
निरखि हाल मेरो प्रथम लेहु समझि सब कोइ।
विद्याबल लहि मति परम अबला सबला होइ॥
लखौ अजमाइ कै।

(भ्रमरदूत)

भयो क्यों अनचाहत को संग?
सब जग के तुम दीपक, मोहन! प्रेमी हमहुँ पतंग॥
लखि तव दीपति, देह-शिखा में निरत, बिरह लौ लागी।
खींचति आप सों आप उतहि यह, ऐसी प्रकृति अभागी॥
यदपि सनेह-भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग वियोग दोउन में इक सम नित्य जरावत गात॥

तृतीय उत्थान
(संवत् १९७५ से....)
वर्त्तमान काव्य-धाराएँ
सामान्य परिचय

द्वितीय उत्थान के समाप्त होते होते खड़ी बोली मे बहुत कुछ कविता हो चुकी। इन २५-३० वर्षों के भीतर वह बहुत कुछ मँजी, इसमे संदेह नहीं, पर इतनी नहीं जितनी उर्दू काव्य-क्षेत्र के भीतर जाकर मँजी है। जैसा पहले कह चुके हैं, हिंदी मे खड़ी बोली के पद्य-प्रवाह के लिये तीन रास्ते खोले गए—उर्दू या फारसी की बह्रों का, संस्कृत के वृत्तों का और हिंदी के छंदो का। इनमें से प्रथम मार्ग का अवलंबन तो मैं नैराश्य या आलस्य समझता हूँ। वह हिंदी-काव्य का निकाला हुआ अपना मार्ग नहीं। अतः शेष दो मार्गों का ही थोड़े मे विचार किया जाता है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत के वर्णवृत्तों का-सा माधुर्य्य अन्यत्र दुर्लभ है। पर उनमे भाषा इतनी जकड़ जाती है कि वह भावधारा के मेल में पूरी तरह से स्वच्छंद होकर नहीं चल सकती। इसी से संस्कृत के लंबे समासों का बहुत कुछ सहारा लेना पड़ता है। पर संस्कृत पदावली के अधिक समावेश से खड़ी बोली की स्वाभाविक गति के प्रसार के लिये अवकाश कम रहता है। अतः वर्णवृत्तों का थोड़ा बहुत उपयोग किसी बड़े प्रबंध के भीतर बीच बीच ही उपयुक्त हो सकता है। तात्पर्य्य यह कि संस्कृत-पदावली का अधिक आश्रय लेने से खड़ी बोली के मँजने की संभावना दूर ही रहेगी।

हिंदी के सब तरह के प्रचलित छंदों मे खड़ी बोली की स्वाभाविक वाग्धारा का अच्छी तरह खपने के योग्य हो जाना ही उसका मँजना कहा जायगा। हिंदी के प्रचलित छंदों मे दंडक और सवैया भी हैं। सवैये यद्यपि वर्णवृत्त है पर लय के अनुसार लघु गुरु का बंधन उनमे बहुत कुछ उसी प्रकार शिथिल हो जाता है जिस प्रकार उर्दू के छंदों मे। मात्रिक छंदो मे तो कोई अड़चन ही

नहीं है। प्रचलित मात्रिक छंदो के अतिरिक्त कविजन इच्छानुसार नए नए छंदो का विधान भी बहुत अच्छी तरह कर सकते है।

खड़ी बोली की कविताओं की उत्तरोत्तर गति की ओर दृष्टिपात करने से यह पता चल जाता है कि किस प्रकार ऊपर लिखी बातो की ओर लोगों का ध्यान क्रमशः गया है और जा रहा है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में चलती हुई खड़ी बोली का परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप गीतिका आदि हिंदी के प्रचलित छंदों में तथा नए गढ़े हुए छंदो में पूर्णतया देखने मे आया। ठाकुर गोपालशरणसिंहजी कवित्तों और सवैयो मे खड़ी बोली का बहुत ही मॅजा हुआ रूप सामने ला रहे हैं। उनकी रचनाओं को देखकर खड़ी बोली के मॅज जाने की पूरी आशा होती है।

खड़ी बोली का पूर्ण सौष्ठव के साथ मॅजना तभी कहा जायगा जब पद्यो मे उसकी अपनी गति-विधि का पूरा समावेश हो और कुछ दूर तक चलनेवाले वाक्य सफाई के साथ बैठे। भाषा का इस रूप मे परिमार्जन उन्हीं के द्वारा हो सकता है जिनका हिंदी पर पूरा अधिकार है, जिन्हें उसकी प्रकृति की पूरी परख है। पर जिस प्रकार बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरणसिंह ऐसे कवियों की लेखनी से खड़ी बोली को मॅजते देख आशा का पूर्ण संचार होता है उसी प्रकार कुछ ऐसे लोगो को, जिन्होने अध्ययन या शिष्ट-समागम द्वारा भाषा पर पूरा अधिकार नहीं प्राप्त किया है, संस्कृत को विकीर्ण पदावली के भरोसे पर या अँगरेजी पद्यो के वाक्यखंडों के शब्दानुवाद जोड़कर, हिंदी-कविता के नए मैदान मे उतरते देख आशंका भी होती है। ऐसे लोग हिंदी जानने या उसका अभ्यास करने की जरूरत नही समझते। पर हिंदी भी एक भाषा है, जो आते आते आती है। भाषा बिना अच्छी तरह जाने वाक्य-विन्यास, मुहावरे आदि कैसे ठीक हो सकते है ?

नए नए छंदो के व्यवहार और तुक के बंधन के त्याग की सलाह द्विवेदीजी ने बहुत पहले दी थी। उन्होंने कहा था कि "तुले हुए शब्दो मे कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बाधा आती है।"

नए नए छंदों की योजना के संबध मे हमें कुछ नहीं कहना है। यह बहुत अच्छी बात है। 'तुक' भी कोई ऐसी अनिवार्य वस्तु नहीं। चरणों के भिन्न प्रकार के मेल चाहे जितने किए जायँ, ठीक हैं। पर इधर कुछ दिनों से विना छंद (metre) के पद्य भी—बिना तुकात के होना तो बहुत ध्यान देने की बात नहीं—निरालाजी ऐसे नई रंगत के कवियो में देखने में आते हैं। यह अमेरिका के एक कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) की नकल है जो पहले बॅगला में थोडी बहुत हुई। बिना किसी प्रकार की छदोव्यवस्था की अपनी पहली रचना Leaves of Grass उसने सन् १८५५ ई० मे प्रकाशित की। उसके उपरांत और भी बहुत सी रचनाएँ इस प्रकार की मुक्त या स्वच्छंद पक्तियों मे निकलीं, जिनके सबध में एक समालोचक ने लिखा है—

"A chaos of impressions, thought of feelings thrown together without rhyme, which matters little; without metre, which matters more; and often without reason, which matters much."[1]

साराश यह कि उसकी ऐसी रचनाओं में छंदोव्यवस्था का ही नहीं, बुद्धितत्त्व का भी प्रायः अभाव है। उसकी वे ही कविताएँ अच्छी मानी और पढी गई जिनमें छंद और तुकात की व्यवस्था थी।

पद्य-व्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना वास्तव में पाश्चात्य ढंग के गीत काव्यों के अनुकरण का परिणाम है। हमारे यहाँ के सगीत मे बॅधी हुई राग-रागिनियाँ हैं। पर योरप में संगीत के बड़े बडे उस्ताद (Composers) अपनी अलग अलग नाद-योजना या स्वर-मैत्री चलाया करते है। उस ढग का अनुकरण पहले बगाल मे हुआ। वहाँ की देखा देखी हिंदी मे भी चलाया गया। 'निराला' जी का तो इसकी ओर प्रधान लक्ष्य रहा। हमारा इस सबंध मे यही कहना है कि काव्य का प्रभाव केवल नाद पर अवलंबित नहीं।

छंदो के अतिरिक्त, वस्तु-विधान और अभिव्यंजन-शैली में भी कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस तृतीय उत्थान में प्रकट हुई जिससे अनेकरूपता की ओर

१—Literature in the Century (Nineteenth Century Series),

हमारा काव्य कुछ बढ़ता दिखाई पड़ा। किसी वस्तु मे अनेकरूपता आना विकास का लक्षण है, यदि अनेकता के भीतर एकता का कोई एक सूत्र बराबर बना रहे। इस समन्वय से रहित जो अनेकरूपता होगी वह भिन्न भिन्न वस्तुओं की होगी, एक ही वस्तु की नहीं। अतः काव्यत्व यदि बना रहे तो काव्य का अनेक रूप धारण करके भिन्न भिन्न शाखाओं मे प्रवाहित होना उसका विकास ही कहा जायगा। काव्य के भिन्न भिन्न रूप एक दूसरे के आगे पीछे भी आविर्भूत हो सकते हैं और साथ साथ भी निकल और चल सकते हैं। पीछे आविर्भूत होनेवाला रूप पहले से चले आते हुए रूप से अवश्य ही श्रेष्ठ या समुन्नत हो, ऐसा कोई नियम काव्य-क्षेत्र मे नहीं है। अनेक रूपों को धारण करनेवाला तत्त्व यदि एक है तो शिक्षित जनता की बाह्य और आभ्यंतर स्थिति के साथ सामंजस्य के लिये काव्य अपना रूप भी कुछ बदल सकता है और रुचि की विभिन्नता का अनुसरण करता हुआ एक साथ कई रूपो में भी चल सकता है।

प्रथम उत्थान के भीतर हम देख चुके है कि किस प्रकार काव्य को भी देश की बदली हुई स्थिति और मनोवृत्ति के मेल मे लाने के लिये भारतेंदु-मडल ने कुछ प्रयत्न किया[1]। पर यह प्रयत्न केवल सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर हृदय को थोड़ा प्रवृत्त करके रह गया। राजनीतिक और सामाजिक भावनाओ को व्यक्त करनेवाली वाणी भी दबी सी रही। उसमे न तो संकल्प की दृढ़ता और न्याय के आग्रह का जोश था, न उलट-फेर की प्रबल कामना का वेग। स्वदेश-प्रेम व्यंजित करनेवाला वह स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं। उसमें अतीत के गौरव का स्मरण और वर्त्तमान ह्रास का वेदनापूर्ण अनुभव ही स्पष्ट था। अभिप्राय यह कि यह प्रेम जगाया तो गया, पर कुछ नाया नया-सा होने के कारण उस समय काव्य भूमि पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न हो सका।

कुछ नूतन भावनाओं के समावेश के अतिरिक्त काव्य की परंपरागत पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन भारतेंदु-काल मे न हुआ। भाषा ब्रजभाषा ही

१-देखो पृ० ४४९-५०।

रहने दी गई और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति का कुछ विशेष प्रसार न हुआ। काव्य को बँधी हुई प्रणालियों से बाहर निकालकर जगत और जीवन के विविध पक्षों की मार्मिकता झलकानेवाली धाराओं में प्रवाहित करने की प्रवृत्ति भी न दिखाई पड़ी।

द्वितीय उत्थान मे कुछ दिन ब्रजभाषा के साथ साथ चलकर खड़ी बोली क्रमशः अग्रसर होने लगी; यहाँ तक कि नई पीढ़ी के कवियों को उसी का समय दिखाई पड़ा। स्वदेश-गौरव और स्वदेश-प्रेम की जो भावना प्रथम उत्थान में जगाई गई थी उसका अधिक प्रसार द्वितीय उत्थान मे हुआ और 'भारत-भारती' ऐसी पुस्तक निकली। इस भावना का प्रसार तो हुआ पर इसकी अभिव्यंजना मे प्रातिभ प्रगल्भता न दिखाई पड़ी।

शैली मे प्रगल्भता और विचित्रता चाहे न आई हो, पर काव्यभूमि का प्रसार अवश्य हुआ। प्रसार और सुधार की जो चर्चा नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना के समय से ही रह रहकर थोड़ी-बहुत होती आ रही थी वह 'सरस्वती' के निकलने के साथ ही कुछ अधिक ब्योरे के साथ हुई। उस पत्रिका के प्रथम दो-तीन वर्षों के भीतर ही ऐसे लेख निकले जिनमें साफ कहा गया कि अब नायिका भेद और शृंगार में ही बँधे रहने का जमाना नहीं है; संसार में न जाने कितनी बाते है जिन्हें लेकर कवि चल सकते है। इस बात पर द्विवेदीजी भी बराबर जोर देते रहे और कहते रहे कि "कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है।" द्विवेदीजी 'सरस्वती' के संपादन-काल में कविता मे नयापन लाने के बराबर इच्छुक रहे। नयापन आने के लिये वे नए नए विषयों का नयापन या नानात्व प्रधान समझते रहे और छंद, पदावली, अलंकार आदि का नयापन उसका अनुगामी। रीतिकाल की शृंगारी कविता की ओर लक्ष्य करके उन्होंने लिखा—

इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इसपर भी लोग पुरानी लकीर बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते।

द्वितीय उत्थान के भीतर हम दिखा आए हैं कि किस प्रकार काव्य-क्षेत्र का विस्तार बढ़ा, बहुत-से नए नए विषय लिए गए और बहुत से कवि कवित्त, सवैया लिखने से बाज आकर संस्कृत के नए वृत्तो मे रचना करने लगे। रचनाएँ चाहे अधिकतर साधारण गद्य-निबंधों के रूप मे ही हुई हों, पर प्रवृत्ति अनेक विषयो की ओर रही, इसमे संदेह नहीं। उसी द्वितीय उत्थान मे स्वतंत्र वर्णन के लिये मनुष्येतर प्रकृति को कवि लोग लेने लगे पर अधिकतर उसके ऊपरी प्रभाव तक ही रहे। उसके रूप-व्यापार कैसे सुखद, सजीले और सुहावने लगते हैं, अधिकतर यही देख-दिखाकर उन्होंने सतोष किया। चिर-साहचर्य से उत्पन्न उनके प्रति हमारा राग व्यंजित न हुआ। उनके बीच मनुष्य-जीवन को रखकर उसके प्रकृत स्वरूप पर व्यापक दृष्टि नहीं डाली गई। रहस्यमयी सत्ता के अक्षर-प्रसार के भीतर व्यंजित भावो और मार्मिक तथ्यों के साक्षात्कार तथा प्रत्यक्षीकरण की ओर झुकाव न देखने मे आया। इसी प्रकार विश्व के अत्यंत सूक्ष्म और अत्यंत महान् विधानों के बीच जहाँ तक हमारा ज्ञान पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी पहुँचाने का कुछ प्रयास होना चाहिए था, पर न हुआ। द्वितीय उत्थान-काल का अधिकांश भाग खड़ी बोली को भिन्न भिन्न प्रकार के पद्यों मे ढालने मे ही लगा।

तृतीय उत्थान में आकर खड़ी बोली के भीतर काव्यत्व का अच्छा स्फुरण हुआ। जिस देश-प्रेम को लेकर काव्य की नूतन धारा भारतेंदुकाल मे चली थी वह उत्तरोत्तर प्रबल और व्यापक रूप धारण करता आया। शासन की अव्यवस्था और अशांति के उपरांत अँगरेजों के शांतिमय और रक्षापूर्ण शासन के प्रति कृतज्ञता का भाव भारतेंदुकाल में बना हुआ था। इससे उस समय की देशभक्ति-संबंधी कविताओं मे राजभक्ति का स्वर भी प्रायः मिला पाया जाता है। देश की दुःख-दशा का प्रधान कारण राजनीतिक समझते हुए भी उस दुःख-दशा से उद्धार के लिये कवि लोग दयामय भगवान् को ही पुकारते मिलते हैं। कहीं कहीं धंधों को न बढ़ाने, आलस्य मे पड़े रहने और देश की बनी वस्तुओं का व्यवहार न करने के लिये वे देशवासियों को भी कोसते पाए जाते हैं। सरकार पर रोष या असंतोष की व्यंजना उनमे नहीं मिलती। कांग्रेस की प्रतिष्ठा होने के उपरांत भी बहुत दिनों तक देशभक्ति की

वाणी मे विशेष बल और वेग न दिखाई पड़ा। बात यह थी कि राजनीति की लंबी चौड़ी चर्चा भर साल मे एक बार धूमधाम के साथ थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियो के बीच हो जाया करती थी जिसका कोई स्थायी और क्रियोत्पादक प्रभाव नहीं देखने में आया था। अतः द्विवेदी-काल की देशभक्ति-संबंधी रचनाओं मे शासन-पद्धति के प्रति असतोष तो व्यंजित होता था पर कर्म में तत्पर करानेवाला, आत्मत्याग करानेवाला जोश और उत्साह न था। आंदोलन भी कड़ी याचना के आगे नहीं बढ़े थे।

तृतीय उत्थान मे आकर परिस्थिति बहुत बदल गई। आंदोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गॉव गॉव मे राजनीतिक और आर्थिक परतत्रता के विरोध की भावना जगाई गई। सरकार से कुछ मॉगने के स्थान पर अब कवियो की वाणी देशवासियो को ही 'स्वतंत्रता देवी की वेदी पर बलिदान' होने को प्रोत्साहित करने मे लगी। अब जो आदोलन चले वे सामान्य जन-समुदाय को भी साथ लेकर चले। इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि ये आदोलन ससार के और भागो में चलनेवाले आदोलनो के मेल मे लाए गए, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए। वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम मे उठा उसकी गूँज यहॉ भी पहुँची। दूसरे देशों का धन खींचने के लिये योरप मे महायंत्र-प्रवर्त्तन का जो क्रम चला उससे पूँजी लगानेवाले थोड़े से लोगों के पास तो अपार धन-राशि इकठी होने लगी पर अधिकाश श्रमजीवी जनता के लिये भोजन-वस्त्र मिलना भी कठिन हो गया। अतः एक ओर तो योरप में मशीनों की सभ्यता के विरुद्ध टालस्टाय की धर्मबुद्धि जगानेवाली वाणी सुनाई पड़ी जिसका भारतीय अनुवाद गांधीजी ने किया; दूसरी ओर इस घोर आर्थिक विषमता की घोर प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद नामक सिद्धात चले जिन्होंने रूस में अत्यत उग्ररूप धारण करके भारी उलट-फेर कर दिया।

अब ससार के प्रायः सारे सभ्य भाग एक दूसरे के लिये खुले हुए हैं। इससे एक भू-खंड में उठी हुई हवाएँ दूसरे भू-खंड मे शिक्षित वर्गों तक तो अवश्य ही पहुँच जाती हैं। यदि उनका सामंजस्य दूसरे भू खंड की परिस्थिति

के साथ हो जाता है तो उस परिस्थिति के अनुरूप शक्तिशाली आंदोलन चल पड़ते हैं। इसी नियम के अनुसार शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजनीतिक आंदोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान-आंदोलन, मजदूर-आंदोलन, अछूत-आंदोलन इत्यादि कई आंदोलन एक विराट् परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अंगो के रूप मे चले। श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि कई कवियों की वाणी द्वारा ये भिन्न भिन्न प्रकार के आंदोलन प्रतिध्वनित हुए। ऐसे समय मे कुछ ऐसे भी आंदोलन दूसरे देशो की देखा देखी खड़े होते है जिनकी नौबत वास्तव मे नहीं आई रहती। योरप मे जब देश के देश बड़े बड़े कल-कारखानों से भर गए है और जनता का बहुत-सा भाग उसमे लग गया है तब मजदूर-आंदोलन की नौबत आई है। यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए है और उनमे काम करनेवाले थोड़े-से मजदूरो की दशा खेत मे काम करनेवाले करोड़ो किसानों की दशा से कहीं अच्छी है। पर मजदूर आंदोलन साथ लग गया। जो कुछ हो, इन आंदोलनो का तीव्र स्वर हमारी काव्य-वाणी मे सम्मिलित हुआ।

जीवन के कई क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन के लिये पुकार सुनाई पड़ती है तब परिवर्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतों के लिये सब क्षेत्रो मे स्वतः एक चरम साध्य बन जाता है। 'क्रांति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना हमारे हिंदी-काव्य-क्षेत्र में प्रलय की पूरी पदावली के साथ व्यक्त की गई। इस कामना के साथ कहीं कहीं प्राचीन के स्थान पर नवीन के दर्शन की उत्कंठा भी प्रकट हुई। सब बातो मे परिवर्तन ही परिवर्तन की यह कामना कहाँ तक वर्तमान परिस्थिति के स्वतंत्र पर्यालोचन का परिणाम है और कहाँ तक केवल अनुकृत है, नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य दिखाई पड़ता है कि इस परिवर्तनवाद के प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक हो जाने से जगत् और जीवन के नित्य स्वरूप की वह अनुभूति नए कवियो मे कम जग पाएगी जिसकी व्यंजना काव्य को दीर्घायु प्रदान करती है।

यह तो हुई काल के प्रभाव की बात। थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि चली आती हुई काव्य-परंपरा की शैली से अतृप्ति या असंतोष के कारण परिवर्तन की कामना कहाँ तक जगी और उसकी अभिव्यक्ति किन किन रूपो में

हुई। भक्ति-काल और रीति-काल की चली आती हुई परंपरा के अंत में किस प्रकार भारतेंदु-मडल के प्रभाव से देश-प्रेम और जाति-गौरव की भावना को लेकर एक नूतन परपरा की प्रतिष्ठा हुई, इसका उल्लेख हो चुका है। द्वितीय उत्थान मे काव्य की नूतन परंपरा का अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ, पर द्विवेदी जी के प्रभाव से एक ओर उसमें भाषा की सफाई, दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर बाह्यार्थनिरूपक हो गया। अतः इस तृतीय उत्थान मे जो प्रतिवर्तन हुआ और पीछे 'छायावाद' कहलाया वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है। उसका प्रधान लक्ष्य काव्य-शैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं। अर्थभूमि या वस्तु-भूमि का तो उसके भीतर बहुत सकोच हो गया। समन्वित विशाल भावनाओं को लेकर चलने की ओर ध्यान न रहा।

द्वितीय उत्थान की कविता मे काव्य का स्वरूप खड़ा करनेवाली दोनों बातों की कमी दिखाई पड़ती थी—कल्पना का रग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का वेग भी खूब खुलकर नहीं व्यंजित होता था। इन बातों की कमी परंपरागत व्रजभाषा-काव्य का आनंद लेनेवालों को भी मालूम होती थी और बॅगला या अँगरेजी की कविता का परिचय रखनेवालों को भी। अतः खड़ी बोली की कविता में पद-लालित्य, कल्पना की उड़ान, भाव की वेगवती व्यजना, वेदना की विवृति, शब्दप्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बाते देखने की आकाक्षा बढ़ती गई।

सुधार चाहनेवालों में कुछ लोग नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त खड़ी बोली की कविता को व्रजभाषा काव्य की-सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अँगरेजी की या अँगरेजी के ढग पर चली हुई बॅगला की कविताओं से प्रभावित थे वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यजक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे। श्री पारसनाथसिंह के किए हुए बॅगला कविताओ के हिंदी अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में सवत् १९६७ (सन् १९१०) से ही निकलने लगे थे। ये, वर्ड्स्वर्थ आदि अँगरेजी कवियों की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी (जैसे, जीतनसिंह द्वारा अनूदित वर्ड्स्वर्थ का 'कोकिल') निकले। अतः खड़ी बोली

की कविता जिस रूप मे चल रही थी उससे संतुष्ट न रहकर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ी बोली काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अंतर्भावव्यंजक बनाने मे प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँगरेजी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकल कविताएँ और प्रगीत मुक्तक (Lyrics) बँगला मे निकल रहे थे उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तुविन्यास अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा मे इनकी नए ढग की रचनाएँ सवत् १९७०-७१ से ही निकलने लगी थीं जिनमे से कुछ के भीतर रहस्यमय-भावना भी रहती थी।

गुप्तजी की 'नक्षत्रनिपात' (सन् १९१४), अनुरोध (सन् १९१५), पुष्पाजलि (१९१७), स्वय आगत (१९१८) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य है। 'पुष्पांजलि' और 'स्वयं आगत' की कुछ पंक्तियाँ आगे देखिए—

(क) मेरे आँगन का एक फूल।
सौभाग्य-भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वासन से हिला हुआ,
संसार-विटप में खिला हुआ,
झड़ पडा अचानक झूल-झूल।

(ख) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं।

इसी प्रकार गुप्तजी की और भी बहुत-सी गीतात्मक रचनाएँ है, जैसे—

(ग) निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी।

(घ) प्यारे! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया।
दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस, कहा।
सो जाने के लिये जगत् का यह प्रकाश मैं जाग रहा।

किंतु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा।
निरुद्देश नख-रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति अहा!

गुप्तजी तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, किसी विशेष पद्धति या 'वाद' में न बँधकर कई पद्धतियों पर अब तक चले आ रहे हैं। पर मुकुटधरजी बराबर नूतन पद्धति पर ही चले। उनकी इस ढंग की प्रारंभिक रचनाओं में 'आँसू' 'उद्‌गार' इत्यादि ध्यान देने योग्य हैं। कुछ नमूने देखिए—

(क) हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीडा-स्थान।

(१९१७)

(ख) मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खजाना,
अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूँदों में ढर जा।

(१९१७)

(ग) जब संध्या को हट जावेगी भीड़ महान्
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान।
शून्य कक्ष के अथवा कोने मे ही एक
बैठ तुम्हारा करूँ वहाँ नीरव अभिषेक।

(१९२०)

पं० बदरीनाथ भट्ट भी सन् १९१३ के पहले से ही भाव-व्यंजक और अनूठे गीत रचते आ रहे थे। दो पंक्तियाँ देखिए—

दे रहा दीपक जलकर फूल,
रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अंधकार हिय हूल।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के भी इस ढंग के कुछ गीत सन् १९१५-१६ के आस-पास मिलेंगे।

ये कवि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नई कविता का संचार चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपों पर प्रेम दृष्टि डालकर, उसके रहस्य-भरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे। भक्तिक्षेत्र मे उपास्य की एकदेशीय या धर्मविशेष मे प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ रहे थे जिसमें सुंदर रहस्यात्मक संकेत भी रहते थे। अतः हिंदी-कविता की नई धारा का प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को—समझना चाहिए। इस दृष्टि से छायावाद का रूप-रंग खड़ा करनेवाले कवियो के संबंध मे अँगरेजी या बँगला की समीक्षाओं से उठाई हुई इस प्रकार की पदावली का कोई अर्थ नहीं कि 'इन कवियों के मन मे एक आँधी उठ रही थी जिसमे आंदोलित होते हुए वे उड़े जा रहे थे; एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी जिसमे सुख की मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी; रूढ़ियो के भार से दबी हुई युग की आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिये हाथ पैर मार रही थी।' न कोई आँधी थी, न तूफान; न कोई नई कसक थी, न वेदना; न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियो का हृदय पर कोई नया आघात था, न उसका आहत नाद। इन बातो का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिन पर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावाद के पहले नए नए मार्मिक विषयो की ओर हिंदी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैली की, कल्पना और सवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यजना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे धीरे अपने स्वतंत्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा हो रहा था।

गुप्त जी और मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा यह स्वच्छंद नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने

ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल मे ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। यह 'वाद' क्या प्रकट हुआ, एक बने-बनाए रास्ते का दरवाजा सा खुल पड़ा और हिंदी के कुछ नए कवि उधर एकबारगी झुक पडे। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य-क्षेत्र में प्रकट होना, कई कवियो का इस पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनो तक इसके भीतर अँगरेजी और बँगला की पदावली का जगह जगह ज्यों का त्यो अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्ग की स्वतंत्र उद्भावना नहीं सूचित करतीं।

'छायावाद' नाम चल पडने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले। शैली की इन विशेषताओ की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषा मे अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बँध गई। हृत्तन्त्री की झंकार, नीरव सदेश, अभिसार, अनंत-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पॉव आना, आँखमिचौली, मद में झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी कवियों के पुराने सामान भी इकट्ठे किए गए। कुछ हेर-फेर के साथ वही बँधी पदावली, वेदना का वही प्रकांड प्रदर्शन, कुछ विशृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओ में मिलने लगा।

अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर कामवासना के शब्दों में प्रेम-व्यंजना भारतीय काव्य-धारा में कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात "हमारे यहाँ यह भी था" की प्रवृत्तिवालों को अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद् से लेकर तंत्र और योग-मार्ग तक की दौड़ लगाते हैं। उपनिषदो में आए हुए आत्मा के पूर्ण आनंदस्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानंद की अपरिमेयता को समझाने के लिये स्त्री-पुरुष-सबंधवाले दृष्टांत या उपमाएँ, योग

के सहस्रदल कमल आदि की भावना के बीच वे बड़े संतोष के साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करने के पहले उन्हें समझना चाहिए कि जो बात ऊपर कही गई है उसका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि मत-मतांतरों की साधना के क्षेत्र में रहस्य-मार्ग नहीं चले ? योग रहस्य-मार्ग है, तंत्र रहस्य-मार्ग है, रसायन भी रहस्य-मार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं; प्रकृत भाव-भूमि या काव्य भूमि के भीतर चले हुए मार्ग नहीं। भारतीय परंपरा का कोई कवि मणिपूर, अनाहत आदि चक्रों को लेकर तरह तरह के रगमहल बनाने मे प्रवृत्त नहीं हुआ।

संहिताओ मे तो अनेक प्रकार की बातों का संग्रह है। उपनिषदों में ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्मा के संबंध में कई प्रकार के मत हैं। वे काव्य-ग्रथ नहीं है। उनमे इधर-उधर काव्य का जो स्वरूप मिलता है वह ऐतिह्य, कर्मकांड, दार्शनिक चिंतन, सांप्रदायिक गुह्य साधना, मंत्र-तंत्र, जादू-टोना इत्यादि बहुत सी बातों मे उलझा हुआ है। विशुद्ध काव्य का निखरा हुआ स्वरूप पीछे अलग हुआ। रामायण का आदिकाव्य कहलाना साफ यही सूचित करता है। संहिताओ और उपनिषदो को कभी किसी ने काव्य नहीं कहा। अब सीधा सवाल यह रह गया कि क्या वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके प्रति कामुकता के शब्दो मे प्रेम-व्यंजना की हो। कबीरदास किस प्रकार हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूफियो के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले, यह हम पहले दिखा आए हैं[1]। उसी भावात्मक रहस्य-परंपरा का यह नूतन भाव-भगी और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है। बहुत रमणीय है, कुछ लोगो को अत्यंत रुचिकर हैं, यह और बात है।

प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम-वासनाएँ, इंद्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद

१—देखो पृष्ठ ६४—६५ और ७७।

से संबंध न रखनेवाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगीं। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के संबंध मे भी प्रतीकवाद (Symbolism) के अर्थ में होने लगा।

छायावाद का इस धारा के आने के साथ ही साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर योरप के साहित्य-क्षेत्र में प्रवर्तित काव्य और कला-संबंधी अनेक नए पुराने सिद्धात सामने लाने लगे। कुछ दिन 'कलावाद' की धूम रही और कहा जाता रहा "कला का उद्देश्य कला ही है। इस जीवन के साथ काव्य का कोई संबंध नहीं; उसकी दुनिया ही और है। किसी काव्य के मूल्य का निर्धारण जीवन की किसी वस्तु के मूल्य के रूप में नहीं हो सकता। काव्य तो एक लोकातीत वस्तु है। कवि एक प्रकार का रहस्यदर्शी (Seer) या पैगंबर है[१]।" इसी प्रकार क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को लेकर बताया गया कि "काव्य मे वस्तु या वर्ण्य-विषय कुछ नहीं; जो कुछ है वह अभिव्यंजना के ढग का अनूठापन है[२]।" इन दोनों वादो के अनुसार काव्य का लक्ष्य उसी प्रकार सौंदर्य की सृष्टि या योजना कहा गया जिस प्रकार बेल बूटे या नक्काशी का। कवि कल्पना प्रत्यक्ष-जगत् से अलग एक रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौंदर्य-भावना के मद मे झूमनेवाला एक लोकातीत जीव। कला और काव्य की प्रेरणा का संबंध स्वप्न और कामवासना से बतानेवाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। साराश यह कि इस प्रकार के वाद प्रवाद पत्र-पत्रिकाओ में निकलते रहे।

छायावाद की कविता की पहली दौड़ तो बगभाषा की रहस्यात्मक कविताओ के सजीले और कोमल मार्ग पर हुई। पर उन कविताओ की बहुत-कुछ गति-विधि अँगरेजी वाक्य खडो के अनुवाद द्वारा संघटित देख, अँगरेजी काव्यों से परिचित हिंदी-कवि सीधे अँगरेजी से ही तरह तरह के लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों के त्यों अनुवाद जगह जगह अपनी रचनाओ मे जड़ने लगे। 'कनक प्रभात', 'विचारो में बच्चो की साँस', 'स्वर्ण समय', 'प्रथम मधुबाल',

---

१—विशेष देखो पृ० ५६८—७१।

२—देखो पृष्ठ ५७१—७२।

'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल कांति' ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। निरालाजी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का। केवल भाषा के प्रयोग वैचित्र्य तक ही बात न रही। ऊपर जिन अनेक यूरोपीय वादों और प्रवादों का उल्लेख हुआ है उन सबका प्रभाव भी छायावाद कही जानेवाली कविताओं के स्वरूप पर कुछ न कुछ पड़ता रहा।

कलावाद और अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्य में भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और विचित्रता लाने मे ही प्रवृत्त हुई। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार इसी अप्रस्तुत योजना के काम मे लाए गए। सीधे उनके मर्म की ओर हृदय प्रवृत्त न दिखाई पड़ा। पंतजी अलबत प्रकृति के कमनीय रूपों की ओर कुछ रुककर हृदय रमाते पाए गए।

दूसरा प्रभाव यह देखने मे आया कि अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। नाना अर्थ-भूमियो पर काव्य का प्रसार रुक सा गया। प्रेम क्षेत्र (कहीं आध्यात्मिक, कहीं लौकिक) के भीतर ही कल्पना की चित्र-विधायिनी क्रीड़ा के साथ प्रकांड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना तथा व्रीड़ा से दौड़ी हुई प्रिय के कपोलों पर की ललाई, हाव-भाव, मधुस्राव तथा अश्रुप्रवाह इत्यादि के रँगीले वर्णन करके ही अनेक कवि अब तक पूर्ण तृप्त दिखाई देते हैं। जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। बहुत से नए रसिक प्रस्वेद-गंध-युक्त, चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा को ही सब कुछ समझने लगे हैं। लक्षणा-शक्ति के सहारे अभिव्यंजना-प्रणाली या काव्य-शैली का अवश्य बहुत अच्छा विकास हुआ है; पर अभी तक कुछ बँधे हुए शब्दो की रूढ़ि चली चल रही है। रीति-काल की शृंगारी कविता—कभी रहस्य का पर्दा डालकर कभी खुले मैदान—अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेककर चल रही है।

'कलावाद' के प्रसंग में बार-बार आनेवाले 'सौंदर्य' शब्द के कारण बहुत से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओ को पर लगाकर कोहकाफ की परियों या बिहिश्त के फरिश्तो की तरह उड़ाते हैं; सौदर्य-चयन के लिये इद्रधनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित आनन, अधर पल्लव इत्यादि बहुत-सी सुंदर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता मे जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्री के नाना अगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौंदर्य की भावना ही नहीं कर सकते। 'कला कला' की पुकार के कारण यूरप में प्रगीत मुक्तको (Lyrics) का ही अधिक चलन देखकर यहाँ भी उसी का जमाना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लंबी कविताएँ पढ़ने की किसी को फुरसत कहाँ जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला रहता हो। अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे छोटे प्रगीत मुक्तकों में ही सभव है। इस प्रकार काव्य मे जीवन की अनेक परिस्थितियो की ओर ले जानेवाले प्रसंगों या आख्यानो की उद्भावना बद-सी हो गई।

खैरियत यह हुई कि कलावाद की उस रसवर्जिनी सीमा तक लोग नहीं बढ़े जहाँ यह कहा जाता है कि रसानुभूति के रूप मे किसी प्रकार का भाव जगाना तो वक्ताओं का काम है; कलाकार का काम तो केवल कल्पना द्वारा बेल-बूटे या बारात की फुलवारी की तरह शब्दमयी रचना खड़ी करके सौदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है। हृदय और वेदना का पक्ष छोड़ा नहीं गया है, इससे काव्य के प्रकृत स्वरूप के तिरोभाव की आशंका नहीं है। पर छायावाद और कलावाद के सहसा आ धमकने से वर्त्तमान काव्य का बहुत-सा अंश एक बँधी हुई लीक के भीतर सिमट गया, नाना अर्थभूमियो पर न जाने पाया, यह अवश्य कहा जायगा।

छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्यशैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमे संदेह नहीं। इसमे भावावेश की आकुल व्यजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी। भाषा के परिमार्जन काल में किस प्रकार खड़ी बोली की कविता के रूखे सूखे रूप से ऊबकर कुछ कवि उसमें सरसता लाने के चिन्ह दिखा रहे थे, यह

कहा जा चुका है[1]। अतः आध्यात्मिक रहस्यवाद का नूतन रूप हिंदी में न आता तो भी शैली और अभिव्यंजना-पद्धति की उक्त विशेषताएँ क्रमशः स्फुरित होतीं और उनका स्वतंत्र विकास होता। हमारी काव्य-भाषा मे लाक्षणिकता का कैसा अनूठा आभास घनानंद की रचनाओं मे मिलता है, यह हम दिखा चुके हैं[2]।

छायावाद जहाँ आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अंतर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद (symbolism) नाम की काव्य-शैली के रूप मे गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है। हर्ष की बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के और और मार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। इसी के साथ ही काव्य-शैली मे प्रतिक्रिया के प्रदर्शन या नएपन की नुमाइश का शौक भी घट रहा है। अब अपनी शाखा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थगर्भित रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती दिखाई पड़ती है।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद जी अधिकतर तो विरह-वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधु गान ही करते रहे, पर इधर 'लहर' मे कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की शैली को चित्रमयी विस्तृत अर्थभूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होने किया और जगत् के वर्तमान दुःख-द्वेष-पूर्ण मानव-जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृंदावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया। इसी प्रकार श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'गुंजन' में सौंदर्य-चयन से आगे बढ़ जीवन के नित्य स्वरूप पर दृष्टि डाली है; सुख-दुःख दोनो के साथ अपने हृदय का सामंजस्य किया है और 'जीवन की गति मे भी लय' का अनुभव किया है। बहुत अच्छा होता यदि पंतजी उसी प्रकार जीवन की अनेक परिस्थि-

१—देखो पृ॰ ६००—६०६।
२—देखो पृ॰ ३३९—४०१।

तियों को नित्य रूप में लेकर अपनी सुंदर, चित्रमयी प्रतिभा को अग्रसर करते जिस प्रकार उन्होंने 'गुंजन' और 'युगांत' मे किया है। पर 'युग वाणी' मे उनकी वाणी बहुत कुछ वर्तमान आंदोलनों की प्रतिध्वनि के रूप मे परिणत होती दिखाई देती है।

निराला जी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार 'तुम' और 'मैं' मे उस रहस्यमय 'नाद वेद आकार सार' का गान किया, 'जूही कली' और 'शेफालिका' में उन्मद प्रणय-चेष्टाओं के पुष्प-चित्र खड़े किए उसी प्रकार 'जागरण वीणा' बजाई; इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति खडी की और इधर आकर 'इलहाबाद के पथ पर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर श्रम-सीकर दिखाए। साराश यह कि अब शैली के वैलक्षण्य द्वारा प्रतिक्रिया प्रदर्शन का वेग कम हो जाने से अर्थभूमि के रमणीय प्रसार के चिह्न भी छायावादी कहे जानेवाले कवियो की रचनाओं मे दिखाई पड़ रहे हैं।

इधर हमारे साहित्य-क्षेत्र की प्रवृत्तियो का परिचालन बहुत-कुछ पश्चिम से होता है। कला मे 'व्यक्तित्व' की चर्चा खूब फैलने से कुछ कवि लोक के साथ अपना मेल न मिलने की अनुभूति की बड़ी लंबी चौड़ी व्यंजना, कुछ मार्मिकता और कुछ फक्कड़पन के साथ, करने लगे हैं। भाव क्षेत्र में असामंजस्य की इस अनुभूति का भी एक स्थान अवश्य है, पर यह कोई व्यापक या स्थायी मनोवृत्ति नहीं। हमारा भारतीय काव्य उस भूमि की ओर प्रवृत्त रहा है जहाँ जाकर प्रायः सब हृदयों का मेल हो जाता है। वह सामंजस्य लेकर—अनेकता मे एकता को लेकर—चलता रहा है, असामंजस्य को लेकर नहीं।

उपर्युक्त परिवर्तनवाद और छायावाद लेकर चलनेवाली कविताओं के साथ-साथ और दूसरी धाराओ की कविताएँ भी विकसित होती हुई चल रही हैं। द्विवेदीकाल मे प्रवर्तित विविध वस्तु-भूमियो पर प्रसन्न प्रवाह के साथ चलनेवाली काव्यधारा सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरणसिंह, अनूप शर्मा, श्यामनारायण पाडेय, पुरोहित प्रतापनारायण, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' इत्यादि अनेक कवियो की वाणी के प्रसाद से विविध प्रसंग, आख्यान और विषय लेकर निखरती तथा प्रौढ़ और प्रगल्भ होती चली चल रही है।

उसकी अभिव्यंजना प्रणाली में अब अच्छी सरसता और सजीवता तथा अपेक्षित वक्रता का भी विकास होता चल रहा है।

यद्यपि कई वादों के कूद पड़ने और प्रेम-गान की परिपाटी (Love lyrics) का फैशन चल पड़ने के कारण अर्थ-भूमि का बहुत कुछ संकोच हो गया और हमारे वर्त्तमान काव्य का बहुत-सा भाग कुछ रूढ़ियों को लेकर एक बँधी लीक पर बहुत दिनों तक चला, फिर भी स्वाभाविक स्वच्छंदता (True Romanticism) के नूतन पथ का ग्रहण करके कई कवि चले जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। पं० रामनरेश त्रिपाठी के संबंध में द्वितीय उत्थान के भीतर कहा जा चुका है। तृतीय उत्थान के आरंभ में पं० मुकुटधर पांडेय की रचनाएँ छायावाद के पहले किस प्रकार नूतन, स्वच्छंद मार्ग निकाल रही थीं यह भी हम दिखा आए हैं। मुकुटधरजी की रचनाएँ नरेतर प्राणियों की गति-विधि का भी राग-रहस्यपूर्ण परिचय देती हुई स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर झुकती मिलेंगी। प्रकृति-प्रांगण के चर-अचर प्राणियों का रागपूर्ण परिचय, उनकी गति-विधि पर आत्मीयता-व्यंजक दृष्टिपात, सुख-दुख में उनके साहचर्य की भावना ये सब बातें स्वाभाविक स्वच्छंदता के पथ-चिन्ह हैं। सर्वश्री सियाराम शरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, ठाकुर गुरुभक्तसिंह, उदयशंकर भट्ट इत्यादि कई कवि विस्तृत अर्थ भूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता का मर्म पथ ग्रहण करके चल रहे हैं। वे न तो केवल नवीनता के प्रदर्शन के लिये पुराने छंदो का तिरस्कार करते है, न उन्हीं में एकबारगी बँधकर चलते हैं। वे प्रसंग के अनुकूल परंपरागत पुराने छंदों का व्यवहार और नए ढंग के छंदों तथा चरण-व्यवस्थाओं का विधान भी करते है, व्यंजक चित्र-विन्यास, लाक्षणिक वक्रता और मूर्तिमत्ता, सरल पदावली आदि का भी सहारा लेते हैं, पर इन्हीं बातों को सब कुछ नही समझते। एक छोटे से घेरे मे इनके प्रदर्शन मात्र से वे संतुष्ट नहीं दिखाई देते हैं। उनकी कल्पना इस व्यक्त जगत् और जीवन की अनंत वीथियों मे हृदय को साथ लेकर विचरने के लिये आकुल दिखाई देती है।

तृतीयोत्थान की प्रवृत्तियों के इस संक्षिप्त विवरण से व्रजभाषा-काव्य परंपरा के अतिरिक्त इस समय चलनेवाली खड़ी बोली की तीन मुख्य धाराएँ स्पष्ट हुई होंगी—द्विवेदी-काल की क्रमशः विस्तृत और परिष्कृत होती हुई धारा; छायावाद

कही जानेवाली धारा तथा स्वाभाविक स्वच्छंदता को लेकर चलती हुई धारा जिसके अंतर्गत राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन की लालसा व्यक्त करनेवाली शाखा भी हम ले सकते है। ये धाराएँ वर्तमान काल में चल रही हैं और अभी इतिहास की सामग्री नहीं बनी हैं। इसलिये इसके भीतर की कुछ कृतियों और कुछ कवियो का थोड़ा सा विवरण देकर ही हम संतोष करेंगे। इनके बीच मुख्य भेद वस्तु-विधान और अभिव्यंजन-कला के रूप और परिणाम मे है। पर काव्य की भिन्न-भिन्न धाराओ के भेद इतने निर्दिष्ट नहीं हो सकते कि एक की कोई विशेषता दूसरी मे कहीं दिखाई ही न पडे। जब धाराएँ साथ-साथ चल रही हैं तब उनका थोड़ा-बहुत प्रभाव एक दूसरे पर पड़ेगा ही। एक धारा का कवि दूसरी धारा की किसी विशेषता मे भी अपनी कुछ निपुणता दिखाने की कभी इच्छा कर सकता है। धाराओ का विभाग सबसे अधिक सामान्य प्रवृत्ति देखकर ही किया जा सकता है। फिर भी दो चार कवि ऐसे रह जायेंगे जिनमें सब धाराओ की विशेषताएँ समान रूप से पाई जायँगी, जिनकी रचनाओं का स्वरूप मिला-जुला होगा। कुछ विशेष प्रवृत्ति होगी भी तो व्यक्तिगत होगी।

१—ब्रजभाषा काव्य-परंपरा

जैसा द्वितीयोत्थान के अंत मे कहा जा चुका है, ब्रजभाषाकी काव्य-परंपरा भी चली चल रही है। यद्यपि खड़ी बोली का चलन हो जाने से अब ब्रजभाषा की रचनाएँ प्रकाशित बहुत कम होती हैं पर अभी देश मे न जाने कितने कवि नगरों और ग्रामो में बराबर ब्रज-वाणी की रसधारा बहाते चल रहे है। जब कहीं किसी स्थान पर कवि-समेलन होता है तब न जाने कितने अज्ञात कवि आकर अपनी रचनाओं से लोगो को तृप्त कर जाते है। रत्नाकरजी की 'उद्धवशतक' ऐसी उत्कृष्ट रचनाएँ इस तृतीय उत्थान में ही निकली थीं। सर्गबद्ध प्रबंध काव्यों में हमारा 'बुद्धचरित' संवत् १९७९ में प्रकाशित हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध का लोकपावन चरित उसी परंपरागत काव्य भाषा में वर्णित है, जिसमे रामकृष्ण की लीला का अब भी घर घर गान होता है।

श्री वियोगी हरि जी की 'वीरसतसई' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिले बहुत दिन नहीं हुए। देव पुरस्कार से पुरस्कृत श्री दुलारेलाल जी भार्गव के दोहे बिहारी के रास्ते पर चल ही रहे हैं। अयोध्या के श्री रामनाथ ज्योतिषी को 'रामचंद्रोदय' काव्य के लिये देव-पुरस्कार, थोड़े ही दिन हुए, मिला है। मेवाड़ के श्री केसरीसिंह बारहट का 'प्रताप-चरित्र' वीररस का बहुत उत्कृष्ट काव्य है जो सं० १९९२ में प्रकाशित हुआ है। पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की सरस कविताओं की धूम कवि-संमेलनो मे बराबर रहा करती है। प्रसिद्ध कला-विद् राय कृष्णदास जी का 'ब्रजरज' इसी तृतीयोत्थान के भीतर प्रकाशित हुआ है। इधर श्री उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' जी की 'ब्रजभारती' में ब्रज-भाषा बिलकुल नई सज-धज के साथ दिखाई पड़ी है।

हम नहीं चाहते, और शायद कोई भी नहीं चाहेगा, कि ब्रजभाषा-काव्य की धारा लुप्त हो जाय। उसे यदि इस काल मे भी चलना है तो वर्तमान भावों को ग्रहण करने के साथ भाषा का भी कुछ परिष्कार करना पड़ेगा। उसे चलती ब्रज-भाषा के अधिक मेल मे लाना होगा। अप्रचलित संस्कृत शब्दों को भी अब बिगड़े रूपों में रखने की आवश्यकता नहीं। 'बुद्धचरित' काव्य मे भाषा के संबंध में हमने इसी पद्धति का अनुसरण किया था और कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ी थी।

२—द्विवेदी-काल में प्रवर्तित खड़ी बोली की काव्य-धारा

इस धारा का प्रवर्तन द्वितीय उत्थान मे इस बात को लेकर हुआ था कि ब्रजभाषा के स्थान पर अब प्रचलित खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए; शृंगार रस के कवित्त, सवैये बहुत लिखे जा चुके, अब और विषयों को लेकर तथा और छंदों में भी रचना चलनी चाहिए। खड़ी बोली को पद्यों मे अच्छी तरह ढलने मे जो काल लगा उसके भीतर की रचना तो बहुत-कुछ इतिवृत्ता-त्मक रही, पर इधर इस तृतीय उत्थान में आकर यह काव्य-धारा कल्पनान्वित, भावाविष्ट और अभिव्यंजनात्मक हुई। भाषा का कुछ दूर तक चलता हुआ स्निग्ध, प्रसन्न और प्रांजल प्रवाह इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। खड़ी

बोली वास्तव मे इसी धारा के भीतर मँजी है। भाषा का मँजना वहीं संभव होता है जहाँ उसकी अपनी गति-विधि का पूरा समावेश होता है और कुछ दूर तक चलनेवाले वाक्य सफाई के साथ पद्यों में बैठते चले जाते हैं। एक संबंध-सूत्र में बद्ध कई अर्थ-समूहो की एक समन्वित भावना व्यक्त करने के लिये ही ऐसी भाषा अपेक्षित होती है। जहाँ एक दूसरे से असंबद्ध छोटी-छोटी भावनाओं को लेकर वाग्वैशिष्ट्य की झलक या चलच्चित्र की-सी छाया दिखाने की प्रवृत्ति प्रधान होगी वहाँ भाषा की समन्वयशक्ति का परिचय न मिलेगा। व्यापक समन्वय के बिना कोई ऐसा समन्वित प्रभाव भी नहीं पड़ सकता जो कुछ काल तक स्थायी रहे। स्थायी प्रभाव की ओर लक्ष्य इस काव्य-धारा में बना हुआ है।

दूसरी बात जो इस धारा के भीतर मिलती है वह है हमारे यहाँ के प्रचलित छंदों या उनके भिन्न-भिन्न योगो से सघटित छंदों का व्यवहार। इन छंदों की लयों के भीतर नाद-सौंदर्य की हमारी रुचि निहित है। नवीनता मे बट्टा लगने के डर से ही इन छंदों को छोड़ना सहृदयता से अपने को दूर बताना है। नई रंगत की कविताओं मे जो पद्य या चरण रखे जाते हैं उन्हे प्रायः अलापने की जरूरत होती है। पर ठीक लय के साथ कविता पढ़ना और अलाप के साथ गाना दोनो अलग अलग है।

इस धारा मे कल्पना और भावात्मिका वृत्ति अधर में नाचती तो नहीं मिलती हैं पर बोध-वृत्ति द्वारा उद्घाटित भूमि पर टिककर उसकी मार्मिकता का प्रकाश करती अवश्य दिखाई पड़ती हैं। इससे कला का कुतूहल तो नहीं खड़ा होता, पर हृदय को रमानेवाली बात सामने आ जाती है। यह बात तो स्पष्ट है कि ज्ञान ही काव्य के संचरण के लिये रास्ता खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही हृदय-प्रसार होता है और हृदय-प्रसार ही काव्य का सच्चा लक्ष्य है। अतः ज्ञान के साथ लगकर ही जब हमारा हृदय परिचालित होगा तभी काव्य की नई नई मार्मिक अर्थभूमियों की ओर वह बढ़ेगा। ज्ञान को किनारे रखकर, उसके द्वारा सामने लाए हुए जगत् और जीवन के नाना पक्षों की ओर न बढ़कर, यदि काव्य प्रवृत्त होगा तो किसी एक भाव को लेकर अभिव्यंजना के वैचित्र्यों के प्रदर्शन मे लगा रह जायगा। इस दशा मे काव्य का विभाव पक्ष शून्य होता

जायगा, उसकी अनेकरूपकता सामने न आएगी। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यह धारा एक समीचीन पद्धति पर चली। इस पद्धति के भीतर इधर आकर काव्यत्व का अच्छा विकास हो रहा है, यह देखकर प्रसन्नता होती है।

अब इस पद्धति पर चलनेवाले कुछ प्रमुख कवियों का उल्लेख किया जाता है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह—ठाकुर साहब अनेक मार्मिक विषयों का चयन करते चले है। इससे इनकी रचनाओ के भीतर खड़ी बोली बराबर मँजती आ रही है। इन रचनाओं का आरंभ संवत् १९७१ से होता है। अब तक इनकी रचनाओं के पाँच संग्रह निकल चुके है—माधवी, मानवी, सचिता, ज्योतिष्मती और कादम्बिनी। प्रारंभिक रचनाएँ साधारण हैं, पर आगे चलकर हमें बराबर मार्मिक उद्भावना तथा अभिव्यंजना की एक विशिष्ट पद्धति मिलती है। इनकी छोटी छोटी रचनाओं मे, जिनमें से कुछ गेय भी है, जीवन की अनेक दशाओ की झलक है। 'मानवी' मे इन्होने नारी को दुलहिन, देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिनी, वारांगना इत्यादि अनेक रूपों में देखा है। 'ज्योतिष्मती के पूर्वार्द्ध में तो असीम और अव्यक्त 'तुम' और उत्तरार्द्ध मे ससीम और व्यक्त 'मै' संसार के बीच। इसमे प्रायः उन्हीं भावो की व्यंजना है जिनकी छायावाद के भीतर होती है, पर ढंग बिलकुल अलग अर्थात् रहस्यदर्शियो का सा न होकर भोले-भाले भक्तों का सा है। कवि ने प्रार्थना भी की है कि—

पृथ्वी पर ही मेरे पद हों,
दूर सदा आकाश रहे।

व्यंजना को गूढ़ बनाने के लिये कुछ असंबद्धता लाने, नितांत अपेक्षित पद या वाक्य भी छोड देने, अत्यंत अस्फुट संबंध के आधार पर उपलक्षणों का व्यवहार करने का प्रयत्न इनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता। आजकल बहुत चलते हुए कुछ रमणीय लाक्षणिक प्रयोग अवश्य कहीं कहीं मिलते हैं। कुछ प्रगीत मुक्तकों में यत्रतत्र छायावादी कविता के ढंग के रूपक भी इन्होंने रखे हैं, पर वे खुलकर सामने आते हैं जैसे—

सज-धजकर मृदु व्यथा-सुंदरी तजकर सब घर बार।
दुःख-यामिनी में जीवन की करती है अभिसार॥

उस अनंत के साथ अपना 'अटल संबंध' कवि बड़ी सफ़ाई से इतने ही मे व्यक्त कर देता है—

तू अनंत द्युतिमय प्रकाश है, मैं हूँ मलिन अँधेरा,
पर सदैव संबंध अटल है, जग में मेरा तेरा।
उदय-अस्त तक तेरा साथी मैं ही हूँ इस जग में;
मैं तुझमें ही मिल जाता हूँ होता जहाँ सबेरा॥

'मानवी' मे अभागिनी को संबोधन करके कवि कहता है—

चुकती है नहीं निशा तेरी; है कभी प्रभात नही होता।
तेरे सुहाग का सुख, बाले! आजीवन रहता है सोता॥
हैं फूल फूल जाते मधु में; सुरभित मलयानिल बहती है।
सब लता-वल्लियाँ खिलती हैं, बस तू मुरझाई रहती है॥
सब आशाएँ-अभिलाषाएँ, उर-कारागृह में बंद हुईं।
तेरे मन की दुख-ज्वालाएँ, मेरे मन में हैं छंद हुईं॥

अनूप शर्मा—बहुत दिनों तक ये व्रजभाषा मे ही अपनी ओजस्विनी वाग्धारा बहाते रहे। खड़ी बोली का जमाना देखकर ये उसकी ओर मुडे। कुणाल का चरित्र इन्होंने 'सुनाल' नामक खंडकाव्य में लिखा। फिर बुद्ध भगवान् का चरित्र लेकर 'सिद्धार्थ' नामक अठारह सर्गों का एक महाकाव्य संस्कृत के अनेक वर्ण-वृत्तो मे इन्होने लिखा। इनकी फुटकल कविताओ का संग्रह 'सुमनाजलि' में है। इन्होंने फुटकल प्रसंगों के लिये कवित्त ही चुना है। भाषा के सरल प्रवाह के अतिरिक्त इनकी सबसे बड़ी विशेषता है व्यापक दृष्टि जिससे ये हमारे ज्ञान-पथ में आनेवाले अनेक विषयो को अपनी कल्पना द्वारा आकर्षक और मार्मिक रूप मे रखकर काव्य-भूमि के भीतर ले आए है। जगत् के इतिहास, विज्ञान आदि द्वारा हमारा ज्ञान जहाँ तक पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी ले जाना आधुनिक कवियों का काम होना चाहिए। अनूप जी इसकी ओर बढ़े हैं। 'जीवन-मरण' में कवि की कल्पना जगत् के इतिहास की विविध

भूमियो के चित्र सामने लाई है। इसी प्रकार 'विराट् भ्रमण' में देवी के आकाशचारी रथ पर बैठ कवि ने इस विराट् विश्व का दर्शन किया है। एक झलक देखिए—

पीछे दृष्टिगोचर था गोल चक्र पूषण का,
घूमता हुआ जो नील संपुटी में चलता।
मानो जलयान के वितल पृष्ठ भाग मध्य,
आता चला फेन पीत पिंड-सा उबलता॥
उबल रहे थे धूमकेतु धुरियों से तीव्र,
यान-केतु-ताड़ित नभचक्र था उछलता।
मारुत का, मन का, प्रसंग पड़ा पीछे जब—
आगे चला बाजि-यूथ आतप उगलता॥

श्री जगदंबाप्रसाद 'हितैषी' खड़ी बोली के कवित्तो और सवैयो मे वही सरसता, वही लचक, वही भाव-भंगी लाए है जो व्रजभाषा के कवित्तों और सवैयों मे पाई जाती है। इस बात मे इनका स्थान निराला है। यदि खड़ी बोली की कविता आरंभ में ऐसी ही सजीवता के साथ चली होती जैसी इनकी रचनाओं में पाई जाती है तो उसे रूखी और नीरस कोई न कहता। रचनाओ का रंग-रूप अनूठा और आकर्षक होने पर भी अजनबी नहीं है। शैली वही पुराने उस्तादों के कवित्त-सवैयो की है जिनमें वाग्धारा अंतिम चरण पर जाकर चमक उठती है। हितैषी जी ने अनेक काव्योपयुक्त विषय लेकर फुटकल छोटी-छोटी रचनाएँ की है जो 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' में सगृहीत हैं। अन्योक्तियाँ इनकी बहुत मार्मिक हैं। रचना के कुछ नमूने देखिए—

किरण

दुखिनी बनी कुटी में कभी, महलों में कभी महरानी बनी।
बनी फूटती ज्वालामुखी तो कभी, हिमकूट की देवी हिमानी बनी॥
चमकी बन विद्युत् रौद्र कभी, घन आनंद अश्रु-कहानी बनी।
सविता-ससि-स्नेह सोहाग-सनी, कभी आग बनी कभी पानी बनी॥

भवसिंधु के बुद्बुद् प्राणियों की तुम्हें शीतल श्वासा कहँ, कहो तो।
अथवा छलनी बने अंबर के उर की अभिलाषा कहँ, कहो तो॥
घुलते हुए चंद्र के प्राण की पीड़ा-भरी परिभाषा कहँ, कहो तो।
नभ से गिरती नखतावलि के नयनो की निराशा कहँ, कहो तो॥

परिचय

हूँ हितैषी सताया हुआ किसी का, हर तौर किसी का बिसारा हुआ।
घर से किसी के हूँ निकाला हुआ, दर से किसी के दुतकारा हुआ॥
नजरों से गिराया हुआ किसी का, दिल से किसी का हूँ उतारा हुआ।
अजी हाल हमारा हो पूछते क्या? हूँ मुसीबत का इक मारा हुआ॥

श्री श्यामनारायण पांडेय—इन्होंने पहले "त्रेता के दो वीर" नामक एक छोटा-सा काव्य लिखा था जिसमे लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध के कई प्रसंग लेकर दोनों वीरों का महत्त्व चित्रित किया गया था। यह रचना हरिगीतिका तथा संस्कृत के कई वर्णवृत्तों में द्वितीय उत्थान की शैली पर है। 'माधव' और 'रिमझिम' नाम की इनकी दो और छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। इनकी ओजस्विनी प्रतिभा का पूर्ण विकास 'हल्दीघाटी' नामक १७ सर्गों के महाकाव्य में दिखाई पड़ा। 'उत्साह' की अनेक अतर्दशाओं की व्यजना तथा युद्ध की अनेक परिस्थितियों के चित्र से पूर्ण यह काव्य खड़ी बोली में अपने ढंग का एक ही है। युद्ध के समाकुल वेग और सघर्ष का ऐसा सजीव और प्रवाहपूर्ण वर्णन बहुत कम देखने में आता है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

सावन का हरित प्रभात रहा, अंबर पर थी घनघोर घटा।
फहराकर पंख थिरकते थे, मन भाती थी बन-मोर-छटा।
वारिद के उर में चमक-दमक, तड़ तड़ थी बिजली तड़क रही।
रह रह कर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही॥

× × × ×

धरती की प्यास बुझाने को, वह घहर रही थी घनसेना।
लोहू पीने के लिये खड़ी, यह हहर रही थी जनसेना।

नभ पर चम चम चपला चमकी, चम चम चमकी तलवार इधर।
भैरव अमंद घननाद उधर, दोनों दल की ललकार इधर।
× × × ×
कलकल बहती थी रणगंगा, अरिदल को डूब नहाने को।
तलवार वीर की नाव बनी, चटपट उस पार लगाने को।
वैरीदल को ललकार गिरी, वह नागिन-सा फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो, बचो; तलवार गिरी, तलवार गिरी।
क्षण इधर गई, क्षण उधर गई, क्षण चढी बाढ़-सी उतर गई।
था प्रलय चमकती जिधर गई, क्षण शोर हो गया किधर गई॥

पुरोहित प्रतापनारायण—इन्होने 'नलनरेश' नामक महाकाव्य १६ सर्गों मे रोला, हरिगीतका आदि हिंदी छंदों में लिखा है। इसकी शैली अधिकतर उस काल की है जिस काल मे द्विवेदीजी के प्रभाव से खड़ी बोली हिंदी के पद्यो मे परिमार्जित होती हुई ढल रही थी। खड़ी बोली की काव्य शैली मे इधर मार्मिकता, भावाकुलता और वक्रता का जो विकास हुआ है उसका आभास इस ग्रंथ मे नहीं मिलता। अलकारो की योजना बीच बीच मे अच्छी की गई है। इस ग्रंथ मे महाकाव्य की उन सब रूढ़ियो का अनुसरण किया गया है जिनके कारण हमारे यहाँ के मध्यकाल के बहुत से प्रबंध-काव्य कृत्रिम और प्रभावशून्य हो गए। इस बीसवीं सदी के लोगों का मन विरह ताप के लेपादि उपचार, चद्रोपालंभ इत्यादि में नहीं रम सकता। श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में भी कुछ ऐसी रूढ़ियो का अनुसरण जी उबाता है। 'मन के मोती' और 'नव निकुंज' मे प्रतापनारायण जी की खड़ी बोली की फुटकल रचनाएँ संगृहीत है जिनकी शैली अधिकतर इतिवृत्तात्मक है। 'काव्य-कानन' नामक बड़े संग्रह मे ब्रजभाषा की भी कुछ कविताएँ है।

तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' ने, २७२ पृष्ठों का एक बड़ा भारी काव्य-ग्रंथ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित के विविध अंगो को लेकर लिखा है। यह आठ अगो में समाप्त हुआ है। इसमे कई पात्रो के मुँह से आधुनिक समय मे उठे हुए भावो की व्यंजना कराई गई। जैसे, श्रीकृष्ण उद्धव द्वारा गोपियों को सँदेसा भेजते हैं कि—

दीन-दरिद्रों के देहों को मेरा मंदिर मानो।
उनके आर्त्त उसासों को ही वंशी के स्वर जानो।

इसी प्रकार द्वारका के दुर्ग पर बैठकर कृष्ण भगवान् बलराम का ध्यान कृषको की दशा की ओर इस प्रकार आकर्षित करते हैं—

जो ढकता है जग के तन को, रखता है लज्जा सबकी।
जिसके पूत पसीने द्वारा बनती है मज्जा सबकी।
आज कृषक वह पिसा हुआ है इन प्रमत्त भूपों द्वारा।
उसके घर की गायों का रे! दूध बना मदिरा सारा।

पुरुषो के सब कामो में हाथ बॅटाने का सामर्थ्य स्त्रियाॅ रखती हैं यह बात रुक्मिणी कहती मिलती है।

यह सब होने पर भी भाषा प्रौढ़, चलती और आकर्षक नहीं।

३—छायावाद

संवत् १९७० तक किस प्रकार 'खड़ी बोली' के पद्यों मे ढलकर मॅजने की अवस्था पार हुई और श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाडे आदि कई कवि खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अंतर्भाव-व्यंजक रूप-रग देने में प्रवृत्त हुए, यह कहा जा चुका है। उनके कुछ रहस्य-भावापन्न प्रगीत मुक्तक भी दिखाए जा चुके हैं। वे किस प्रकार काव्य-क्षेत्र का प्रसार चाहते थे, प्रकृति की साधारण असाधारण वस्तुओ से अपने चिर संबंध का सच्चा मार्मिक अनुभव करते हुए चले थे, इसका भी निर्देश हो चुका है।

यह स्वच्छंद नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवींद्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ 'रहस्यवाद' और 'प्रतीकवाद' या 'चित्रभाषावाद' को ही एकांत ध्येय बनाकर चल पड़े। 'चित्रभाषा' या अभिव्यंजन-पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफी समझा गया। इस बॅधे हुए क्षेत्र के भीतर चलनेवाले काव्य ने 'छायावाद' का नाम ग्रहण किया।

रहस्य-भावना और अभिव्यंजन पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी। जिस प्रकार अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओ की कल्पना की जाती है उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्र भावानुभूतियो की कल्पना भी बहुत कुछ होने लगी। काव्य की प्रकृति पद्धति तो यह है कि वस्तु-योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात् स्वाभाविक वासना जन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा तो हृदय से उसका संबंध क्या रहेगा? भावानुभूति भी यदि ऐसी होगी जैसी नहीं हुआ करती तो सचाई (Sincerity) कहाँ रहेगी? यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर उसका प्रबल अभिलाष व्यंजित करे, अपने मर-मिटने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करे तो कथन के वैचित्र्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा पर ऐसे अभिलाष या गर्व की कही सत्ता मानने की आवश्यकता न होगी।

'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ मे, जहाँ उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा मे प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अतर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतो या साधको की उस वाणी के अनुकरण पर होती है जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप मे उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में 'छाया' (Phantasmate) कहते थे। इसी से बंगाल मे ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में आया और फिर रवींद्र बाबू की धूम मचने पर हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकटहुआ।

'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ मे है। सन् १८८५ में फ्रास मे रहस्यवादी कवियो का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी (Symbolists) कहलाया। वे अपनी रचनाओं मे प्रस्तुतो के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर चलते थे। इसी से

उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वर-प्रेम-संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिये भी प्रतीक शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिंदी में 'छायावाद' शब्द का जो व्यापक अर्थ—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के संबंध में भी ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीकशैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप मे अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।

'छायावाद' का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिंदी काव्य-क्षेत्र में चलनेवाली श्री महादेवी वर्मा हैं। पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।

रहस्यवाद के भीतर आनेवाली रचनाएँ तो थोड़ी या बहुत सभी ने उक्त पद्धति पर की हैं, पर उनकी शब्द-कला—वासनात्मक प्रणयोद्गार, वेदनाविवृति, सौंदर्यसंगटन, मधुचर्या, अतृप्ति-व्यजना इत्यादि में अधिकतर नियुक्त रही। जीवन के अवसाद, विषाद और नैराश्य की झलक भी उनके मधुमय गानो में मिलती रही। इसी परिमित क्षेत्र के भीतर चित्रभाषा-शैली का वैलक्षण्य के साथ वे प्रदर्शन करते रहे। जैसा सामान्य परिचय के भीतर कहा जा चुका है, वैलक्षण्य लाने के लिये अँगरेजी की लाक्षणिक पदावलियों के अनुवाद भी ज्यो के त्यों रखे जाते रहे। जिनकी प्रवृत्ति लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर कम थी वे बंगभाषा के कवियों के ढंग पर श्रुतिरंजक या नादानुकृत पदावली गुंफित करने मे अधिक तत्पर दिखाई दिए।

चित्रभाषा-शैली या प्रतीक पद्धति के अतर्गत जिस प्रकार वाचक पदो के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अतः अन्योक्ति पद्धति का अवलंबन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ। यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन द्विवेदी-काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था[1]। अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा

१—देखो पृष्ठ ६४७।

और अन्योक्ति के प्राचुर्य के रूप मे ही नहीं, कहीं कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार के रूप में भी हुआ। इनमे से उत्पादन और लक्षण-लक्षणाओं को छोड़ और सब बातें किसी न किसी प्रकार की साम्य-भावना के आधारपर ही खड़ी होनेवाली है। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलंकृत रचनाएँ बहुत पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं। अतः छायावाद की रचनाओ के भीतर साम्य ग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ।

हमारे यहाँ साम्य मुख्य तीन प्रकार का माना गया है। सादृश्य (रूप या आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्द-साम्य (दो भिन्न वस्तुओ का एक ही नाम होना)। इनमे से अंतिम तो श्लेष की शब्दक्रीड़ा दिखलानेवालो के ही काम का है। रहे सादृश्य और साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों मे प्रभाव-साम्य छिपा मिलेगा। सिद्ध कवियो की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतोके समान ही सौंदर्य, दीप्ति, कांति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते है। काव्य मे बँधे चले आते हुए उपमान अधिकतर इसी प्रकार के हैं। केवल रूप-रंग, आकार या व्यापार को ऊपर से देखकर या नाप-जोखकर, भावना पर उनका प्रभाव परखे बिना, वे नही रखे जाते थे। पीछे कवि-कर्म के बहुत कुछ श्रमसाध्य या अभ्यासगम्य होने के कारण जब कृत्रिमता आने लगी तब बहुत से उपमान केवल बाहरी नाप-जोख के अनुसार भी रखे जाने लगे। कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिये सिंहिनी और भिड़ सामने लाई जाने लगी।

छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं कही तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यंत अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतो का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीकवत् (symbolic) होते हैं—जैसे, सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक ऊषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप; श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु, दीप्ति-

मान या कांतिमान के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात, या संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झञ्झा, तूफान; भाव-तरंग के लिये झंकार; भाव-प्रवाह के लिये संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि। आभ्यंतर प्रवाह-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य-शैली की असली विशेषता है।

हिंदी काव्य परंपरा मे अन्योक्ति-पद्धति का प्रचार तो रहा है, पर लाक्षणिकता का एक प्रकार से अभाव ही रहा। केवल कुछ रूढ़ लक्षणाएँ मुहावरों के रूप में कहीं कहीं मिल जाती थीं। व्रजभाषा कवियो मे लाक्षणिक साहस किसी ने दिखाया तो घनानंद ने। इस तृतीय उत्थान मे सब से अधिक लाक्षणिक साहस पंतजी ने अपने 'पल्लव' में दिखाया। जैसे—

(१) धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
(धूलकी ढेरी = असुंदर वस्तुएँ। मधुमय गान = गान के विषय अर्थात् सुंदर वस्तुएँ।)

(२) मर्म पीडा के हास (हास = विकास, समृद्धि। विरोध-वैचित्र्य के लिये व्यंग्य-व्यंजक संबंध को लेकर लक्षणा।) (मर्म-पीड़ा के हास! = हे मेरे पीडित मन!—आधार-आधेय संबंध लेकर।)

(३) चाँदनी का स्वभाव में वास। विचारो में बच्चों की साँस।(चाँदनी = मृदुलता, शीतलता। बच्चों की साँस = भोलापन।)

(४) मृत्यु का यही दीर्घ विश्वास (मृत्यु = आसन्नमृत्यु व्यक्ति अथवा मृतक के लिये शोक करनेवाले व्यक्ति)

(५) कौन तुम अतुल अरूप अनाम (शिशु के लिये। अल्पार्थक के स्थान पर निषेधार्थक)।

'पल्लव' मे प्रतिक्रिया के आवेश के कारण वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी; जिसके लिये कहीं कहीं अँगरेजी के लाक्षणिक प्रयोग भी ज्यो के त्यो लिए गए। पर पीछे यह प्रवृत्ति घटती गई।

'प्रसाद' की रचनाओं में शब्दों के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रवृत्ति उतनी नहीं रही है जितनी साम्य की दूरारूढ़ भावना की। उनके उपलक्षण (symbols) सामान्य अनुभूति के मेल में होते थे। जैसे—

(१) झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला॥
(झंझा झकोर = क्षोभ, आकुलता। गर्जन = वेदना की तड़प। बिजली = चमक या टीस। नीरदमाला = अंधकार। शून्य शब्द विशेषण के अतिरिक्त आकाशवाचक भी है, जिससे उक्ति में बहुत सुंदर समन्वय आ जाता है।)

(२) पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखे से, फुलवारी में।
किसलय दल कुसुम बिछाकर आए तुम इस क्यारी में॥
(पतझड़ = उदासी। किसलयदलकुसुम = वसंत = सरसता और प्रफुल्लता)—'आँसू'।

(३) काँटों ने भी पहना मोती। (कटीले पौधों = पीड़ा पहुँचानेवाले कठोर-हृदय मनुष्यों। पहना मोती = हिमबिंदु धारण किया = अश्रुपूर्ण हुए)—'लहर'।

अप्रस्तुत किस प्रकार एकदेशीय, सूक्ष्म और धुँधले पर मर्म-व्यंजक साम्य का धुँधला सा आधार लेकर खड़े किए जाते हैं, यह बात नीचे के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगी—

(१) उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई-सी मलयानिल की परछाईं-सी,
इस सूखे तट पर छहर छहर॥
(लहर = सरस-कोमल भाव। सूखा तट = शुष्क जीवन। अप्रस्तुत या उपमान भी लाक्षणिक हैं।)

(२) गूढ़ कल्पना-सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय-सी।
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी, बच्चों के तुतले भय-सी।—'छाया'

(३) गिरिवर के उर से उठ उठ कर, उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर हैं झाँक रहे नीरव नभ पर। (उठे हुए पेड़ों का साम्य मनुष्य के हृदय की उन उच्च आकांक्षाओं से जो लोक के परे जाती हैं।)

(४) वनबाला के गीतों-सा निर्जन में बिखरा है मधुमास।

छायावाद की रचनाएँ गीतों के रूप मे ही अधिकतर होती हैं। इससे उनमें अन्विति कम दिखाई पड़ती है। जहाँ यह अन्विति होती है वहाँ समूची रचना अन्योक्ति-पद्धति पर की जाती है। इस प्रकार साम्य-भावना का ही प्राचुर्य हम सर्वत्र पाते हैं। यह साम्य-भावना हमारे हृदय का प्रसार करनेवाली, शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के गूढ़ सबंध की धारणा बँधानेवाली, अत्यत अपेक्षित मनो भूमि है, इसमें सदेह नहीं। पर यह सच्चा मार्मिक प्रभाव वहीं उत्पन्न करती है जहाँ यह प्राकृतिक वस्तु या व्यापार से प्राप्त सच्चे आभास के आधार पर खड़ी होती है। प्रकृति अपने अनत रूपों और व्यापारों के द्वारा अनेक बातो की गूढ़ या अगूढ़ व्यंजना करती रहती है। इस व्यंजना को न परखकर या न ग्रहण करके जो साम्य-विधान होगा वह मनमाना आरोप-मात्र होगा। इस अनंत विश्व महाकाव्य की व्यजनाओं की परख के साथ जो साम्य-विधान होता है वही मार्मिक और उद्बोधक होता है। जैसे—

दुखदावा से नव अंकुर पाता जग जीवन का बन
करुणार्द्र विश्व का गर्जन बरसाता नव जीवन कण।
खुल खुल कर नव इच्छाएँ फैलाती जीवन के दल।

यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है, जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विलास है, कलानाथ जिसमें खिंच आता॥

× × × ×

हँस पड़े कुसुमों में छविमान, जहाँ जग में पदचिह्न पुनीत।
वहीं सुख में आँसू बन प्राण, ओस में लुढक दमकते गीत॥

—गुंजन

मेरा अनुराग फैलने दो, नभ के अभिनव कलरव में।
जाकर सूनेपन के तम में, बन किरन कभी आ जाना॥

अखिल की लघुता आई बन, समय का सुंदर वातायन
देखने को अदृष्ट नर्त्तन ।

—लहर

जल उठा स्नेह दीपक-सा नवनीत हृदय था मेरा ।
अब शेष धूमरेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा ॥

—आँसू

मनमाने आरोप जिनका विधान प्रकृति के संकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचित्र्य वा कुतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। छायावाद की कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का भी प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप मे पडता रहा है। इससे बहुत-सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोप के रूप मे भी सामने आता है। प्रकृति के वस्तु-व्यापारों पर मानुषी वृत्तियों के आरोप का बहुत अधिक चलन हो जाने से कहीं कहीं ये आरोप वस्तु-व्यापारों की प्रकृत-व्यंजना से बहुत दूर जा पड़े है, जैसे—चाँदनी के इस वर्णन में—

(१) जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन-बाला
पीली पर निर्बल कोमल, कृश देह-लता कुम्हलाई ।
विवसना, लाज में लिपटी; साँसों में शून्य समाई ॥

चाँदनी अपने-आप इस प्रकार की भावना मन मे नहीं जगाती। उसके संबंध मे यह उद्भावना भी केवल स्त्री की सुंदर मुद्रा सामने खड़ी करती जान पड़ती है—

(२) नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनी ।
मृदु करतल पर शशिमुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि ॥

इसी प्रकार आँसुओ को "नयनों के बाल" कहना भी व्यर्थ-सा है। नीचे की जूठी प्याली भी (जो बहुत आया करती है) किसी मैखाने से लाकर रखी जान पड़ती है—

(३) लहरों में प्यास भरी है, हैं भँवर पात्र सब खाली।
मानस का सब रस पीकर, लुढका दी तुमने प्याली॥

प्रवृत्ति के नाना रूपों के सौंदर्य्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य्य का आरोप करके करना उक्त भावना को संकीर्णता सूचित करता है। कालिदास ने भी मेघदूत में निर्विध्या और सिंधु नदियों में स्त्री-सौंदर्य्य की भावना की है जिससे नदी और मेघ के प्रकृत संबंध की व्यंजना होती है। ग्रीष्म में नदियाँ सूखती सूखती पतली हो जाती हैं और तपती रहती हैं। उनपर जब मेघ छाया करता है तब वे शीतल हो जाती हैं और उस छाया को अंक में धारण किए दिखाई देती हैं। वही मेघ बरसकर उनकी क्षीणता दूर करता है। दोनों के बीच इसी प्राकृतिक संबंध की व्यंजना ग्रहण करके कालिदास ने अप्रस्तुत विधान किया है। पर सौंदर्य्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चपकाकर करना खेल-सा हो जाता है। उषा सुदरी के कपोलो की ललाई, रजनी के रत्नजटित केशकलाप, दीर्घ निःश्वास और अश्रुबिंदु तो रूढ़ हो ही गए है; किरन, लहर, चद्रिका, छाया, तितली सब अप्सराएँ या परियाँ बनकर ही सामने आने पाती हैं। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुंबन, आलिगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की क्रीड़ा इत्यादि मे अधिकतर परिणत दिखाई देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारो का अपना-अपना अलग सौंदर्य्य भी है जो एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के आरोप-द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार पतजी की 'छाया', 'वीचि-विलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानो का ढेर लगा है उनमे से बहुत से तो अत्यत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक हैं और बहुत से रग-बिरगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यजनावाद' के उदाहरण-सी लगती है जिसके अनुसार कवि-कल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यजना ग्रहण करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। उनके अनुसार तो प्रकृति की नाना वस्तुओं का उपयोग केवल उपादान के रूप में है; उसी प्रकार जैसे बालक ईंट, पत्थर, लकड़ी, कागज, फूल-पत्ती लेकर हाथी-घोड़े, घर-बगीचे इत्यादि बनाया करते हैं। प्रकृति के नाना

चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों मे होनी चाहिए।

छायावाद की प्रवृत्ति अधिकतर प्रेम-गीतात्मक होने के कारण हमारा वर्त्तमान काव्य प्रसंगो की अनेकरूपता के साथ नई नई अर्थभूमियों पर कुछ दिनों तक बहुत कम चल पाया। कुछ कवियो मे वस्तु का आधार अत्यंत अल्प रहता रहा है; विशेष लक्ष्य अभिव्यजना के अनूठे विस्तार पर रहा है। इससे उनकी रचनाओ का बहुत-सा भाग अधर मे ठहराया-सा जान पड़ता है। जिन वस्तुओ के आधार पर उक्तियाँ मन में खड़ी की जाती हैं उनका कुछ भाग कला के अनूठेपन के लिये पक्तियो के इधर उधर से हटा भी लिया जाता है। अतः कहीं कहीं व्यवहृत शब्दों की व्यजकता पर्य्याप्त न होने पर भाव अस्फुट रह जाता है, पाठक को अपनी ओर से बहुत कुछ आक्षेप करना पड़ता है, जैसे नीचे की पंक्तियों में—

> निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे।
> इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
> आह चूम लूँ जिन चरणों को चाँप चाँप कर उन्हें नहीं,
> दुख दो इतना, अरे! अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर बही।

यहाँ कवि ने उस प्रियतम के छिपकर दबे पाँव आने की बात कही है जिनके चरण इतने सुकुमार हैं कि जब आहट न सुनाई पड़ने के लिये वे उन्हे बहुत दबा दबा कर रखते हैं तब एँड़ियों मे ऊपर की ओर खून की लाली दौड़ जाती है। वही ललाई उषा की लाली के रूप मे झलकती है। 'प्रसाद' जी का ध्यान शरीर-विकारो पर विशेष जमता था। इसी से उन्होने 'चाँप-चाँप कर दुख दो' से ललाई दौड़ने की कल्पना पाठको के ऊपर छोड़ दी है। 'कामायनी' मे उन्होने मले हुए कान में भी कामिनी के कपोलो पर की 'लज्जा की लाली' दिखाई है।

अभिव्यंजना की पद्धति या काव्य-शैली पर ही प्रधान लक्ष्य रहने से छायावाद के भीतर उसका बहुत ही रमणीय विकास हुआ है, यह हम पहले कह

आए है[1]। साम्य भावना और लक्षणा-शक्ति के बल पर किस प्रकार काव्योपयुक्त चित्रमयी भाषा की ओर सामान्यतः झुकाव हुआ यह भी कहा जा चुका है। साम्य पहले उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक—ऐसे अलंकारो के बड़े बड़े साँचो के भीतर ही फैलाकर दिखाया जाता था। यह प्रायः थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगो के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपको में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसग के लिये दृष्टांत, अर्थातरन्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति पद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है। पर यह न समझना चाहिए कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग नहीं होता है; बराबर होता है और बहुत होता है। उपमा में धर्म बराबर लुप्त रहता है। प्रतिवस्तूपमा, हेतूत्प्रेक्षा, विरोध, श्लेष, एकावली इत्यादि अलंकार भी कहीं कहीं पाए जाते है।

किस प्रकार एक बँधे घेरे से निकलकर अब छायावादी कहे जानेवाले कवि धीरे धीरे जगत् और जीवन के अनत क्षेत्र में इधर-उधर दृष्टि फैलाते देखे जा रहे है, इसका आभास दिया जा चुका है। अब तक उनकी कल्पना थोड़ी-सी जगह के भीतर कलापूर्ण और मनोरजक नृत्य-सा कर रही थी। वह जगत् और जीवन के जटिल स्वरूप से घबरानेवालो का जी बहलाने का काम करती रही है। अब उसे अखिल जीवन के नाना पक्षो की मार्मिकता का साक्षात्कार करते हुए एक करीने के साथ रास्ता चलना पड़ेगा। इसके लिये उसे अपनी चपलता और भाव-भगिमा का प्रदर्शन, क्रीड़ा-कौतुक की प्रवृत्ति कुछ सयत करनी पडेगी। इस ऊँचे नीचे मर्म-पथ पर चित्रो का बहुत अधिक फालतू बोझ लादकर चलना भी वाणी के लिये उपयुक्त न होगा। प्रसाद जी ने 'लहर' मे छायावाद की चित्रमयी शैली को तीन ऐतिहासिक जीवन खडो के बीच ले जाकर आजमाया है। उनमे कथावस्तु का विन्यास नाटकीय पद्धति पर करके उन्होंने बाह्य और आभ्यतर परिस्थितियों का व्यजक, मनोहर, मार्मिक या आवेशपूर्ण शब्द-विधान किया है। पर कहीं कहीं जहाँ मधुमय चित्रों की परपरा दूर तक चली है वहाँ सामन्वित प्रभाव में बाधा पड़ी है। 'कामायनी' मे

---

[1]—देखो पृठ ६५४।

उन्होंने नर-जीवन के विकास मे भिन्न भिन्न भावात्मिका वृत्तियो का योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना-द्वारा चित्रित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार निराला जी ने, जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, 'तुलसीदास' के मानस-विकास का बड़ा ही दिव्य और विशाल रंगीन चित्र खींचा है।

अब तृतीय उत्थान के वर्त्तमान कवियो और उनकी कृतियो का संक्षेप में कुछ परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं—

श्री जयशंकर प्रसाद पहले ब्रजभाषा मे कविताएँ लिखा करते थे जिनका संग्रह 'चित्राधार' मे हुआ है। संवत् १९७० से वे खड़ी बोली की ओर आए और 'कानन-कुसुम' 'महाराणा का महत्व', 'करुणालय', और 'प्रेम-पथिक' प्रकाशित हुए। 'कानन-कुसुम' में तो प्रायः उसी ढंग की कविताएँ हैं जिस ढंग की द्विवेदी-काल मे निकला करती थीं। 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेम-पथिक' (सं० १९७०) अतुकांत रचना है जिसका मार्ग पं० श्रीधर पाठक पहले दिखा चुके थे। भारतेंदु-काल मे ही पं० अंबिकादत्त व्यास ने बँगला की देखा-देखी कुछ अतुकांत पद्य आजमाए थे। पीछे पं० श्रीधर पाठक ने 'सांध्य अटन' नाम की कविता खड़ी बोली के अतुकांत (तथा चरण के बीच मे पूर्ण विरामवाले) पद्यों मे बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत की थी।

सामान्य परिचय के अंतर्गत दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पांडे इत्यादि कई कवि अंतर्भावना की प्रगल्भ-चित्रमयी व्यजना के उपयुक्त स्वच्छंद नूतन पद्धति निकाल रहे थे[1]। पीछे उस नूतन पद्धति पर प्रसाद जी ने भी कुछ छोटी छोटी कविताएँ लिखीं जो सं० १९७५ (सन् १९१८) में 'झरना' के भीतर संगृहीत हुईं। 'झरना' की उन २४ कविताओं मे उस समय नूतन पद्धति पर निकलती हुई कविताओं से कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी जिस पर ध्यान जाता। दूसरे सस्करण मे, जो बहुत पीछे संवत् १९८४ मे निकला, पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमे आधी से ऊपर अर्थात् ३१ नई रचनाएँ जोड़ी गईं

---

१ देखो पृष्ठ ६४८।

जिनमे पूरा रहस्यवाद, अभिव्यंजना का अनूठापन, व्यंजक चित्र-विधान सब कुछ मिल जाता है। 'विषाद', 'बालू की वेला' 'खोलो द्वार', 'बिखरा हुआ प्रेम', 'किरण', 'वसंत की प्रतीक्षा' इत्यादि उन्हीं पीछे जोड़ी हुई रचनाओं में हैं जो पहले (सं० १९७५ के) संस्करण में नहीं थीं। इस द्वितीय संस्करण में ही छायावाद कही जानेवाली विशेषताएँ स्फुट रूप में दिखाई पड़ीं। इसके पहले श्री सुमित्रानदन पत का 'पल्लव' बड़ी धूम-धाम से निकल चुका था, जिसमें रहस्य-भावना तो कहीं कहीं, पर अप्रस्तुत-विधान, चित्रमयी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ अत्यंत प्रचुर परिमाण में सर्वत्र दिखाई पड़ी थीं।

प्रसाद जी मे ऐसी मधुमयी प्रतिभा और ऐसी जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होने इस पद्धति का अपने ढग पर बहुत ही मनोरम विकास किया। संस्कृत की कोमल-कांत पदावली का जैसा सुंदर चयन बगभाषा के काव्यो में हुआ है वैसा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य मे नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन से पदलालित्य की जो गूँज प्रसाद जी के मन मे समाई वह बराबर बनी रही।

जीवन के प्रेम-विलास-मय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे 'उस प्रियतम' के संयोग वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्यभावना से अलग समझना चाहिए—रमते प्रायः पाए जाते हैं। प्रेमचर्य्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुंबन, परिरभण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि), रंगरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति के अनंत क्षेत्र मे भी वल्लरियों के दान, कलिकाओ की मंद मुसकान, सुमनो के मधुपात्र, मँडराते मलिंदो के गुंजार, सौरभहर समीर की लपक, पराग मकरंद की लूट, उषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरंभ, रजनी के आँसू से भीगे अबर, चद्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुठन, मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। अतः इनकी रहस्यवादी रचनाओ को देख चाहे तो यह कहे कि इनकी मधुचर्य्या के मानस प्रसार

के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहे कि इनकी सारी प्रणया-नुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।

इनकी पहली विशिष्ट रचना "आँसू" (सं० १९८८) है। 'आँसू' वास्तव मे तो हैं शृंगारी विप्रलंभ के छंद जिनमे अतीत सयोग-सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह रहकर झलक मारती हैं, पर जहाँ प्रेमी की मादकता की बेसुधी में प्रियतम नीचे से ऊपर आते और संज्ञा की दशा में चले जाते है,[1] जहाँ हृदय की तरगें 'उस अनंत कोने' को नहलाने चलती हैं, वहाँ वे आँसू उस 'अज्ञात प्रियतम' के लिये बहते जान पड़ते है। फिर जहाँ कवि यह देखने लगता है कि ऊपर तो—

अवकाश[2] असीम सुखों से आकाशतरंग[3] बनाता,
हँसता-सा छाया-पथ में नक्षत्र-समाज दिखाता।

पर—

नीचे विपुला धरणी है दुख-भार वहन-सी करती,
अपने खारे आँसू से करुणा-सागर को भरती।

और इस 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' को, इस निर्मल जगती को, अपनी प्रेम-वेदना की कल्याणी शीतल ज्वालामय उजाला देना चाहता है, वहाँ वे आँसू लोकपीड़ा पर करुणा के आँसू से जान पड़ते है। पर वहीं पर जब हम कवि की दृष्टि अपनी सदा जगती हुई अखंड ज्वाला की प्रभवविष्णुता पर इस प्रकार जमी पाते हैं कि 'हे मेरी ज्वाला!

तेरे प्रकाश में चेतन संसार वेदनावाला
मेरे समीप होता है पाकर कुछ करुण उजाला।"

१—मादकता से आए तुम; सज्ञा से चले गए थे।
उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर ने भी कहा है—
मैं मरीजे होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया।

२—आकाश = दिक्, Space

३—आकाशतरग = Ether waves

तत्र ज्वाला या प्रेम-वेदना की अतिरंजित और दूरारूढ़ भावना ही—जो शृंगार की पुरानी रूढ़ि है—रह जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता।

पर अलग अलग लेने पर उक्तियों के भीतर बड़ी ही रंजन-कारिणी कल्पना, व्यंजक चित्रों का बड़ा ही अनूठा विन्यास, भावनाओं की अत्यंत सुकुमार योजना मिलती है। प्रसाद जी की यह पहली काव्य-रचना है जिसने बहुत लोगों को आकर्षित किया। अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम-वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व मे उसके मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनो को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौंदर्य और मंगल के सगम का भी आभास पाया जाता है। 'नियतिवाद' और 'दुःखवाद' का विषण्ण स्वर भी सुनाई पड़ता है। इस चेतना को दूर हटाकर मद-तंद्रा, स्वप्न और असज्ञा की दशा का आह्वान रहस्यवाद की एक स्वीकृत विधि है। इस विधि का पालन 'आँसू' से लेकर 'कामायनी' तक हुआ है। अपने ही लिये नहीं, उजाले मे हाथ पैर मारनेवाली 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' के लिये भी यही नींद लगनेवाली दवा लेकर आने को कवि निशा से कहता है—

चिर दग्ध दुखी यह वसुधा आलोक माँगती, तब भी;
तुम तुहिन बरस दो कन कन, यह पगली सोए अब भी।

चेतना की शांति या विस्मृति की दशा में ही 'कल्याण की वर्षा' होती है, मिलन-सुख प्राप्त होता है। अतः उसके लिये रात्रि की भावना को बढ़ाकर प्रसाद जी महारात्रि तक ले गये हैं, जो सृष्टि और प्रलय का संधि-काल है, जिसमे सारे नाम रूपों का लय हो जाता है—

चेतना-लहर न उठेगी जीवन-समुद्र थिर होगा,
संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा।

'आँसू' के उपरांत दूसरी रचना 'लहर' है, जो कई प्रकार की कविताओं का संग्रह है। 'लहर' पर एक छोटी सी कविता सबसे पहले दी गई है। इसी से समूचे

संग्रह का नाम 'लहर' रखा गया। 'लहर' से कवि का अभिप्राय उस आनंद की लहर से है जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती है। उसे ठहराने की पुकार अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को भी सरस करने के लिये कही जा सकती है और अखिल मानव-जीवन को भी। यह जीवन की लहर भीतर उसी प्रकार स्मृति-चिह्न छोड़ जाती है जिस प्रकार जल की लहरें सूखी नदी की बालू के बीच पसलियों की-सी उभरी रेखाएँ छोड़ जाती है—

उठ, उठ, गिर गिर, फिर फिर आती
नर्त्तित पद-चिन्ह बना जाती;
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल सिहर।

इसमें भी उस प्रियतम का आँख-मिचौनी खेलना, दबे पाँव आना, किरन-उँगलियों से आँख मूँदना (या मूँदने की कोशिश करना, क्योंकि उस ज्योतिर्मय का कुछ आभास मिल ही जाता है), प्रियतम की ओर अभिसार इत्यादि रहस्यवाद की सब सामग्री है। प्रियतम अज्ञात रहकर भी किस प्रेम का आलंबन रहता है, यह भी दो एक जगह सूचित किया गया है। जैसे—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ? इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुंबित, मेरे क्षितिज! उदार बनो॥

इसी प्रकार "हे सागर संगम अरुण नील!" मे यह चित्र सामने रखा गया है कि सागर ने हिमालय से निकली नदी को कब देखा था, और नदी ने सागर को कब देखा था पर नदी निकल कर स्वर्ण-स्वप्न देखती उसी की ओर चली और वह सागर भी बड़ी उमंग के साथ उससे मिला।

क्षितिज, जिसमे प्रातः-सायं अनुराग की लाली दौड़ा करती है, असीम (आकाश) और ससीम (पृथ्वी) का सहेट या मिलन-स्थल-सा दिखाई पड़ा करता है। इस हलचल भरे संसार से हटाकर कवि अपने नाविक से वहीं ले चलने को कहता है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।

वहाँ जाने पर वह इस सुख-दुःख-मय व्यापक प्रसार को अपने नित्य और सत्य रूप में देखने की भी, पारमार्थिक ज्ञान की झलक पाने की भी, आशा करता है; क्योंकि श्रम और विश्राम के उस संधि-स्थल पर ज्ञान की दिव्य ज्योति-सी जगती दिखाई पड़ा करती है—

जिस गंभीर मधुर छाया में—विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पडे दिखाई दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से, जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण, उषा नयन से—बिखराती हो ज्योति घनी रे।

'लहर' में चार-पाँच रचनाएँ ही रहस्यवाद की हैं। पर कवि की तंद्रा और स्वप्नवाली प्रिय भावना जगह-जगह व्यक्त होती है। रात्रि के उस सन्नाटे की कामना जिसमे बाहर भीतर की सब हलचल शांत रहती है, केवल अभावों की पूर्त्ति करनेवाले, अतृप्त कामनाओं की तृप्ति का विधान करनेवाले, स्वप्न ही जगा करते है, इस गीत में पूर्णतया व्यक्त है—

अपलक जगती हो एक रात !
सब सोए हों इस भूतल में;
अपनी निरीहता संबल में,
चलती हो कोई भी न बात।
× × × ×
वक्षस्थल में जो छिपे हुए
सोते हो हृदय अभाव लिए
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

जैसा पहले सूचित कर चुके है, 'लहर' मे कई प्रकार की रचनाएँ हैं। कहीं तो प्रकृति के रमणीय पक्ष को लेकर सुंदर और मधुर रूपकमय गान है, जैसे—

संग्रह का नाम 'लहर' रखा गया। 'लहर' से कवि का अभिप्राय उस आनंद की लहर से है जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती है। उसे ठहराने की पुकार अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को भी सरस करने के लिये कही जा सकती है और अखिल मानव-जीवन को भी। यह जीवन की लहर भीतर उसी प्रकार स्मृति-चिह्न छोड़ जाती है जिस प्रकार जल की लहरें सूखी नदी की बालू के बीच पसलियों की-सी उभरी रेखाएँ छोड़ जाती है—

उठ, उठ, गिर गिर, फिर फिर आती
नर्त्तित पद-चिन्ह बना जाती;
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल सिहर।

इसमें भी उस प्रियतम का आँख-मिचौनी खेलना, दबे पाँव आना, किरन-उँगलियों से आँख मूँदना (या मूँदने की कोशिश करना, क्योंकि उस ज्योतिर्मय का कुछ आभास मिल ही जाता है), प्रियतम की ओर अभिसार इत्यादि रहस्यवाद की सब सामग्री है। प्रियतम अज्ञात रहकर भी किस प्रेम का आलंबन रहता है, यह भी दो एक जगह सूचित किया गया है। जैसे—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ? इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुंबित, मेरे क्षितिज! उदार बनो॥

इसी प्रकार "हे सागर संगम अरुण नील!" मे यह चित्र सामने रखा गया है कि सागर ने हिमालय से निकली नदी को कब देखा था, और नदी ने सागर को कब देखा था पर नदी निकल कर स्वर्ण-स्वप्न देखती उसी की ओर चली और वह सागर भी बड़ी उमंग के साथ उससे मिला।

क्षितिज, जिसमे प्रातः-सायं अनुराग की लाली दौड़ा करती है, असीम (आकाश) और ससीम (पृथ्वी) का सहेट या मिलन-स्थल-सा दिखाई पड़ा करता है। इस हलचल भरे संसार से हटाकर कवि अपने नाविक से वहीं ले चलने को कहता है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक ! धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।

वहाँ जाने पर वह इस सुख-दुःख-मय व्यापक प्रसार को अपने नित्य और सत्य रूप में देखने की भी, पारमार्थिक ज्ञान की झलक पाने की भी, आशा करता है; क्योंकि श्रम और विश्राम के उस संधि-स्थल पर ज्ञान की दिव्य ज्योति-सी जगती दिखाई पड़ा करती है—

जिस गंभीर मधुर छाया में—विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से, जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण, उषा नयन से—बिखराती हो ज्योति घनी रे।

'लहर' में चार-पाँच रचनाएँ ही रहस्यवाद की हैं। पर कवि की तंद्रा और स्वप्नवाली प्रिय भावना जगह-जगह व्यक्त होती है। रात्रि के उस सन्नाटे की कामना जिसमे बाहर भीतर की सब हलचल शांत रहती है, केवल अभावो की पूर्त्ति करनेवाले, अतृप्त कामनाओं की तृप्ति का विधान करनेवाले, स्वप्न ही जगा करते हैं, इस गीत में पूर्णतया व्यक्त है—

अपलक जगती हो एक रात !
सब सोए हों इस भूतल में;
अपनी निरीहता संबल में,
चलती हो कोई भी न बात।

× × × ×

वक्षस्थल में जो छिपे हुए
सोते हों हृदय अभाव लिए
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

जैसा पहले सूचित कर चुके हैं, 'लहर' में कई प्रकार की रचनाएँ हैं। कहीं तो प्रकृति के रमणीय पक्ष को लेकर सुंदर और मधुर रूपकमय गान है, जैसे—

बीती विभावरी जाग री !
अंबर-पनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊषा नागरी ।
खगकुल 'कुल-कुल' सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल-रस गागरी ॥

कहीं उस यौवन काल की स्मृतियाँ हैं जिसमें मधु का आदान-प्रदान चलता था, कहीं प्रेम का शुद्ध स्वरूप यह कहकर बताया गया है कि प्रेम देने की चीज़ है, लेने की नहीं ! पर इस पुस्तक में कवि अपने मधुमय जगत् से निकल कर जगत् और जीवन के कई पक्षों की ओर भी बढ़ा है। वह अपने भीतर इतना अपरिमित अनुराग समझता है कि अपने सान्निध्य से वर्त्तमान जगत् में उसके फैलने की आशा करता है । उषा का अनुराग (लाली) जब फैल जाता है तभी ज्योति की किरन फूटती है—

'मेरा अनुराग फैलने दो नभ के अभिनव कलरव में,
जाकर सूनेपन के तम में, बन किरन कभी आ जाना ।

कवि अपने प्रियतम से अब वह 'जीवन-गीत' सुनाने को कहता है जिसमें 'करुणा का नव अभिनदन हो' । फिर इस जगत् की अज्ञानांधकारमयी अश्रुपूर्ण रात्रि के बीच ज्ञान-ज्योति की भिक्षा माँगता हुआ वह उससे प्रेम-वेणु के स्वर में 'जीवन-गीत' सुनाने को कहता है जिसके प्रभाव से मनुष्य-जाति लताओं के समान स्नेहालिगन मे बद्ध हो जायगी और इस संतप्त पृथ्वी पर शीतल छाया हो जायगी ।

जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचंद्र दिखा जाओ,
प्रेम-वेणु की स्वर-लहरी में जीवन-गीत सुना जाओ ।

× × × ×

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो ।
जीवन-धन ! इस जले जगत् को वृन्दावन बन जाने दो ॥

जैसा पहले सूचित कर आए है, 'लहर' में प्रसाद जी ने अपनी प्रगल्भ कल्पना के रंग में इतिहास के कुछ खंडो को भी देखा है। जिस वरुणा के शान्त कछार मे बुद्ध भगवान् ने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया था उसकी पुरानी झाँकी, 'अशोक की चिंता', 'शेरसिंह का आत्मसमर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया' ये सब अतीत के भीतर कल्पना के प्रवेश के उदाहरण हैं। इस प्रकार 'लहर' में हम प्रसाद जी को वर्त्तमान और अतीत जीवन की प्रकृत ठोस भूमि पर अपनी कल्पना ठहराने का कुछ प्रयत्न करते पाते है।

किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अंत मे प्रसाद जी ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है 'कामायनी'। इसमें उन्होंने अपने प्रिय 'आनदवाद' की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह 'आनदवाद' वल्लभाचार्य के 'काथा' या आनंद के ढंग का न होकर, तांत्रिको और योगियों की अतर्भूमि-पद्धति पर है। प्राचीन जलप्लावन के उपरांत मनुद्वारा मानवी सृष्टि के पुनर्विधान का आख्यान लेकर इस प्रबंध-काव्य की रचना हुई है। काव्य का आधार है मनु का पहले श्रद्धा को फिर इड़ा को पत्नी-रूप में ग्रहण करना तथा इड़ा को बंदिनी या सर्वथा अधीन बनाने का प्रयत्न करने पर देवताओ का उनपर कोप करना। 'रूपक' की भावना के अनुसार श्रद्धा विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति है और इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि। कवि ने श्रद्धा को मृदुता, प्रेम और करुणा का प्रवर्त्तन करनेवाली और सच्चे आनद तक पहुँचानेवाली चित्रित किया है। इडा या बुद्धि अनेक प्रकार के वर्गीकरण और व्यवस्थाओ मे प्रवृत्त करती हुई कर्मों में उलझानेवाली चित्रित की गई है।

कथा इस प्रकार चलती है। जल-प्रलय के बाद मनु की नाव हिमवान् की चोटी पर लगती है और मनु वहाँ चिंताग्रस्त बैठे हैं। मनु पिछली सृष्टि की बातें और आगे की दशा सोचते-सोचते शिथिल और निराश हो जाते हैं। यह चिंता 'बुद्धि, मति या मनीषा' का ही एक रूप कही गई है जिससे आरंभ में ही 'बुद्धिवाद' के विरोध का किंचित् आभास मिल जाता है। धीरे धीरे आशा का रमणीय उदय होता है और श्रद्धा से मनु की भेंट होती है। श्रद्धा के साथ मनु शातिसुखपूर्वक कुछ दिन रहते हैं। पर पूर्व सस्कार-वश कर्म की ओर फिर

मनु की प्रवृत्ति होती है। आसुरी प्रेरणा से वे पशुहिंसापूर्ण काम्य यज्ञ करने लगते हैं जिससे श्रद्धा को विरक्ति होती है। वह यह देखकर दुखी होती है कि मनु अपने ही सुख की भावना मे मग्न होते जा रहे है, उनके हृदय में सुख के, सब प्राणियों मे, प्रसार का लक्ष्य नहीं जम रहा है जिससे मानवता का नूतन विकास होता। मनु चाहते हैं कि श्रद्धा का सारा सद्भाव, सारा प्रेम, एकमात्र उन्हीं पर स्थित रहे, तनिक भी इधर उधर बँटने न पाए। इससे जब वे देखते हैं कि श्रद्धा पशुओं के बच्चों को प्रेम से पुचकारती है और अपनी गर्भस्थ संतति की सुख-क्रीड़ा का आयोजन करती है तब उनके मन मे ईर्ष्या होती है और उसे हिमालय की उसी गुफा मे छोड़कर वे अपनी सुख-वासना लिए हुए चल देते हैं।

मनु उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश मे उतरते हैं जहाँ कभी श्रद्धा से हीन होकर सुर और असुर लड़े थे, इंद्र की विजय हुई थी। वे खिन्न होकर सोचते हैं कि क्या मैं उन्हीं के समान श्रद्धा हीन हो रहा हूँ। इसी बीच अंतरिक्ष से 'काम' की अभिशाप-भरी वाणी सुनाई पड़ती है कि—

मनु ! तुम श्रद्धा को गए भूल।
उस पूर्ण आत्म-विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल।
तुम भूल गए पुरुषत्व-मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
सम-रसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

× × × ×

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि।
अनजान समस्याएँ ही गढती, रचती हो अपनी ही विनष्टि।
कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो, बढे भेद।
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।

प्रभात होता है। मनु अपने सामने एक सुदरी खड़ी पाते हैं—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वह विश्वमुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल।

गुंजरित मधुप-से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस-सार लिए।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए।

यह इड़ा (बुद्धि) थी। इसके साथ मनु सारस्वत प्रदेश की राजधानी में रह गए। मनु के मन में जब जगत् और उसके नियामक के संबंध मे जिज्ञासा उठती है और उससे कुछ सहायता पाने का विचार आता है तब इड़ा कहती है—

हाँ! तुम ही हो अपने सहाय।

जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय?
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्यभरी शोधकविहीन।
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढा चलो अपनी क्षमता।
तुम जड़ता को चैतन्य करो, विज्ञान सहज साधन उपाय।

मनु वहाँ इड़ा के साथ रहकर प्रजा के शासन की पूरी व्यवस्था करते है। नगर की श्री-वृद्धि होती है। प्रकृति बुद्धिबल के वश में की जाती है। खेती धूम-धाम से होने लगती है। अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे खड़े होते हैं। धातुओं के नए नए अस्त्र-शस्त्र बनते हैं। मनु अनेक प्रकार के नियम प्रचलित करके, जनता का वर्णों या वर्गों में विभाग करके, लोक का सचालन करते हैं। 'अह' का भाव जोर पकड़ता है। वे अपने को स्वतंत्र नियामक और प्रजापति मानकर सब नियमो से परे रहना चाहते हैं। इडा उन्हें नियमो के पालन की सलाह देती है, पर वे नहीं मानते। इड़ा खिन्न होकर जाना चाहती है, पर मनु अपना अधिकार जमाते हुए उसे पकड़ रखते हैं। पकड़ते ही द्वार गिर पडता। प्रजा जा दुर्व्यवहारों से क्षुब्ध होकर राजभवन घेरे थी, भीतर घुस पड़ती है। देवशक्तियाँ भी कुपित हो उठती हैं। शिव का तीसरा नेत्र खुल जाता है। प्रजा का रोष बढ़ता है! मनु युद्ध करते है और मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं।

उधर श्रद्धा इसी प्रकार के विप्लव का भयंकर स्वप्न देखकर अपने कुमार

को लेकर मनु को ढूँढती ढूँढती वहाँ पहुँचती है। मनु उसे देखकर क्षोभ और पश्चात्ताप से भर जाते हैं। फिर उन सुंदर दिनों को याद करते हैं जब श्रद्धा के मिलने से उनका जीवन सुंदर और प्रफुल्ल हो गया था; जो जगत् पीड़ा और हलचल से व्यथित था वही विश्वास से पूर्ण, शांत, उज्ज्वल और मंगलमय बन गया था। मनु उससे चटपट अपने को वहाँ से निकाल ले चलने को कहते हैं। जब रात हुई तब मनु उठकर चुपचाप वहाँ से न जाने कहाँ चल दिए। उनके चले जाने पर श्रद्धा और इड़ा की बातचीत होती है और इड़ा अपनी बाँधी हुई अधिकार-व्यवस्था के इस भयंकर परिणाम को देख अपना साहस छूटने की बात कहती है—

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें।
× × × ×
अधिकार न सीमा में रहते,
पावस-निर्झर से वे बहते।
× × × ×
सब पिए मत्त लालसा-घूँट।
मेरा साहस अब गया छूट।

इस पर श्रद्धा बोली—

बन विषम ध्वांत।
सिर चढी रही, पाया न हृदय, तू विकल कर रही है अभिनय।
सुख-दुख का मधुमय धूप छाँह, तूने छोड़ी यह सरल राह।
चेतनता का भौतिक विभाग—कर, जग को बाँट दिया विराग।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्, यह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह-मिलन-मय नृत्य निरत, उल्लासपूर्ण आनंद सतत।

अंत मे श्रद्धा अपने कुमार को इड़ा के हाथों मे सौंप मनु को ढूढ़ने निकली और उन्हें उसने सरस्वती-तट पर एक गुफा मे पाया। मनु उस समय आँखें बंद किए चित् शक्ति का अतर्नाद सुन रहे थे, ज्योतिर्मय पुरुष का आभास पा रहे थे, अखिल विश्व के बीच नटराज का नृत्य देख रहे थे। श्रद्धा को देखते

ही वे हत-चेत् पुकार उठे कि 'श्रद्धे ! उन चरणों तक ले चल'। श्रद्धा आगे आगे और मनु पीछे पीछे हिमालय पर चढ़ते चले जाते हैं। यहाँ तक कि वे ऐसे महादेश में अपने को पाते हैं जहाँ वे निराधार ठहरे जान पड़ते हैं। भूमंडल की रेखा का कहीं पता नहीं। यहाँ कवि पूरे रहस्यदर्शी का बाना धारण करता है और मनु के भीतर एक नई चेतना (इस चेतना से भिन्न) का उदय बतलाता है। अब मनु को त्रिदिक् (Three dimensions) विश्व और त्रिभुवन के प्रतिनिधि तीन अलग अलग आलोकबिंदु दिखाई पड़ते है जो 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'क्रिया' के केंद्र से हैं। श्रद्धा एक एक का रहस्य समझाती है।

पहले 'इच्छा' का मधु, मादकता और अँगड़ाईवाला माया-राज्य है जो रागारुण उषा के कंदुक सा सुंदर है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की पारदर्शिनी पुतलियाँ रंग बिरंगी तितलियों के समान नाच रही है। यहाँ चल चित्रों की सस्तृति-छाया चारों ओर घूम रही है और आलोकबिंदु को घेरकर बैठी हुई माया मुस्करा रही है। यहाँ चिर वसंत का उद्गम भी है और एक ओर पतझड़ भी अर्थात् सुख और दुःख एक सूत्र मे बँधे है। यहीं पर मनोमय विश्व रागारुण चेतन की उपासना कर रहा है।

फिर 'कर्म' का श्यामल लोक सामने आता है जो धुएँ-सा धुँधला है, जहाँ क्षण भर विश्राम नहीं है, सतत संघर्ष और विफलता का कोलाहल रहता है, आकांक्षा की तीव्र पिपासा बनी रहती है, भाव राष्ट्र के नियम दंड बने हुए हैं। सारा समाज मतवाला हो रहा है।

सबके पीछे 'ज्ञान-क्षेत्र' आता है जहाँ सदा बुद्धि-चक्र चलता रहता है, सुख-दुःख से उदासीनता रहती है। यहाँ के निरंकुश अणु तर्क-युक्ति से अस्ति-नास्ति का भेद करते रहते हैं और निस्संग होकर भी मोक्ष से संबध जोड़े रहते हैं। यहाँ केवल प्राप्य (मोक्ष या छुटकारा भर) मिलता है, तृप्ति (आनंद) नहीं; जीवन-रस अछूता छोड़ा रहता है जिसमें बहुत-सा इकट्ठा होकर एक साथ मिले। इससे तृषा ही तृषा दिखाई देती है।

अंत में इन तीनों ज्योतिर्मय बिंदुओं को दिखा कर श्रद्धा कहती है कि यही त्रिपुर है जिसमे इच्छा, कर्म और ज्ञान एक दूसरे से अलग अलग अपने केंद्र आप ही बने हुए है। इनका परस्पर न मिलना ही जीवन की असली विडंबना

को लेकर मनु को ढूँढती ढूँढती वहाँ पहुँचती है। मनु उसे देखकर क्षोभ और पश्चात्ताप से भर जाते हैं। फिर उन सुंदर दिनो को याद करते हैं जब श्रद्धा के मिलने से उनका जीवन सुंदर और प्रफुल्ल हो गया था; जो जगत् पीड़ा और हलचल से व्यथित था वही विश्वास से पूर्ण, शांत, उज्ज्वल और मंगलमय बन गया था। मनु उससे चटपट अपने को वहाँ से निकाल ले चलने को कहते हैं। जब रात हुई तब मनु उठकर चुपचाप वहाँ से न जाने कहाँ चल दिए। उनके चले जाने पर श्रद्धा और इड़ा की बातचीत होती है और इड़ा अपनी बाँधी हुई अधिकार-व्यवस्था के इस भयंकर परिणाम को देख अपना साहस छूटने की बात कहती है—

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें।
× × × ×
अधिकार न सीमा में रहते,
पावस-निर्झर से वे बहते।
× × × ×
सब पिए मत्त लालसा-घूँट।
मेरा साहस अब गया छूट।

इस पर श्रद्धा बोली—

बन विषम ध्वांत।

सिर चढी रही, पाया न हृदय, तू विकल कर रही है अभिनय।
सुख-दुख का मधुमय धूप छाँह, तूने छोड़ी यह सरल राह।
चेतनता का भौतिक विभाग—कर, जग को बाँट दिया विराग।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्, यह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह-मिलन-मय नृत्य निरत, उल्लासपूर्ण आनंद सतत।

अंत मे श्रद्धा अपने कुमार को इड़ा के हाथो में सौंप मनु को ढूँढ़ने निकली और उन्हें उसने सरस्वती-तट पर एक गुफा मे पाया। मनु उस समय आँखे बंद किए चित् शक्ति का अंतर्नाद सुन रहे थे, ज्योतिर्मय पुरुष का आभास पा रहे थे, अखिल विश्व के बीच नटराज का नृत्य देख रहे थे। श्रद्धा को देखते

ही वे हत-चेत् पुकार उठे कि 'श्रद्धे ! उन चरणों तक ले चल'। श्रद्धा आगे आगे और मनु पीछे पीछे हिमालय पर चढ़ते चले जाते हैं। यहाँ तक कि वे ऐसे महादेश में अपने को पाते हैं जहाँ वे निराधार ठहरे जान पड़ते हैं। भूमंडल की रेखा का कहीं पता नहीं। यहाँ कवि पूरे रहस्यदर्शी का बाना धारण करता है और मनु के भीतर एक नई चेतना (इस चेतना से भिन्न) का उदय बतलाता है। अब मनु को त्रिदिक् (Three dimensions) विश्व और त्रिभुवन के प्रतिनिधि तीन अलग अलग आलोकबिंदु दिखाई पड़ते हैं जो 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'क्रिया' के केंद्र से हैं। श्रद्धा एक एक का रहस्य समझाती है।

पहले 'इच्छा' का मधु, मादकता और अँगड़ाईवाला माया-राज्य है जो रागारुण उषा के कंदुक सा सुंदर है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की पारदर्शिनी पुतलियाँ रंग बिरंगी तितलियों के समान नाच रही हैं। यहाँ चल चित्रों की संसृति-छाया चारो ओर घूम रही है और आलोकबिंदु को घेरकर बैठी हुई माया मुस्करा रही है। यहाँ चिर वसंत का उद्गम भी है और एक ओर पतझड़ भी अर्थात् सुख और दुःख एक सूत्र में बँधे है। यहीं पर मनोमय विश्व रागारुण चेतन की उपासना कर रहा है।

फिर 'कर्म' का श्यामल लोक सामने आता है जो धुएँ-सा धुँधला है, जहाँ क्षण भर विश्राम नहीं है, सतत संघर्ष और विफलता का कोलाहल रहता है, आकांक्षा की तीव्र पिपासा बनी रहती है, भाव राष्ट्र के नियम दंड बने हुए है। सारा समाज मतवाला हो रहा है।

सबके पीछे 'ज्ञान-क्षेत्र' आता है जहाँ सदा बुद्धि-चक्र चलता रहता है, सुख-दुःख से उदासीनता रहती है। यहाँ के निरंकुश अणु तर्क-युक्ति से अस्ति-नास्ति का भेद करते रहते है और निस्संग होकर भी मोक्ष से संबंध जोड़े रहते है। यहाँ केवल प्राप्य (मोक्ष या छुटकारा भर) मिलता है, तृप्ति (आनंद) नहीं; जीवन-रस अछूता छोड़ा रहता है जिसमें बहुत-सा इकट्ठा होकर एक साथ मिले। इससे तृषा ही तृषा दिखाई देती है।

अंत मे इन तीनों ज्योतिर्मय बिंदुओं को दिखा कर श्रद्धा कहती है कि यही त्रिपुर है जिसमे इच्छा, कर्म और ज्ञान एक दूसरे से अलग अलग अपने केंद्र आप ही बने हुए हैं। इनका परस्पर न मिलना ही जीवन की असली विडंबना

है। ज्ञान अलग पड़ा है, कर्म अलग। अतः इच्छा पूरी कैसे हो सकती है? यह कहकर श्रद्धा मुस्कराती है जिससे ज्योति की एक रेखा तीनों मे दौड़ जाती है और चट तीनों एक में मिलकर प्रज्वलित हो उठते हैं और सारे विश्व में शृंग और डमरू का निनाद फैल जाता है। उस अनाहत नाद मे मनु लीन हो जाते हैं।

इस रहस्य को पार करने पर फिर आनंद-भूमि दिखाई गई है। वहाँ इड़ा भी कुमार (मानव) को लिए अंत मे पहुँचती है और देखती है कि पुरुष पुरातन प्रकृति से मिला हुआ अपनी ही शक्ति से लहरें मारता हुआ आनंद-सागर-सा उमड़ रहा है। यह सब देख इड़ा श्रद्धा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हुई कहती है कि "मैं अब समझ गई कि मुझमें कुछ भी समझ नहीं थी। व्यर्थ लोगों को भुलाया करती थी; यही मेरा काम था"। फिर मनु कैलाश की ओर दिखाकर उस आनंद-लोक का वर्णन करते हैं जहाँ पाप-ताप कुछ भी नहीं है, सब समरस है, और 'अभेद मे भेद' वाले प्रसिद्ध सिद्धांत का कथन करके कहते हैं—

> अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त्त विश्व सचराचर
> चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुंदर।

अंत मे प्रसाद जी वहीं प्रकृति से सारे सुख, भोग, कांति, दीप्ति की सामग्री जुटाकर लीन हो जाते हैं—वे ही वल्लरियाँ, पराग, मधु, मकरंद, अप्सराएँ, बनी हुई रश्मियाँ।

यह काव्य बड़ी विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है। इसका विचारात्मक आधार या अर्थ-भूमि केवल इतनी ही है कि श्रद्धा या विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति ही मनुष्य को इस जीवन मे शांतिमय आनंद का अनुभव और चारों ओर प्रसार कराती हुई कल्याण मार्ग पर ले चलती है और उस निर्विशेष आनंद धाम तक पहुँचाती है। इड़ा या बुद्धि मनुष्य को सदा चंचल रखती, अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क और निर्मम कर्म-जाल में फँसाए रहती और तृप्ति या संतोष के आनंद से दूर रखती है। अंत में पहुँचकर कवि ने इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामंजस्य पर तीनों के मेल पर जोर दिया है। एक दूसरे से अलग रहने पर ही जीवन में विषमता आती है।

जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अन्त में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप में दिखाया, फिर अंत मे कर्म और ज्ञान के बिंदुओं को अलग अलग रखा। पीछे आया हुआ ज्ञान भी बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान ही है (योगियों या रहस्य-वादियो का पर-ज्ञान नहीं) यह बात "सदा चलता है बुद्धिचक्र" से स्पष्ट है। जहाँ "रागारुण कंदुक सा, भावमयी प्रतिभा का मदिर" इच्छाबिंदु मिलता है वहाँ इच्छा रागात्मिका वृत्ति के अंतर्गत है; अतः रति-काम से उत्पन्न श्रद्धा की ही प्रवृत्ति ठहरती है। पर श्रद्धा उससे अलग क्या तीनों बिंदुओं से परे रखी गई है।

रहस्यवाद की परंपरा में चेतना से असंतोष की रूढ़ि चली आ रही है। प्रसाद जी काव्य के आरंभ में ही 'चिंता' के अतर्गत कहते हैं—

मनु का मन था विकल हो उठा संवेदन से खाकर चोट
संवेदन ! जीवन जगती को जो कटुता से देता घोट।
संवेदन का और हृदय का यह संघर्ष न हो सकता
फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता ?

इन पंक्तियो में तो 'संवेदन' बोध-वृत्ति के अर्थ में व्यवहृत जान पड़ता है, क्योंकि सुख-दुःखात्मक अनुभूति के अर्थ में लें तो हृदय के साथ उसका संघर्ष कैसा ? बोध के एक देशीय अर्थ में भी यदि हम 'सवेदन' को ले तो भी उसे भावभूमि से ख़ारिज नहीं कर सकते। प्रत्येक 'भाव' का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है। स्वप्न-दशा में भी, जिसका रहस्य-क्षेत्र में बड़ा माहात्म्य है, यह विषय-बोध रहता है। श्रद्धा जिस करुणा, दया आदि की प्रवर्त्तिका कही गई है, उसमे दूसरो की पीड़ा का बोध मिला रहता है।

आगे चलकर यह 'संवेदन' शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दुःख पर कष्टानुभव के अर्थ मे आया है। मनु की बिगड़ी हुई प्रजा उनसे कहती है—

हम संवेदन-शील हो चले, यही मिला सुख।
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

मतलब यह कि अपनी किसी स्थिति को लेकर दुःख का अनुभव करना ही

संवेदन है। दुःख को पास न फटकने देना, अपनी मौज में—मधु-मकरंद में—मस्त रहना ही वांछनीय स्थिति है। असंतोष से उत्पन्न अवास्तविक कष्टकल्पना के दुःखानुभव के अर्थ मे ही इस शब्द को जकड़ रखना भी व्यर्थ प्रयास कहा जायगा। श्रद्धा जिस करुणा, दया आदि की प्रवर्त्तिका कही गई है वह दूसरो की पीड़ा का संवेदन ही तो है। दूसरों के दुःख का अपना दुःख हो जाना ही तो करुणा है। पर-दुःखानुभव अपनी ही सत्ता का प्रसार तो सूचित करता है। चाहे जिस अर्थ में लें, सवेदन का तिरस्कार कोई अर्थ नहीं रखता।

संवेदन, चेतना, जागरण आदि के परिहार का जो बीच बीच में अभिलाष है उसे रहस्यवाद का तकाजा समझना चाहिए। ग्रंथ के अंत मे जो हृदय, बुद्धि और कर्म के मेल या सामंजस्य का पक्ष रखा गया है वह तो बहुत समीचीन है। उसे हम गोस्वामी तुलसीदास मे, उनके भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता के रूप में, दिखा चुके है[1]। अपने कई निबंधों मे हम जगत् की वर्तमान अशांति और अव्यवस्था का कारण इसी सामंजस्य का अभाव कह चुके हैं। पर इस सामंजस्य का स्वर हम 'कामायानी' में और कहीं नहीं पाते है। श्रद्धा जब कुमार को लेकर प्रजाविद्रोह के उपरांत सारस्वत नगर में पहुँचती है तब 'इड़ा' से कहती है कि "सिर चढ़ी रही पाया न हृदय"। क्या श्रद्धा के संबंध मे नहीं कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि"? जब दोनों अलग अलग सत्ताएँ करके रखी गई है तब एक को दूसरी से शून्य कहना, और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ मे डालता है। पर श्रद्धा में किसी प्रकार की कमी की भावना कवि की ऐकांतिक मधुर भावना के अनुकूल न थी।

बुद्धि की विगर्हणा द्वारा 'बुद्धिवाद' के विरुद्ध उस आधुनिक आंदोलन का आभास भी कवि को इष्ट जान पड़ता है जिसके प्रवर्त्तक अनातोले फ्रांस ने कहा है कि "बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। बुद्धि पर मनुष्य को विश्वास नही होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली-बुरी प्रवृत्तियो को ठीक प्रमाणित करने के लिये लेते हैं।".

१–देखो पृ० १४०।

विज्ञान द्वारा सुख साधनों की वृद्धि के साथ-साथ विलासिता और लोभ की असीम वृद्धि तथा यंत्रों के परिचालन से जनता के बीच फैली हुई घोर अशक्तता, दरिद्रता आदि के कारण वर्तमान जगत् की जो विषम स्थिति हो रही है उसका भी थोड़ा आभास मनु की विद्रोही प्रजा के इन वचनों द्वारा दिया गया है—

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार की भी दबी-सी गूँज दो-तीन जगह है। 'विद्युत्कण (Electrons) मिले झलकते-से' में विज्ञान की भी झलक है।

यदि मधुचर्य्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप मे चित्रित होती। कर्म को कवि ने या तो काम्य यज्ञों के बीच दिखाया है अथवा उद्योग-धंधो या शासन-विधानो के बीच। श्रद्धा के मंगलमय योग से किस प्रकार कर्म धर्म का रूप धारण करता है, यह भावना कवि से दूर ही रही। इस भव्य और विशाल भावना के भीतर उग्र और प्रचंड भाव भी लोक के मंगलविधान के अंग हो जाते हैं। श्रद्धा और धर्म का सबंध अत्यंत प्राचीन काल से प्रतिष्ठित है। महाभारत में श्रद्धा धर्म की पत्नी कही गई है। हृदय के आधे पक्ष को अलग रखने से केवल कोमल भावों की शीतल छाया के भीतर आनद का स्वप्न देखा जा सकता है; व्यक्त जगत् के बीच उसका आविर्भाव और अवस्थान नहीं दिखाया जा सकता।

यदि हम इस विशद काव्य की अतर्योजना पर न ध्यान दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढ़े, श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यंत मनोरम पद्धति आती है। इन वृत्तियों की आभ्यतर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियो को बड़ी मार्मिकता से परख कर इनके स्वरूपों की नराकार उद्भावना की गई है। स्थान स्थान पर प्रकृति की मधुर, भव्य और आकर्षक विभूतियों की योजना का तो कहना ही क्या है! प्रकृति के ध्वंसकारी भीषण रूपवेग का अत्यंत व्यापक परिधि के बीच चित्रण हुआ है। इस प्रकार प्रसाद जी भी

प्रबंध-क्षेत्र मे भी छायावाद की चित्रप्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गए हैं।

श्री सुमित्रानंदन पंत की रचनाओं का आरंभ सं० १९७५ से समझना चाहिए। इनकी प्रारंभिक कविताएँ 'वीणा' मे, जिसमे 'हृत्तंत्री के तार' भी हैं, संगृहीत हैं। उन्हें देखने पर 'गीतांजलि' का प्रभाव कुछ लक्षित अवश्य होता है, पर साथ ही आगे चलकर प्रवर्द्धित चित्रमयी भाषा के उपयुक्त रमणीय कल्पना का जगह जगह बहुत ही प्रचुर आभास मिलता है। गीताजलि का रहस्यात्मक प्रभाव ऐसे गीतों को देखकर ही कहा जा सकता है—

हुआ था जब संध्या—आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर
विहँग-रव बन कर मैं, चितचोर!
गा रहा था गुण; किंतु कठोर
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक।

पर पंत जी की रहस्य-भावना प्रायः स्वाभाविक ही रही; 'वाद' का सांप्रदायिक स्वरूप उसने शायद ही कहीं ग्रहण किया हो। उनकी जो एक बड़ी विशेषता है प्रकृति के सुंदर रूपों की आह्लादमयी अनुभूति, वह 'वीणा' में भी कई जगह पाई जाती है। सौंदर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्यानुभूति के प्रसार के लिये अनेक मार्ग से खुल जाते है। 'वीणा' की कविताओं में इसने लोगों को बहुत आकर्षित किया—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनी! पाया तूने यह गाना?
निराकार तम मानो सहसा ज्योतिपुंज में हो साकार?
बदल गया द्रुत जगज्जाल में धर कर नाम-रूप नाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, खिली सुरभि डोले मधु-बाल।
स्पंदन, कंपन, नवजीवन फिर सीखा जग ने अपनाना।

उस मूर्त्तिमती लाक्षणिकता का आभास, जो 'पल्लव' में जाकर अपनी हद को पहुँची है, 'वीणा' से ही मिलने लगता है, जैसे—

मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल चुंबन उलझाया।
अंधकार का अलसित अंचल
अब द्रुत ओढ़ेगा संसार
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार।

'वीणा' के उपरात 'ग्रंथि' है—असफल प्रेम की। इसमें एक छोटे-से प्रेम-प्रसग का आधार लेकर युवक कवि ने प्रेम की आनंदभूमि मे प्रवेश, फिर चिर-विषाद के गर्त्त में पतन दिखाया है। प्रसंग की कोई नई उद्भावना नहीं है। करुणा और सहानुभूति से प्रेम का स्वाभाविक विकास प्रदर्शित करने के लिये जो वृत्त उपन्यासों और कहानियों में प्रायः पाए जाते हैं—जैसे, डूबने से बचाने-वाले, अत्याचार से रक्षा करनेवाले, बंदीगृह मे पड़ने या रणक्षेत्र में घायल होने पर सेवा शुश्रूषा करनेवाली के प्रति प्रेम-संचार—उन्हीं मे से एक चुनकर भावो की व्यंजना के लिये रास्ता निकाला गया है। झील में नाव डूबने पर एक युवक डूबकर बेहोश होता है और आँख खुलने पर देखता है कि एक सुदरी युवती उसका सिर अपने जँघे पर रखे हुए उसकी ओर देख रही है। इसके उपरांत दोनों मे प्रेम-व्यापार चलता है; पर अंत में समाज के बड़े लोग इस स्वेच्छाचार को न सहन करके उस युवती का ग्रथिबधन दूसरे पुरुष के साथ कर देते हैं। यही ग्रथिबधन उस युवक या नायक के हृदय मे एक ऐसी विषादग्रंथि डाल देता है जो कभी खुलती ही नहीं। समाज के द्वारा किस प्रकार स्वभावतः उठा हुआ प्रेम कुचल दिया जाता है, इस कहानी द्वारा कवि को यही दिखाना था। यद्यपि प्रेम का स्रोत कवि ने करुणा की गहराई से निकाला है पर आगे चल-कर उसके प्रवाह में भारतीय पद्धति के अनुसार हास-विनोद की झलक भी दिखाई है। कहानी तो एक निमित्त मात्र जान पड़ती है; वास्तव मे सौंदर्य्य-भावना की अभिव्यक्ति और आशा, उल्लास, वेदना, स्मृति इत्यादि की अलग अलग व्यंजना पर ही ध्यान जाता है।

पंत जी की पहली प्रौढ़ रचना 'पल्लव' है, जिसमे प्रतिभा के उत्साह या साहस का तथा पुरानी काव्य-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है। इसमे चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत-विधान इत्यादि की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण मे भरी सी पाई जाती है। 'वीणा' और 'पल्लव' दोनो मे अँगरेजी कविताओं से लिए हुए भाव और अँगरेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत से मिलते हैं। कहीं कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं, केवल चमत्कार और वक्रता के लिये रखे प्रतीत होते हैं, जैसे 'नयनो के बाल' = आँसू। 'बाल' शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है, जैसे, मधुबाल, मधुपो के बाल। शब्द का मनमाने लिंगों मे प्रयोग भी प्रायः मिलता है। कहीं कहीं वैचित्र्य के लिये एक ही प्रयोग मे दो दो लक्षणाएँ गुंफित पाई जाती हैं—अर्थात् एक लक्ष्यार्थ से फिर दूसरे लक्ष्यार्थ पर जाना पड़ता है, जैसे—'मर्म पीड़ा के हास' में। पहले 'हास' का अर्थ लक्षण-लक्षणा द्वारा वृद्धि या विकास लेना पड़ता है। फिर यह जान कर कि सारा संबोधन कवि अपने या अपने मन के लिये करता है, हमे सारी पदावली का उपादान लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ लेना पड़ता है "हे बढ़ी हुई मर्मपीड़ावाले मन!" इसी प्रकार कहीं कहीं दो दो अप्रस्तुत भी एक मे उलझे हुए पाए जाते हैं, जैसे—"अरुण कलियों-से कोमल घाव।" पहले 'घाव' के लिये वर्ण के सादृश्य और कोमलता के साधर्म्य से 'कली' की उपमा दी गई। पर 'घाव' स्वयं अप्रस्तुत या लाक्षणिक है और उसका अर्थ है "कसकती हुई स्मृति।" इस तरह एक अप्रस्तुत लाकर फिर उस अप्रस्तुत के लिये दूसरा अप्रस्तुत लाया गया है। इसी प्रकार दो दो उपमान एक में उलझे हमे 'गुंजन' की इन पंक्तियो मे मिलते है—

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों-सा हिलता हिम-हास।

कहीं कहीं पर साम्य बहुत ही सुंदर और व्यंजक हैं। वे प्रकृति के व्यापारो के द्वारा मानसिक व्यापारों की बड़ी रमणीय व्यंजना करते हैं, जैसे—

तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान प्रभा के पलक मार उर चीर।
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर मुझे करता है अधिक अधीर,

जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण खोजते हैं तब तुम्हें निदान।
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि सरल शुक-सी सुखकर सुर में।
तुम्हारी भोली बातें कभी दुहराती हैं उर में।

जिस प्रकार भावों या मनोवृत्तियो का स्वरूप बाह्य वस्तुओ के साम्य द्वारा सामने लाया जाता है, उसी प्रकार कभी कभी बाह्य वस्तुओ के साम्य के लिये आभ्यतर भावों या मनोव्यापारों की ओर भी सकेत किया जाता है, जैसे—

अचल के जब वे विमल विचार अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार लीन हो जाते वे सत्वर।

हिमालय प्रदेश मे यह दृश्य प्रायः देखने को मिलता है कि रात मे जो बादल खड्डों मे भर जाते हैं वे प्रभात होते ही धीरे धीरे बहुत-से टुकड़ों मे बँट-कर पहाड़ के ऊपर इधर उधर चढते दिखाई देने लगते हैं और अत में अनंत आकाश मे विलीन हो जाते हैं। इसका साम्य कवि ने अचल ध्यान में मग्न योगी से दिखाया है जिसकी निर्मल मनोवृत्तियाँ उच्चता को प्राप्त होती हुई उस अनंत सत्ता में मिल जाती है।

पर 'छाया', 'वीचि-विलास', 'नक्षत्र' ऐसी कविताओ मे, जहाँ उपमानों के ढेर लगे हुए हैं, बहुत से उपमान पुराने ढंग के खेलवाड़ के रूप में भी हैं, जैसे—

बारि-बेलि-सी फैल अमूल छा अपत्र सरिता के कूल,
बिकसा औ सकुचा नव जात बिना नाल के फेनिल फूल।

(वीचि-विलास)

अहे! तिमिर चरते शशि-शावक।
× × × ×
इंदु दीप-से दग्ध शलभ शिशु!
शुचि उलूक अब हुआ विहान,
अंधकारमय मेरे उर में
आओ छिप जाओ अनजान।

(नक्षत्र)

सबेरा होने पर नक्षत्र भी छिप जाते हैं, उल्लू भी। बस इतने-से साधर्म्य को लेकर कवि ने नक्षत्रों को उल्लू बनाया है—साफ सुथरे उल्लू सही—और उन्हें अँधेरे उर मे छिपने के लिये आमंत्रित किया है। पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की दशा क्या होगी ? कवि को यदि अपने हृदय के नैराश्य और अवसाद की व्यंजना करनी थी तो नक्षत्रों को बिना उल्लू बनाए काम चल सकता था।

कहीं कहीं संकीर्ण समास-पद्धति के कारण कवि की विक्षिप्त भावनाएँ अस्फुट सी हैं, जैसे नक्षत्रों के प्रति ये वाक्य—

ऐ ! आतुर उर के संमान !
अब मेरी उत्सुक आँखों से उमड़ो !
× × × ×
मुग्ध दृष्टि की चरम विजय।

पहली पंक्ति मे 'संमान' शब्द उस सजावट के लिये आया है जो प्रिय से मिलने के लिये आतुर व्यक्ति उसके आने पर या आने की आशा पर बाहर के सामानो द्वारा और भीतर प्रेम से जगमगाते अनेक सुंदर भावों द्वारा करता है। दूसरी पंक्ति मे कवि का तात्पर्य यह है कि प्रियदर्शन के लिये उत्सुक आँखें असंख्य-सी हो रही हैं। उन्हीं की ज्योति आकाश मे नक्षत्रों के रूप मे फैले। तीसरी पंक्ति में 'चरम विजय' का अभिप्राय है लगातार एक टक ताकते रहने में बाजी मारना।

पर इन साम्य-प्रधान रचनाओ मे कहीं कहीं बहुत ही सुंदर आध्यात्मिक कल्पना है, जैसे छाया के प्रति इस कथन मे—

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम लग कर गले जुड़ा लें प्राण
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान।

कवि कहता है कि हे छायारूप जगत् ! आओ, मैं तुम्हे प्यार कर लूँ। फिर तुम कहाँ और मैं कहाँ ! मैं अर्थात् मेरी आत्मा तो उस अनंत ज्योति में मिल जायगी और तुम अव्यक्त प्रकृति या महाशून्य मे विलीन हो जाओगे।

'पल्लव' के भीतर 'उच्छ्‌वास', 'आँसू', 'परिवर्त्तन' और 'बादल' आदि

रचनाएँ देखने से पता चलता है कि यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद' न चल गया होता तो पंत जी स्वच्छंदता के शुद्ध और स्वाभाविक मार्ग (True romanticism) पर ही चलते। उन्हे प्रकृति की ओर सीधे आकर्षित होनेवाला, उसके खुले और चिरंतन रूपो के बीच खुलनेवाला हृदय प्राप्त था। यही कारण है कि 'छायावाद' शब्द मुख्यतः शैली के अर्थ मे, चित्रभाषा के अर्थ मे ही उनकी रचनाओ पर घटित होता है। रहस्यवाद की रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये उनकी प्रतिभा बहुत कम प्रवृत्त हुई है। रहस्य-भावना जहाँ है वहाँ अधिकतर स्वाभाविक है।

पल्लव में रहस्यात्मक रचनाएँ हैं 'स्वप्न' और 'मौन निमंत्रण'। पर जैसा पहले कह आए हैं, पंत जी की रहस्य-भावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक (Dogmatic) नहीं[१]। ऐसी रहस्य-भावना इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन मे कभी कभी उठा करती है। व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारो के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव-सा करता हुआ कवि इसे केवल अतृप्त जिज्ञासा के रूप मे प्रकट करता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि उस अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम की व्यंजना में भी कवि ने प्रिय और प्रेमिका का स्वाभाविक पुरुष-स्त्री-भेद रखा है; 'प्रसाद' जी के समान दोनो को पुँल्लिंग रखकर फारसी या सूफी रूढ़ि का अनुसरण नहीं किया है। इसी प्रकार वेदना की वैसी बीभत्स विवृति भी नहीं मिलती जैसी यह प्रसाद जी की है—

छिल छिल कर छाले फोड़े मल मल कर मृदुल चरण से।

जगत् के पारमार्थिक स्वरूप की जिज्ञासा बहुत ही सुंदर भोलेपन के साथ 'शिशु' को संबोधन करके कवि ने इस प्रकार की है—

न अपना ही, न जगत् का ज्ञान, न परिचित है निज नयन, न कान;
दीखता है जग कैसा, तात! नाम गुण रूप अजान।

कवि, यह समझ कर कि शिशु पर अभी उस नाम-रूप का प्रभाव पूरा पूरा

१-देखो पृष्ठ ६९४।

नहीं पड़ा है, जो सत्ता के पारमार्थिक स्वरूप को छिपा देता है, उससे पूछता है कि "भला बताओ तो, यह जगत् तुम्हे कैसा दिखाई पड़ता है ?"

छायावाद के भीतर माने जानेवाले सब कवियो में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम-संबंध पंतजी का ही दिखाई पड़ता है। प्रकृति के अत्यंत रमणीय खंड के बीच उनके हृदय ने रूप-रंग पकड़ा है। 'पल्लव', 'उच्छ्वास' और 'ऑसू' मे हम उस मनोरम खंड की प्रेमार्द्र स्मृति पाते है। यह अवश्य है कि सुषमा की ही उमंग-भरी भावना के भीतर हम उन्हें रमते देखते हैं। 'बादल' को अनेक नेत्राभिराम रूपो मे उन्होने कल्पना की रंगभूमि पर ले आकर देखा है, जैसे—

फिर परियों के बच्चे-से हम सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इंदु के कर सुकुलार।

पर प्रकृति के बीच उसके गूढ़ और व्यापक सौहार्द तक—ग्रीष्म की ज्वाला से संतप्त चराचर पर उसकी छाया के मधुर, स्निग्ध, शीतल, प्रभाव तक; उसके दर्शन से तृप्त कृषकों के आशापूर्ण उल्लास तक—कवि ने दृष्टि नहीं बढ़ाई है। कल्पना के आरोप पर ही जोर देनेवाले 'कलावाद' के संस्कार और प्रतिक्रिया के जोश ने उसे मेघ को उस व्यापक प्रकृत-भूमि पर न देखने दिया जिसपर कालिदास ने देखा था। आरोप-विधायिनी कल्पना की अपेक्षा प्रकृति के बीच किसी वस्तु के गूढ़ और अगूढ़ संबंध-प्रसार का चित्रण करनेवाली कल्पना अधिक गंभीर और मार्मिक होती है।

साम्य का आरोप भी निस्संदेह एक बड़ा विशाल सिद्धांत लेकर काव्य में चला है। वह जगत् के अनंत रूपों या व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे और महीन संबंध-सूत्रों की झलक-सी दिखाकर नरसत्ता के सूनेपन का भाव दूर करता है, अखिल सत्ता के एकत्व की आनंदमयी भावना जगाकर हमारे हृदय का बंधन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कलिका सामने पाते हैं तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौंदर्य धारा से मनुष्य भी और पेड़-पौधे भी रूप रंग प्राप्त करते हैं। यही तक नहीं, भाषा ने व्यवहार की सुगमता के लिये अलग अलग शब्द रचकर जो भेद खड़े किए हैं वे भी कभी इन आरोपों के सहारे थोड़ी देर के लिये हमारे

मन से दूर हो जाते हैं। यदि किसी बड़े पेड़ के नीचे उसी के गिरे हुए बीजों से जमे हुए छोटे छोटे पौधों को हम आस पास खेलते उसके बच्चे कहें तो आत्मीयता का भाव झलक जायगा।

'कलावाद' के प्रभाव से जिस 'सौंदर्य्यवाद' का चलन योरप के काव्यक्षेत्र के भीतर हुआ उसका पंतजी पर पूरा प्रभाव रहा है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर सौंदर्य्य-चयन को अपने जीवन की साधना कहा है, जैसे—

धूल की ढेरी में अनजान छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर, जटिल तरुजाल हैं किसी ओर,
सुमन दल चुन चुन कर निशि भोर खोजना है अजान वह छोर[1]

× × × ×

मेरा मधुकर का-सा जीवन, कठिन कर्म हैं, कोमल है मन।

उस समय तक कवि प्रकृति के केवल सुंदर, मधुर पक्ष मे अपने हृदय के कोमल और मधुर भावों के साथ लीन था। कर्म-मार्ग उसे कठोर ही कठोर दिखाई पड़ता था। कर्म सौंदर्य्य का साक्षात्कार उसे नहीं हुआ था। उसका साक्षात्कार आगे चलकर हुआ जब वह धीरे धीरे जगत् और जीवन के पूर्ण स्वरूप की ओर दृष्टि ले गया।

'पल्लव' के अंत मे पंतजी जगत् के विषम 'परिवर्त्तन' के नाना दृश्य सामने लाए हैं। इसकी प्रेरणा शायद उनके व्यक्तिगत जीवन की किसी विषम स्थिति ने की है। जगत् की परिवर्त्तन-शीलता मनुष्यजाति को चिर काल से क्षुब्ध करती आ रही है। परिवर्त्तन संसार का नियम है। यह बात स्वतः सिद्ध होने पर भी सहृदयो और कवियों का मर्म-स्पर्श करती रही है और करती रहेगी, क्योकि इसका संबंध जीवन के नित्य स्वरूप से है। जीवन के व्यापक क्षेत्र में

१—यही भाव इंगलैंड के एक आधुनिक कवि और समीक्षक अबरक्रोंबे ने, जो हाल में मरे हैं, इस प्रकार व्यक्त किया है—

. ...So we are driven
Onward and upward in a wind of beauty.
—Abercrombe.

प्रवेश के कारण कवि-कल्पना को कोमल, कठोर, मधुर, कटु, करुण, भयंकर कई प्रकार की भूमियों पर बहुत दूर तक एक संबद्ध धारा के रूप मे चलना पड़ा है। जहाँ कठोर और भयंकर, भव्य और विशाल तथा अधिक अर्थ-समन्वित भावनाएँ हैं वहाँ कवि ने रोला छंद का सहारा लिया है। काव्य मे चित्रमयी भाषा सर्वत्र अनिवार्य नहीं, सृष्टि से गूढ़-अगूढ़ मार्मिक तथ्यो के चयन द्वारा भी किसी भावना को मर्म-स्पर्शी स्वरूप प्राप्त हो जाता है, इसका अनुभव शायद पंतजी को इस एक धारा में चलनेवाली लंबी कविता के भीतर हुआ है। इसीसे कहीं कहीं हम सीधे-सादे रूप में चुने हुए मार्मिक तथ्यों का समाहार मात्र पाते हैं, जैसे—

तुम नृशंस-नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिर-संचित।
आधि-व्याधि, बहु वृष्टि, वात-उत्पात अमंगल।
वन्हि, बाढ़, भूकंप—तुम्हारे विपुल सैन्य-दल।

चित्रमयी लाक्षणिक भाषा तथा रूपक आदि का भी बहुत ही सफल प्रयोग इस रचना के भीतर हुआ है। उसके द्वारा तीव्र मर्म-वेदना जगानेवाली शक्ति की पूरी प्रतिष्ठा हुई है। दो एक उदाहरण लीजिए—

अहे वासुकि सहस्रफन!

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरंतर।
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर।
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर।
अखिल विश्व ही विवर, वक्र कुंडल दिङ्-मंडल।

———

मृदुल होठों का हिमजल-हास उड़ा जाता निःश्वास समीर;
सरल भौहों का शरदाकाश घेर लेते घन घिर गंभीर।

× × × ×

विश्वमय हे परिवर्त्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ से विपुलाकार
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार।

पहले तो कवि लगातार सुख का दुःख मे, उत्थान का पतन मे, उल्लास का विषाद में, सरस सुषमा का शुष्कता और म्लानता मे परिवर्त्तन सामने ला लाकर हाहाकार का एक विश्व-व्यापक स्वर सुनता हुआ क्षोभ से भर जाता है; फिर परिवर्त्तन के दूसरे पक्ष पर भी—दुःखदशा से सुखदशा की प्राप्ति पर भी—थोड़ा दृष्टिपात करके चिंतनोन्मुख होता है और परिवर्त्तन को एक महा करुण काड के रूप मे देखने के स्थान पर सुख दुःख की उलझी हुई समस्या के रूप में देखता है, जिसकी पूर्ति इस व्यक्त जगत् मे नहीं हो सकती, जिसका सारा रहस्य इस जीवन के उस पार ही खुल सकता है—

आज का दुख, कल का आह्लाद
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न गूढ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार।

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से जगत् के द्वंद्वात्मक विधान को समझकर कवि अपने मन को शात करता है—

मूँदती नयन मृत्यु की रात खोलती नव जीवन की प्रात।
म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान फलों में फलती फिर अम्लान।

× × × ×

स्वीय कर्मों ही के अनुसार एक गुण फलता विविध प्रकार।
कहीं राखी वनता सुकुमार कही वनता वेड़ी, का भार।

× × × ×

बिना दुख के सब सुख निःसार, बिना आँसू के जीवन भार।
दीन दुर्बल है रे संसार; इसी से क्षमा, दया औ प्यार।

और जीवन के उद्देश्य का भी अनुभव करता है—

वेदना ही में तप कर प्राण, दमक दिखलाते स्वर्ण-हुलास।

× × × ×

अलभ है इष्ट, अतः अनमोल। साधना ही जीवन का मोल।

जीवन का एक सत्य स्वरूप लेकर अत्यंत मार्मिक अर्थ-पथ पर संबद्ध रूप में चलने के कारण, कल्पना की क्रीड़ा और वाग्वैचित्र्य पर प्रधान लक्ष्य न रहने के कारण, इस 'परिवर्त्तन' नाम की सारी कविता का एक समन्वित प्रभाव पड़ता है।

'पल्लव' के उपरांत 'गुंजन' मे हम पंतजी को जगत् और जीवन के प्रकृत क्षेत्र के भीतर और बढ़ते हुए पाते हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष बोध से अतृप्त होकर कल्पना की रुचिरता से तृप्त होने और बुद्धि-व्यापार से क्लांत होकर रहस्य की छाया मे विश्राम करने की प्रवृत्ति भी साथ ही साथ बनी हुई है। कवि जीवन का उद्देश्य बताता है इस चारो ओर खिले हुए जगत् की सुषमा से अपने हृदय को संपन्न करना—

क्या यह जीवन? सागर में जलभार मुखर भर देना!
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा व्रीड़ा से तनिक न लेना?

पर इस जगत् में सुख-सुषमा के साथ दुःख भी तो है। उसके इस सुख-दुःखात्मक स्वरूप के साथ कवि अपने हृदय का सामंजस्य कर लेता है—

सुख-दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हो घन।

कवि वर्त्तमान जगत् की इस अवस्था से असंतुष्ट है कि कहीं तो सुख की अति है, कही दुःख की। वह सम भाव चाहता है—

जग पीड़ित है अति-दुख से जग पीड़ित रे अति-सुख से।
मानव-जग में बँट जावें दुख सुख से औ सुख दुख से।

'मानव' नाम की कविता में जीवन-सौंदर्य की नूतन भावना का उदय कवि अपने मन में इस प्रकार चाहता है—

मेरे मन के मधुबन में सुषमा के शिशु ! मुसकाओ।
नव नव साँसों का सौरभ नव मुख का सुख बरसाओ।

बुद्धिपक्ष ही प्रधान हो जाने से हृदयपक्ष जिस प्रकार दब गया है और श्रद्धाविश्वास का ह्रास होता जा रहा है, इसके विरुद्ध यूरोप के अनातोले फ्रांस आदि कुछ विचारशील पुरुषों ने जो आंदोलन उठाया उसका आभास भी पंतजी की इन पंक्तियों में मिलता है—

√सुंदर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन।

"नौका-विहार" का वर्णन अप्रस्तुत आरोपों से अधिक आच्छादित होने पर भी प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपो की ओर कवि का खिंचाव सूचित करता है—

जैसे और जगह वैसे ही गुंजन मे भी पंतजी की रहस्य भावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है। दूर तक फैले हुए खेतों और मैदानो के छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली हरिताभ रेखा सी क्षितिज से मिली दिखाई पड़ती है उसके उधर किसी मधुर लोक की कल्पना स्वभावतः होती है—

दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छायावन में सुकुमार स्वर्ग की परियों का संसार।

कवि की रहस्य-दृष्टि प्रकृति की आत्मा—जगत् के रूपो और व्यापारों में व्यक्त होनेवाली आत्मा—की ओर ही जाती है जो "निखिल छवि की छवि है" और जिसका "अखिल जग-जीवन हास विलास" है। इस व्यक्त प्रसार के बीच उसका आभास पाकर कुछ क्षण के लिये आनंद मग्न होना ही मुक्ति है, जिसकी साधना सरल और स्वाभाविक है, हठयोग की-सी चक्करदार नहीं। मुक्ति के लोभ से अनेक प्रकार की चक्करदार साधना तो बंधन है—

है सहज मुक्ति का मधु क्षण, पर कठिन मुक्ति का बंधन।

कवि अपनी इस मनोवृत्ति को एक जगह इस प्रकार स्पष्ट भी करता है।

वह कहता है कि इस जीवन की तह मे जो परमार्थ तत्त्व छिपा हुआ कहा जाता है उसे पकड़ने और उसमे लीन होने के लिये बहुत-से लोग अंतर्मुख होकर गहरी गहरी डुबकियाँ लगाते है; पर मुझे तो उसके व्यक्त आभास ही रुचिकर है, अपनी पृथक् सत्ता विलीन करते भय सा लगता है—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोतीवाली;
पर मुझे डूबने का भय है; भाती तट की चल जल-माली।
आएगी मेरे पुलिनों पर वह मोती की मछली सुंदर।
मैं लहरों के तट पर बैठा देखूँगा उसकी छवि जी भर॥

कहने का तात्पर्य यह कि पंतजी की स्वाभाविक रहस्य-भावना को 'प्रसाद' और 'महादेवी वर्मा' की सांप्रदायिक रहस्य-भावना से भिन्न समझना चाहिए। पारमार्थिक ज्ञानोदय को अवश्य उन्होने 'कुछ भी आज न लूँगी मोल' नामक गीत में प्रकृति की सारी विभूतियो से श्रेष्ठ कहा है। रहस्यात्मकता की अपेक्षा कवि मे दार्शनिकता अधिक पाई जाती है। 'विहँग के प्रति' नाम की कविता मे कवि ने अव्यक्त प्रकृति के बीच चैतन्य के सान्निध्य से, शब्द-ब्रह्म के संचार या स्पंदन (Vibration) से सृष्टि के अनेक रूपात्मक विकास का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है—

मुक्त पंखो में उड दिन रात सहज स्पंदित कर जग के प्राण;
शून्य नभ में भर दी अज्ञात, मधुर जीवन की मादक तान।
× × × ×
छोड़ निर्जन का निभृत निवास, नीड़ में बँध जग के सानंद;
भर दिए कलरव से दिशि-आस गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद।
रिक्त होते जब जब तरुवास, रूप धर तू नव नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास, विश्व के अक्षयवट की डाल।

'गुंजन' में भी पंतजी की प्रतिभा बहुत ही व्यंजक और रमणीय साम्य जगह जगह सामने लाती है, जैसे—

खुल खुल नव नव इच्छाएँ फैलातीं जीवन के दल
गा गा प्राणों का मधुकर पीता मधुरस परिपूरण।

इसी प्रकार लक्षणा के सहारे बहुत ही अर्थगर्भित और व्यंजक साम्य इन पंक्तियों में हम पाते है—

यह शैशव का सरल हास है सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विलास है कलानाथ जिसमें खिंच आता।

कवि का भाव तो इतना ही है कि बाल्यावस्था में यह सारी पृथ्वी कितनी सुंदर और दीप्तिपूर्ण दिखाई देती है, पर व्यंजना बड़े ही मनोहर ढंग से हुई है। जिस प्रकार अरुणोदय मे पृथ्वी का एक एक कण स्वर्णाभ दिखाई देता है उसी प्रकार बाल-हृदय को यह सारी पृथ्वी दीप्तिमयी लगती। जिस प्रकार सरोवर के हलके हलके हिलोरों मे चंद्रमा (उसका प्रतिबिंब) उतरकर लहराता दिखाई देता है उसी प्रकार बाल-हृदय की उमंगो में स्वर्गीय दीप्ति फैली जान पड़ती है।

'गुंजन' में हम कवि का जीवनक्षेत्र के भीतर अधिक प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्यशैली को भी अधिक सयत और व्यवस्थित पाते हैं। प्रतिक्रिया की झोंक मे अभिव्यजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति हम 'पल्लव' में पाते हैं वह 'गुजन' मे नहीं है। उसमें काव्यशैली अधिक संगत, संयत और गंभीर हो गई है।

'गुंजन' के पीछे तो पंतजी वर्त्तमान जीवन के कई पक्षों को लेकर चलते दिखाई पड़ते है। उनके 'युगात' में हम देश के वर्त्तमान जीवन मे उठे हुए स्वरों की मीठी प्रतिध्वनि जगह-जगह पाते हैं। कहीं परिवर्त्तन की प्रबल आकांक्षा है, कहीं श्रमजीवियों की दशा की झलक है, कहीं तर्क-वितर्क छोड़ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जीवनपथ पर साहस के साथ बढ़ते चलने की ललकार है, कहीं 'बापू के प्रति' श्रद्धांजलि है। 'युगांत' मे कवि स्वप्नों से जगकर यह कहता हुआ सुनाई पड़ता है—

जो सोए स्वप्नों के तम में वे जागेंगे—यह सत्य बात।
जो देख चुके जीवन-निशीथ वे देखेंगे जीवन-प्रभात।

'युगात' में कवि को हम केवल रूप-रंग, चमक-दमक, सुख-सौरभवाले सौंदर्य्य से आगे बढ़कर जीवन-सौंदर्य्य की सत्याश्रित कल्पना में प्रवृत्त पाते है।

उसे बाहर जगत् मे 'सौंदर्य्य, स्नेह, उल्लास' का अभाव दिखाई पड़ा है। इससे वह जीवन की सुंदरता की भावना मन मे करके उसे जगत् मे फैलाना चाहता है—

सुंदरता का आलोक स्रोत है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात होगा फिर जग के आँगन में।
× × × ×
मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर।
सौंदर्य्य, स्नेह, उल्लास मुझे मिल सका नहीं जग में बाहर।

अब कवि प्रार्थना करता है कि—

जग-जीवन में जो चिर महान् सौंदर्य्यपूर्ण औ सत्यप्राण।
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ! जिसमें मानव-हित हो समान।

नीरस और ठूँठे जगत् मे क्षीण कंकालों के लोक मे वह जीवन का वसंत-विकास चाहता—

कंकाल-जाल-जग में फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव-लाली।

ताजमहल के कला-सौंदर्य्य को देख अनेक कवि मुग्ध हुए हैं। पर करोड़ों की संख्या मे भूखो मरती जनता के बीच ऐश्वर्य विभूति के उस विशाल आडंबर के खड़े होने की भावना से क्षुब्ध होकर युगांत के बदले हुए पतजी कहते हैं—

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन!
जब विपण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन।
× × × ×
मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति।
आत्मा का अपमान, प्रेत औ छाया से रति।
शव को दें हम रूप-रंग, आदर मानव का।
मानव को हम कुत्सित चित्र बनावें शव का।

'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे मे बँधा हुआ, 'गुंजन' मे कभी-कभी उसके बाहर और 'युगांत' मे लोक के बीच दृष्टि फैलाकर आसन जमाता

हुआ दिखाई पड़ता है। 'गुंजन' तक वह जगत् से अपने लिये सौंदर्य्य और आनंद का चयन करता प्रतीत होता है, 'युगांत' में आकर वह सौंदर्य्य और आनंद का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौंदर्य्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है। अब तक कवि लोकजीवन के वास्तविक शीत और ताप से अपने हृदय को बचाता-सा आता रहा; अब उसने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है कि उसपर उसकी गति-विधि का सच्चा और गहरा प्रभाव पड़े। अब वह जगत् और जीवन मे जो कुछ सौंदर्य्य, माधुर्य प्राप्त है अपने लिये उसका स्तबक बनाकर तृप्त नहीं हो सकता। अब वह दुःख-पीडा, अन्याय अत्याचार के अंधकार को फाड़-कर मंगलज्योति फूटती देखना चाहता है—मंगल का अमगल के साथ वह संघर्ष देखना चाहता है, जो गत्यात्मक जगत् का कर्म सौंदर्य्य है।

सध्या होने पर अब कवि का ध्यान केवल प्रफुल्ल प्रसून, अलस गंधवाह, रागरंजित और दीप्त दिगचल तक ही नहीं रहता। वह यह भी देखता है कि—

बाँसों का झुरमुट, संध्या का झुटपुट
× × × ×
ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग!

जो पुराना पड़ गया है, जीर्ण और जर्जर हो गया है और नवजीवन-सौंदर्य्य लेकर आनेवाले युग के उपयुक्त नहीं है उसे पंतजी बड़ी निर्ममता के साथ हटाना चाहते हैं—

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र। हे स्रस्त, ध्वस्त! हे शुष्क, शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधु बात-भीत, तुम वीत-राग, जड़ पुराचीन!

झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण-घन। अंध नीड़ से रूढ़-रीति छन।

इस प्रकार कवि की वाणी में लोकमंगल की आशा और आकांक्षा के साथ

घोर 'परिवर्त्तनवाद' का स्वर भी भर रहा है। गत युग के अवशेषों को ध्वस्त करने का अत्यंत रौद्र आग्रह प्रकट किया गया है—

गर्जन कर मानव-केसरि !
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर।
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर !

ऐसे स्थलों को देख यह संदेह हो सकता है कि कवि अपनी वाणी को केवल आंदोलनों के पीछे लगा रहा है या अपनी अनुभूति की प्रेरणा से परिचालित कर रहा है। आशा है कि पंतजी अपनी लोकमंगल-भावना को ऐसे स्वाभाविक मर्मपथ पर ले चलेंगे जहाँ इस प्रकार के संदेह का अवसर न रहेगा।

'युगांत' मे नर-जीवन की वर्त्तमान दशा की अनुभूति ही सर्वत्र नहीं है। हृदय की नित्य और स्थायी वृत्तियों की व्यंजना भी, कल्पना की पूरी रमणीयता के साथ, कई रचनाओं मे मिलती है। सबसे ध्यान देने की बात यह है कि वाद की लपेट से अपनी वाणी को कवि ने एक प्रकार से मुक्त कर लिया है। चित्र-भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य के अनावश्यक प्रदर्शन की वह प्रवृत्ति अब नहीं है जो भाषा और अर्थ की स्वाभाविक गति में बाधक हो। 'संध्या', 'खद्योत', 'तितली', 'शुक्र' इत्यादि रचनाओं में जो रमणीय कल्पनाएँ हैं उनमे दूसरे के हृदय मे ढलने की पूरी द्रवणशीलता है। 'तितली' के प्रति यह सबोधन लीजिए—

प्रिय तितली ! फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल ?
× × × ×
क्या फूलों से ली, अनिल-कुसुम !
तुमने मन के मधु की मिठास ?

हवा में उड़ती रंग-विरंगी तितलियों के लिये 'अनिल-कुसुम' शब्द की रमणीयता सबका हृदय स्वीकार करेगा। इसी प्रकार 'खद्योत' के सहसा चमक उठने पर यह कैसी सीधी-सादी सुंदर भावना है।

अँधियाली घाटी में सहसा हरित स्फुलिंग सदृश फूटा वह।

'युगवाणी' मे तो वर्तमान जगत् मे सामाजिक व्यवस्था के संबंध मे प्रायः जितने वाद, जितने आंदोलन उठे हुए हैं सबका समावेश किया गया है। इन नाना वादों के संबंध में अच्छा तो यह होता कि उनके नामो का निर्देश न करके, उनके भीतर जो जीवन का सत्यांश है उसका मार्मिक रूप सामने रख दिया जाता। ऐसा न होने से जहाँ इन वादों के नाम आए है वहाँ कवि का अपना रूप छिपा सा लगता है। इन वादों को लेकर चले हुए आंदोलनों मे कवि को मानवता के नूतन विकास का आभास मिलता दिखाई पड़ा है। उस आगामी विकास के कल्पित स्वरूप के प्रति तीव्र आकर्षण प्रकट किया गया है जो वर्तमान पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र की एक रूढ़ि (Worship of the future) के मेल में है। अतः लोक के भाव स्वरूप के सुंदर चित्र के प्रति व्यजित ललक या प्रेम को कोई चाहे तो उपयोगिता की दृष्टि से कल्पित एक आदर्श भाव का उदाहरण-मात्र कह सकता है। इसी प्रकार अतीत के सारे अवशेषो को सर्वथा ध्वस्त देखने की रोषपूर्ण आकुलता का ध्यान भी मनुष्य की स्थायी अंतःप्रकृति के बीच कहीं मिलेगा, इसमें संदेह है।

बात यह है कि इस प्रकार के भाव वर्तमान की विषम स्थिति से क्षुब्ध, कर्म में तत्पर मन के भाव हैं। ये कर्म काल के भीतर जगे रहते है। कर्म मे रत मनुष्य के मन में सफलता की आशा, अनुमित भविष्य के प्रति प्रबल अभिलाष, बाधक वस्तुओं के प्रति रोष आदि का संचार होता है। ये भाव व्यावहारिक हैं, अर्थ साधना की प्रक्रिया से संबंध रखते है और कर्म-क्षेत्र मे उपयोगी माने जाते हैं। पंतजी ने वर्तमान को जगत् का कर्म-काल मानकर उसके अनुकूल भावों का स्वरूप सामने रखा है। साराश यह कि जिस मन के भीतर कवि ने इन भावों का अवस्थान किया है वह 'कर्म का मन' है।

इस रूप में कवि यदि लोक-कर्म में प्रवृत्त नहीं तो कम से कम कर्मक्षेत्र में उतरे हुए लोगों के साथ चलता दिखाई पड़ रहा है। स्वतंत्र द्रष्टा का रूप उसका नहीं रह गया है। उसका तो "सामूहिकता ही निजत्व धन" है। सामूहिक धारा जिधर जिधर चल रही है उधर उधर उसका स्वर भी मिला सुनाई पड़ रहा है। कहीं वह 'गत संस्कृति के गरल' धनपतियो के अंतिम क्षण बता रहा है, कहीं मध्यवर्ग को 'संस्कृति का दास और उच्च वर्ग की सुविधा का

शास्त्रोक्त प्रचारक' तथा श्रमजीवियों को 'लोकक्रांति का अग्रदूत' और 'नव्य सभ्यता का उन्नायक' कह रहा है और कहीं पुरुषों के अत्याचार से पीड़ित स्त्री-जाति की यह दशा सूचित कर रहा है—

पशु-बल से कर जन शासित,
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत ?

× × × ×

अपने ही भीतर छिप छिप
जग से हो गई तिरोहित।

पंतजी ने समाजवाद के प्रति भी रुचि दिखाई है और 'गांधीवाद' के प्रति भी ऐसा प्रतीत होता है कि लोक-व्यवस्था के रूप मे तो 'समाजवाद' की बातें उन्हे पसंद हैं और व्यक्तिगत साधना के लिये 'गांधीवाद' की बातें। कवि की दृष्टि मे सब जीवो के प्रति आत्मभाव ही जीव जगत् की 'मनुष्यत्व में परिणति' है। मनुष्य की अपूर्णता ही उसकी शोभा है। 'दुर्बलताओ से शोभित मनुष्यत्व सुरत्व से दुर्लभ है'। 'पूर्ण सत्य' और असीम को ही श्रद्धा के लिये ग्रहण करने के फेर मे रहना सभ्यता की बड़ी भारी व्याधि है। सीमाओ के द्वारा, उन्हीं की रेखाओ से, मंगल-विधायक आदर्श बनकर खड़े होते हैं। 'मानवपन' मे दोष हैं, पर उन्हीं दोषों की रगड़ खाकर वह मँजता है, शुद्ध होता है—

व्याधि सभ्यता की है निश्चित पूर्ण सत्य का पूजन;
प्राणहीन वह कला, नहीं जिसमें अपूर्णता शोभन।
सीमाएँ आदर्श सकल, सीमा-विहीन यह जीवन
दोषों से ही दोष-शुद्ध है मिट्टी का मानवपन।

'समाजवाद' की बातें कवि ने ग्रहण की है पर अपना चिंतन स्वतंत्र रखा है। समाजवाद और संघवाद (Communism) के साथ लगा हुआ 'संकीर्ण-भौतिकवाद' उसे इष्ट नहीं। पारमार्थिक दृष्टि से वह परात्परवादी है। आत्मा और भूतों के बीच संबंध स्थापित करनेवाला तत्त्व वह दोनो से परे बताता है—

आत्मा और भूतों में स्थापित करता कौन समत्व।
बहिरंतर, आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्त्व।
भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल।
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।

यह परात्पर-भाव कवि की वर्त्तमान काव्यदृष्टि के कहाँ तक मेल में है, यह दूसरी बात है। पर जब हम देखते है कि उठे हुए सामयिक आंदोलन प्रायः एकागदर्शी होते हैं, एक सीमा से दूसरी सीमा की ओर उन्मुख होते है तब उनके द्वारा आगामी भव-संस्कृति की जो हरियाली कवि को सूझ रही है वह निराधार-सी लगती है। हम तो यही चाहेंगे कि पंतजी आदोलनों की लपेट से अलग रहकर जीवन के नित्य और प्रकृत स्वरूप को लेकर चलें और उसके भीतर लोक-मगल की भावना का अवस्थान करें।

जो कुछ हो, यह देखकर प्रसन्नता होती है कि 'छायावाद' के बँधे घेरे से निकलकर पंतजी ने जगत् की विस्तृत अर्थ भूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता के साथ विचरने का साहस दिखाया है। सामने खुले हुए रूपात्मक व्यक्त जगत् से ही सच्ची भावनाएँ प्राप्त होती हैं, 'रूप ही उर में मधुर भाव बन जाता' है, इस 'रूप सत्य' का साक्षात्कार कवि ने किया है।

'युगवाणी' में नर-जीवन पर ही विशेष रूप से दृष्टि जमी रहने के कारण कवि के सामने प्रकृति का वह रूप भी आया है जिससे मनुष्य को लड़ना पड़ा है—

वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुष्य कलेवर।

'मानवता' के व्यापक सबध की अनुभूति के मधुर प्रभाव से 'दो लड़के' में कवि को पासी के नंग-धड़ंग बच्चे प्यारे लगे हैं जो—

जल्दी से टीले के नीचे उधर, उतर कर
हैं चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुंदर—
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फ़ीतों के टुकड़े, तसवीरें नीली पीली।

किंतु नरक्षेत्र के भीतर पंतजी की दृष्टि इतनी नहीं बँध गई है कि चराचर के

साथ अधिक व्यापक संबंध की अनुभूति मंद पड़ गई हो। 'युगवाणी' में हम देखते हैं कि हमारे जीवन-पथ के चारों ओर पड़नेवाली प्रकृति की साधारण से साधारण, छोटी से छोटी वस्तुओं को भी कवि ने कुछ अपनेपन से देखा है। 'समस्त पृथ्वी पर निर्भय विचरण करती जीवन की अक्षय चिनगी' चींटी का अत्यंत कल्पनापूर्ण वर्णन हमे मिलता है। कवि के हृदय प्रसार का सबसे सुंदर प्रमाण हमें 'दो मित्र' में मिलता है जहाँ उसने एक टीले पर पास-पास खड़े चिलबिल के दो पेड़ों को मार्मिकता के साथ दो मित्रों के रूप मे देखा है—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन मनोहर।
दोनों पादप
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीर्घ सुदृढ़तर।

शहद चाटनेवालों और गुलाब की रूह सूँघनेवालों को चाहे इसमें कुछ न मिले, पर हमें तो इसके भीतर चराचर के साथ मनुष्य के संबंध की बड़ी प्यारी भावना मिलती है। "झंझा में नीम" का चित्रण भी बड़ी स्वाभाविक पद्धति पर है। पंतजी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छंदता (True Romanticism) की ओर बढ़ते देख हमें अवश्य संतोष होता है।

श्री सूर्य्यकांत त्रिपाठी 'निराला'—पहले कहा जा चुका है कि 'छायावाद' ने पहले बँगला की देखादेखी अँगरेजी ढंग की प्रगीत पद्धति का अनुसरण किया। प्रगीत पद्धति में नाद-सौंदर्य्य की ओर अधिक ध्यान रहने से संगीत-तत्त्व का अधिक समावेश देखा जाता है। परिणाम यह होता है कि

समन्वित अर्थ की ओर झुकाव कम हो जाता है। हमारे यहाँ संगीत राग-रागिनियों मे बँधकर चलता आया है; पर यूरोप में उस्ताद लोग तरह तरह की स्वर-लिपियों की अपनी नई नई योजनाओं का कौशल दिखाते है। जैसे और सब बातो की, वैसे ही संगीत के अँगरेजी ढंग की भी नकल पहलें पहल बंगाल में शुरू हुई। इस नए ढंग की ओर निरालाजी सबसे अधिक आकृष्ट हुए और अपने गीतो मे इन्होंने उसका पूरा जौहर दिखाया। सगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है।

एक तो खड़ी बोली, दूसरे स्वरों की घटती बढ़ती के साथ मात्राओं का स्वेच्छानुसार विभाग। इसके कारण "गवैयों की जबान को सख्त परेशानी होगी" यह बात निरालाजी ने आप महसूस की है। गीतिका मे इनके ऐसे ही गीतों का संग्रह है जिनमें कवि का ध्यान सगीत की ओर अधिक है, अर्थ-समन्वय की ओर कम। उदाहरण—

अभरण भर वरण-गान
वन-वन उपवन-उपवन
जाग छवि, खुले प्राण।

× × ×

मधुप-निकर कलरव भर
गीत-मुखर पिक-प्रिय-स्वर,
स्मर-शर हर केसर-झर,
मधुपूरित गंध, ज्ञान।

जहाँ कवि ने अधिक या कुछ पेचीले अर्थ रखने का प्रयास किया है वहाँ पद-योजना उस अर्थ को दूसरों तक पहुँचाने मे प्रायः अशक्त या उदासीन पाई जाती है। गीतिका का यह गीत लीजिए—

कौन तम के पार? (रे कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग,
गगन-घन-घन-धार (रे कह)

गंध-व्याकुल - कूल - उर - सर,
लहर-कच कर कमल-मुख पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर सर
गूँज बारंबार ! (रे कह)
निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन
सार था कि असार ? (रे कह)

इसमे आई हुई "अखिल-पल के स्रोत जल-जग", "हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर", "निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन" इत्यादि पदावलियों का जो अर्थ कवि को स्वयं समझाना पड़ा है वह उन पदावलियो से जबरदस्ती निकाला जान पड़ता है। जैसे "**हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर** = आनंदरूपी भौंरा स्पर्श का चुभा तीर हर रहा है (तीर के निकालने से भी एक प्रकार का स्पर्श होता है जो और सुखद है; तीर रूप का चुभा तीर है)। **निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन** = निशा का प्रियतम के उर पर शयन।"

निरालाजी पर बंगभाषा की काव्य-शैली का प्रभाव समास मे गुंफित पद-वल्लरी, क्रियापद के लोप आदि में स्पष्ट झलकता है। लाक्षणिक वैलक्षण्य लाने की प्रवृत्ति इनमें उतनी नहीं पाई जाती जितनी 'प्रसाद' और 'पंत' में।

सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यो में चरणो की स्वच्छंद विषमता है। कोई चरण बहुत लंबा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत से लोग 'रबर छंद', 'केंचुवा छंद' आदि कहने लगे थे। बेमेल चरणो की विलक्षण आजमाइश इन्होंने सबसे अधिक की है। 'प्रगल्भ प्रेम' नाम की कविता में अपनी प्रेयसी कल्पना या कविता का आह्वान करते हुए इन्होंने कहा है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्द्ध-विकच इस हृदय-कमल में आ तू,
प्रिये ! छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।
गज-गामिनी वह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटकाकीर्ण।

बहु-वस्तु स्पर्शिनी प्रतिभा निरालाजी मे है। 'अज्ञात प्रिय' की ओर

इशारा करने के अतिरिक्त इन्होंने जगत् के अनेक प्रस्तुत रूपों और व्यापारों को भी अपनी सरस भावनाओ के रंग में देखा है। 'विस्मृति की नींद से जगाने-वाले' 'पुरातन के मलिन साज' खँडहर से वे जिज्ञासा करते हैं कि क्या-तुम—

ढीले करते हो भव बंधन नर-नारियों के ?

अथवा

हो मलते कलेजा पड़े, जरा जीर्ण
निर्निमेष नयनों से।
बाट जोहते हो तुम मृत्यु की,
अपनी संतानों से बूँद भर पानी को तरसते हुए।

इसी प्रकार 'दिल्ली' नाम की कविता में दिल्ली की भूमि पर दृष्टि डालते हुए "क्या यह वही देश है ?" कहकर कवि अतीत की कुछ इतिहास-प्रसिद्ध बातो और व्यक्तियो को बड़ी सजीवता के साथ मन में लाता है—

निस्तब्ध मीनार
मौन हैं मकबरे—
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार॥

यमुना को देखकर प्रत्यभिज्ञा का उदय हम इस रूप मे पाते हैं—

मधुर मलय में यहीं
गूँजी थी एक वह जो तान,

× × × ×

कृष्णघन अलक में
कितने प्रेमियो का यहाँ पुलक समाया था।

समाज में प्रचलित ढोंग का बड़ा चुभता दृश्य गोमती के किनारे कवि ने देखा है जहाँ एक पुजारी भगत ने बंदरों को तो मालपुवा खिलाया और एक कंगाल भिक्षुक की ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं।

जिस प्रकार निरालाजी को छंद के बंधन अरुचिकर हैं उसी प्रकार सामाजिक बंधन भी। इसीसे सम्राट् अष्टम एडवर्ड की एक प्रशस्ति लिखकर उन्होंने उन्हें एक ऐसे वीर के रूप में सामने रखा है जिसने प्रेम के निमित्त साहसपूर्वक पद-मर्य्यादा के सामाजिक बंधन को दूर फेंका है।

रहस्यवाद से संबंध रखने वाली निरालाजी की रचनाएँ आध्यात्मिकता का वह रूप-रंग लेकर चली हैं जिसका विकास बंगाल मे हुआ। रचना के प्रारंभिक काल मे इन्होंने स्वामी विवेकानंद और श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर की कुछ कविताओं के अनुवाद भी किए है। अद्वैतवाद के वेदांती स्वरूप को ग्रहण करने के कारण इनकी रहस्यात्मक रचनाओं मे भारतीय दार्शनिक निरूपणों की झलक जगह जगह मिलती है। इस विशेषता को छोड़ दे तो इनकी रहस्यात्मक कविताएँ भी उसी प्रकार माधुर्य्य-भावना को लेकर चली हैं जिस प्रकार और छायावादी कवियों की। 'रेखा' नाम की कविता मे कवि ने प्रथम प्रेम के उदय का जो वर्णन किया है वह सर्वत्र एक ही चेतन सत्ता की अनुभूति के रूप मे सामने आता है—

यौवन के तीर पर प्रथम था आया जब
स्रोत सौंदर्य का,
वीचियों में कलरव सुख-चुंबित प्रणय का
था मधुर आकर्षणमय
मज्जनावेदन मृदु फूटता सागर में
× × ×
सब कुछ तो था असार
अस्तु, वह प्यार ?
सब चेतन जो देखता
स्पर्श में अनुभव—रोमांच,
हर्ष रूप में—परिचय
× × ×
खींचा उसी ने था हृदय यह
जड़ों में चेतन गति कर्षण मिलता कहाँ !

'तुलसीदास' निरालाजी की एक बड़ी रचना है जो अधिकांश अंतर्मुख प्रबंध के रूप में है। इस ग्रंथ में कवि ने जिस परिस्थिति में गोस्वामीजी उत्पन्न हुए उसका बहुत ही चटकीला और रंगीन वर्णन करके चित्रकूट की प्राकृतिक छटा के बीच किस प्रकार उन्हें आनंदमयी सत्ता का बोध हुआ और नवजीवन प्रदान करनेवाले गान की दिव्य प्रेरणा हुई उसका अंतर्वृत्ति के आंदोलन के रूप में वर्णन किया है।

'भविष्य का सुखस्वप्न' आधुनिक यूरोपीय साहित्य की एक रूढ़ि है। जगत् की जीर्ण और प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नूतन सुखमयी व्यवस्था के निकट होने के आभास का वर्णन निरालाजी की 'उद्बोधन' नाम की कविता में मिलता है। इसी प्रकार श्रमजीवियों के कष्टों की सहानुभूति लिए हुए जो लोक-हितवाद का आंदोलन चला है उसपर भी अब निराला जी की दृष्टि गई है—

> वह तोड़ती पत्थर;
>
> देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।

इस प्रकार की रचनाओं में भाषा बोलचाल की पाई जाती। पर निरालाजी की भाषा अधिकतर संस्कृत की समस्त पदावली से जड़ी हुई होती है जिसका नमूना "राम की शक्तिपूजा" मे मिलता है। जैसा पहले कह चुके है, इनकी भाषा मे व्यवस्था की कमी प्रायः रहती है जिससे अर्थ या भाव व्यक्त करने में वह कहीं कहीं बहुत ढीली पड़ जाती है।

श्री महादेवी वर्म्मा—छायावादी कहे जानेवाले कवियों मे महादेवीजी ही रहस्यवाद के भीतर रही है। उस अज्ञात प्रियतम के लिये वेदना ही इनके हृदय का भाव-केंद्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट छूटकर झलक मारती रहती हैं। वेदना से इन्होंने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है, उसी के साथ वे रहना चाहती है। उसके आगे मिलन-सुख को भी वे कुछ नहीं गिनतीं। वे कहती है कि—"मिलन का मत नाम ले मैं विरह मे चूर हूँ"। इस वेदना को लेकर इन्होंने हृदय की ऐसी ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखी है जो

लोकोत्तर हैं। कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना है यह नहीं कहा जा सकता।

एक पक्ष में अनंत सुषमा, दूसरे पक्ष मे अपार वेदना विश्व के छोर हैं जिनके बीच उसकी अभिव्यक्ति होती है—

यह दोनों दो ओरें थीं
संसृति की चित्रपटी की;
उस बिन मेरा दुख सूना,
मुझ बिन वह सुषमा फीकी।

पीड़ा का चसका इतना है कि—

तुमको पीड़ा में ढूँढा।
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

इनकी रचनाएँ समय समय पर चार संग्रहो मे निकली है—नीहार, रश्मि, नीरजा और सान्ध्य गीत। अब इन सब का एक मे बड़ा संग्रह 'यामा' के नाम से बड़े आकर्षक रूप मे निकला है। गीत लिखने मे जैसी सफलता महादेवीजी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भाव-भंगी। जगह जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।

ऊपर 'छायावाद' के कुछ प्रमुख कवियो का उल्लेख हो चुका है। उनके साथ ही इस वर्ग के अन्य उल्लेखनीय कवि हैं—सर्वश्री मोहनलाल महतो 'वियोगी', भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, नरेंद्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'। श्रीवियोगी की कविताएँ 'निर्माल्य', 'एकतारा' और 'कल्पना' में संगृहीत हैं। श्रीभगवतीचरण की कविताओ के तीन संग्रह हैं—'मधुकण', 'प्रेम-संगीत' और 'मानव'। श्री रामकुमार वर्मा ने पहले 'वीर हमीर' और 'चित्तौड़ की चिता' की रचना की थी जो छायावाद के भीतर नहीं आतीं। उनकी इस

प्रकार की कविताएँ 'अंजलि', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा' और 'चद्रकिरण' नाम के सग्रहों के रूप में प्रकाशित हुई हैं। श्री आरसी प्रसाद की रचनाओं का संग्रह 'कलापी' मे हुआ है। श्री नरेंद्र के गीत उनके 'कर्ण फूल' 'शूल फूल', 'प्रभात फेरी' और 'प्रवासी के गीत' नामक संग्रहो मे संकलित हुए हैं और श्री अचल की कविताएँ 'मधूलिका' और 'अपराजिता' मे सग्रह की गई हैं।

४—स्वच्छंद-धारा

छायावादी कवियो के अतिरिक्त वर्तमान काल मे और भी कवि हैं जिनमें से कुछ ने यत्र-तत्र ही रहस्यात्मक भाव व्यक्त किए है। उनकी अधिक रचनाएँ छायावाद के अंतर्गत नहीं आतीं। उन सबकी अपनी अलग अलग विशेषता है। इस कारण उनको एक ही वर्ग में नहीं रखा जा सकता। सुभीते के लिये ऐसे कवियों की, समष्टि रूप से, 'स्वच्छंद-धारा' प्रवाहित होती है। इन कवियो मे प० माखनलाल चतुर्वेदी ('एक भारतीय आत्मा'), श्री सियारामशरण गुप्त, प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्री-हरिवंश राय 'बच्चन', श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', ठाकुर गुरुभक्त सिंह और प० उदयशकर भट्ट मुख्य हैं। चतुर्वेदीजी की कविताएँ अभी तक अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित नहीं हुई। 'त्रिधारा' नाम के सग्रह मे श्री केशवप्रसाद पाठक और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की चुनी हुई कविताओ के साथ उनकी भी कुछ प्रसिद्ध कविताएँ उद्धृत की गई है। श्री सियारामशरण गुप्त ने आरभ मे 'मौर्य-विजय' खंडकाव्य लिखा था। उनकी कविताओ के ये सग्रह प्रसिद्ध हैं—दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, पाथेय और मृण्मयी। 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ' और 'बापू' उनके अन्य काव्य है। श्री नवीन ने 'उर्मिला' के संबध में एक काव्य लिखा है जिसका कुछ अश अस्तंगत 'प्रभा' पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। उनकी फुटकर कविताओ का संग्रह 'कुंकुम' नाम से छपा है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की कुछ कविताएँ, जैसा कहा जा चुका है,

'त्रिधारा' मे संकलित हैं। 'मुकुल' उनकी शेष कविताओं का संग्रह है। श्री बच्चन ने 'खैयाम की मधुशाला' में उमर खैयाम की कविताओ का अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि फिट्ज़ेराल्ड कृत अँगरेजी अनुवाद के आधार पर, अनुवाद किया है। उनकी स्वतंत्र रचनाओं के कई संग्रह निकल चुके हैं। जैसे, 'तेरा हार', 'एकांत संगीत', 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'निशानिमंत्रण' आदि। श्री दिनकर की पहली रचना है 'प्रणभंग'। यह प्रबंधकाव्य है। अभी उनके गीतों और कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित हुए है—'रेणुका' और 'हुंकार'। ठाकुर गुरुभक्तसिंह की सब से प्रसिद्ध और श्रेष्ठ कृति 'नूरजहाँ' प्रबंध-काव्य है। उनकी कविताओं के कई संग्रह भी निकल चुके हैं। उनमे 'सरस सुमन', कुसुम-कुंज', 'वंशीध्वनि' और 'वन-श्री' प्रसिद्ध हैं। पंडित उदयशंकर भट्ट ने 'तक्षशिला' और 'मानसी' काव्यो के अतिरिक्त विविध कविताएँ भी लिखी हैं, जो 'राका' और 'विसर्जन' मे सकलित है।

इस प्रकार वर्त्तमान हिंदी कविता का प्रवाह अनेक धाराओं में होकर चल रहा है।

अनुक्रमणिका

१—ग्रंथकार

क्ष

ख

ग

ध

न

प

स

१—ग्रंथ

अ

आ

च

न

फ

ब

भ

ष

स